श्रेष्ठ निबन्ध-सागर

विजय कुमार
कृष्णदेव शर्मा

अनिल-प्रकाशन
२६१६ २०, न्यू मार्केट, नई सड़क दिल्ली ११०००६

: प्रकाशकाधीन

मूल्य १००-०० / सजिल्द प्रथम संस्करण १९८९ / एकमात्र वितर
अनिल प्रकाशन, २६११९-२०, न्यू मार्केट, नई सड़क, दिल्ली ६ / प्रकाशक अ
प्रकाशन, दिल्ली ६ / मुद्रक ग्लोब प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली

दो शब्द

नाना नदियों, सरोवरों आदि के रहते हुए भी विशाल जल राशि-सागर का अपना महत्त्व है। निबन्ध-संग्रहों की भरमार होते हुए भी श्रेष्ठ निबन्ध सागर की अपनी अलग ही पहचान है। इसमें साहित्यिक, सामाजिक, समसामयिक आदि विविध विषयों पर अधिकाधिक निबन्धों को स्थान दिया गया है। विषय प्रतिपादन एवं भाषा-शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट निबन्ध-कला का निर्वाह किया गया है। पुस्तकालयों के लिए ऐसे श्रेष्ठ निबन्ध-सागर की आवश्यकता अनिवार्य है। सच्चाई तो यह है कि इसके बिना पुस्तकालय की संपूर्णता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। जिज्ञासु छात्रों एवं शिक्षकों की ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए ही प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की गई है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

साहित्यिक निबन्ध

11,1148
251492

द्वितीय खण्ड

राजनीतिक एवं आर्थिक निबन्ध

तृतीय खण्ड

सामाजिक एव विविध निबन्ध

निबन्ध-लेखन

निबन्ध की परिभाषा —डा० जॉनसन ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार की है "A Loose sally of mind an irregular undigested piece, not a regular and orderly performance" प्रस्तुत परिभाषानुसार निबन्ध मानसिक-जगत का एक ढीला-ढाला बुद्धि-विलास है, कोई क्रमपूर्ण तथा नियमित रचना नहीं है। परन्तु आज हम इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं। आज के निबन्धों में तर्क-पूर्ण क्रमिक विकास, शैली की गम्भीरता तथा प्रौढ़ता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। वास्तव में निबन्ध शब्द का अर्थ है 'बन्धन'। यह बन्धन विविध विचारों का होता है, जो एक दूसरे से गुथे रहते हैं और किसी विषय की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार आज हम साधारणतया निबन्ध का अर्थ उस गद्य-रचना से ले सकते हैं जिसमें भावों और विचारों की लड़ियाँ गूथी जाएँ और साथ ही-साथ भाषा की शक्ति तथा शैली की गम्भीरता और प्रौढ़ता के कारण निबन्ध में एक 'कसावट' बनी रहे।

निबन्ध के तत्त्व—जहाँ तक निबन्ध के तत्त्वों का प्रश्न है, निबन्ध के लिए भी भाव पक्ष तथा कला पक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय अपेक्षित है। भाव पक्ष से हमारा तात्पर्य विषयानुकूल भावों विचारों से है। जहाँ तक कला-पक्ष का सम्बन्ध है भाषा की प्रौढ़ता तथा शैली की गम्भीरता भी निबन्ध के लिए आवश्यक है। परन्तु यहाँ निबन्ध के तत्त्वों से हमारा तात्पर्य लेखक की 'आत्मीयता तथा 'व्यक्तित्व' से है। "The true essay is essentially personal" (Hudson) कहा गया है कि "शैली ही व्यक्तित्व है।" निबन्ध पढ़ने के उपरांत यदि लेखक का व्यक्तित्व हमें प्रभावित न कर सका, तो वह निबन्ध सफल नहीं कहा जा सकता।

सामग्री और शैली—निबन्ध की उत्कृष्टता और सफलता दो बातों पर आधारित है—सामग्री और लेखन शैली। सामग्री निबन्ध की आत्मा और शैली निबन्ध का शरीर है। निबन्ध का महत्त्व निबन्ध में प्रस्तुत की गई सामग्री पर निर्भर होने के साथ ही इस बात पर भी है कि वह सामग्री कैसी शैली में

उपस्थित की गई है। यदि सामग्री का संचय तो अच्छा हुआ, किन्तु शैली अच्छी न हो, तो निबन्ध असफल ही कहा जाएगा। इसी प्रकार आकर्षक शैली के होते हुए भी अच्छी सामग्री के अभाव मे निबन्ध आत्महीन शरीर के समान है।

सामग्री का सचयन—अध्ययन सचयन का प्रधान अग है। साहित्य और विज्ञान के उत्कृष्ट ग्रथो का अध्ययन कर व्यक्ति उस विषय से सुपरिचित हो सकता है, जिस पर निबन्ध लिखना उसे इष्ट है। अध्ययन के साथ निरीक्षण भी वाछनीय है। अध्ययन द्वारा हम दूसरो से कुछ प्राप्त करते हैं और निरीक्षण के द्वारा स्वय अपने ज्ञान का प्रसारण करते हैं। जो बात स्वय निरीक्षण से ग्रहण की जाती है उसका महत्त्व उस बात की अपेक्षा से कही अधिक होता है जो अध्ययन के द्वारा प्राप्त की जाती है, क्योकि निरीक्षण मे प्रत्यक्षानुभव के कारण किसी बात को समझने और उसे स्मृति-पटल पर अकित करने की शक्ति अन्त निहित रहती है। अत हमें निरीक्षण से अवश्य सहायता लेनी चाहिए। प्रत्यक्ष घटित घटना ध्यानपूर्वक देखनी चाहिए। हम जहाँ कहीं जाएँ वहाँ के व्यक्तियो के स्वभाव सामाजिक रीति-रिवाज भौगोलिक विशेषताएँ पशुओ और वनस्पतियो के विशिष्ट गुण आदि से परिचय प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त हमे अपनी ज्ञानेन्द्रिया सदव सजग रखनी चाहिएँ, जिससे हमारे आस-पास की वस्तुएँ हमारे निरीक्षण से बाहर न रह सकें।

मनन—अध्ययन और निरीक्षण के साथ ही मनन भी निबन्ध का आवश्यक गुण है। जो विचार या अनुभव उसे अध्ययन व निरीक्षण द्वारा उपलब्ध हुए हैं, उन्हे मनन द्वारा सँवारना सजाना आवश्यक होता है। यदि अध्ययन द्वारा कोई समस्या और गम्भीर प्रश्न लेखक के सामने उपस्थित हुआ है, तो मनन के द्वारा उसका समाधान-अनुसधान आवश्यक है। जो निबन्धकार जितना अधिक मननशील होगा उसकी रचना उतनी ही अधिक उत्कृष्ट और सफल कही जाएगी।

शैली—शैली निबन्ध का शरीर या बहिरग है। भाषा का स्वरूप भी शैली के अन्तर्गत ही है।

प्रत्येक लेखक की अपनी शैली होती है। कुछ लेखक सरल एव सुबोध भाषा मे छोटे-छोटे वाक्यो म अपने विचार प्रकट करते हैं, तो कुछ लेखको को गुरु-गभीर शब्दो का चयन और दीर्घ वाक्य अधिक पसन्द होते हैं। कुछ लेखको की रचनाएँ

अभिधा प्रधान होती हैं, तो कुछ की व्यंग्य-प्रधान। कुछ लेखकों की भाषा चलती हुई मुहावरेदार होती है तो कुछ अन्य लेखक ललित और कोमल पदावली द्वारा पाठक के मन को मुग्ध करने का प्रयास करते हैं।

प्रत्येक शैली में उत्कृष्ट रचना लिखी जा सकती है, परन्तु रचना की उत्कृष्टता और निकृष्टता लेखक के अपनी निजी कौशल पर आश्रित है। यह कौशल कुछ तो जन्मजात प्रतिभा का परिणाम होता है और कुछ अन्य लेखकों की शैलियों के अध्ययन से और कुछ अभ्यास द्वारा। शैली का जो परिष्कार लेखक की प्रतिभा द्वारा होता है, उसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिभा शिक्षण की लीक पर नहीं चलती। हाँ, अभ्यास के द्वारा शैली का परिष्कार करने के सम्बन्ध में अवश्य ही बहुत से नियम बताए जा सकते हैं, जिनके द्वारा बहुत से दोषों से बचा जा सकता है और अपनी शैली को बहुत कुछ परिष्कृत और परिमार्जित रूप दिया जा सकता है।

निबन्ध का स्वरूप—निबन्ध के तीन अंग होते हैं—१ प्रस्तावना २ उपपत्ति या विषय प्रतिपादन और ३ उपसंहार। इन तीनों अंगों में आकार की दृष्टि से प्रस्तावना और उपसंहार बहुत छोटे होते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से उपपत्ति का भाग बहुत बड़ा रहता है। इसके बाद निबन्धकार को प्रस्तावना और उपसंहार को ही सबसे अधिक सँवारना होता है। उपपत्ति के भाग में यदि कहीं थोड़ी-बहुत शिथिलता रह भी जाए, तो वह छिप जाती है किन्तु प्रस्तावना या उपसंहार भाग में इस प्रकार की शिथिलता अक्षम्य है।

प्रस्तावना का प्रधान गुण यह है कि पाठक का ध्यान तुरन्त अपनी ओर आकर्षित कर ले। एक बार पाठक यदि निबन्ध को पढ़ना प्रारम्भ कर दे, तो समाप्ति तक उसे पढ़ता ही चला जाए। इसके लिए पाठक के मन में किसी प्रकार का कौतूहल जगाना आवश्यक होता है। कभी कोई सामान्य सिद्धान्त बतला कर और कभी कोई प्रश्न उपस्थित कर अथवा कोई विवाद खड़ा करके निबन्ध का आरम्भ किया जाता है। उससे भी निबन्ध के विषय में पाठक की उत्सुकता जागृत हो उठती है।

'Well begun half done' के अनुसार यदि निबन्ध का आरम्भ ठीक हो जाए तो निबन्ध का पूरा करना सरल हो जाता है। इसलिए निबन्ध की

प्रस्तावना को अधिकाधिक आकर्षक और सजीव बनाने का यत्न करना चाहिए।

विषय प्रतिपादन के विषय मे इतना कहना आवश्यक है कि जो कुछ लिखा जाए, वह शृखलाबद्ध और सुगठित एव सुविन्यस्त होना चाहिए। निबन्ध में असम्बद्धता के लिए स्थान नहीं है। निबन्ध मे विचारो का क्रम ऐसा रहना चाहिए कि सारी रचना प्रारम्भ से अन्त तक एक ही सूत्र म बद्ध जान पड़े, बिखरी बिखरी न हो। यह तभी सम्भव हो सकेगा, जबकि लेखक भावो या विचारो को पहले से एक क्रम म रख ले और उन्हें उसी रूप म निबन्ध म उपस्थित करे। ऐसा न होने से निबन्ध उखड़ा-सा लगने लगता है।

प्रस्तावना की भाति उपसहार को सँवारना और सजीव बनाना आवश्यक है। यदि प्रस्तावना आकर्षक न हो तो पाठक निबन्ध को पढ़ेगा ही नहीं और यदि उपसहार ठीक न हो, तो निबन्ध को पढ़कर भी पाठक को सन्तोष न होगा। उसे निबन्ध अधूरा सा जान पड़ेगा। अत यह आवश्यक है कि निबन्ध के अन्त मे कोई न्यायसगत निष्कर्ष समुपस्थित किया जाए। पाठक को ऐसा लगे कि समस्त निबन्ध पढ़कर वह सुखद और सन्तोषप्रद अन्त तक पहुँच गया। इसके लिए कभी तो निबन्ध का निष्कर्ष सरल, किन्तु सुसगठित वाक्यों म प्रस्तुत किया जा सकता है और कभी किसी लोकोक्ति या सूक्ति द्वारा निबन्ध का निष्कर्ष निकालते हुए अन्त किया जा सकता है।

उत्तम शैली की विशेषताएँ—बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की शैली की विशेषताएँ इस प्रकार बतलाई हैं—क्रम, सगति सगठन और अन्विति शैली के आन्तरिक गुण हैं। शैली मे अनेकता मे एकता उत्पन्न करना वांछनीय रहता है। निबन्ध के एक एक वाक्य मे भी आकाक्षा हो, (एक शब्द दूसरे की प्रतीक्षा-सा करता मालूम हो और वाक्य की पूर्ति अन्त म हो। ऐसे वाक्यो को अग्रेजी मे Period अर्थात वाक्योच्च कहते हैं), योग्यता (शब्द एक दूसरे के अनुकूल हो, सीचना पानी से ही होता है अग्नि से नही) आदि गुण अपेक्षित होते है। सार्थक उपयुक्त शब्दो की पद मैत्री और क्रम से उतार चढाव (भाव का भी उतार-चढाव और ध्वनि का भी जैसे बड़े शब्द पीछे आवे) ये गुण शैली को प्रसादमय बना देते हैं और मुहावरो का प्रयोग और हास्य-व्यग्य का पुट उसे चलतापन प्रदान करता है। लवणा-

//

व्यजना के प्रसा Jन जो कि काव्य को उत्तमता प्रदान करते हैं, गद्य-शैली मे भी उचित मात्रा मे आदरणीय समझे जाते हैं। शैली को न तो अलकारो से बोझिल बनाना चाहिए, न उसमे तुकबन्दी लाकर उसे पद्य का आभास देना चाहिए। अधिक भावुकता प्रदशन आजकल के युग को मान्य नहीं है। प्रभावोत्पादन एक विशेष कला है, जो अभ्यास से ही प्राप्त होती है। जो बात थोड़े समय व शब्दो मे कही जा सकती है, उनके लिए शब्दो का विस्तार-बाहुल्य वाछनीय नही है। लाघव का गुण गद्य म भी प्रशसनीय है। 'नावक के तीर चाहिएँ, जो देखने मे छोटे लगें घाव करें गभीर।' एक अच्छे निबन्धकार मे शैली के उपरोक्त गुणो का होना आवश्यक होगा।

निबन्धो का वर्गीकरण

निब ध को निम्नलिखित चार वर्गों मे विभक्त किया जाता है—

(१) विवरणात्मक या इतिवृत्तात्मक निबन्ध—विवरणात्मक निबन्ध वे कहलाते है जिनम किसी कहानी या घटना का ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के निबन्ध मे कथा का अश किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहता है, जिसके कारण उसमे सरसता और रोचकता बनी रहती है। इस प्रकार के निबन्धो म युद्धो, यात्राओ इत्यादि का विवरण रहता है।

(२) वणनात्मक निबन्ध—वणनात्मक निबन्धो मे प्राकृतिक दृश्यो अथवा अन्य महत्त्वपूण स्थानो मेलो इत्यादि का वणन किया जाता है। इस प्रकार क निबन्धो मे घटनाओ पर उतना बल नही होता, जितना कि किसी भी दृश्य या परिस्थिति के वणन पर होता है। वैसे घटनाओ के वणन मे भी कुछ-न कुछ- दृश्यो का वणन हो ही जाता है।

(३) विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धो म किसी साहित्यिक या नैतिक सिद्धान्त, किसी राजनीतिक,सामाजिक अथवा आर्थिक समस्या पर अपने तथा अन्य विचारको के विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। निबन्धकार तटस्थ भाव से उस विषय म और प्रतिकूल पक्षो का प्रतिपादन करता है। यदि उसका कोई एकपक्षीय मन्तव्य भी होता है, तो भी वह विरोध पक्ष का धैयपूवक प्रतिपादन करता है और फिर उसके दोष बतला कर उस पक्ष का

खण्डन करके अपने पक्ष की स्थापना करता है। अपना पक्ष चाहे कुछ भी क्यों न हो, किन्तु अच्छा निबन्धकार अपने विरोधी पक्ष की अवहेलना नही करता।

(४) भावात्मक निबन्ध—भावात्मक निबन्ध विचारो से प्रेरित नहीं होते अपितु भावनाओ से प्रेरित होते हैं। इस प्रकार निबन्धो की गणना गद्य-काव्य मे की जाती है। भावात्मक निबन्ध मे लेखक अपने हृदय को खुली छूट देता है और प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध मे तर्क वितर्क प्रस्तुत न करके पाठक के मन को प्रसन्न करने के लिए कोमल भावनाओ का आश्रय लेता है। इस प्रकार कई बार किसी प्रसग विशेष में पाठक के मन मे घृणा या रोष को जागृत करने के लिए भी भावनाओ का अवलम्बन लिया जाता है। भावात्मक निबन्ध मे प्राय गम्भीरता का अभाव रहता है, किन्तु प्रभावोत्पादकता की कमी उनम नही होती। प्राय इस प्रकार के निबन्धो का मूल्य सामयिक होता है।

प्रथम खण्ड

साहित्यिक निबन्ध

१ | साहित्य का स्वरूप



ब्रह्माण्ड की रहस्यपूर्ण रचना मे सूर्य का तेज अद्वितीय है, सागरो की अनन्त गाथा मे क्षीर-सागर की महिमा अपरम्पार है, वैभवशाली देवो के दिव्य स्वरूप मे त्रिदेवो का गौरव सर्वोपरि है, इस धरती के असख्य प्राणियो मे मानव सर्वश्रेष्ठ है, और मानव की असीम उपलब्धियो मे साहित्य सर्वोच्च कीर्ति-ध्वज है।

साहित्य क्या है ? इस विषय पर शताब्दियो से विचार होता आया है। आज साहित्य की सभी परिभाषाओ का अनुशीलन-विवेचन करें तो हम किसी निश्चय पर न पहुँच सकेंगे क्योकि किसी भी वस्तु का चरम और निर्भ्रान्त परिचय देना कोई सरल काय नही, फिर साहित्य तो अजस्र विकसित होने वाली धारा है। मनुष्य अध्ययनप्रिय प्राणी है अतएव वह निरन्तर साहित्य-साधना मे रत रहता है। यही देखकर देश काल के अनुरूप प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने साहित्य की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है उनमे से यहाँ कुछ प्रसिद्ध परिभाषाओ का परिचय देना अनुचित न होगा। राजशेखर ने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

"शब्दार्थयोर्यथवत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या।"

अर्थात् 'शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग वाली विद्या ही साहित्य विद्या है।' 'शब्दकलपद्रुमकार' 'श्लोकमय ग्रथ' को ही साहित्य की सज्ञा देते हैं। भारतीय विद्वान् महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "ज्ञानराशि के सचित कोष का नाम साहित्य है।" साहित्य की यह परिभाषा अत्यधिक व्यापक है।

महाकवि रवीन्द्र ने बगला मे 'साहित्य' शीर्षक ग्रथ मे साहित्य के स्वरूप की सुन्दर व्याख्या की है—"सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रथ का ग्रथ के साथ मिलन ही नहीं, वरन् यह भी बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का मिलन कैसा होता है।" उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि साहित्य में समत्व और असमत्व के सामजस्य विधान की शक्ति रहती है। इस प्रकार साहित्य विरोधात्मक तत्वों में अविरोध स्थापित कर सबको एक-एक सूत्र में बांधने का प्रयास करता

है। कवि और आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य की परिभाषा या की है "Literature is the best that has been thought and said in the world" हडसन साहित्य की परिभाषा देता हुआ कहता है—"It is fundamently an expression of life through the medium of language" इससे आगे वह लिखता है—'Behind every literature lie the character of the race which produces it and behind the literature of any period lies the combined forces personal and impersonal which made the life of that period Literature is only one of the channals in which the energy of the age discharges itself

उपर्युक्त परिभाषाओं से अध्ययन विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि साहित्य जीवन और जगत के रागात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झाँकी है जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है। उपचार के सहारे कभी-कभी उन वस्तुओं को, जिनमें उसकी प्रतिष्ठा की जाती है, साहित्य कहते हैं ।

साहित्य-दर्पणकार के मतानुसार वह प्रत्येक रचना काव्य या साहित्य कहलाने की अधिकारिणी है, जिसे देख या सुनकर सहृदय पाठकों या श्रोताओं को आनन्द की उपलब्धि होती है। इस पर आदर्शवादी आलोचक साहित्य में रसात्मकता के साथ-साथ लोक-मंगल की भावना का होना भी परम आवश्यक समझते हैं। इनके विचार से यदि कोई रचना पढ़ने या सुनने में आनन्द की अनुभूति को तो जगाती हो पर साथ ही वह सामाजिक या व्यक्तिगत चरित्र को पतन की ओर ले जाती हो तो उस रचना को साहित्य नहीं कहा जाएगा। जैसे कोक शास्त्र जैसी पुस्तकें परन्तु यदि अत्यधिक आदर्शवादी न बना जाए तो इस प्रकार की पुस्तकें भी साहित्य तो अवश्य कही जाएँगी चाहे उन्हें हानिकारक या अश्लील साहित्य का नाम दिया जाये। किसी भी रचना के साहित्य कहलाने के लिए हमारे विचार में उसमें केवल रसात्मकता या पाठक के मन में आनन्द की अनुभूति जगा सकने का गुण होना पर्याप्त है। साहित्य यदि लोक मंगल की भावना से भी युक्त हो, तो उसे अधिक अच्छा और उपादेय साहित्य कहा जाएगा किन्तु शिव या मंगल को साहित्य की परिभाषा या अनिवार्य अंग नहीं बनाया जा सकता।

हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि साहित्य शास्त्रियों में पृथक दल हैं। एक विचारक वर्ग यह मानता है कि कला जीवन के लिए है और दूसरा इस बात पर जोर देता है कि कला केवल कला के लिए है। इस दूसरे वर्ग का कथन है कि जीवन के लिए उपादेय होना कला के लिए ...न आवश्यक नहीं। इस मत के समर्थक आस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर

और स्पिनगान जैसे प्रमुख साहित्यकार हैं। इस तरह का साहित्य भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है, जिसे लगभग सभी समालोचकों ने उत्कृष्ट कोटि का साहित्य माना है, किन्तु उसे किसी भी प्रकार उच्च भावनाओं का प्रेरक अथवा जीवन के लिए उपयोगी साहित्य नही कहा जा सकता। इसलिए हम कह सकते हैं कि साहित्य तो उस प्रत्येक रचना को कहा जाएगा, जिससे हृदय को रस की अनुभूति होती हो, किन्तु इसके साथ ही जो साहित्य जीवन के लिए उपयोगी होगा, उसे और भी अधिक उत्कृष्ट साहित्य माना जाएगा।

साहित्य की परिभाषा जान लेने के उपरान्त अब हम साहित्य के स्वरूप पर विचार करते है। सबसे तो पहले हम साहित्य और विज्ञान मे अन्तर समझ लेना चाहिए। प्राचीन सस्कृत आचार्य विज्ञान को साहित्य कहते थे और साहित्य को काव्य। इस प्रकार साहित्य और काव्य अर्थात् विज्ञान और साहित्य दोनो पृथक वस्तुएँ हैं। विज्ञान का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क से है, उसका कार्य किसी भी विशिष्ट विषय मे नियमो का यथावत् प्रतिपादन करना है। वैज्ञानिक अपने विषय के बारे मे बिल्कुल तटस्थ होता है। वह सत्य को जिस रूप मे देखता है उसी रूप मे उसका प्रतिपादन कर देता है। उसके वर्णन मे न तो कल्पना का अश रहता है और न किसी रुचि अथवा अरुचि का। परन्तु साहित्य या काव्य इससे विपरीत वस्तु है। कवि सत्य को अपनी रचना का आधार अवश्य बनाता है किन्तु वह उस सत्य को ही सब कुछ मान कर नही बैठ जाता। वह अपनी कल्पना से उस सत्य पर सौन्दर्य का सुनहला आवरण चढा देता है। वह निर्जीव सत्य मे भी अपनी प्रतिभा से प्राण फूँक देता है। साहित्य मे कवि की भावनाएँ सत्य को सुन्दर रूप प्रदान करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

इस बात को एक उदाहरण द्वारा भली भाँति समझा जा सकता है। वैज्ञानिक की दृष्टि मे चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है जो अट्ठाईस दिन मे पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। वैज्ञानिक चन्द्रमा के सम्बन्ध मे और भी बहुत-सी नीरस बातें बता सकता है। किन्तु कवि की दृष्टि मे चन्द्रमा प्रेयसी के मुख का उपमान है। वह निशा का नाथ है। इष्ट जन से मिलन के समय वह हृदय मे आह्लाद की तरगे उठाता है और प्रिय व्यक्ति के वियोग मे उसकी शीतल किरण अगारे बरसाने लगती है। यदि वैज्ञानिक का चित्रण कवि को सुनाया जाए और कविकृत वर्णन वैज्ञानिक को, तो बहुत सम्भव है कि दोनो मे सिर फुटव्वल की नौबत आ पहुँचे।

इससे स्पष्ट है कि साहित्य और विज्ञान दोनो की दिशा बिल्कुल अलग-अलग है। वैज्ञानिक सत्य का अनुसधान करता है और कवि उसमे सौन्दर्य का शृगार करता है। कवि की रचनाओ मे उसका व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है,

जबकि वैज्ञानिक की रचनाओं में उसके व्यक्तित्व का अंश नहीं रहता। उसमें केवल उस विषय का वर्णन भर रहता है। यही कारण है कि कवि की रचना का आनन्द लेने के लिए हम कवि की मूल पुस्तक को ही पढ़ना पड़ता है जबकि किसी वैज्ञानिक द्वारा आविष्कृत सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम उसी वैज्ञानिक की पुस्तक पढने की आवश्यकता नहीं होती। उस वैज्ञानिक के पश्चात् किसी भी अन्य वैज्ञानिक द्वारा लिखी गई पुस्तक से भी हम उस सिद्धान्त के बारे में उतना ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जितना कि वैज्ञानिक की मूल पुस्तक से।

मनुष्य के शरीर और आत्मा की भाँति साहित्य के भी दो पक्ष हैं एक कला पक्ष और दूसरा भाव पक्ष। भाव पक्ष साहित्य की आत्मा है और कला पक्ष उसका बाह्य शरीर। भाव पक्ष को अनुभूति पक्ष और कला पक्ष को अभिव्यक्ति पक्ष भी कहा जाता है। जिस प्रकार आत्मा शरीर के अभाव में अपनी चेतना प्रदर्शित नहीं कर सकती और आत्मा के अभाव में शरीर मृत और जड होता है उसी प्रकार भाव पक्ष-रहित साहित्य निरर्थक प्रलाप है और कला पक्ष शून्य साहित्य सहृदयों में मनोरंजन कर पाने में असमर्थ रहता है। भाषा के अभाव में तो भावों का अस्तित्व ही टिक पाना कठिन है। इस प्रकार साहित्य के लिए उत्कृष्ट भावों के साथ-साथ परिमार्जित और भावाभिव्यक्ति में समर्थ भाषा का होना भी आवश्यक है।

व्यक्ति संसार में रहते हुए भाँति भाँति के अनुभव प्राप्त करता है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिल सके जिसने जीवन में अनेक बार तीव्र सुख या तीव्र-दुःख का अनुभव न किया हो। किन्तु उन अनुभूतियों को ऐसे रूप में प्रकट कर पाना, जिससे वे पाठक या श्रोता के मन में भी उसी प्रकार की अनुभूतियाँ को जगा सकें, हर किसी के वश में नहीं होता। यह कार्य प्रतिभाशाली लेखकों का ही होता है। वे जिन तीव्र अनुभूतियों का अनुभव करते हैं उन्हें अपनी रचनाओं में ऐसे ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि वे सहृदय पाठक को उसी प्रकार अनुभव होने लगती हैं, जैसे किसी समय लेखक को हुई थीं।

जिस प्रकार अभिव्यक्ति का सामर्थ्य लेखक और पाठक की अपेक्षा अधिक होता है उसी प्रकार अनुभूति को ग्रहण करने की क्षमता भी प्रतिभाशाली लेखक में पाठक की अपेक्षा अधिक होती है। उसकी निरीक्षण शक्ति बहुत सूक्ष्म होती है जिससे वह सूक्ष्म अनुभूतियों को भी अत्यन्त तीव्र रूप में ग्रहण कर सकता है जिस साहित्यकार में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की पूरी क्षमता होती है वही सहृदय को रसमग्न कर सकता है।

साहित्य के चार तत्व हैं—बुद्धि तत्त्व कल्पना तत्त्व, भाव तत्त्व और शैली रूप तत्त्व। सत्साहित्य में सभी तत्त्व किसी न किसी मात्रा में वर्तमान रहते

हैं। ~ई भी तत्त्व एक से विरहित होकर साहित्य अभिधान को प्राप्त नहीं हो सकता है। यद्यपि साहित्य मानव की मधुमयी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है किन्तु उस अभिव्यक्ति को क्रमिक, संयत और गम्भीर रूप प्रदान करने का श्रेय बुद्धि तत्त्व को ही है। कल्पना उसमे सौन्दर्य का सचय करती है। यदि हम कहना चाहें तो बुद्धि, हृदय और कल्पना तत्त्व को क्रमश सत्य शिव, सुदरम् का प्रतीक कह सकते हैं। साहित्य मे इन तीनो का होना परमावश्यक है। बुद्धि तत्त्व से साहित्य मे शिव तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है भाव तत्त्व उसे लोकहित की वस्तु बना देता है, कल्पना उसके स्व-रूप को सवार कर सौन्दय प्रदान करती है। श्रेष्ठ साहित्य मे सत्य, शिव सुदरम् के समान ही बुद्धि, हृदय और कल्पना तीनो तत्त्वो का सुन्दर साम-जस्य पाया जाता है। शैली तत्त्व इन तीनो से भी अधिक महत्वपूर्ण है। साहित्य का बाह्य रूप शैली है अत हम उसकी उपेक्षा नही कर सकते। वास्तव म बुद्धि तत्त्व भाव तत्त्व और कल्पना तत्त्व के सघात को साहित्य के रूप मे ढालन का श्रेय शैली को ही होता है।

शैली के आधार पर काव्य या साहित्य के दो भेद किये जाते हैं-दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। नाटक इत्यादि अभिनय योग्य रचनाएँ दृश्य काव्य के अ तगत आती है और पढने या श्रवण करने योग्य रचनाएँ श्रव्य काव्य के अन्तगत। ध्यान दने योग्य बात यह है कि यद्यपि पढा भी दृष्टि द्वारा ही जाता है फिर भी वे रचनाएँ, जिनका रस पढकर लिया जाता है, दृश्य काव्य के अन्तगत नही आती।

श्रव्य काव्य के भी गद्य-पद्य और चम्पू ये तीन भेद किये जाते हैं। छन्दो-बद्ध रचना पद्य छन्द-रहित रचना गद्य और गद्य-पद्य मिश्रित रचना चम्पू कहलाती है। कामायनी पद्य है गोदान गद्य और यशोधरा चम्पू काव्य हैं। गद्य रचना कहानी, उपन्यास, निबध, आलोचना इत्यादि के रूप मे उपलब्ध होती है। पद्य रचना के दो भेद हैं—मुक्तक और प्रबन्ध। कथा-सूत्र युक्त रचना प्रबन्ध काव्य और कथा सूत्र रहित रचना मुक्तक काव्य कहलाती है। प्रबन्ध काव्य के भी खण्ड काव्य और महाकाव्य नाम से दो उपभेद किये जाते हैं।

इस प्रकार साहित्य का स्वरूप भावो से सरस, रसात्मकता से आनन्दमय, कला से सुदर, सौन्दय से मोहक जीवन सत्य से सम्बद्ध सामाजिकता से व्याप-कता, शिवत्व म मगलमय शैली से परिपुष्ट, कल्पना से सजीव, अनुभूति से मार्मिक अभिव्यक्ति से परिष्कृत और कलाकार के व्यक्तित्व स निजत्व ग्रहण करता है। एस स्वरूप से युक्त साहित्य युगो की कसौटी पर खरा उतरता है विश्व की अमूल्य सम्पत्ति बनता है जन-मानस का कठहार कहलाता है। ऐसे

साहित्य को रचकर कलाकार युग युगान्तर की निधि बन जाता है, जा
विकास तथा प्रगति का अग्रदूत कहलाता है। देश की सुसस्कृत वाणी
साहित्य मे ही मुखरित होती है।

२ | साहित्य और समाज

समान विचारो सुख दुःखो तथा समान परम्पराम्रो वाले मनुष्य-समुदा
को समाज कहा जाता है। भले ही इस प्रकार के लोग अलग अलग स्थानो
रहते हो फिर भी एक ही समाज के अग कहे जाते हैं। विस्तृत अर्थ मे समस
मानव-जाति को ही मनुष्य समाज कहा जा सकता है क्योकि ससार के सर्भ
भागो मे मनुष्य की कुछ न कुछ परम्पराएँ तथा विचार तो भी समान हे हो
परन्तु साधारणतया विचारो तथा परम्पराम्रो की अपेक्षा सुदृढतर सूत्र मे बं
हुए मनुष्य समुदायो को ही समाज कहा जाता है। इस प्रकार हिन्दुम्रो का एव
अलग समाज है यूरोप के ईसाइयो का अलग और मुसलमानो का अलग
इन सभी समाजो की परम्पराएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं किन्तु उन समाजो के
सदस्य व्यक्ति उन परम्पराम्रो और विचारो को समान रूप से स्वीकार
करते हैं। कई बार एक देश के निवासियो का अलग अलग ही समाज बन
जाता है और उसकी अपनी ही परम्पराएँ होती हैं जिनके कारण उसे अन्य
समाजो से पृथक् समझा जाता है।

साहित्य किसी भी समाज के लिखित या सकलित अनुभवो की क्रमश विक
सित परम्परा का नाम है। समय समय पर प्रत्येक समाज मे प्रतिभाशाली कला
कार जन्म लेते रहते हैं। वे अपने अनुभवो को कविताम्रो कहानियो या उप
देश ग्रन्थो के रूप मे प्रस्तुत करते हैं यदि ये अनुभव उस समाज की परिस्थि
तियो तथा मनोदशा के अनुकूल होते हैं तो इनका प्रचार शीघ्र ही सारे समाज
मे हो जाता है। कलाकार मर जाता है किन्तु उसकी रचनाएँ उसके बाद भी
जीवित रहती हैं और न जाने कब तक आने वाली पीढियो को प्रभावित करती
रहती हैं। ऐसी ही रचनाम्रो का सग्रह किसी समाज या जाति का साहित्य कह
लाता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब किसी समाज या जाति ने
उन्नति की उस जाति का साहित्य भी अत्यन्त उन्नत हो गया। इससे हम इस
निश्चय पर पहुँचते हैं कि समाज की उन्नति और साहित्य के उत्कर्ष मे परस्पर
घनिष्ट सम्बन्ध है। समाज उन्नत होता है तो साहित्य भी उत्कृष्ट हो जाता
साहित्य भी उत्कृष्ट हो जाता है तो समाज भी उन्नत होता है।

यही बात अपने विपरीत अर्थ में भी सत्य है। जब भारत का पतन होता है तो उसके साहित्य का भी पतन होने लगता है और इस प्रकार साहित्य और समाज का अवनति में भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल को लीजिये। इस काल में हिन्दू समाज जैसा दुर्दशाग्रस्त था, वैसा ही उस काल का साहित्य भी दृष्टिगोचर होता है। हिंदू राजा परास्त होकर शक्तिहीन हो गये थे। महत्वाकांक्षा उनके हृदय में उत्साह का संचार नहीं करती थी। वे विलासी और रसिक जीव थे। उनके आश्रम में पलने वाला तत्कालीन साहित्य भी नग्न शृंगार के पंक में डूब गया और जाति में नवजीवन का संचार करने में असमर्थ रहा।

अब प्रश्न यह उठता है कि समाज की उन्नति या अवनति से साहित्य का विकास और ह्रास होता है या साहित्य के विकास या ह्रास से समाज का? इसके लिए हम साहित्य-सृजना की प्रक्रिया और समाज पर होने वाले उसके प्रभाव की प्रक्रिया को समझना चाहिये। कोई भी श्रेष्ठ कलाकार जब कोई साहित्यिक रचना रचता है तो वह अपने चारों ओर की परिस्थिति और सामाजिक दशा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। वह द्रष्टा होता है अर्थात् जो कुछ वह देखता है उसे अपनी रचनाओं में अंकित करता है। इसी कारण हम हिन्दी साहित्य के वीरगाथाकाल की रचनाओं में उस समय होने वाले युद्धों, पारस्परिक कलह, ईर्ष्या और द्वेष की सजीव झांकी पाते हैं। इसी प्रकार कबीर की रचनाओं में हम उस काल में फैले हुए पाखंडों बाह्याडंबरों और मिथ्या विधि विधानों का जीताजागता चित्र दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर तत्कालीन समाज की छाया अवश्य रहती है।

इसलिए यह स्वाभाविक है कि यदि समाज आर्थिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत होगा, तो उस काल के साहित्य में उदारता और परोपकार की भावनाएँ प्रचुर मात्रा में पाई जाएगी। यदि किसी समाज में वीरता और आत्म बलिदान की परम्पराएं विद्यमान होंगी तो उस काल के प्रतिभाशाली साहित्यकार अपनी रचनाओं में वीरत्व और बलिदान के आकर्षक चित्र प्रस्तुत करेंगे। इस अंश तक समाज साहित्य को प्रेरणा देता है और साहित्य का उत्कर्ष सामाजिक उन्नति पर निर्भर है। किन्तु साहित्यकार का यह कर्त्तव्य नहीं है कि समाज को यथावत् अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करे। यदि साहित्यकार जीवन को जिस रूप में देखता है उसे उसी रूप में उपस्थित करता है, तो वह मानो कुछ नहीं कहता —

'हो रहा है जो जहाँ वह हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?

किंतु होना चाहिए कब, क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही वह यहाँ।।"—मैथिलीशरण गुप्त

मनुष्य अनुकरणप्रिय है। जो वस्तु या विचार उसे अच्छा लगता है, उसका वह अनुकरण करना चाहता है। इसलिए साहित्यकार अपनी रचनाओ मे जिन वस्तु का उल्लेख कर जाते हैं आने वाली सन्ततियाँ उन्ही का अनुकरण करके अपना जीवन ढालती हैं। यही कारण है कि जिस समाज या जाति के साहित्य मे वीरत्व की कहानियाँ अधिक प्रचलित हैं, उस जाति के लोग अधिक वीर होते हैं। हमारे भारतीय साहित्य मे आत्मा को अजर अमर माना गया है। शरीर का स्थान केवल कपडे जैसा बताया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि अवसर पडने पर हमारे देश के वीर योद्धा गण भी विचार किये बिना मरने के लिए जीवन का बलिदान करने को उद्यत रहे हैं। जर्मनी और जापान का साहित्य भी वीरता और देशभक्ति की अनगिनत गाथाओ से भरा है। जिन जातियो के साहित्य में वीरता की ऐसी गाथाएं विद्यमान नही हैं, उनके बालको मे ऐसी वीरता के भाव मुश्किल से ही जाग सकते हैं।

साहित्यकार द्रष्टा होता है यह ठीक है। परन्तु वह केवल द्रष्टा ही नहीं होता, वह क्रान्तदर्शी भी होता है। अपनी कल्पना की विलक्षण शक्ति से वह अतीत वर्तमान और भविष्यत तीनो को ही देख पाता है। वह साथ ही स्रष्टा भी होता है। वह अपनी कल्पना से एक ऐसे नये और उत्कृष्ट जगत का चित्रण करता है जिसका पहले से कही अस्तित्व नही होता। वह ऐसे चरित्रो की सृष्टि करता है जैसे कही देखे-सुने नही होते। उसकी ये कल्पनाएँ यदि समाज को रुच जाती हैं तो समाज को अपनी ओर खींचने लगती हैं। उदाहरण के लिए वाल्मीकि एक ऐसे राम का चित्रण करते हैं जैसा उन्होंने कही देखा-सुना नही है जितने भी गुणो की कल्पना की जा सकती है वे सब राम मे हैं। उनका प्रत्येक क्रिया-कलाप आदर्श से प्रेरित है। इस प्रकार का महान चित्रण जब कवि के लेखनी से चित्रित होकर समाज के सम्मुख आता है तब वह समाज की अक्षय सम्पत्ति बन जाता है। कवि मर जाता है परन्तु उसकी रचनाएँ जीवित रहती हैं। वाल्मीकि आज नही हैं परन्तु उन्होने राम का जो चरित्र अंकित किया था वह कितनी ही शताब्दियो के बाद भी लोगो को आत्मविकास की ओर प्रेरित करता आ रहा है। इस विस्तृत भूखण्ड मे न जाने कितने बडे भाइयो ने राम के पद चिन्हो पर चलने का प्रयास किया होगा। इसी प्रकार बड़े-बडे साहित्यकार जिन चरित्रो आदर्शों का सृजन कर जाते हैं उनका प्रभाव युग युगान्तरों तक आगामी सन्ततियो पर पडता है।

साहित्यकार समाज की परम्पराओं और विचारो को आधार बनाकर

साहित्य की सृष्टि करता है। उस साहित्य से जनसाधारण प्रेरणा ग्रहण करते हैं और अपने जीवन को उसके अनुकूल ढालते हैं। फिर किसी समय कोई प्रतिभाशाली कलाकार जन्म लेता है जो अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा नये चरित्रों और आदर्शों की सृष्टि करता है। अर्थात् साहित्य [illegible] आगे के [illegible] है। साहित्य के इस विकास का परिणाम यह भी हो सकता है कि समाज उस कलाकार की कल्पना से प्रेरणा प्राप्त करके दो कदम आगे बढ़ जाए। उस समय समाज की उन्नति से प्रेरणा प्राप्त करके फिर साहित्य अपना विकास कर सकता है।

समाज मनुष्यों से निर्मित है और साहित्य मनुष्यों के विचारों और अनुभवों का संग्रह है। इसलिए दोनों एक-दूसरे से पृथक या अप्रभावित नहीं रह सकते। जब मनुष्य में उत्थान-पतन होगा, तभी साहित्य में भी विकास-ह्रास होगा। जब साहित्य कुछ ऊँचे आदर्श या गन्दे आपत्तिजनक चरित्र प्रस्तुत करेगा तब समाज को भी उनके पीछे चलना होगा। अमेरिका में हत्या और व्यभिचार इत्यादि के सम्बन्ध में जितना रोचक और भावप्रवण साहित्य तैयार किया गया है उसका परिणाम वहाँ के समाज पर भी स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। वहाँ जनता का नैतिक दृष्टि से अत्यधिक पतन हो गया है।

साहित्य जो सच्चे चित्र उपस्थित करता है, वे तो जनता को आकृष्ट करते ही हैं साथ ही यदि कुछ बिलकुल मिथ्या और निराधार, रोचक सरस कहानियाँ प्रस्तुत कर दी जाएँ तो समाज पर उनका भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। आज भी हमारे देश में ऐसे लोग करोड़ों की संख्या में हैं जो पुराणों में वर्णित कथाओं को अक्षरशः सत्य मानते हैं। स्वर्ग-नरक और यहाँ तक कि भूत प्रेत उनके लिए काल्पनिक नहीं बल्कि सत्य वस्तु हैं। ये विश्वास उनकी मज्जा तक में रम गए हैं। किसी समय इसी प्रकार की धारणाएँ यूरोप की जनता में भी प्रचलित थीं और अज्ञात आज भी प्रचलित हैं। यह साहित्य की समाज को प्रभावित कर सकने की शक्ति का एक और रोचक उदाहरण है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है क्योंकि समाज की अच्छी बुरी सब दशाएँ साहित्य में ज्यों की त्यों प्रतिबिम्बित रहती हैं। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में हम उस काल के समाज की मनोरम झाँकी दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार वाल्मीकि की रामायण और महाभारत में भी तत्कालीन समाज का विशद अंकन है। जब से आधुनिक यथार्थवादी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा है तब से साहित्य का दर्पणरूप और भी स्पष्ट तथा महत्त्वपूर्ण हो उठा है। पुराने भारतीय साहित्यकार अपने ग्रन्थों में पाप की विजय नहीं दिखाना चाहते थे, क्योंकि वे जनता को सन्मार्ग पर चलाना चाहते थे। इसीलिए सदा

पाप का फल बुरा और पुण्य का फल अच्छा प्रदर्शित किया जाता था। परन्तु यथार्थवादी लेखकों ने समाज का यथातथ्य वर्णन किया है कि जो ठीक भी है। जब समाज का बुरा रूप भी साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है, तो उसे देखकर जनता को विचारने और आत्मसुधार करने की आवश्यकता अनुभव हो सकती है। फ्रांस में रूसो और वाल्टेयर ने, रूस में टालस्टाय और गोर्की ने अपने साहित्य द्वारा यही काम किया। समाज का कलुषित और अन्यायपूर्ण रूप अपनी रचनाओं में प्रतिबिम्बित किया। फलस्वरूप दो क्रान्तियाँ हुईं—एक फ्रांस में और दूसरी रूस में। भारत में भी आधुनिक काल में अनेक कवियों और लेखकों ने अपनी रचनाओं में देश की दासता और दरिद्रता के मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किए जिनसे देश के स्वाधीनता संग्राम को बल मिला।

देश में और भी शोषित वर्ग है जिनकी दुरावस्था एवं दयनीय स्थिति का चित्रण आज के प्रगतिवादी साहित्य में हो रहा है और इस बात की पूरी सम्भावना है कि साहित्य के इस प्रयत्न का भी अभीष्ट परिणाम निकलेगा।

इस प्रकार साहित्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। यह निर्णय कर पाना तो बहुत कठिन है कि समाज से साहित्य प्रभावित होता है अथवा साहित्य से समाज। यह ठीक वृक्ष और बीज का-सा ही प्रश्न है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता और वृक्ष बीज से। बीज की अच्छाई पर वृक्ष का विकास निर्भर है और वृक्ष की अच्छाई पर बीज का उत्कर्ष। इसी प्रकार साहित्य और समाज अन्योयाश्रित है। एक के विकास या ह्रास का दूसरे के विकास या ह्रास पर प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है।

३ | साहित्य और राजनीति

साहित्य मानव की युग युग से चली आ रही भाव विचार परम्परा का लिखित रूप है। उसमें मानव की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ, आशायें और निराशाएँ, भाव और विचार, चिंतन और मनन, जीवन और दर्शन—तात्पर्य यह है कि मनुष्य और उसके वातावरण की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है। आदिम युग से लेकर आज तक मानव जो भावना या विचार करता आया है उसकी अभिव्यक्ति के लिए भी वह उतना ही व्याकुल और सजग रहा है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्य आवश्यकता कला और साहित्य के रूप में अपना बाह्य शरीर प्राप्त करती रहती है। मानव का ज्ञान विज्ञान अभिव्यक्ति पाकर साहित्य बनता रहता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि ज्ञान-राशि के भण्डार का नाम ही साहित्य है।

व्यापक अर्थ में मानव का सम्पूर्ण ज्ञान ही साहित्य की परिधि में आ जाता है। साहित्य का अर्थ है—जो हितकर है। कला और काव्य, इतिहास और दर्शन सभी में मानव का ज्ञान संचित है—सभी हितकर हैं अतएव ये सभी साहित्य के अंतर्गत स्वीकार किए जा सकते हैं। साहित्य के लिए 'वाङ्मय' शब्द का व्यवहार भी होता है। उसका अर्थ है कि जो कुछ वाणी का विधान है, सभी 'वाङ्मय' कहा जाएगा। इस प्रकार काव्य और नाटक, उपन्यास और कहानी, गद्य काव्य और रेखाचित्र ही साहित्य या 'वाङ्मय' नहीं इतिहास, राजनीति, दर्शन, समाज-शास्त्र, भूगोल, प्राणिशास्त्र विभिन्न विज्ञान और यहाँ तक कि ज्योतिष और धर्मग्रन्थ भी साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। कुछ सीमित अर्थ में साहित्य का अर्थ है—वाणी का रसात्मक विधान अर्थात् शब्दार्थ की रसात्मक योजना। इस अर्थ में उपन्यास और कहानी, नाटक और एकांकी कविता रेखाचित्र, हास्य-व्यंग्य आदि आनन्द लेने वाली वाणी का शब्दमय रूप ही साहित्य है। संस्कृत में इसके लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में वाणी का वही विधान साहित्य है जो हृदय को एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द से ओत प्रोत कर दे। इस प्रकार साहित्य विशिष्ट प्रकार के आनन्द का सृजन करने वाली वाणी का शब्दबद्ध रूप है।

राजनीति राज्य के शासन से सम्बन्धित ज्ञान का नाम है। राजा या शासन के प्रमुख अधिकारी या शासन में संलग्न दूसरे व्यक्तियों को किस प्रकार अपनी प्रजा या राष्ट्र की जनता से व्यवहार करना चाहिए, यह राजनीति का विषय है। राजनीति एक यौगिक शब्द है जिसका अर्थ है—राजा की नीति। प्राचीन काल में राजकुमारों को राजनीति की विशेष प्रकार से शिक्षा दी जाया करती थी। साधारण व्यक्तियों के लिए राजनीति के ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी। इसका भार राजा तथा उनके मन्त्रियों तक ही सीमित रहता था। आज के व्यापक अर्थ में, जब राजा लोग नहीं रहे, राज्य के शासन से सम्बन्धित सभी प्रकार का ज्ञान राजनीति की सीमा में आ जाता है और कॉलिजों में इसे राजनीति-शास्त्र के नाम से पढ़ाया जाता है। जब यह कहा जाता है कि विद्यार्थियों को सक्रिय राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए तो राजनीति का आशय शासन की नीति से ही रहता है।

साहित्य के व्यापक अर्थ में राजनीति भी साहित्य की सीमा में आ जाती है और राजनीति के ज्ञान से सम्बन्धित सारी पुस्तकें साहित्य कही जा सकती हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र राजनीति का ग्रन्थ है पर वह साहित्य की अमूल्य निधि भी है। उसमें राज्य के शासन से सम्बन्धित सब प्रकार की ज्ञातव्य सामग्री हमें मिल जाती है। आज यदि हम साहित्य या वाङ्मय का कोई सूचीपत्र उठायें तो उसमें राजनीति की पुस्तकों के लिए भी निश्चित स्थान

होगा। इस प्रकार राजनीति को साहित्य के व्यापक अर्थ मे समाविष्ट करना नितान्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

जब हम 'साहित्य और राजनीति' शब्द-समूह का व्यवहार करते है तो साहित्य शब्द का व्यवहार उसके सीमित अर्थ मे होता है। उसका तात्पर्य यह होता है कि साहित्य और राजनीति का परस्पर क्या सम्बन्ध है और साहित्य या काव्य मे राजनीति का समावेश किस सीमा तक किया जा सकता है। यह स्वीकार करने मे कोई हिचक नही होनी चाहिए कि साहित्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसमे चिरकाल से दर्शन और धर्म समाज, नीति और राजनीति तथा जीवन के शाश्वत मूल्यो की अभिव्यक्ति होती आई है। काव्य या साहित्य कोरे मनोविनोद की वस्तु नही उसमे मानव की विचार-निधि की अभिव्यक्ति भी रहती है। तुलसी का राम चरित मानस जीवन के शाश्वत मूल्यो का स्पष्ट निदर्शन है। सस्कृत का 'दशकुमार चरित' राजकुमारो के चरित्र का ही तो वर्णन है।

राजनीति का स्पष्ट समावेश भी साहित्य मे होता आया है। ऊपर कह गया है कि सस्कृत साहित्य का अमर ग्रन्थ कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीति का ही ग्रन्थ है। पचतन्त्र की रचना राजकुमारो को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही की गई थी। उसमे कहानियो के माध्यम से राजनीति की शिक्षा भी समाविष्ट हुई। सस्कृत का 'मुद्राराक्षस' नामक राजनीति के दाव पेचो का सुदर निदर्शन है। वास्तविकता यह है कि जो साहित्य—चाहे वह नाटक हो या उपन्यास काव्य हो या निबन्ध ऐतिहासिक विषय वस्तु से सम्बन्ध रखता होगा—उसमे राजनीति का पुट भी अपने आप आ जाएगा। कोई भी साहित्यिक कृति अपने युग के प्रभावो युग की परिस्थितियो तथा तत्कालीन राजनीतिक वातावरण आदि नानाविध परिस्थितियो से अछूती नही रह सकती। अपने युग का प्रभाव तो साहित्य पर पडता ही है। इसलिए कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। राजनीतिक परिस्थितियो का चित्रण भी साहित्य मे इस रूप मे अपने आप हो जाता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य ही नही आदिकाल से लेकर आज तक के स हिन्दी साहित्य मे अपने अपने युग की राजनीति की स्पष्ट छाप है। चदवरदा और जगनिक की रचनाओ का विषय ही राजनीति है। भक्तिकाल मे भ की प्रचुरता के कारण राजनीति प्राय उपेक्षित रही। रीतिकाल मे शृगारि साहित्य के साथ-साथ इस प्रकार के साहित्य की भी रचना होती रही तत्कालीन राजनीति पर प्रकाश डालता है। भूषण की रचनायें इस प्रवृत्ति उदाहरण हैं।

आधुनिक काल मे आकर राजनीतिक वातावरण और राजनीति

सामान्य बातो का अच्छा समावेश साहित्य मे हुआ। भारतेन्दु की रचनाओ मे राजनीति की स्पष्ट छाप है। उनका 'भारत दुर्दशा नाटक' तत्कालीन राजनीतिक स्थितियो का ज्वलन्त उदाहरण है। इस नाटक मे अंग्रेजो के शासन, उनकी अत्याचारपूर्ण नीतिया, टैक्स और मँहगाई आदि का अच्छा चित्रण हुआ है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको मे भी राजनीति का पर्याप्त पुट है। यहाँ तक कि प्रसाद की 'कामायनी' मे भी इसके कुछ सकेत मिलते है। कुछ पक्तियाँ देखिये—

"आह प्रजापति, यह न हुआ, कभी न होगा।
निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा।"

आजकल के उपन्यासो मे राजनीतिक वातावरण भी चित्रित होता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'वैशाली की नगर वधु', सोमनाथ' सत्यकेतु विद्यालकार का 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य', बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के 'माधव जी सिंधिया', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' आदि बहुत से उपन्यासो मे तत्कालीन राजनीतिक वातावरण का स्पष्ट चित्र देखा जा सकता है। इस दृष्टि से बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास बहुत अधिक सफल हुए हैं। फुटपुट प्रसगो मे तो राजनीति का चित्रण या उसकी छाप तो उपन्यासो या काव्यो मे सवत्र देखी जा सकती है।

इस प्रकार सन्देह नही कि साहित्य मे राजनीति की अभिव्यक्ति भी स्पष्ट रहती है। यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि साहित्य मे राजनीति की अभिव्यक्ति किस रूप मे हो सकती है या होनी चाहिए। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि साहित्य की रसात्मकता और कलात्मक की रक्षा और निर्वाह करते हुए, राजनीति भी साहित्य का विषय बन सकती है। किसी भी कलाकृति मे राजनीति का समावेश या राजनीतिक वातावरण का चित्रण उसी सीमा तक होना चाहिए, जहाँ तक यह साहित्य पर हावी न हो जाए।

साहित्य का गुण है रसवत्ता और आनन्द। राजनीति एक ज्ञान है और वह ज्ञान नीरस है। दूसरी बात यह है कि राजनीति जीवन के प्रश्नो का समाधान शासन की दृष्टि से खोजती है वह प्राय अधी होती है, अपनी यथार्थता मे उसमे सत्य और न्याय का स्थान प्राय कम ही रहता है परन्तु साहित्य जीवन के शाश्वत आदर्शों की प्रतिष्ठा करता है और सत्य और न्याय, प्रेम और विश्वास आदि मानव वृत्तियो की रसात्मक व्याख्या करके उन्हें प्रेषणीय और 'सहित' बनाता है, अतएव यदि राजनीति मात्र एक भावधारा के रूप मे घुल मिल सके तो कोई हानि नहीं, परन्तु उसकी अति कभी स्वीकार नही की जा सकती।

साहित्य मे राजनीति का अबाध प्रवेश ग्राह्य नहीं कहा जा सकता है। इस

से वह सामायिकता के दोष से तो बच नही सकेगा, साथ ही वह साहित्य न रहकर राजनीतिक प्रचार का साधन मात्र बन जायेगा। किसी देश की राजनीति के भावित रूप की अन्तर्धारा का समावेश ही साहित्य मे हो सकता है। इस प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ जसी आजकल राजनीतिक दलो द्वारा सचालित पत्र-पत्रिकाओ मे देखन मे आती हैं कुछ विशेष राजनीतिक विचारों की शुष्क अभिव्यक्ति है साहित्य नही। शासन की ओर से भी इस प्रकार का दबाव नही होना चाहिए।

आज के साहित्य म प्रगतिवादी विचारधारा, जहाँ अपने मे प्रगतिवादी दशन को पचाकर चली है वहा वह साहित्य की उच्च कोटि की सामग्री मानी जा सकती है परन्तु किन्ही विशिष्ट राजनीतिक विचारधाराओ का प्रचार करने वाली कृतिया साहित्य से बहिष्कृत होनी चाहिए। राजनीतिक नारेबाजी को साहित्य कभी नही कहा जा सकता। आज यदि कोई साहित्यिक रचना आधुनिक राजनीतिक वातावरण को लेकर लिखी जाती है, तो उसका उद्देश्य यथार्थ और निष्पक्ष चित्रण होना चाहिए ताकि वह पाठक को युग की गतिविधि का परिचय दे सके।

साहित्य द्वारा राजनीति की शिक्षा का प्रश्न आज के युग के लिए स्वीकाय नही है। भले ही कभी राजकुमारो को शिक्षा देन के उद्देश्य से कोई ग्रथ लिखा गया हो पर आज न राजकुमार हैं न किसी व्यक्ति-विशेष का राज्य। फिर साहित्य भानुमती का पिटारा नही है जिसमे समाजशास्त्र दशन या राजनीति आदि ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओ का निदशन या व्याख्यान रहे। साहित्य जीवन की व्याख्या है। इस व्याख्या मे सामयिकता के स्थान पर शाश्वत की अभिव्यक्ति को ही अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। इसमे हमें कोई आपत्ति नही हो सकती कि किसी रचना मे राजनीतिक वातावरण का चित्रण भी हो परन्तु इसका अथ यह कदापि नही ह कि साहित्य राजनीति की पुस्तक ही बन जाए।

साहित्य और राजनीति दो पृथक-पृथक धाराएँ हैं और उनके मूल म ही आकाश पाताल का अन्तर है। यदि राजनीति के सम्बन्ध म साहित्य के आचार्यों या साहित्यकारो के मन्तव्यो पर दृष्टि डाली जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि राजनीति के सम्बन्ध म इन आचार्यों के विचार अच्छे नही हैं। सामान्य रूप म यह कहा जा सकता है कि राजनीति गन्दला पानी है जो अपनी गन्दगी को दूसरो पर फेंकता है। राजनीति एक मनोहर वेश्या है, जो भोले भाले लोगो को फँसाती और उन्हें मार्ग भ्रष्ट करती ह। साहित्य शाश्वत मानव मूल्यो की रक्षा म सतत् प्रयत्नशील रहता है। उसका गुण है—सत्य शिव सुन्दर की [illegible]। कहने की आवश्यकता नही कि राजनीति म इन तीनो गुणो

लिए कोई स्थान ही नही । वह तो शासन की सफलता की प्रवस्थापिका है, चाहे वह कैसे भी साधना से हो ।

इस प्रकार साहित्य एक पवित्र धरोहर है—मानव की सुन्दर और पावन वृत्तियो की अभिव्यक्ति जो पूजा की वस्तु है परन्तु राजनीति बुद्धि के दाव-पेंचो का खेल है । साहित्य म राजनीतिक अभिव्यक्ति उसी सीमा तक ग्राह्य है, जहाँ तक साहित्य की रसवत्ता, कलात्मकता, पावनता और दिव्यता की रक्षा होती रहे, जहाँ तक साहित्य हमे अलौकिक आनन्द प्रदान करता रहे । प्रचार साहित्य का उद्देश्य नही है । इसीलिए साहित्य द्वारा राजनीतिक विचारो का प्रचार आत्महत्या करना है । साहित्य की शिवता मानव-वृत्तियो के प्रसार मे है शाश्वत मूल्यो की प्रतिष्ठा म है न कि दलगत प्रचार की सोद्देश्यता मे । साहित्य की इस पावनता की रक्षा हर स्थिति मे होनी ही चाहिए ।

४ | साहित्य और विज्ञान

अपने मूल रूप म साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र, उनकी गतिविधियाँ एव दिशाएँ, जीवन के प्रति उनकी दृष्टियाँ सवथा भिन्न है । साहित्य मन की कोमलकान्त भावनाओ को सूक्ष्म एव अदृश्य सभार प्रदान करता है, जबकि विज्ञान का मन की कोमल-कान्त एव सूक्ष्म भावनाओ के साथ कही दूर का भी सम्बन्ध नही रहा करता । वह जीवन के स्थूल भौतिक एव ठोस तत्त्वो पर आधारित रहता है । साहित्य के आधार रूपो का कोई तोल-माप नही होता, जबकि विज्ञान उन्ही तत्त्वो एव पदार्थों पर आधारित रहा करता है कि जिन्हे नापा-तोला जा सकता है या फिर कम से कम गणित की सहायता से जिन तत्त्वो को हिसाब किताब की सीमा म बाधा जा सकता है । विज्ञान ने उन्ही को ही अपना आधार बनाया है । इस प्रकार प्रत्यक्षत साहित्य और विज्ञान मे कोई सम्बन्ध दिखाई नही देता । हाँ जहाँ तक दोनो के चरम उद्देश्यो का प्रश्न है, उन दृष्टियो से हम दोनो को एक ही लक्ष्य विन्दु की ओर अग्र-सर कर सकते है । वह लक्ष्य विन्दु है जीवन के चरम सत्य का अन्वेषण और उस व्यावहारिक दृष्टियो से मानव-जीवन के लिए उपयोगी बना देना ।

इसके अतिरिक्त साहित्य और विज्ञान दोना मूलत अपने आस-पास के व्यवहार जगत से ही प्रेरणा लेकर अपने अपने कलेवर और प्राण-तत्त्व का विनिर्माण करते हैं । साहित्य का रूपायन एक प्रत्यक्ष भाषा लिपि म हुआ करता है जबकि विज्ञान की भाषा-लिपि एक यन्त्र के रूप मे रूपाकार ग्रहण करके

सभी रूपो से मानव की बौद्धिक चेतनाओ एव प्रवृत्तियो को ही प्रश्रय दिया है, प्रभावित किया है। इसी बात का यह प्रमाण है कि वैज्ञानिक उन्नति के इस प्रतिवादी युग मे ममत्व प्राय हृदयहीन होता जा रहा है। चारो ओर अनास्था, अविश्वास एव परायेपन का वातावरण छा रहा है। साहित्य जहाँ टूटे हृदयो को जोडने का प्रयत्न करता है वहाँ विज्ञान जुडे हृदयोमे भी दरारें डालने का सतत और सफल प्रयास कर रहा है। अतीत मे भी जब ज्ञान-विज्ञान का अति की सीमा तक विकास हुआ इसी प्रकार के प्रमाण सामन आए—इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष गवाह है।

विज्ञान का प्रभाव किसी युग मे चाहे कैसा भी क्यो न रहा हो, उसके परिणाम चाहे कितने भी सचालक क्यो न हुए और हो रहे हो, फिर भी इस बात से कतई इन्कार नही किया जा सकता कि व्यवहार जगत के समान ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियो ने साहित्य के अन्त देश मे भी एक प्रत्यक्ष हलचल मचा दी है। तभी तो आज साहित्य के समान अन्यान्य सभी कलाएँ भी सूक्ष्म से अनवरत स्थूल की ओर अग्रसर होती जा रही हैं। साहित्य मे आज हृदय-देश के स्थान पर बुद्धि-देश अधिकाधिक उजागर होता जा रहा है। भाव की कल्पना का स्थान पठारी यथार्थ ने ले लिया है। साहित्य मे परम्परा से जो अनेक प्रकार की मान्यताएँ, रूढियाँ एव उक्तियाँ प्रचलित चली आ रही थी, विज्ञान ने उनके अन्त देश पर सीधी चोट पहुँचाई है। उसने साहित्य के उपमानो, प्रतीक-विधानो और बिम्ब-योजनाओ तक मे आमूल-चूल परिवर्तन लाकर रख दिया है। आज यदि हम प्रेयसी के मुख की उपमा चाँद से देना चाहें, तो सहसा हमारे सामने राख से काले उवड-खाबड का बिम्ब उभर कर रह जाएगा। यदि 'कनक छरी-सी कामिनी' कहना चाहें तो सारा कचन किन्ही रासायनिक प्रक्रिया मे पड कर पिघलता नजर आएगा। यदि प्रेयसी को हम नवनीत (माखन) अगी कहना चाहें तो हमारे सामने जाने किस प्रकार के मिलावटी स्वाद वाली एक पुडिया या पैकेट-सा उभार उभारने लगेगा कि जिसमे न तो वास्तविक कोमलता ही है और न स्निग्ध तरलता ही। इस प्रकार विज्ञान के प्रभावो ने साहित्य-कलाओ के लालित्य-तत्त्व के सारे क्षीरीजे को ही बिखरा कर रख दिया है।

यह विज्ञान का ही प्रभाव है कि आज कविता गद्य, चित्रकला आड-टेढी अबूझ रेखाएँ और गद्य कुछ सकेत मात्र बन कर रह गया है। पहले साहित्य को अपने सृजन कर्त्ता के व्यक्तित्व का परिचायक माना जाता था, पर आज वह उसके भिदेस का ही परिचय दे पाता है, वास्तविक स्वरूप का नही। यह भी ध्यान देने की बात है कि विज्ञान की किसी उपलब्धि मे वैज्ञानिक के व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष दर्शन कभी भी नहीं हुए या होते, पर साहित्य मे कुछ वर्षों

हमारे सामने आती है। साहित्य सूक्ष्म एवं सम्भावित साहित्य का अन्वेषक होता है जबकि विज्ञान स्थूल एवं ठोस सत्य का। साहित्य के अन्वेषित साहित्य को भावना के स्तर पर केवल अन्तरात्मा या अन्तर्मन में अनुभव किया जा सकता है, जबकि विज्ञान द्वारा अन्वेषित सत्य के ठोस रूप को प्रत्यक्ष रूप से भोगा जा सकता है। इस प्रकार साहित्य और विज्ञान में स्वरूपगत, प्रवृत्तिगत और आत्म-तत्त्व की दृष्टियों से एक महद् अन्तर रहते हुए भी आज का साहित्य विवश है कि वह विज्ञान की उपलब्धियों की उपेक्षा न करे, जबकि विज्ञान के समक्ष इस प्रकार की कोई भी विवशता नहीं है। वह साहित्य से सर्वथा निरपेक्ष रहकर अपनी अनवरत दौड़ में निरत है। उसके पास इस बात का न तो अवसर ही है और न वह दृष्टि ही कि जिससे वह यह देख सके, कि उसकी दौड़ मानवता का हित-साधन किस सीमा तक कर पा रही है और किस सीमा तक वह मानवता को विनाश के कगारों तक ढकेलता लिए जा रहा है। दूसरी ओर साहित्य में यह सब देखने-जाँचने का समय और अवकाश तो रहते ही हैं, इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टियाँ भी रहा करती हैं। इसी कारण साहित्य का प्रभाव सार्वजनीन, सार्वकालिक और शाश्वत माना जाता है जबकि विज्ञान की उपलब्धियाँ दिन प्रतिदिन पुरानी पड़ती जाती हैं। एक उपलब्धि का स्थान दूसरी उपलब्धि ले लेती है।

साहित्य का सम्बन्ध जीवन के शाश्वत तत्त्वों, रूपों एवं चेतनाओं के साथ रहा करता है, इसी कारण वह अपनी उपलब्धियों पर नाज कर सकता है, वह अपनी अमरता का दम भी भर सकता है। निश्चय ही साहित्य में शाश्वत शक्तियाँ ही अधिक होती हैं। किन्हीं कारणों से सब कुछ विनष्ट हो जाने के बाद भी अपने रूप में साहित्य कभी नष्ट नहीं होता। स्थूल रूप में विनष्ट होकर भी सूक्ष्म रूप में साहित्य कभी भी विनष्ट नहीं होता। इसके विपरीत स्थूल स्वरूप वाला विज्ञान तनिक-सा भी पथभ्रष्ट होकर सृष्टि के दृश्य अदृश्य रूपाकार को तो नष्ट भ्रष्ट कर ही देता है या भद्दा एवं कुरूप बना ही देता है स्वयं भी समूल नष्ट हो जाया करता है। हजारों लाखों वर्ष पहले जो साहित्य रचा गया था वह आज भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित है जबकि सकड़ों वर्षों पहले के वैज्ञानिक उपकरण यन्त्र या शस्त्रास्त्र रूप भी आज अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य में स्थैर्य रहता है जबकि विज्ञान में इसका अभाव।

साहित्य और विज्ञान में इन सूक्ष्म अन्तरों को जान लेने के बाद अब इनके परस्पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा कर लेना भी संगत रहेगा। साहित्य का क्षेत्र हृदय है। वह हृदय से उत्सृत होकर हृदयों पर ही अपना गहरा प्रभाव डालता है। इसके विपरीत विज्ञान बुद्धि की उपज है। उसने अपने स्थूल-सूक्ष्म

सभी रूपो से मानव की बौद्धिक चेतनाओ एव प्रवृतियो को ही प्रश्रय दिया है, प्रभावित किया है। इसी बात का यह प्रमाण है कि वैज्ञानिक उन्नति के इस भतिवादी युग मे ममत्व प्राय हृदयहीन होता जा रहा है। चारो ओर अनास्था, अविश्वास एव पराएपन का वातावरण छा रहा है। साहित्य जहाँ टूटे हृदयो को जोडने का प्रयत्न करता है वहाँ विज्ञान जुडे हृदयो मे भी दरारे डालने का सतत और सफल प्रयास कर रहा है। अतीत मे भी जब ज्ञान विज्ञान का अति की सीमा तक विकास हुआ, इसी प्रकार के प्रमाण सामने आए—इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष गवाह है।

विज्ञान का प्रभाव किसी युग मे चाहे कैसा भी क्यो न रहा हो, उसके परिणाम चाहे कितने भी सचालक क्यो न हुए और हो रहे हो, फिर भी इस बात से कतई इन्कार नही किया जा सकता कि व्यवहार जगत के समान ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियो ने साहित्य के अन्त देश मे भी एक प्रत्यक्ष हलचल मचा दी है। तभी तो आज साहित्य के समान अन्यान्य सभी कलाएँ भी सूक्ष्म से अनवरत स्थूल की ओर अग्रसर होती जा रही हैं। साहित्य मे आज हृदय-देश के स्थान पर बुद्धि-देश अधिकाधिक उजागर होता जा रहा है। भाव की कल्पना का स्थान पठारी यथार्थ ने ले लिया है। साहित्य मे परम्परा से जो अनेक प्रकार की मान्यताऐं, रूढियाँ एव उक्तियाँ प्रचलित चली आ रही थी, विज्ञान ने उनके अन्त देश पर सीधी चोट पहुँचाई है। उसने साहित्य के उपमानो, प्रतीक-विधानो और बिम्ब-योजनाओ तक मे आमूल-चूल परिवर्तन लाकर रख दिया है। आज यदि हम प्रेयसी के मुख की उपमा चाँद से देना चाहे, तो सहसा हमारे सामने राख से काले ऊबड-खाबड का बिम्ब उभर कर रह जाएगा। यदि 'कनक छडी-सी कामिनी' कहना चाहें तो सारा कचन किन्ही रासायनिक प्रक्रिया मे पड कर पिघलता नजर आएगा। यदि प्रेयसी को हम नवनीत (माखन) अगी कहना चाहें, तो हमारे सामने जाने किस प्रकार के मिलावटी स्वाद वाली एक पुडिया या पैकेट-का सा उभार उभरने लगेगा कि जिसमे न तो वास्तविक कोमलता ही है और न स्निग्ध तरलता ही। इस प्रकार विज्ञान के प्रभावो ने साहित्य-कलाओं के लालित्य-तत्त्व के सारे शीरीजे को ही बिखरा कर रख दिया है।

यह विज्ञान का ही प्रभाव है कि आज कविता गद्य, चित्रकला आड-टेढी अबूझ रेखाएँ और गद्य कुछ सकेत मात्र बन कर रह गया है। पहले साहित्य को अपने सृजन कर्ता के व्यक्तित्व का परिचायक माना जाता था, पर आज वह उसके भिदेस का ही परिचय दे पाता है, वास्तविक स्वरूप का नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि विज्ञान की किसी उपलब्धि मे वैज्ञानिक के व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष दर्शन कभी भी नहीं हुए या होवे, पर साहित्य मे कुछ वर्षों

पहले तक तो कम से कम सर्जक कलाकार का व्यक्तित्व प्रत्यक्षत भोक्ता रहा है। इस प्रकार विज्ञान का प्रभाव हमारी स्थूल इन्द्रियों तक ही सीमित होकर रह जाता है, जबकि साहित्य का प्रभाव रोम रोम के अन्तस्तल को झझोड कर रख देने की अद्भुत शक्ति रखता है। विज्ञान का साहित्य पर एक महत्त्वपूर्ण उपकार भी है। यह वास्तव मे अत्यधिक सराहनीय है। विज्ञान की एक शाखा मनोविज्ञान भी है। उस शाखा के सिद्धान्तो को अपना कर ही आज का साहित्य मानव मन की अन्तश्चेतनाओं के उदघाटन की अद्भुत क्षमता प्राप्त कर सका है। इसी प्रकार एक अन्य दृष्टियो से भी विज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। उसने आज साहित्य को अपना वर्ण्य विषय बनाने के लिए अनेक नए-नए क्षितिज प्रदान किए हैं। ज्ञान विज्ञान के आधारभूत विषयो को अपना कर आज अनेक प्रकार का समृद्ध साहित्य रचा जा रहा है। इसी प्रकार विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने साहित्य को कोरी कल्पनाओ के जाल-जाल से निकल कर जीवन के प्रति व्यावहारिक एव यथार्थ वादी दृष्टिकोण अपनाने की भी प्रेरणा प्रदान की है। इसी कारण साहित्य अब केवल मनोरजन और तथाकथित अलौकिक रस या आनन्द का पोषक न रहकर जीवन-समाज का सच्चा पथ प्रदशक बन पाने की क्षमता से भी सम्पन्न हो सका है। तभी तो वह विगत कुछ शतियो से विश्व भर मे अनेक प्रकार की अभूतपूर्व क्रांतियो का सृजन कर चुका है। साहित्यकार के दृष्टिकोण को सन्तुलित एव वैज्ञानिक परिवेश प्रदान करने मे भी विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस सारे विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप अन्त मे हम यह कहना चाहते हैं यदि साहित्य अपने जसी कोमलता और शान्त चित्तता विज्ञान को भी कर पाता तो निश्चय ही वह दिन मानव-ससार के लिए सर्वाधिक होता। पर मात्र बौद्धिक व्यायाम और आयाम का परिणाम होने के विज्ञान से ऐसी आशा नही की जा सकती। हाँ साहित्यकार अवश्य ही रूप से विज्ञान और उसकी समस्त उपलब्धियो को आत्मसात् करके वातावरण अवश्य तैयार कर सकता है कि जिससे विज्ञान की मात्र उपलब्धियाँ भी मानवता का अधिकाधिक हित-साधन कर सकें। ऐसा हो सकता है कि जब साहित्यकार तो विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण तो अपनाए ही विज्ञान और वैज्ञानिको को भी ऐसा दृष्टिकोण अपनाने के लिए करें। इसी मे आज के सन्दर्भो मे साहित्य और विज्ञान दोनो का साधकता है।

५ | कला कला के लिए या जीवन के लिए

[stamp]

चित्त को आह्लादित करने वाली रचना कला कही जाती है, चाहे यह कोई सुन्दर कविता हो, या कोई रमणीय चित्र हो, या फिर वीणा का मादक संगीत हो। कला के इसी गुण को ध्यान में रखते हुए संस्कृत आचार्यों ने काव्य का लक्षण बताते हुए 'रसात्मक वाक्य' को ही काव्य बतलाया था। जिस रचना को पढ़कर आनन्द आ जाए, वह उनकी दृष्टि में काव्य थी।

चिर-यौवना कला युगों से शृंगारित होती आ रही है। कलाकारों ने अपनी कलाकृतियों के फूलों से कला की देवी की शाश्वत आराधना की है और कर रहे हैं। कुछ कृतियाँ ऐसी भी रची गई कि जिनमें सहृदय में आनन्द की अनुभूति नहीं होती। ऐसी कृतियों को कला की कोटि में रखा ही नहीं गया। पर जो रचनाएँ लोगों को आनन्दित करती थीं, वे भी दो प्रकार की थीं। एक आनन्ददायक होने के साथ-साथ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को उन्नत करने वाली और दूसरे प्रकार की कला-कृतियाँ रसपूर्ण होने पर भी या तो जीवन को पतित करने वाली थीं, अथवा जीवन से उनका कोई भी सम्बन्ध न था। कहा जा सकता है कि वे जीवन-निरपेक्ष थीं। इन दो प्रकार की रचनाओं के कारण यह विवाद उत्पन्न हुआ कि कला का लक्ष्य क्या है? वह केवल चित्त को आह्लादित करे या उसे जीवन को मंगलमय बनाने की कसौटी पर भी खरा उतरना होगा।

यह विवाद शायद किसी पुराने समय में हमारे देश में भी उत्पन्न हुआ होगा। पर भारतीय आचार्यों ने तो अपनी समन्वय बुद्धि के अनुसार काव्य के प्रयोजन गिनाते हुए "काव्य यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे, शिवेतरक्षये, सद्य परनिर्वृत्तये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" कहकर इस विवाद का गला ही घोट दिया था। उनके कथनानुसार काव्य का प्रयोजन यश की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, व्यवहार की शिक्षा, अमंगल की शान्ति, शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति और पत्नी की भाँति प्रेम भरी रीति से उपदेश देना था। इस प्रकार यद्यपि भारतीय आचार्यों की दृष्टि में काव्य का एक प्रयोजन पत्नी की भाँति प्रेमभरी रीति से उपदेश देना भी था, किन्तु उसका स्थान अन्य सब प्रयोजनों की तुलना में गौण रहा। इसको भी एक प्रयोजन स्वीकार कर लेने से विवाद समाप्त हो गया।

आधुनिक काल में यह विवाद चला यूरोप में और वहीं से यह आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी आया। वहाँ साहित्यशास्त्रियों के दो दल बन गये थे। एक का कथन था कि कला की कसौटी केवल उसका उत्कृष्ट होना ही है। अर्थात्

यदि कोई रचना चित्त को आह्लादित करती है, तो वह अवश्य ही उत्कृष्ट कला है भले ही उससे लोगो का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पतित और भ्रष्ट होता हो। इस विचारधारा के समर्थक वाल्टर, ऑस्कर वाइल्ड, स्पिनगार्न और ब्रैडले इत्यादि रहे। परन्तु इसके ठीक विपरीत एक और विचारधारा थी जिसके समर्थक जान रस्किन, टॉलस्टॉय, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचर्ड्स इत्यादि थे। इनका कथन था कि यदि कोई कला कृति वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव डालती है तो वह चाहे कितना ही चित्त को आह्लादित करने वाली क्यो न हो, उसे उत्कृष्ट कला नही माना जा सकता। इन विचारको के कथनानुसार सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को उन्नत करना भी कला का एक अनिवार्य उद्देश्य है। जो रचना इस कसौटी पर खरी न उतरे, उसे कला नही कहा जा सकता। जो कलाकृति चित्त को आह्लादित करने की आड मे मनुष्य को पतन के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है, उसे कला कहना कला का मूल्य गिराना है।

इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ जोर-शोर के साथ चलीं। दोनो के समर्थक उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उनकी रचनाओं में भी ये विचारधाराएँ प्रतिबिम्बित होती रही। उदाहरण के लिए ऑस्कर वाइल्ड ने अपनी रचनाओं का लक्ष्य केवल चित्त की आह्लादकता रखा जबकि टॉलस्टॉय की रचनाएँ समाज को उन्नत करने का ध्येय लेकर चली।

'कला कला के लिए सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि जिन लोगों को शिक्षा और उपदेश की आवश्यकता है, वे धर्म-ग्रन्थ पढ़ें। उन पर मुसीबत क्या पड़ी है कि वे कविता या उपन्यास पढ़कर ही शिक्षा ग्रहण करें? जिसे ज्वर की चिकित्सा करनी है वह कुनीन पिये, शरबत के गिलास की ओर जाये ही क्यों? शरबत तो मुँह मीठा करने के लिए है, बुखार उतारने के लिए नहीं।

स्पिनगार्न ने कहा कि कला और आचार-शास्त्र दो बिल्कुल पृथक वस्तुएँ हैं। कला मे सदाचार को ढूँढना ठीक ऐसा ही है जैसे कोई गणित मे सदाचार ढूँढने लगे और कहे कि त्रिभुज का चित्र दुराचारपूर्ण है और चतुर्भुज का सदाचारपूर्ण।" इस तरह कला की परीक्षा केवल उसके चित्त को आह्लादित कर सकने की शक्ति के आधार पर होनी चाहिए उसके द्वारा सदाचार के प्रचार की मात्रा के आधार पर नहीं।

इस दृष्टिकोण मे सत्य का अंश बिल्कुल न हो, यह बात नहीं है। सदाचार का प्रचार जीवन के लिए उपयोगी हो सकता है परन्तु यह उपयोगिता ी दृष्टियाँ ही तो जीवन का सर्वस्व नहीं हैं। शिरीष और चमेली के फूल होते हैं उन्हें सूंघकर मन प्रफुल्लित हो जाता है परन्तु उनकी सब्जी

नही बन सकती है। सब्जी बडहल, सेमर और मुहाजने के फूलो की बन सकती है तो क्या शिरीष और चमेली को इसलिए फूल ही न माना जाए, क्योंकि वे सब्जी बनाने के लिए उपयोगी नहीं। या फिर इस कारण बडहल, सेमर और मुहाजने को शिरीष और चमेली से अच्छा फूल मान लिया जाए।

स्पष्ट है कि सदाचार के प्रचार और जीवन के लिए उपयोगिता को कला का अनिवार्य प्रयोजन नही माना जा सकता। यदि मान लिया जाए तो 'चना जोर गरम' के पद्य को अन्य बहुत-सी कविताओ की अपेक्षा ऊँचा स्थान देना होगा क्योंकि वे अधिक उपयोगी हैं।

हम यह माने बिना नही रह सकते कि जीवन मे आनन्द का एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस आनन्द के लिए बहुत कुछ त्याग किया जाता है, बहुत कुछ गवाया जाता है। जो लोग आतिशबाजी छोडते हैं, वे इसका स्पष्ट उदाहरण हैं। मेहनत से कमाया हुआ पैसा क्षण भर बाद राख हो जाता है। पर आतिशबाजी का आनन्द लोग लेते ही हैं और उन्हें कोई मूर्ख नही कहता। इसी तरह अगर यह बात सत्य है कि कोई रचना सचमुच चित्त को आह्लादित करती है, तो उसका अपना महत्त्व है, भले ही वह जीवन को पतित भी करती हो।

किन्तु इसकी भी कोई सीमा बनानी होगी। लोग आतिशबाजी म पैसा फूँक कर आनन्द लेते हैं यह सच है, किन्तु आतिशबाजी देखने के लिए कोई अपना घर नही फूँक देता। इसी तरह यह भी ठीक है कि शिरीष और चमेली के फूल बहुत सुगन्धित होते हैं और पोस्त के फूल बहुत सुन्दर होते हैं। परन्तु यदि सब लोग शिरीष, चमेली और पोस्त की ही खेती करने लगें, तो 'कला को कला के लिए' बताने वालो का जीना भी मुश्किल हो जाए।

कलाकृतियाँ समाज पर गहरा प्रभाव डालती हैं। कोई भी अच्छी कविता देखते-देखते लोगो की जबान पर चढ जाती है। अच्छे उपन्यासो के पात्र लोगो के सामने सजीव से चित्रित रहते हैं। जो रचना कला की दृष्टि से जितनी अधिक उत्कृष्ट होती है, उसका जनता पर उतना ही अधिक गहरा प्रभाव पडता है। यदि सभी या अधिकाश उत्कृष्ट कलाकृतियाँ मानव-जीवन को पतन की ओर ले जाने वाली हो, तो समाज का भविष्य कदापि उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। चित को आह्लादित कर सकने की शक्ति कला की बहुत बडी शक्ति है और उसका प्रयोग यदि समाज के कल्याण के लिए किया जाए, तो यह अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हो सकती है। यदि इस शक्ति को उल्टे रास्ते लगा दिया जाए तो यह समाज का सर्वनाश भी उतनी ही सरलता सकती है।

अब प्रश्न आनन्द और कल्याण मे से चुनाव करने का है, दूसरे

प्रेय और श्रेय मे से एक के चुनाव का। जिस प्रकार कोई भी विवेकशील युवक केवल सौन्दय पर रीझ कर विषकन्या से विवाह करने को तैयार न होगा, या कोई भी व्यक्ति मीठे के लोभ मे जहरीली मिठाई खाने को तैयार न होगा, उसी प्रकार कोई भी स्वस्थ समालोचक, अमगलकारिणी—चाहे वह चित्त को कितना ही आह्लादित क्यो न करती हो—कला का स्वागत न करेगा। आनन्द बहुत महत्त्वपूण वस्तु है, किन्तु स्वास्थ्य उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। जो आनन्द स्वास्थ्य के मोल पर मिले वह तो साक्षात् विष है।

इस विषय म दो मत नही हो सकते कि यदि कला चित्त को आह्लादित भी करे और साथ ही मगलकारिणी भी हो, तो वह सबसे अच्छी है। यदि हमारे सामने दो रचनाएँ हो, जिनमे चित्त को आह्लादित करने की शक्ति तो समान हो, पर एक से अच्छी शिक्षा मिलती हो और दूसरी से बुरी, तो नि सन्देह अच्छी शिक्षा देने वाली रचना ही अच्छी कही जाएगी।

कलावादी और आदशवादी दोनो ही सिद्धान्त इस दृष्टि से अपूण दिखाई पडते हैं। उनम से कोई भी अकेला सही निणय करने मे हमारी सहायता नही कर सकता। संस्कृत आचार्यो का समन्वययुक्त दृष्टिकोण ही हमारा ठीक पथ प्रदशन कर सकता है। उसके अनुसार कलाकृति का मुख्य उद्देश्य चित्त को आह्लादित करना और गौण उद्देश्य मगलकारी उपदेश देना है।

हमारे भारतीय कलाकार इसी बात को सामने रखकर चलते रहे है। वाल्मीकि व्यास, कालिदास, सूर और तुलसी की रचनाओ मे शिक्षा और उपदेश की ओर ध्यान अवश्य रखा गया है किन्तु उन रचनाओ मे चित्त को आह्लादित करने की शक्ति को अधिकतम बढाने की चेष्टा की गई है। इसलिए वे सफल हैं। आधुनिक युग मे प्रेमचन्द जी न अपने उपन्यासो मे यही सफलता प्राप्त की है। वे एक शिक्षा मन मे लेकर चल रहे होते हैं किन्तु उनके उपन्यासो में वह शिक्षा कला के तले दबी रहती है। जहाँ कला शिक्षा के तले दब जाती है, वहाँ साहित्यकार उपदेशक बन जाता है।

वस्तुत कला मे सौन्दर्य और मगल दोनो ही गुण अभीष्ट हैं, परन्तु जहाँ तक विशुद्ध कला का प्रश्न है, मगल का स्थान सौन्दय की अपेक्षा गौण है। मगल के बिना भी कला 'कला' कही जा सकती है किन्तु सौन्दय के अभाव मे कला की कल्पना भी नही की जा सकती। सौंदयमयी कला का सुरसरिता के समान हितकर होना ही वाछित है—

'कीरति भनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'

—तुलसीदास

६ साहित्यकार का दायित्व

प्रत्यक युग का साहित्य युगीन-समाज-सापक्ष हुआ करता है। साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य मे युगीन समाज और समाज तथा जीवन के शाश्वत मूल्य ही प्रतिविम्बित रहा करते हैं। साहित्य समाज से ही अपनी भाव और विचार सामग्री सकलित करके, उसे अपने परिवेश मे ढाल कर, सजा-सवार कर फिर समाज और जीवन को ही उसके चिरतन हित के लिए अर्पित कर दिया करता है। साहित्य समाज और जीवन का सच्चा हित चिन्तक और पथ-प्रदशक हुआ करता है। साहित्य और समाज तथा जीवन म अग-अगि-भाव है। इस प्रकार की अनेक बातें हमे साहित्य और समाज के विभिन्न तथा विविध क्षेत्रो मे, आरम्भ स ही सुनने को मिलती आ रही हैं। वास्तव मे इस प्रकार की उक्तियो द्वारा साहित्य-समाज मे सापेक्षता की जो प्रतिष्ठा की जाती है उसके मूल मे साहित्यकार का दायित्व स्वत ही अन्तर्हित दिखाई देने लगता है। क्योकि यह सापेक्षता साहित्य मे तभी आ सकती है कि जब प्रत्येक युग का साहित्यकार अपने जीवन-सम्बन्धी मूल्यो और कत्तव्यो के प्रति सजग रहा हो। यह एक निखरा हुआ तथ्य है कि प्रत्येक युग के सच्चे और निरपेक्ष साहित्यकार ने जीवन और समाज के प्रति अपने इस दायित्व को पूण सजगता से निभाया है। तभी तो साहित्य मे जीवन के उन शाश्वत तत्त्वो एव मूल्यो का समावेश हो सका है कि जो आज भी मानव-सभ्यता-सस्कृति को मानवता के मूल उत्स से तो जोडे हुए ही हैं उसकी विकास की गतियो को भी उचित तट-बन्ध प्रदान करते हुए अग्रसर कर रहा है। नही तो जीवन वही का वही रह जाता, जहाँ से उसका अरबो वष पहले समारम्भ हुआ था।

प्रत्यक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं। अपनी स्थितियाँ और परिस्थितियाँ रहा करती हैं। मूल्य एव मान भी अपने ही रहा करते ह। उनमे गतिशीलता या गत्यावरोध उस युग की परिस्थितियो, युगीन मान्यताओ के उदार या अनुसार दृष्टिकोणो के आधार पर ही उपस्थित हुआ करते ह। किंतु यह एक निखरा हुआ तथ्य है कि किसी भी युग का साहित्यकार व्यथ के और गत्यावराधक मानो एव मूल्यों के प्रति हमेशा विद्रोही रहा है। उसन उन्ही तत्त्वो एव मूल्यों को अपनी सूझ-बूझ की हवा प्रदान की है कि जो जीवन के विकास और गतिशीलता के लिए उपयोगी तो रहे ही हैं साथ ही सहज एव शाश्वत मानवीय मानो को प्रतिष्ठापित कर पाने मे भी निरन्तर सहायक हा सके हैं। तभी तो अतीत के अन्ध कुहास से निखरकर जीवन एव समाज और

साहित्य आज के धुमालोक में पहुँच सका है। सत्य तो यह है कि किसी भी युग का साहित्यकार उस जीवन के प्रति अपने दायित्वों से विमुख रह ही नहीं सकता कि जिसमे वह निवास कर रहा होता है। इससे भी आगे बढ़कर सत्य यह है कि प्रत्येक युग का सच्चा साहित्यकार अतीत और वर्तमान के शाश्वत मानवीय मूल्यो के साथ अनवरत जुड़ा रह करके भविष्य के खेता म भी मानवीय विकासशील मूल्यों के बीज बोने के प्रयत्न किया करता है। इसी कारण साहित्य और साहित्यकार का युग-द्रष्टा और स्रष्टा कहा जाता है। महान् साहित्यकारो द्वारा अपनी रचना-प्रक्रिया मे की गई भविष्यवाणियाँ हमेशा सत्य हुई हैं और आज भी सत्य हो रही हैं।

अब तनिक ऐतिहासिक दृष्टियो से इस बात पर विचार कर लेना सगत होगा कि किसी भी युग के साहित्यकारो ने युगीन भावनाओ को कहाँ तक समझा, परखा और उनके प्रति अपने दायित्वो का निर्वाह किस रूप म और किस सीमा तक किया। विश्व-साहित्य मे ऋग्वेद लिखित साहित्य का सबसे प्राचीन और सवप्रथम उपलब्ध साहित्य माना जाता है। वही से मानवीय प्रयत्नो की इस महान् उपलब्धि साहित्य-सजना के इतिहास का विकास भी आरम्भ माना जाता है। उसके वैदिक साहित्य सहिताओ और उनकी व्याख्याओ से सम्बधित साहित्य की एक लम्बी प्रक्रिया चलती है। उस सब मे ऐतिहासिक परिवेश मे वर्णित-विषयो मे आखिर है क्या इसका उत्तर तत्कालीन समाज के ऐतिहासिक परिवेश को जान लेने के बाद ही उचित रूप में मिल सकता है। तब का मानव-समाज आज के समान साधन-सम्पन्न उन्नत एव भौतिक दृष्टिया से विकसित नही था जबकि बौद्धिक और मानसिक दृष्टिया से उसे कदापि अवनत या अविकसित नही कहा जा सकता। प्राय वन्य प्रदेशा मे रहने वाले लोगो का जीवन पूणतया प्रकृति और प्राकृतिक साधनो पर ही आश्रित था। इसी कारण उनका जीवन प्रकृति के समान ही निमल शुभ्र शान्त और सुन्दर भी था। आज के समान अविश्वास आपा धापी का वातावरण या स्वाथ-लोलुपता वहाँ कतई नही थी। सघष और द्वन्द का यह रूप भी नही था। वे पूर्णतया प्राकृतिक जीवन ही जीते थे। यही कारण है कि उस युग के साहित्यकारो ने उषा अग्नि सूय वरुण, चन्द्र पवन आदि के गीत गाए। इतना ही नही इन सब को देवत्व तक प्रदान कर दिया जो कि आज भी उसी रूप मे मान्य चला आ रहा है। मानव को आश्रय दन वाले पवतों नदियो और वक्षो तक को उस युग के साहित्यकारो ने देवत्व प्रदान कर दिया। युगानुरूप भावनाओ विचारों जीवन की रीति-नीतियो आचार विचारो का यथातथ्य वणन किया। उसमे यदि रहस्यात्मक आध्यात्मिकताओं हो गया है तो यह युगीन साहित्यकार की ईनानदारी का ही द्योतक

है क्योंकि जीवन था ही ऐसा ! प्रकृति मे जब स्वत. सभूत रहस्यमयता विद्यमान है तो उसके सहारे पलने वाले जीवन और उस जीवन का चित्रण करने वाले साहित्य मे वह सब कैसे न आ पाता ? उस साहित्य को पढने से युगीन समाज के रहन सहन, खान-पान, दैनिक जीवन की समस्त क्रिया-प्रक्रियाओं और गतिविधियो का एक यथार्थ लेखा जोखा सहज ही उपलब्ध हो जाता है। उसी के आधार पर ही तो आज मानवता और मानव-समाज के विकास के आंकडे इतिहासकारो और वैज्ञानिको ने प्रस्तुत किए हैं। वास्तव मे मानव-समाज की अन्त प्रवृत्तियो का चितेरा साहित्य ही होता है इतिहास तो बाह्य रूप-रेखायें ही प्रस्तुत किया करता है। इस दृष्टि से वैदिक काल के साहित्य-कार ने निश्चय ही अपने दायित्व का निर्वाह भली-भांति किया है।

अब आगे चलिए। वैदिक साहित्य के बाद 'ब्राह्मण-साहित्य' का युग आता है। इन 'ब्राह्मण-ग्रन्थो' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन और समाज अब नव्य निर्माण की प्रक्रिया मे पड चुका था। पहले का समन्वित जीवन अब वर्णों, जातियो और वर्गों मे अपने कर्मों के अनुसार ही विभाजित होना प्रारम्भ हो गया था। बौद्धिक विकास के कारण प्रकृति के अभेद्य माने जाने वाले रूपो के साथ मानव जाति का सघर्ष बौद्धिक आधार पर ही प्रारम्भ हो गया था। व्यक्ति को स्वत्व-बोध के साथ-साथ सघर्ष के लिए सामूहिक बोध भी होने लगा था। परिणामस्वरूप जीवन के समस्त क्षेत्रो मे अनेक प्रकार के सघर्ष प्रारम्भ हो गए थे। कुछ विशिष्ट वर्ग भी बनने लगे थे। उनका रूप आगे चलकर 'अरण्यको' और 'उपनिषदो' की सर्जना प्रक्रिया मे स्पष्टत निखरता हुआ दिखाई देता है। धीरे-धीरे जीवन मे मानवीय समाज के अनेक वर्ग बन गए थे और वे अपनी अपनी मान्यताओ का प्रचार करने लगे थे। ये सारी बात हमे आरण्यक और उपनिषद साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात हो जाती हैं। उन्हे रचने वाले युग परिस्थितियो के सदर्भ मे साहित्यकार ही तो थे। उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि युगीन चेतनाओ के यथार्थ अकन और चित्रण के प्रति वे लोग कितने सजग थे ? उन्होंने निश्चय ही अपने दायित्वो को निरपेक्ष सजगता के साथ निभाया।

इसके बाद जब हम पौराणिक रचनाओ के काल मे आते हैं, रामायण और उसके बाद महाभारत के युग मे कदम रखते हैं, तब भी यही पाते हैं कि युगीन साहित्यकार अपने दायित्वो के निर्वाह के प्रति पूर्णतया सजग है। पुराणो रामायण और महाभारत का अध्ययन करने से इन युगो की सजीव झाँकियाँ अपने समूचे आयाम के साथ, समग्र परिवेश मे हमारे समक्ष उजागर हो जाती हैं। वाल्मीकि ने अपनी रामायण मे राम का यदि यथातथ्य वर्णन किया है तो विकसनशील महाकाव्य महाभारत के रचयिताओं ने भी किसी प्रकार की

लाग लपेट से काम नही लिया। यह अवश्य है कि उनका दृष्टिकोण जीवन के विशिष्ट आदर्शों म आच्छादित रहा है, पर जीवन के शिव और 'सुन्दर' की रक्षा करने के लिए ऐसा होना स्वाभाविक नही है क्या ? वहा 'सत्य' के सु दर रूप ही नही घिनौने रूप भी मिलते हैं और यह इसलिए मिलते हैं कि तब भी जीवन मे घिनौना रूप विद्यमान था। युगीन साहित्यकारों की यह विशे पता है कि उन्होने सत्य के सुन्दर और घिनौने रूपो का समानान्तर पर वणन करक या तो उनमे से उचित रूप का चुनाव करने का दायित्व पाठकों पर छोड दिया है या फिर अपनी ओर से भी कुछ कह दिया है। उनका वह कथन ही वास्तव म आदश है—वह आदश कि जिसके साचे म वे लोग जीवन और समाज को ढालना चाहते थे क्योकि साहित्यकार का दायित्व केवल वणन करना ही नही पथ प्रदशन करना भी होता है अत कहा जा सकता है कि वे लोग अपने दायित्वो के प्रति पूर्ण तया सजग थे।

संस्कृत भाषा के लौकिक महाकाव्यो की रचना के काल मे भी हमे जीवन और समाज के चित्रण की इन्ही विविध प्रवृत्तियो के दशन होते हैं। कालिदास के शाकुन्तलम तक मे जीवन और समाज के यथाथ का सुन्दर तथा घिनौना बोध एक साथ मिलता है। यद्यपि शाकुन्तला नाटक प्रकृति के समान ही कोमल कान्त और सुन्दर भावनाओ का उद्बोधक है तो भी कवि ने अनेकश ऐसे चित्रण किए हैं कि जो उसके रचयिता को सामाजिकता के दायित्वो के प्रति पूणतया सजग बताते हैं। वहा शादी से पूव और कवारेपन के प्रेम पर जो व्यग्य है वह आज भी उतना ही सत्य है जितना कि उस युग मे था। इसी प्रकार सरकारी कमचारियो में रिश्वत खोरी का वणन वहाँ किया गया है पुलिस की जो जबदस्ती दिखाई गई है वह आज से किसी भी बात मे कम नही है मृच्छ कटिक जसे नाटक म तो समाज के सामान्य वर्गों और उनकी प्रवृत्तियो परि-स्थितियो और समस्याओ का चित्रण और के यथाथवादी, समस्या मूलक रच यिताओ से भी कही अधिक प्रखर एव प्रबल है। यही बातें इस युग की अन्य सजनाओ के बारे म भी कही जा सकती है।

इसके बाद पाली प्राकृतिक और अपभ्र श भाषाओ के अपने-अपने युग आते हैं। साहित्य के सभी विद्वान समीक्षक और इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं कि उन भाषाओ के साहित्यकारो ने अपनी सजनाओ मे जीवन और समाज के प्रत्येक पक्ष का बडा ही सजीव एव उत्तरदायित्व पूण चित्रण किया है। यहाँ तक क विवरण के आधार पर स्पष्टत कहा जा सकता है कि प्रत्येक युग का साहित्यकार अपने युग के प्रति ईमानदार रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के चारो कालो और उनके अन्तर्विभागो के साहित्यकारो के सम्बन्ध उपरोक्त बातें उतनी ही सत्य हैं जितनी कि युगीन साहित्यकारो के

सदर्भों मे । आदि काल या वीर गाथा काल वीरता की प्रमुख प्रकृति के साथ अन्य विविध प्रवृत्तिया का भी युग था, अत सजग साहित्यकारो ने उन सबका सांगोपाग वर्णन किया है । इसी प्रकार भक्ति काल की विविध प्रवृत्तियाँ और धाराए जीवन की समग्रता का प्रतिपादन तो करती ही है, उसे दिशा-बोध कराने वाली भी हैं । इसी कारण आज भी उनका उतना ही महत्त्व बना हुआ है । रीतिकाल मे आकर साहित्य और समाज मे जो गत्यावरोध आ गया वह युगीन प्रवत्तियो परिस्थितिया और रीति नीतिया का ही परिचायक है । आधुनिक काल के विगत चार चरणो म और आज के परिवेश मे जो कुछ भी साहित्य रचा गया या रचा जा रहा है, वह जीवन और समाज के यथातथ्य रूपा का निश्चय ही चितेरा है । जीवन और समाज मे यदि गत्यावरोध है तो साहित्य मे भी है । जीवन मे यदि अनेक प्रकार की कुण्ठाओ ने पैर जमा लिए है तो साहित्य मे भी वही स्थिति है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक युग का साहित्य और साहित्यकार जीवन और समाज के समस्त प्रवत्यात्मक मूल्यो को साथ लेकर ही चला और चल रहा है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्यकार वा दायित्व अपने युगीन मूल्यो और परम्परागत मानो के चित्रण तक ही सीमित है ? यदि साहित्य-कार के दायित्व की सीमा केवल यही मान ली जाए तो निश्चय ही इसे स्वस्थ तथा शुभ परम्परा और मान्यता नही कहा जा सकता । साहित्यकार वास्तव मे अपन दायित्व का उचित निर्वाहक तभी माना जा सकता है कि जब वह जीवन मे आ गए गत्यावरोधो एव कुण्ठाओ का निराकरण कर उसे प्रगति और विकास की गति तथा दिशा प्रदान करें । क्या साहित्यकार ने ऐसा किया है । इसका उत्तर ढू ढने के लिए हमे केवल भारतीय या हिन्दी भाषा के साहित्यकारो की दृष्टियो से ही प्रयास नही करना है ऐसा करना एकागी ही होगा । हम समूचे विश्व के साहित्य और उसके सजकों की दृष्टियो एव क्रिया-कलापो के परिवेश मे विचार करना है । तभी यह पता चल सकता है कि युगीन साहित्यकार अपने दायित्वों के निर्वाह मे कहाँ तक सफल-असफल हुए हैं । विश्व की मानव-सभ्यता के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि समूचे मानव-समाज का जीवन अनेक प्रकार की अन्ध परम्पराओ रूढियो और थोपे वादो सिद्धान्तों से आक्रान्त रहा है । यह भी एक सर्वमान्य और निखरा हुआ सत्य है कि उन आक्रान्तियों से मानव-समाज को मुक्ति दिलाने के लिए प्रत्येक युग के साहित्य और साहित्यकार ने पहल की है । धार्मिक पोप-लीलाओ और आडम्बरो के विरुद्ध साहित्यकारो ने ही सर्वप्रथम अपना आक्रोश भरा स्वर मुखरित किया । इसी प्रकार शोषण प्रधान अमानवीय राजतन्त्रो, सामन्ती प्रथाओ पूँजी वादी आक्रमणो से मुक्ति दिलाने के लिए विश्व के विभिन्न देशो म जिन बड़ी-बड़ी

छायावाद के नाम से अभिव्यक्त हुई। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।" इस 'आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना' तथा 'सूक्ष्म के प्रति आग्रह' वाली उद्बुद्ध चेतना ने अपनी प्रतिभा द्वारा जिसे नवीनता, स्वच्छन्दता तथा गहरी अनुभूतियों से परिपूर्ण रोमांटिक कल्पना और ललित अभिव्यञ्जना का परिचय दिया, उसके फलस्वरूप हिन्दी कविता में एक और फिर भक्तिकाल की भांति स्वर्ण-युग उपस्थित हुआ, हिन्दी-साहित्य का भाव-पक्ष समृद्ध तथा कला-पक्ष परिष्कृत हुआ, जिससे वह सहृदयों को नूतन रस-रंग में डुबो सका।

भारत प्रथम महायुद्ध के बाद जीवन की अनेक आशाएँ लिए बैठा था। किन्तु हुआ इसके विपरीत। युद्ध के समाप्त होते ही ब्रिटिश सत्ता ने स्वतन्त्रता प्रदान करना तो दूर अत्याचार तथा आतंक की धार और तेजकर दी। परिणाम-स्वरूप आशाओं के सुनहले स्वप्न छिन्न भिन्न हो गए, असंतोष की ज्वाला ने अन्तर्मन में सुलग कर अवसाद, कुण्ठा, अतृप्ति जैसी प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिनके ताने-बाने में इन टूटे-स्वप्नों के धूमिल छाया-चित्र दृष्टिगोचर होने लगे। छायावाद इन धूमिल छाया-चित्रों को पूंजी मान कर अपनी कविता की हाट लगा बैठा।

इधर सामाजिक क्षेत्र में जनता के नेता समाज की कुरीतियों को सुधार के द्वारा दूर कर फिर से भारतीय संस्कृति और वैदिक-धर्म की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। उधर पश्चिमी साहित्य सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय-चिंतकों की विचारधारा में स्वच्छन्दता दृष्टिगोचर होने लगी थी। पर इन स्वच्छन्द विचारों को स्वतन्त्र तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति की राह नहीं मिल रही थी। सुधारवाद का आदर्श तथा नैतिकता की कठोरता के कारण स्वच्छन्दता में पनपी रोमांटिक तथा मधुर भावनाएं सीधी तथा सरल अभि-व्यक्ति का मनोवांछित आधार न पा रही थी।

साहित्यिक परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही थी। महादेवी ने इस जागरण युग की परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "एक दीर्घकाल से कवि के लिए सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष और बनता आ रहा था और इस स्थिति का बदलना रक्तव्यापक उलट-फेर के बिना सम्भव ही नहीं था जो समय से सहज हो गया। रीति काल की सौन्दर्यभावना स्थूल और यथार्थ एकांगी था परन्तु उक्तियों में चमत्कार की विविधता, अलंकारों में कल्पना की रंगीनी और भाषा में माधुर्य का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी ओर किसी की दृष्टि का पहुँचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्कूल को च्युत करने के लिए जब कवि उपदेशपूर्ण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया तब उसका प्रयास स्वयं उसी को थकाने लगा। छायावाद के जन्म से प्रथम

क्रान्तियो का आयोजन किया गया, उनके मूल में उन देशो के साहित्य... की जागरूक चेतनाएं ही काम कर रही थीं। आज तो मानव-समाज का छोटा बड़ा प्रत्येक अंग अपनत्व के बोध से भर कर स्वत्वाधिकारों की रक्षा के लिए यत्नशील है, उसकी इस यत्नशीलता के मूल मे वास्तव मे साहित्यकारों के अनवरत प्रयत्न और चेतनाएँ झाँकती हुई देखी जा सकती हैं। हमारे देश की स्वतन्त्रता का इतिहास भी इस बात का साक्षी है साहित्यकारो ने अपने स्वर्णों का शंख फूँक कर जनता को इसके लिए तैयार करने का प्रबल प्रयत्न किया था।

उपरोक्त ऐतिहासिक विवेचन के बाद हम साहित्यकार के दायित्वों के सम्बन्ध मे यह कहना चाहते हैं कि उनके निर्वाह म वह कभी पीछे नहीं रहा और न भविष्य मे भी रहेगा। क्योंकि यह हो ही नही सकता कि मानवता तो अनेक प्रकार के अभावो और उत्पीड़नो से कराह रही हो और साहित्यकार रोम के बादशाह नीरू के समान वंशी बजाता रहे। साहित्यकार का दायित्व होता है कि वह मानव-सभ्यता के विकास मे सहायक शाश्वत तत्वों और मूल्यों की पहचान कर युग की आवश्यकता को भी समझे। बिना किसी विशेष वाद या सिद्धांत से बंधे वह ऐसा ओजस्वी स्वर अलापे कि जो जीवन में आ गई समस्त शिथिलताओ को झझोड़ करके दूर कर दे। साहित्यकार का दायित्व है कि वह निरपेक्ष भाव स जीवन के स्वस्थ मानों और मूल्यों को प्रश्रय दे केवल उनका वर्णन चित्रण ही नही करे बल्कि उनके लागू करने मे भी सक्रिय सहयोग प्रदान करे। किसी भी देश, राष्ट्र या जाति की सांस्कृतिक निधियाँ साहित्य म ही सुरक्षित रहा करती है। उनका विकास भी साहित्यिक मानों से हुआ करता है। अत साहित्यकार का यह स्पष्ट और एकांत कर्त्तव्य हो जाता है कि वह युग परिवेश के अनुरूप उनकी रक्षा करते हुए उनके विकास और वृद्धि म भी सक्रिय सहायक बने। ऐसा करते समय उसे सम्भावित सत्यों या आदर्शों की भी परिकल्पना करनी पड सकती है ऐसा करने मे उसे कदापि झिझकना नही चाहिए। तभी जीवन के महान् और शाश्वत मूल्यो की उचित प्रगति के सदर्भ मे रक्षा भी हो सकती है और विकास भी। तभी साहित्यकार अपने दायित्वो के निर्वाह मे सार्थक भी कहा जा सकता है।

७ | छायावाद

आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व 'युग की उद्बुद्ध चेतना ने, बाह्य अभिव्यक्ति मे निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की, वह काव्य में

छायावाद के नाम से अभिव्यक्त हुई। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।" इस 'आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना' तथा 'सूक्ष्म के प्रति आग्रह' वाली उद्‌बुद्ध चेतना ने अपनी प्रतिभा द्वारा जिसे नवीनता, स्वच्छन्दता तथा गहरी अनुभूतियो से परिपूर्ण रोमांटिक कल्पना और ललित अभिव्यञ्जना का परिचय दिया, उसके फलस्वरूप हिन्दी कविता में एक बार फिर भक्तिकाल की भांति स्वर्ण-युग उपस्थित हुआ, हिन्दी-साहित्य का भाव-पक्ष समृद्ध तथा कला-पक्ष परिष्कृत हुआ, जिससे वह सहृदयो को नूतन रस-रंग में डुबो सका।

भारत प्रथम महायुद्ध के बाद जीवन की अनेक आशाएँ लिए बैठा था। किन्तु हुआ इसके विपरीत। युद्ध के समाप्त होते ही ब्रिटिश सत्ता ने स्वतन्त्रता प्रदान करना तो दूर अत्याचार तथा आतंक की धार और तेजकर दी। परिणाम-स्वरूप आशाओ के सुनहले स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गए, असतोष की ज्वाला ने अन्तर्मन मे सुलग कर अवसाद, कुण्ठा, अतृप्ति जसी प्रवृत्तियो को जन्म दिया, जिनके ताने-बाने में इन टूटे-स्वप्नो के धूमिल छाया-चित्र दृष्टिगोचर होने लगे। छायावाद इन धूमिल छाया-चित्रो को पूंजी मान कर अपनी कविता की हाट लगा बैठा।

इधर सामाजिक क्षेत्र मे जनता के नेता समाज की कुरीतियो को सुधार के द्वारा दूर कर फिर से भारतीय संस्कृति और वैदिक धर्म की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। उधर पश्चिमी साहित्य सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क मे आकर भारतीय चितको की विचारधारा मे स्वच्छन्दता दृष्टिगोचर होने लगी थी। पर इन स्वच्छन्द विचारो को स्वतन्त्र तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति की राह नही मिल रही थी। सुधारवाद का आदर्श तथा नैतिकता की कठोरता के कारण स्वच्छन्दता मे पनपी रोमांटिक तथा मधुर भावनाए सीधी तथा सरल अभि-व्यक्ति का मनोवांछित आधार न पा रही थी।

साहित्यिक परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही थी। महादेवी ने इस जागरण युग की परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "एक दीर्घकाल से कवि के लिए सम्प्रदाय अक्षयवट और दरबार कल्पवृक्ष और बनता आ रहा था और इस स्थिति का बदलना रक्तव्यापक उलट-फेर के बिना सम्भव ही नही था जो समय से सहज हो गया। रीति काल की सौंदर्यभावना स्थूल और यथार्थ एकांगी था परन्तु उक्तियां में चमत्कार की विविधता, अलंकारो मे कल्पना की रंगीनी और भाषा मे माधुर्य का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी ओर किसी की दृष्टि का पहुंचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्कूल को च्युत करने के लिए जब कवि उपदेशपूर्ण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया तब उसका प्रयास स्वयं उसी को थकाने लगा। छायावाद के जन्म से प्रथम

कविता के बंधन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के वाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द मे चित्रित उन मानव अनुभूतियो का नाम छाया उपयुक्त ही था और आज भी उपयुक्त ही लगता है।'

इधर हिन्दी का कवि इस प्रकार हिन्दी कविता को नया रूप रग देने में प्रयत्नशील था कि उधर एक विशेष घटना घटी। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का गीताजलि पर नोबल पुरस्कार मिला तथा उनके छायावादी गीता का चारो ओर धूम मच गई। हिन्दी कवि पहले ही माग ब्याज रहे थे, अतएव वे एकबारगी ही इस ओर झुक पडे तथा देखते-ही देखते हिन्दी मे ऐसी कविताओं का ढेर लग गया। जब ऐसी कविताओ पर ध्यान टिक गया और ऐसी काव्य परम्परा को लेकर प्रसाद, पन्त, निराला आदि नए कवि सामने आने लग तो ऐसी कविताओ को एक वाद का रूप मिल गया।

छायावाद नाम कैसे पडा ? इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा कि रूपात्मक आभास को योरुप मे छाया कहते थे। इसी से बगाल के ब्रह्म समाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बे वे छायावाद कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र मे आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र मे भी प्रकट हुआ।' पर आज विद्वान् आचार्य शुक्ल के इस कथन से सहमत नही। इस सम्बन्ध मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार से यह भ्रम ही है कि इस प्रकार के काव्यो को बगला मे छायावाद कहा जाता था और वही से वह शब्द हिन्दी मे आया। वास्तव मे उनके विचार से छायावाद शब्द केवल चल पडने के जोर से ही स्वीकार हो सका, नही तो इस श्रेणी की कविता की प्रकृति को प्रकट करने मे यह शब्द एकदम असमर्थ है। वास्तव मे छायावादी कविता को यह नाम व्यग्य उपहास रूप मे ही दिया गया। किन्तु महादेवी वर्मा की दृष्टि मे छायावाद नाम उपयुक्त ही था।

छायावाद को आरम्भ से ही आलोचको की सहानुभूति नही मिली। वास्तव मे महारथी आलोचको ने इस कविता का स्वागत करना तो दूर, इसका परिहास किया व्यग्य कसे तथा सकीर्ण व्यवहार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद की परिभाषा तथा व्याख्या के सम्बन्ध मे कई भ्रान्तियाँ फली। अतएव आज भी जब छायावाद की विवेचना की जाती है तो इस कविता के काव्य वैभव तथा अद्भुत देन की चर्चा न करके आलोचकगण प्राय इन मूल प्रश्नो पर ही अधिकतर दृष्टिपात करते हैं कि छायावाद की वास्तविक भावभूमि लौकिक है अथवा अलौकिक ? यह कविता कहाँ तक आध्यात्मिक और इसकी आध्यात्मिकता वास्तविकता अथवा स्वभावगत है या स्मरणीय

कल्पना ? रहस्यवाद को छायावाद से सम्बद्ध करके कहाँ तक उसे इस कविता का दूसरा सोपान कहा जा सकता है ? और फिर छायावादी कवियों में मिलने वाली रहस्य प्रवृत्ति कहाँ तक कबीर और जायसी की परम्परा कही जा सकती है और कहाँ तक पश्चिमी रहस्यभावना (Mysticism) प्रवृत्ति की छाया ?

यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल छायावादी काव्य की महानता को प्रकट करने में असमर्थ रहे और उनके द्वारा दी गई छायावाद की परिभाषा के कारण आगे चल कर छायावाद के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ भी फैलीं किन्तु संदेह नहीं कि आचार्य शुक्ल की परिभाषा इतना होते हुए भी विशेष महत्ता रखती है। उन्होंने छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में होना बताया। काव्य-वस्तु के विचार से जहाँ यह रहस्यवाद है, वहाँ काव्य शैली के विचार से यह प्रतीकवाद है। उस अनन्त तथा अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करना रहस्यवादी अर्थों में छायावाद है तथा प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन प्रतीकवादी अर्थों में छायावाद है। फिर भी आचार्य शुक्ल को इस काव्य की आध्यात्मिकता के पर्दे के पीछे छिपी काम-वासनाओं, सुख विलास की मधुर और रमणीय सामग्री को पहचानने में कठिनाई नहीं हुई।

आचार्य शुक्ल के उपरान्त छायावाद के समर्थ व्याख्याता इसी कविता के प्रमुख स्तम्भ श्री जयशंकर 'प्रसाद' कहे जा सकते हैं। उन्होंने छायावाद की भावभूमि पर पैनी दृष्टि डालते हुए कहा कि छायावाद मूल में रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है इसीलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में लेकर छायावाद की सृष्टि होती है—यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमयता, प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।" इस प्रकार श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने व्यवहार में यद्यपि रहस्यात्मकता का आश्रय लिया किन्तु सिद्धान्त रूप में उन्होंने छायावाद को न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया और न ही प्रकृतिवाद से अपितु छायावाद को अनुभूति साथ अभिव्यक्ति की भंगिमा माना है।

छायावाद की दूसरी गम्भीर चर्चा महादेवी वर्मा द्वारा हुई। महादेवी वर्मा ने छायावाद की एक सर्वांगपूर्ण परिभाषा देते हुए कहा—"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है बुद्धि के सूक्ष्म

धरातल पर कवि ने जीवन की सलता का मावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति मे बिखरी सौंदय-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखो को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामा का भार समाल सकी।'

इस प्रकार महादेवी की छायावाद सम्बन्धी व्याख्याओं की छायावादी कविता के गौरव की स्थापना की। छायावाद का उत्स उपनिषदों से चली आ रही भारतीय प्रकृतिवाद और सर्ववाद की परम्परा मे खोजा और छायावाद तथा रहस्यवाद मे अटूट सम्बन्ध की घोषणा की।

छायावादी आलोचको मे श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी कविता मे आध्यात्मिकता की विविध अवस्थाएँ खोजी और इस कविता के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा कि "विश्व की किसी वस्तु मे एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्व व्यापक प्राणो की छाया देखता है।" इस प्रकार श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी काव्य को आध्यात्मिकता के रंग में ही देखा।

छायावाद की पहली तटस्थ व्याख्या डा० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत की गई। यद्यपि डा० नगेन्द्र ने पहले छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा किन्तु फिर शायद विद्रोह की प्रेरणा का अभाव पाकर उन्होंने विद्रोह के स्वभाव पर आग्रह शब्द का प्रयोग किया और इस प्रकार उन्होंने छायावाद को स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह कहा। उन्होंने छायावाद की अपरिमित भावभूमि को लौकिक बताया तथा इस कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा— छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है, इसका आधार नव जीवन के स्वप्न और कुंठाओ के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अतमुखी और वायवी (अशरीरी) है, अभिव्यक्ति प्रकृति के प्रतीको द्वारा होती है, विचार पद्धति सत्वत सर्वात्मवाद मानी जा सकती है पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नही मिली।'

प्रगतिवादी आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान ने छायावाद की समाजवादी दृष्टिया स व्याख्या करत हुए कहा कि छायावादी कविता मे जो इतना क्रन्दन रुदन इतनी निराशावादिता तथा असतोष की भावना है वह इसलिए कि उसकी चेतना मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं करती और इसके सुख स्वप्न टूट चुके हैं तथा उसमे पलायन की प्रवृत्ति है।

इस सम्बन्ध म एक और महत्वपूर्ण व्याख्या डा० देवराज ने प्रस्तुत की। "वस्तुतं छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल

सूक्ष्म रूपो का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का निरूपण, उसके मूल म प्रेम और सौंदय की वासना है न कि आध्यात्मिक पूणता की मस्ती। डा० देव राज की दृष्टि म छायावाद के पतन का कारण इसमे पाई जाने वाली अत्यधिक कल्पनाशीलता है जिसके कारण इसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ अनुभूति जन्य न होकर कल्पना-जन्य ही होकर रह गई।

छायावाद की उपयुक्त व्याख्याओ से स्पष्ट होता है कि इसके सम्बन्ध मे दो मत हिन्दी जगत मे प्रचलित रहे हैं। एक मत आध्यात्मिकता का पक्षपाती है और वह छायावाद के रहस्यवाद का प्रथम सोपान मानकर चला है। इस मत के पक्ष मे महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा कुछ अशो म जयशकर प्रसाद आदि कवि कहे जा सकते हैं और आलोचको मे ऐसी व्याख्या का श्रेय नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वभर मानव आदि को है। दूसरे प्रकार की व्याख्या मनोवैज्ञानिक तथा बौद्धिक आधारो पर हुई, जिसका श्रेय डा० नगेन्द्र को है। वास्तविकता यह है कि छायावादी काव्य मे आध्यात्मिक तत्व तो विद्यमान थे किन्तु समस्त कविता को आध्यात्मिक काव्य नही कहा जा सकता। इसी प्रकार छायावादी काव्य मे दमित वासनाओ और मानसिक कुठाओ का आधार भले ही प्राप्त समझें किन्तु छायावाद को कुठा का परिणाम ही कह सकते हैं, कुठा नही। आध्यात्मिकता की उलझन और कुठा की खोज मे जा कर भी हम इस साहित्य की अमूल्य देन और अद्भुत काव्य सौंदय को माने बिना नही रह सकते।

यद्यपि इस युग के हर कवि पर छायावादी अभिव्यजना तथा अनुभूति का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है, किन्तु छायावादी कविता के प्रतिनिधि कवियो मे चार की विशेष रूप से चर्चा होती है। प्रथम है पत, जिनकी कविता ने प्राकृतिक सुन्दरता की धूप-छाह से अपना समस्त आरम्भिक काव्य बुना और जिनके काव्य मे प्रकृति बाल-सहचरी बनकर निरन्तर प्रेरणा के काव्य-तरग बजाती रही। इसके बाद कविवर जयशकर प्रसाद का नाम आता है। इनकी काव्य प्रतिभा का सुन्दर परिचय हमे 'लहर' के भावपूर्ण गीतों, आसू के विरह लिक्त छन्दो और कामायनी के समृद्ध रूपक में मिलता है। कामायनी छायावादी काव्य का चरम शिखर है और मुक्तक प्रधान छायावाद की प्रबन्ध कल्पना शक्ति को उद्घोषित करने वाला श्रेष्ठ आधुनिक महाकाव्य है जिसे लिखकर आनन्दवादी कवि 'प्रसाद' को भी चरम सतोष प्राप्त हुआ था। छायावाद के तीसरे उल्लेखनीय कवि सूयकात त्रिपाठी निराला हैं, जो छायावादी कविता म अपनी स्वच्छन्द कल्पनाओं मुक्त-छन्द तथा 'तुलसीदास' जैसी अद्भुत रचना के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। उनकी 'जूही की कली' का वैभव तब तक सहृदयो क मानस-पटल पर अकित रहेगा, जब तक कविता का आदर बना

रहेगा। चौथे छायावादी कविता आलोक स्तम सुश्री महादेवी वर्मा हैं, जिन्होंने छायावाद को पढ़ा नहीं है अनुभव किया है। यद्यपि उनकी कविता में छायावाद की समस्त विशेषताएँ मिल जाती हैं किन्तु अधिकांश में उनका काव्य छायावाद के दूसरे सोपान पर ही स्थित है जिसे उन्होंने रहस्यवाद कहा है। पर इनके काल को डा० नगेन्द्र ने छायावाद का शुद्ध अमिश्रित रूप कहा है और उसके मूल मे काल का स्पदन मानते हुए स्वीकार किया है कि उसके ऊपर कवयित्री ने जरूरत से ज्यादा दर्शन का बोझ लाद दिया है, चिन्तन और कल्पना के आव रण चढ़ा दिये हैं।

छायावादी कविता की प्रथम विशेषता है प्रेम-अनुभूति या शृंगारिकता। छायावाद का जगत अतर्भावनाओं का है और प्रमुख भावना है प्रेम। कहीं कहीं तो इस प्रेम की वासना इतनी बढ गई है कि सारी कविता प्रेम की मधु चर्या सी लगती है। जैसे 'प्रसाद' की झरना सग्रह की अधिकांश कवितायें पर धीरे धीरे यह अनुभूति जीवन की ओर उन्मुख होती गई है। इस प्रेम भोगवादी तथा शरीरी प्रवृत्ति न होकर सौंदयवादी और अशरीरी प्रवृत्ति है प्रेम की अभिव्यक्ति नग्न नहीं सलज्ज तथा अवगुठन से युक्त है। प्रेम की इ अभिव्यक्ति का मूल आधार नारी है जिसके आकर्षण के पीछे काम वासना होकर अछूते सौंदय का पावन रूप है।

छायावाद की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता प्रकृति-चित्रण है। महादेवी अनुसार तो छायावाद की कविता जीवन का ऐसा उद्गीत है जो प्रकृति प्रागण मे ही गाया गया है। छायावादी कवि प्रकृति के मोह जाल मे बधा नार सौंदय को हय समझ बठा है—

> छोड द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड प्रकृति से भी माया,
> बाले! तेरे बाल जाल मे,
> कसे उलझा दूँ लोचन ?'

छायावाद मे प्रकृति रूपी विश्व सुन्दरी का विशेष महत्व आका गया औ कवियो ने प्रकृति के साथ अपनी आत्मा के तादात्म्य का अनुभव किया। प्रकृ के रग मे रग कर कभी इन कवियो ने प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र अकित किये जसे—

> बासों का झुरमुट सध्या का झुटपुट,
> हैं चहक रहीं चिड़ियाँ टी-वी-टी-टुट-टुट।"

कहीं प्रकृति भावो का आलम्बन बनकर आती है—

> 'झझा झकोर गजन था, बिजली थी नीरद माला,"

और कभी प्रकृति का वर्णन भावनाओं के द्वारा होता है—

"गिरिवर के उर से उठकर उच्च आकांक्षों के तरुवर"

कभी प्रकृति का मानवीकरण किया जाता है जैसे प्रसाद की 'किरण,' पंत की 'छाया' और निराला की 'जूही की कली' में। महादेवी ने तो वसंत रजनी का बड़ा मोहक, गत्यात्मक तथा सजीव चित्र अंकित किया है—

"धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत-रजनी !
तारकमय नव वेणी बंधन,
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसंत रजनी।"

अधिकांश में छायावादी कवियों ने प्रकृति के सुकुमार और सुन्दर रूप का ही चित्रण किया है और इसी में ही उन्हें अकथनीय आनन्द की अनुभूति हुई है। प्रकृति के भयंकर, विस्फोटकारी तथा तोड़-फोड़ वाले रूपों की ओर इनकी दृष्टि कम तथा प्रसंगवश ही गई है। जैसे पंत की 'परिवर्तन' कविता में और 'प्रसाद' की कामायनी में।

छायावादी काव्य की तीसरी प्रमुख विशेषता उसका चिन्तन है। यद्यपि कहा गया है कि आरम्भ में इन्हें किसी दर्शन से सीधी प्रेरणा नहीं मिली किन्तु संदेह नहीं कि छायावादी कवि आरम्भ से ही चिन्तनशील रहा है। यद्यपि आरम्भिक कविताओं में अनुभूति तथा कल्पना का प्रसार अधिक है किन्तु ज्यों-ज्यों कवियों में प्रौढ़ता आती गई है, चिन्तन की मात्रा बढ़ती गई है। कवि पंत 'गुंजन' में आकर चिन्तक हो गए हैं और महादेवी ने कहा है कि 'रश्मि' को तब आकार मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिन्तन प्रिय था। आगे चलकर इन कवियों ने अपनी कविता पर किसी न किसी दर्शन का बोझ लाद लिया है तथा आध्यात्मिक-दर्शन से अपनी कविता का नाता जोड़ा है। जैसे प्रसाद की कामायनी में शैव-दर्शन की समरसता तथा आनन्दवाद, महादेवी का सर्वात्मवाद, पंत की उत्तरा में अरविन्द-दर्शन। निराला का तो आरम्भ से ही अद्वैतवाद से सम्बन्ध रहा है।

छायावादी कविता यद्यपि अन्तर्मुखी है किन्तु इसके वैभव का प्रमुख कारण है इसकी कल्पना-शीलता। कवि की स्वच्छंदता उसे कोलाहल की अवनी से दूर एक ऐसे संसार में ले जाना चाहती है जहाँ के निर्जन संसार में निश्छल प्रेम-कथा चलती है—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे,

जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल-प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।"

कल्पना तत्त्व तो हर कविता का आवश्यक अंग होती ही है। किन्तु छाया वादी कविता में इस पर विशेष आग्रह रहा है। कल्पना की अतिशयता के कारण ही इन कवियों को पलायनवादी भी कहा गया। महादेवी की दृष्टि से यह प्रवृत्ति पलायन की न होकर यथार्थ की पूर्ति है, एक आवश्यक प्रेरणा है।

छायावादी कविता की शैली हिन्दी की पूर्व लिखित कविताओं से भिन्न प्रतीकवादी है और अधिकांश में इसी से छायावादी कला का शृंगार हुआ है उषा आशा की प्रतीक है सन्ध्या निराशा की कली प्रेयसी है तथा मधुप प्रिय तम झंझा क्षेत्र है तो विषाद अंधेरी रात, दुःख की बदली में बिजली का फूल अर्थात् मुस्कानों भरा सुख है। ये प्रतीक केवल गुण या धर्म साम्य तक ही सीमित नहीं प्रभाव-साम्य भी रखते हैं। पुरानी कविता की भाँति यहाँ कटि की उपमा भौंह या सिंहनी की कमर से नहीं दी जाती। पर जहाँ इन प्रतीकों का सफल प्रयोग नहीं हुआ वहाँ कविता में अस्पष्टता आ गई है। कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए अशक्त उपमानों को देखते हुए यह कहना सर्वथा अन्याय होगा कि छायावादी कविता ही वही है जिसमें अस्पष्टता हो।

छायावादी कविता अपने भाषा-लालित्य के लिए प्रसिद्ध है। भाषा की इस शक्ति के कारण बहुत कुछ इसके चित्रमयतापूर्ण, लाक्षणिक तथा ध्वन्या त्मक प्रयोग हैं। पंत ने पल्लव की भूमिका में शब्दों के इस अर्थगौरव तथा अथाह शक्ति की बड़े विस्तार से चर्चा की है। वास्तव में छायावादी कविता का सम्बन्ध जिन गहन भावों से है, उसे देखते हुए भाषा के ऐसे प्रयोग उचित ही हैं यद्यपि उनसे भाषा में दुरूहता आई और आगे चलकर शीघ्र ही हिन्दी कविता सरल अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो उठी।

छायावादी कविता विषयी-प्रधान थी अतएव उसमें व्यक्तिगत भावनाओं को ही प्रमुख आश्रय मिलने के कारण इसका स्वरूप मुक्तकों का रहा। छायावाद की अधिकांश कविता यद्यपि प्रगीत मुक्तक है, किन्तु इसमें कुछ प्रबन्ध रचनाएँ भी मिलती हैं—'कामायनी' और 'तुलसीदास' को उदाहरण के रूप में [illegible] सकते हैं।

छायावादी कवियों ने भाषा और रचना-पद्धति की दृष्टि से ही नहीं, छन्दों के विचारों से भी स्वच्छन्द प्रयोग किये। प्रसाद की कविता तुकांत, अतुकांत, स्वच्छन्द मिश्रित हर प्रकार के छन्दों से युक्त है। पन्त ने पल्लव की भूमिका में [illegible] की नई परिपाटी पर पर्याप्त सुझाव भी दिये हैं और उसी संग्रह की [illegible] में प्रयोग भी किये हैं। उनका विचार है कि 'वार्णिक छन्दों में जो [illegible] है। उसके लिए तुक का अंकुश अनुकूल नहीं। सवैया तथा

कवित्त छन्द हिन्दी-कविता के अधिक उपयुक्त नहीं । निराला ने तो 'परिमल' की भूमिका म यहाँ तक कह दिया कि 'मनुष्य की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना ।' निराला ने अपनी प्रारम्भिक कविता म छन्दों की छोटी राह त्याग कर अपनी स्वच्छन्दता का परिचय दिया ।

इसी प्रकार छायावादी काव्य सूक्ष्म सौंदय अनुभूति से परिपूर्ण, स्पदनशील प्रकृति की सप्राणता लेकर, चिन्तन की अन्तमु खी खोज मे तेजोमय, कल्पना की रगीन-छवियो के अदभुत छाया चित्र लिए हुए आया, जिसमे विश्व-वाणी का क्र दन भी था, विषाद का नीला तन्तु भी था । परिणाम यह हुआ कि इसे विश्व-काव्य का अश्रु कण तक कह दिया गया ।

८ | प्रगतिवाद

प्रगति का साधारण अथ है आगे बढना । यदि साधारण अर्थों मे विचार कर तो हर युग का साहित्य और साहित्यकार प्रगतिशील कहा जाएगा क्योंकि वे कोई न कोई युगीन नई दृष्टियाँ लेकर आते हैं । इस प्रकार कबीर तथा भारतेन्दु और उनके साहित्य की प्रगतिशीलता तो नितात निश्चित ही है, तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त भी प्रगतिशील कहे जाएँगे । किन्तु आधुनिक काल मे छायावाद क उपरान्त साहित्य मे जो नई धारा प्रवाहित हुई वह 'प्रगति' के सामा य अर्थों से भिन्न एव विशेष तत्त्ववाद पर आधारित है । इसी कारण आज तक के अ य साहित्यकार प्रगतिशील तो कहे जा सकते हैं पर प्रगतिवादी नहीं । प्रगतिवाद के नाम से प्रचलित साहित्य मे भी कई साहित्यकार ऐस हैं जो साहित्य मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण को मुख्यत न अपनाते हुए भी प्रगतिवादी कहे जा सकते हैं । जैसे श्री इलाच द्र जोशी ।

प्रगतिवादी साहित्य वह साहित्य है जो साम्यवादी भावनाओ से प्रे रित होकर लिखा गया हो । जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्र मे साम्यवाद की अपनी एक विशेष विचारधारा है उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र मे प्रगतिवाद की । वस्तुत प्रगतिवाद को साम्यवाद का साहित्यिक मोर्चा' कहना ही उचित होगा क्योंकि आर्थिक क्षेत्र म जो साम्यवाद है साहित्यिक क्षेत्र मे वही प्रगतिवाद है ।

जिस प्रकार द्विवेदी युग की शुष्क इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप मे छायावादी का ज म हुआ था, उसी प्रकार छायावादी साहित्य की नितान्त आत्मसीमित हो जाने की चेतना की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप मे हुई ।

छायावाद स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहा जाता है, और यह प्रगतिवाद छायावाद की वेपर की कल्पनाओं के विरुद्ध कठोर वास्तविकताओं का विद्रोह है।

यह बड़ी मनोरंजक बात है कि भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना १९३५ मे फ्रांस मे हुई। श्री मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर इत्यादि लेखक इसके प्रवर्तक थे। प्रगतिशील लेखको का भारत मे पहला सम्मेलन सन् १९३६ मे उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द जी की अध्यक्षता मे हुआ। उसके बाद एक और सम्मेलन विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता मे कलकत्ते में हुआ। इसके बाद से प्रगतिवादी साहित्य की सर्जना निरन्तर हो रही है।

प्रगतिवादी साहित्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह शेष साहित्य से अलग पहचाना जा सकता है। सबसे पहली और बड़ी विशेषता तो यह है कि साहित्य साम्यवादी भावनाओं से अनुप्राणित रहता है। जिस प्रकार साम्यवादी पूंजीपतियो का विरोध करते हैं और श्रमिकों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं उसी प्रकार प्रगतिवादी साहित्य भी श्रमिकों और कृषको के जीवन का चित्रण करता है। इसमे या तो पूंजीवादी वर्ग का चित्रण होता ही नही और यदि होता भी है तो उसका कुत्सित और शोषक रूप ही प्रदर्शित किया जाता है।

प्रगतिवादी लेखकों की मान्यता यह है कि कला जीवन का ही एक अंग है और इसी कारण साहित्य जीवन से अलग नही रह सकता। जो कला केवल कला के लिए है और जिसका सम्बन्ध जीवन से बिल्कुल नही है, वह निर्जीव अतएव त्याज्य है। वह केवल शोषक वर्ग का मनोरंजन मात्र है। उससे मानवता का किसी प्रकार का कल्याण सम्भव नही हो सकता। प्रगतिवादी लेखको के मतानुसार साहित्य मे जन-साधारण के जीवन का चित्रण होना चाहिए। साहित्य मे जीवन की विषम समस्याओं का निरूपण तथा उनका यथोचित समाधान प्रस्तुत किया जाना चाहिए। तभी साहित्य का कोई मानवीय एव सामाजिक मूल्य हो सकता है।

साम्यवादी विचारधारा के अनुरूप ही प्रगतिवादी लेखक वर्ग-संघर्ष मे विश्वास रखते हैं। पूंजीपतियो तथा अन्य शोषकों ने मानवीय अधिकारों को बड़ी दृढ़ता से जकड़ रखा है। जब तक संघर्ष द्वारा उन्हें विवश नही किया जाएगा तब तक वे मानवता के शोषितो के, अपहृत अधिकारो को कदापि लौटाने को तैयार न होंगे। शोषक वर्ग साधन-सम्पन्न हैं। सेना, पुलिस तथा राज्य का सम्पूर्ण यन्त्रजाल उसके ही इशारे पर नाचता है। ऐसी दशा में शोषकों से लोहा लेने के लिए शोषित वर्ग का संगठन किया जाना आवश्यक शोषित संगठित होकर शोषकों के विरुद्ध संघर्ष करेंगे—और यह संघर्ष

अनिवार्यत हिंसात्मक और रक्तपूर्ण होगा, क्योंकि शोषक और महाभारत के दुर्योधन की भाँति युद्ध के बिना सुई की नोक बराबर भी अधिकारों को छोड़ने को तैयार न होंगे—तब शोषित वर्ग की विजय अवश्य होगी और पहले जन-साधारण के अधिनायकतन्त्र की स्थापना की जाएगी, और उसके पश्चात वर्गहीन समाज का निर्माण होगा। रूस, चीन आदि प्रदेश इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं—

इसीलिए प्रगतिवादी कवि 'दिनकर' ने कहा है—

"देख कलेजा फाड़, कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।
बनती ही उन पर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें॥
धन पिशाच-कृषक मेध मे नाच रही पशुता मतवाली।
अतिथि मग्न पीते जाते हैं दोनों के शोणित की प्याली॥
उठ भूषण की भाव रंगिणि! लेनिन के दिल की चिनगारी।
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला! जाग जाग री, क्रांतिकुमारी॥"

प्रगतिवादी साहित्य निरथक कल्पनाओं और आदर्शवाद का विरोधी है। वह यथार्थवाद का पक्ष-पोषक है। प्रगतिवादी साहित्यकार जीवन के अच्छे-बुरे सभी रूपों का यथावत् चित्रण कर देना आवश्यक समझते हैं। जीवन के कुरूप और कुत्सित पक्षों का चित्रण करने मे वे हिचकिचाते नहीं।

साम्यवादी विचारधारा के प्रवतक कार्ल मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक आधार पर व्याख्या की है और उसका दार्शनिक दृष्टिकोण पूर्ण रूप से भौतिकतावादी है। प्रगतिवादी मे भी भौतिक दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई है और जीवन के विभिन्न पहलुओं मे से आर्थिक पहलू को सबसे अधिक प्रमुख माना गया है क्योंकि वर्तमान जगत में अर्थ ही सर्वांगीण उन्नति या अवनति का मूल है।

प्रगतिवादी लेखकों की मान्यता है कि साहित्य जन-साधारण के लिए लिखा जाना चाहिए और यदि साहित्य जन-साधारण के लिए लिखा जाना हो तो उसकी भाषा अनिवार्य रूप से सरल रखनी होगी। यही कारण है कि प्रगतिवादी लेखक हिन्दी और उर्दू के शब्दों के मेल से सरल भाषा लिखने का यत्न करता है। वस्तुत सरल भाषा में लिखा गया साहित्य ही जनता का कण्ठहार हो सकता है। छायावादी कवियों के क्लिष्ट और दुर्बोध भाषा को समझने और उसका आनन्द लेने वाले गिनती के बुद्धिजीवी लोग ही हो सकते हैं, जिन्हें ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला हो।

प्रगतिवाद की एक और बड़ी विशेषता यह है कि उसने साहित्य को व्यष्टि के स्तर से उठाकर समष्टि के स्तर पर ला रखा है। छायावादी कविता

प्रत्यधिक व्यष्टिवादी हो गई थी। परन्तु प्रगतिवादी साहित्य में हम सामाजिक भावनाओ के दर्शन अधिक होते हैं और व्यष्टिगत भावनाओ के कम। छायावादी कवि पलायनवादी थे। वे जीवन से क्रमश दूर भागते गये। इसीलिए उनके साहित्य मे सामाजिकता का प्रश्न हो ही नही सकता था। इसके विपरीत प्रगतिवादी जीवन से दूर नही भागता। यह जीवन का साहित्य है।

प्रगतिवाद का सही-सही मूल्याकन करने मे कई बाधाएँ हैं। वस्तुत समूचे रूप मे किसी एक वाद का मूल्याकन करना उचित भी नही। मूल्याकन अलग अलग रचनाओ का हो सकता है। यही कारण है कि सिद्धात की दृष्टि से सर्वांग सम्पूर्ण होने पर भी प्रगतिवादी रचनाओ मे बहुत से दोष बताये जाते हैं।

प्रगतिवादी रचनाओ पर सबसे पहले आक्षेप यह किया जाता है कि प्रगतिवाद की मूल भावना विदेशी है और प्रगतिवादी साहित्यकार अपनी रचनाओं मे कुछ विदेशो के ही गीत गाते रहते हैं। जहां भावना के विदेशी होने का प्रश्न है यह आक्षेप निरर्थक है क्योकि किसी भावना का विदेशी होना या स्वदेशी होना तनिक भी महत्त्व की वस्तु नही है। यदि कोई भावना विदेशी होने पर भी अच्छी है तो वह ग्राह्य है और यदि अच्छी नही है तो केवल स्वदेशी होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती। वास्तव मे भावनाएँ स्वदेशी विदेशी न होकर सार्वजनिन होती हैं सार्वकालिक होती हैं और युगीन परिस्थितियाँ प्रत्येक देश काल मे उनका स्वरूप बनाती हैं। रही यह बात कि प्रगतिवादी लेखक अपनी रचनाओ म विदेशो का राग अलापते हैं सो यह प्रगतिवाद का दोष नही है यह तो किसी किसी विशेष लेखक की रुचि का ही प्रश्न हो सकता है। यद्यपि अकारण दूसरे देश के स्तुति-गीत गाना बहुत आकर्षक बात नहीं है फिर भी किसी लेखक पर यह प्रतिबन्ध क्यो हो कि वह किसी देश विदेश के गीत गाये या न गाये।

प्रगतिवाद पर एक और बडा आक्षेप यह किया जाता है कि प्रगतिवादी लेखक श्रमिको के साथ अवास्तविक सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। व अपनी रचनाओ मे ऐसे जीवन का चित्रण करते हैं जिसे उन्होने निकट या दूर से भी कभी नही देखा। वे स्वय बुर्जुआ लोगो की तरह जीवन व्यतीत करते हुए शोषितो की सहानुभूति म पन्ने-के-पन्ने रगते चले जाते है। यह पाखण्ड तो है ही साथ ही ऐसी रचनाओ म जीवन का चित्रण भी यथार्थ नही होता है इसलिए ऐसी रचनाओ से प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य ही उपेक्षित रह जाता है। यह आक्षेप एक सीमा तक सत्य है। प्रगतिवादी साहित्यकार यदि जनजीवन के उतने ही घनिष्ठ सम्पर्क मे आकर साहित्य का सृजन करते जितना कि अभीष्ट भी उनकी रचनाओं का आदर कहीं अधिक होता। प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र

के उपन्यासो की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है। परन्तु यह आक्षेप भी वस्तुत प्रगतिवाद पर न होकर कुछ ऐसे साहित्यकारो पर है, जो प्रगतिवाद की आड मे अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, उसे राजनीति का हथकडा बनाना चाहते हैं।

प्रगतिवाद को प्राचीन सस्कृति का विरोधी कहा जाता है। परन्तु सत्य यह है कि प्रगतिवाद प्राचीन या किसी भी सस्कृति का विरोधी नही अपितु सस्कृति के साथ जुड गई या जोड दी गई शोषक, उत्पीडक और पूँजीवादी मनोवृत्तियो का विरोधी है जिन्होने मानवता को कुण्ठित करके रख दिया हुआ है।

इसी प्रकार यथार्थ चित्रण की आड मे कुत्सित, दूषित और अश्लील पक्ष का चित्रण इतना अधिक किया जाता है कि जैसे ससार मे उसके अतिरिक्त और कुछ यथार्थ है ही नही। यह मानना बहुत कठिन है कि सारा ससार या हमारा समाज केवल सडाध का एक विशाल ढेर है, उसके अतिरिक्त और कुछ नही। यदि यथार्थ का ही चित्रण अभीष्ट हो, तो सुन्दर यथार्थ का चित्रण भी होना चाहिए।

यह सत्य है कि रोटी के बिना मनुष्य नही जी सकता, परन्तु रोटी का मूल्य तभी तक है, जब तक उसका अभाव या न्यूनता है। जब रोटी से पेट भर जाता है तब मनुष्य को रोटी के अतिरिक्त और बहुत कुछ अभीष्ट होना है। इसलिए मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन सर्वांग सम्पूर्ण नही कहा जा सकता। जितनी अपूर्णता मार्क्स के भौतिकवाद मे है उतनी ही प्रगतिवाद मे भी है।

इन सब आक्षेपो के पश्चात भी प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ प्रदान किया है। उसमे अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं। हिन्दी साहित्य को उसका सार प्राप्त होना अभी शेष है। प्रगतिवाद ने साहित्य की दिशा ही मोड दी है। जीवन का दृष्टिकोण आमूल चूल परिवर्तित कर दिया है और साहित्य को व्यष्टि से हटाकर समाज की ओर अभिमुख किया है जो हमारी वर्तमान परिस्थितियो मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

६ | प्रयोगवाद

बीसवी शताब्दी के पचम दशक मे हिन्दी साहित्य मे भी देशी विदेशी अन्य भाषाओ के साहित्य के समान एक नवीन काव्य प्रवृत्ति का उदय हुआ है। इसको

'प्रयोगवाद' नाम से अभिहित किया जाता है। जो दशा साहित्य के अन्य वादों की होती रही है, वही प्रयोगवाद की भी हो रही है। इसे भी गूढ़ अर्थ में ही ग्रहण किया गया। प्रयोग का व्यापक अर्थ बड़ा उपयोगी है और साहित्य के अन्तर्गत प्रत्येक युग में नये प्रयोग होते रहे हैं और होने भी चाहिएँ। किन्तु आज का तथाकथित प्रयोगवाद स्वस्थ एवं विकासोन्मुख प्रयोगों की उपेक्षा करके संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय दे रहा है।

प्रयोगवाद का ऐतिहासिक आरम्भ प्रथम 'तार सप्तक' से माना जाता है। यों तो किसी वाद विशेष के आरम्भ की कोई निश्चित तिथि नहीं होती, किन्तु किसी रचना के सहारे उसके प्रवर्त्तन का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम तार सप्तक का सम्पादन 'अज्ञेय' जी के द्वारा सन् १९४३ में किया गया था और उनके सहित इसमें छः अन्य कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं। वे हैं—गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० रामविलास शर्मा। इसके पश्चात् सन् १९५१ में द्वितीय तार सप्तक का प्रकाशन हुआ, जिसमें अन्य सात प्रयोगवादी कवियों की कविताओं का संकलन किया गया है। इन कवियों के नाम इस प्रकार हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीरसहाय तथा धर्मवीर भारती। इन संग्रहों के अतिरिक्त प्रयोगवादी कविताओं के प्रकाशन में कुछ पत्रों ने भी योग दिया। 'प्रतीक', 'पाटल', 'दृष्टिकोण' नामक पत्रिकाएँ इसी श्रेणी की हैं। सन् १९५४ से 'नई कविता' नाम से एक अर्द्धवार्षिक संग्रह भी प्रकाशित होने लगा। इस प्रकार की कविताओं को अनेक तीखी आलोचनाएँ सहन करनी पड़ीं और आज भी सहन करनी पड़ रही हैं।

युग की परिस्थितियाँ और प्रयोगवाद—प्रत्येक युग में समाज अपने विकास के अनुकूल मनोवृत्तियों को महत्त्व दिया करता है। प्रयोगवादी कविताओं के भावपक्ष के विषय में इसी आधार पर विचार करने के पश्चात् विद्वानों ने इन कविताओं को वर्तमान समाज की गतिविधि से दूर रहने वाला सिद्ध किया है। किन्तु प्रमुख प्रयोगवादी कवि इसके विरुद्ध युक्तियाँ देते हैं। अज्ञेय जी कहते हैं—'प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।' गिरिजाकुमार माथुर की दृष्टि में प्रयोगवादी कविता का लक्ष्य व्यापक सामाजिक सत्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति है। धर्मवीर भारती प्रयोगवाद में एक सांस्कृतिक परिवर्तन की झलक पाते हैं और कहते हैं—'प्रयोगवादी कविता में भावना है, ... र भावना के सामने एक प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। इसी प्रश्न चिह्न

को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न चिह्न उसी की ध्वनिमात्र है।'

आलोचकों की दृष्टि मे प्रयोगवादी कविता वर्तमान सामाजिक समस्याओं की ओर से मौन है और कुछ आलोचक तो इसे पूंजीवाद की पोषिता कहते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार छायावाद जीवन से पलायन था उसी प्रकार प्रयोगवाद भी। अन्तर केवल इतना ही है कि छायावादी काव्य भाव-प्रधान था और उसकी पदावली सरस थी किन्तु प्रयोगवादी काव्य बुद्धि प्रधान है और पदावली भी अस्त-व्यस्त है। अन्य दृष्टियों से जैसे छायावाद सामाजिक संघर्ष से दूर रहने की चेष्टा करता था उसी प्रकार प्रयोगवाद भी। जैसे छायावादी काव्य के अर्थ अनेक स्थानों पर दुरूह हो गए हैं, वैसे ही प्रयोगवादी काव्य के भी। 'अज्ञेय' जी ने तो स्पष्ट लिखा है कि प्रयोगवादी लेखकों की रुचि ऐसे विषयों में अधिक है जिनका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं हो। डॉ० जगदीश गुप्त का कहना है कि यह साहित्य केवल उन्हीं के लिए लिखा गया है जो इसी प्रकार की मानसिक उलझनों में पड़े हुए हैं जिनमें स्वयं कवि। वे ही इस कविता के अर्थ का बोध कर सकते हैं। इस प्रकार यह साहित्य सार्वजनीन न होकर एक वर्ग विशेष का साहित्य है।

प्रयोगवादी काव्य-धारा की विशेषताओं को निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत अंकित किया जा सकता है।

१ **सामाजिक उत्तरदायित्व का अभाव**—प्रयोगवाद की कविताओं में अधिकांशतः सामाजिकता का अभाव है। जब इतनी उलझी हुई कविता होती है कि जन-साधारण उसे समझ ही नहीं सकता तब उसे सामाजिक कैसे कह सकते हैं। वास्तव में इस प्रकार के काव्य का आरम्भ यूरोप में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् वहाँ के अनास्थामूलक वातावरण में हुआ था। इसी कारण वास्तव में प्रयोगवादी काव्य में सामाजिक जीवन की अवहेलना हुई है।

२ **कला के बन्धनों का त्याग**—इसमें कोई सन्देह नहीं कि कलागत रूढ़ियों को छायावाद और प्रगतिवाद ने भी तोड़ा और अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का परिचय दिया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नवीनता के मोह में साहित्य की समस्त अतीत-साधना को धूल में मिला दिया जाए। वास्तव में ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि प्रयोगवादी कवि कला को जीवन के लिए ही मानते हैं। ये विलक्षण अद्भुत दुरूह तथा चकित कर देने वाली पदावली का प्रयोग करते हैं। उसका कोई अर्थ भी निकले, यह आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए एक प्रयोग देखिए, जहाँ क्रियाहीन शब्दावली के द्वारा क्रिया को ध्वनित किया गया है—

'मेढक पानी झप्प"

आगे सुन्दर शब्दो का प्रयोग भी दखिए किन्तु अर्थ फिर भी अस्पष्ट ही रहेगा—

> "निबिडान्धकार को मूर्त रूप दे देने वाली
> एक अकिंचन निष्प्रभ अनाहूत
> अज्ञात द्युत किरण
> आसन्न पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
> ईषत्कण स्निग्ध, कातर, शीतलता
> अस्पष्ट किन्तु अनुभूति"

भारतीय प्रयोगवादी काव्य पर टी० एस० इलियट तथा आई० ए० रिचर्ड्स का स्पष्ट प्रभाव है। इसी से नवीनता के साथ-साथ इसमे अस्पष्टता और दुरूहता आ गई है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवाद के मूल्याकन मे बताया है कि यह शैलीगत विद्रोह है। वे कहते हैं—'एक गहन बौद्धिकता इन कवियो के शीशे के पत्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरल भावना-चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्त्व का बाहुल्य धन हैं ।"

3 अनुभूति और विषय-वस्तु का असामजस्य—प्रयोगवाद के विषय मे यह ध्यान देने की बात है कि प्रयोगवादी कवि किसी भी विषय की अनुभूति इस प्रकार नही करता जिस प्रकार साधारण मानव। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक वस्तु की भिन्न अनुभूति होगी। इसलिए यदि कवि की कविता का साधारणीकरण नही होता तो इसमे कवि का दोष नही है। प्रत्येक शब्द का अर्थ भी कवि जैसा चाहे ग्रहण कर सकता है। किन्तु इससे तो साहित्य म अराजकता फल जाएगी, कोष व्यर्थ हो जाएँगे और जितने व्यक्ति है उतने ही एक एक शब्द के अर्थ होगे। जो वस्तुएँ अधिकाश समाज के द्वारा जिस रूप मे ग्रहण की जाती हैं, उसी रूप की मान्यता होती है। अत साधारणीकरण भी काव्य के लिए आवश्यक है। किन्तु प्रयोगवादी रचनाओ म इस का अभाव है। वसे सभी प्रयोगवादी कवियो की रचनाएँ ऐसी नही है। डा० रामविलास शर्मा की 'सिलहार' नामक कविता जो 'तार सप्तक' मे सकलित है भाषा तथा अभिव्यक्ति की सहजता की दृष्टि से सुन्दर है—

> पूरी हुई कटाई अब खलिहान मे पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
> दानों भरी पकी बालों वाले बड़े पूलों पर पूलों के अम्बार हैं॥

ऐसे प्रयोग तो काव्य म किए जा सकते है कि जन जीवन के जिन चित्रों को काव्य में उपस्थित होने का अवसर नही मिला है या कम मिला है उन्हे उपस्थित किया जाए। जसे—

खेती की मेड़ो पर बैठी मजदूरिन कजली गाती है—

दिन धान लगाने में बीता, आ गया याद मन का तोता।
यह बसे गाँव और आए बालम परदेसी घर रीता॥"

इसलिए अकेली बैठ इन्हीं गीतों मे मन बहलाती है।

फिर भी ऐसी कविताएँ कम हैं। 'अज्ञेय' आदि ने तो उन कविताओं को महत्त्व दिया है जो पाठक को धोखा दें, भले ही उनका अर्थ-बोध उसे न हो। यथा—

"भोर की प्रथम कोरी किरण,
अनजाने जागी हो याद किसी की
अपनी मीठी नीकी।
धीरे धीरे उदित रवि का लाल लाल गोला,
चौंक कहीं पर छिपा मुदित बन-पाखी बोला।"

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि भोर की किरण मे फीकापन अर्थात् निराशा है पर बन पाखी मुदित है। यह अवचेतन मन की कोई विचित्र ग्रन्थि है। साधारणीकरण का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।

उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि मे कुछ विद्वानों की उक्तियाँ उपयोगी सिद्ध होंगी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रयोगवाद के विषय मे निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं—

१ प्रयोगवादी रचनाएँ पूरी तरह काव्य की चौहद्दी मे नहीं आती। वह अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं। २ प्रयोगवादी रचनाएँ वैचित्र्य प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमे नही, ३ प्रयोगवादी रचनाएँ अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं, और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करती।

डॉ० नगेन्द्र प्रयोगवादी कविताओं के विषय मे लिखते हैं—

१ भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध, २ साधारणीकरण का त्याग, ३ उपचेतन मन के अनुभव-खण्डो के यथावत् चित्रण का आग्रह ४ काव्य के उपकरणो एव भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग।

प्रयोगवाद की दुरूहता के उपर्युक्त कारणो के साथ ही एक ही मुख्य कारण है नवीनता का आत्यन्तिक मोह।

प्रयोगवादी काव्य धारा बहुत पुरानी नहीं है किन्तु युगानुकूल न होने के कारण उसका भविष्य अन्धकारमय है। नवीन प्रयोग तो प्रत्येक युग मे
आए हैं, किन्तु उनका प्रयोजन शाश्वत या सामयिक जनहित ही रहा
प्रकार के प्रयोग सर्वथा व्यर्थ होते हैं जो केवल प्रयोग के शौक के

जाते हैं। भविष्य मे हिन्दी-काव्यो मे भी नवीन प्रयोगो का होना अनिवार्य है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि 'प्रयोग' शब्द कही किसी वाद या शैली विशेष के लिए रूढ न बन जाए। प्रयोगवाद को यदि उसके सच्चे अर्थ में ग्रहण किया जाए तो निश्चय ही उसका भविष्य उज्ज्वल बन सकता है।

१० | रहस्यवाद

आधुनिक काव्य के छायावादी और रहस्यवादी चेतना मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कारण कि छायावादी कवि ही रहस्यवादी रचना करते रहे हैं। काव्य मे इन दोनो प्रकार की कविताओ की शैली भी एक ही रही है। बंगला साहित्य से प्रभावित होकर जो ललित-मधुर पदावली हिन्दी साहित्य में आई, उसका प्रयोग दोनो प्रकार की कविता मे हुआ है। प्रतीक शैली, चित्रमयी भाषा, कल्पना की उडान, नये अंग्रेजी अलकारो का प्रयोग दोनो प्रकार की कविता की विशेषता हैं।

परन्तु छायावाद जहाँ हिन्दी साहित्य के लिए बिल्कुल नई वस्तु है, वहाँ रहस्यवाद नई वस्तु नही है। रहस्य-साधना भारतीय साहित्य की अनादि और शाश्वत चेतना है। यह रहस्यवादी चेतना हमे भक्ति काल मे कबीर और जायसी के काव्यों मे भी यथेष्ट दिखाई पडती है। परन्तु आधुनिक काल में हिन्दी मे रहस्यवादी काव्य का आरम्भ अपनी भक्ति काल परम्परा से प्रेरणा पाकर नही हुआ बल्कि अंग्रेजी और बगला साहित्य से प्रेरणा पाकर हुआ है। अंग्रेजी का 'मिस्टिसिज्म' (Mysticism) ही हिन्दी मे आकर रहस्यवाद बन गया है।

जब बगला के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनकी पुस्तक 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार मिला, तब से हिन्दी कवियो को भी उसी प्रकार की रचनाएँ लिखने की प्रेरणा मिली और अर्थ अनर्थ का बहुत विवेक किए बिना अनेक कवियों ने अनेक रहस्यवादी रचनाओ का सृजन किया जिनमे से अधिकांश शीघ्र ही काल के प्रवाह मे बहकर समाप्त हो गईं। केवल गिनती के दो चार कवि इस क्षेत्र मे टिक पाए।

परम्परागत अर्थों में रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध मे रचित काव्य है। पर आज की रहस्यवादी रचनाओ को समग्रत ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस सृष्टि में आकर मनुष्य अपने चारो ओर जो कुछ देखता है, वह विचित्र रहस्य से आवृत है। बडे-बडे मनीषी भी युगो तक खोज करके इस

समस्त विश्व प्रपंच के रहस्य का उद्घाटन नहीं कर पाए हैं। किन्तु दीर्घकाल तक विचार और साधना करने के पश्चात् उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि इस समस्त संसार का संचालन किसी अदृश्य सत्ता द्वारा हो रहा है। उस अदृश्य सत्ता को ब्रह्म या परमात्मा भी कहा जा सकता है। उस अदृश्य सत्ता को खोजने और उससे मिलने के लिए वे साधक बेचैन हो उठे। जब एक बार उस सत्ता का ज्ञान हो गया, फिर उससे मिले बिना चैन कहाँ? ऐसी दशा में विरह की व्याकुलता का वर्णन अनेक साधकों ने बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में किया है। किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि जिस ब्रह्म या अज्ञात सत्ता के प्रेम में वे पागल हो उठे हैं, उसके गुणों का या रूप का कुछ भी वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। सभी साधकों ने एक स्वर से यही बात कही है कि वह बुद्धि और तर्क से परे है। उसे इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता। किन्तु हृदय द्वारा उसका अनुभव अवश्य किया जा सकता है। परन्तु वह अनुभव गूँगे के गुड़ के समान है। उस अनुभव का आनन्द तो लिया जा सकता है, किन्तु उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके उपयुक्त शब्द ही भाषा में नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि उसे अपने भाव को व्यक्त करने के लिए प्रतीक शैली का सहारा लेना पड़ता है। इन प्रतीकों के द्वारा भी कवि अपने भाव को पूरा तो स्पष्ट नहीं कर पाता, पर फिर भी उसकी कुछ-न-कुछ झलक अवश्य दे पाता है।

यही रहस्यवाद है—आत्मा और परमात्मा या दृश्य जगत और अदृश्य अव्यक्त सत्ता के सम्बन्धों का काव्य रूप में वर्णन। विचार के क्षेत्र में इसे अद्वैतवाद कहा जाता है और काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद। इसमें तीन दशाएँ मानी जाती हैं। पहली दशा जिज्ञासा की है, जिसमें आत्मा को परमात्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। मनुष्य देखता है कि यह विस्तृत विचित्र संसार कैसे बना? किसने बनाया? ये रवि शशि और तारे किसका संकेत मानकर नियम से घूम रहे हैं। समुद्र गर्जना करके किसकी वन्दना किया करता है? और हिमकिरीट धारण किए पर्वत शिखर किसके द्वार पर द्वारपाल की भाँति निश्छल और निर्बन्ध खड़े हैं? इस कुतूहल से भर कर जब रहस्यवादी कवि अपनी रचनाएँ लिखता है तो वे जिज्ञासा की प्रथम कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

रहस्यवाद की दूसरी कोटि है खोज और ज्ञान की। इसमें कवि साधना की खोज द्वारा उस रहस्यमयी सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह सारे संसार में उसी सत्ता के सौन्दर्य को अनुभव करने लगता है और उस सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठता है।

तत्पश्चात् मिलन की कोटि आती है। कवि उस रहस्यमय सत्ता या परमात्मा से मिलने के लिए अधीर हो उठता है। उसकी आत्मा-परमात्मा के

विरह मे बेचैन होकर तड़पने लगती है। यह मिलन से पूर्व की अवस्था है। उसके बाद समय आने पर आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है। इस मिलन के समय आत्मा को अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द का वर्णन भी कबीर जैसे रहस्यवादी कवियो की कविता मे प्राप्त होता है। मिलन के उपरान्त आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नही रहता। दोनो मे एकात्मकता स्थापित हो जाती है। इसे मिलन के पश्चात् की अवस्था कहा जा सकता है। इस तरह मिलन कोटि की भी तीन उपकोटियाँ की जा सकती हैं। मिलन पूर्व कोटि, मिलन और मिलनोत्तर कोटि।

(क) जल मे कुम्भ, कुम्भ में जल, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ्य कथो गियानी।"

—कबीर

(ख) "चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर सगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम
काया छाया में रहस्यमय प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या ?"

—महादेवी वर्मा

कबीर के रहस्यवाद पर दृष्टि डालने से वह ज्ञान-प्रधान या साधनात्मक रहस्यवाद दिखाई पड़ता है। उसमे भावुकता का अश कम और बुद्धि का अश अधिक है। इसीलिए कबीर के रहस्यवाद को विचारात्मक रहस्यवाद भी कहा गया है। इसके विपरीत जायसी का रहस्यवाद प्रेम भावना से सराबोर है। इसे हम प्रेमात्मक या भावात्मक रहस्यवाद कह सकते हैं। वैसे कबीर के पदों मे भी विरह और मिलन सम्बन्धी पदो मे भावुकता और मर्म को स्पर्श करने की शक्ति कम नहीं है, परन्तु जायसी का सा भावना-बहुल रहस्यवाद उनका नहीं है। जायसी ने प्रेम के आवेग मे ससार के कण-कण मे उसी रहस्यमय सत्ता के सौन्दर्य की झाँकी पाई है और इस निखिल विश्व को उसी सत्ता के विरह के प्रचण्ड दावानल म जलता हुआ अनुभव किया है। जायसी का रहस्यवाद कविता की दृष्टि से भी अधिक सुन्दर बन पड़ा है। उसका प्रभाव हमारी बुद्धि पर नहीं अपितु हमारे हृदय पर होता है।

आधुनिक काल के रहस्यवादी कवियों मे जयशंकर प्रसाद,' महादेवी वर्मा और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ लोग सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाओं मे भी रहस्यवाद की झलक पाते हैं, परन्तु पन्त जी मुख्यतया छायावाद के कवि हैं। उन्होंने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों में [illegible] की कोशिश नही की। वे तो प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोप [illegible] सन्तुष्ट रहे हैं। जयशंकर प्रसाद', वर्मा तथा निराला के कुछ उदाहरण

नीचे दिए गए हैं—

(क) "ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे।" —प्रसाद

(ख) "तुमको पीडा मे ढूँढा, तुममे ढूँढूँगी पीडा।' —महादेवी वर्मा

(ग) "तुम तुंग हिमालय शृंग' और मै चचलगति सुरसरिता।"
तुम विमल हृदय उच्छवास और मैं कान्त कामिनी कविता।' —निराला

प्रसाद और निराला की रचनाओ मे दार्शनिक रहस्यवाद दृष्टिगोचर होता है। इनकी रचनाओ पर बौद्ध साहित्य, उपनिषदो तथा रामाकृष्ण परमहस के अद्वैतवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। 'पन्त' और 'एक भारतीय आत्मा' की कविताओ मे जहाँ-तहाँ अनन्त परोक्ष सत्ता की झलक भी दिखाई पडती है। इसे आध्यात्मिक रहस्यवाद का नाम दिया गया है।

प्राचीन काल के रहस्यवादी कवियो और आधुनिक काल के रहस्यवादी कवियो म बहुत अन्तर है। कबीर और जायसी का जीवन भी उनकी रचनाओ के सदृश ही साधनामय था। वे लोग जिस भाव को अनुभव करते थे, उसे ही अपने काव्य मे प्रस्तुत कर देते थे। फिर प्राचीनो की रहस्य-साधना का लक्ष्य परमतत्त्व—भी स्पष्ट है, जबकि नवीनो मे यह स्पष्टता नही है। इस अर्थ मे आधुनिक कवि अधिक रहस्यवादी प्रतीत होते हैं। परन्तु फिर भी नए रहस्यवादी कवियो म मन, वचन और कर्म का वह सामजस्य हमे दिखाई नही पडता कि जो प्राचीनो मे विद्यमान है। यदि यह मान लिया जाए कि उनकी कविताएँ आत्मा और परमात्मा के मिलन को लक्ष्य करके लिखी गई हैं, तो यह अनिवार्य रूप से मानना पडेगा कि वे कोरी कल्पनाएँ हैं। वर्तमान कवियों मे से किसी की अध्यात्म साधना ऐसी दिखाई नही पडती कि जिसके कारण उनकी रचनाओ को सच्ची अनुभूतियो पर आधारित माना जाए। ऐसी दशा मे इस युक्ति म कोई बल प्रतीत नही होता कि रहस्यवादी रचनाएँ इसलिए क्लिष्ट होती हैं, क्योकि उनमे अलौकिक लोकोत्तर अनुभूतियों या भावो का वर्णन करना होता है। जब आधुनिक रहस्यवादी कविता अनुभूति पर आधारित ही नहीं है और विशुद्ध कल्पना का खेल है, तो अलौकिक भावो का प्रश्न ही नहीं उठता।

छायावादियो की बात फिर भी समझ आने योग्य है। कोई भी सहृदय भावुक किसी भी फूल मे या तितली मे चेतन सत्ता का आभास पा सकता है और उसमे मानवीय भावनाओं का आरोप ही नहीं कर सकता, बल्कि उनमे न भावनाओं को सचमुच हृदय से अनुभव भी कर सकता है। इसलिए छाया-दी कवि की अभिव्यक्ति सच्ची कही जायगी। परन्तु उन रहस्यवादी कवियों अभिव्यक्तियाँ, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी आत्मा और परमात्मा के विरह

या मिलन के दु ख, सुख की अनुभूति प्राप्त नही की, सच्ची अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती । इस दृष्टि से हिन्दी का आधुनिक रहस्यवादी साहित्य अपना महत्व खो बैठता है।

आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपनी 'काव्य मे रहस्यवाद' नामक पुस्तक मे ऐसे रहस्यवादी कवियो को अच्छी तरह लताडा है, जो असीम, अनन्त क्षितिज के पार, अदृश्य सगीत इत्यादि शब्द-जाल और अस्पष्ट भावनाओ को श्रेष्ठ रहस्यवादी रचनाओ के नाम से प्रचारित कर रहे थे। इन लोगों ने क्लिष्ट दुर्बोध और असपष्ट रचनाओ को ही रहस्यवाद मान लिया था, शायद इसलिए क्योंकि उनका अथ अन्त तक रहस्य ही बना रहा जाता था।

यदि कोई व्यक्ति किसी अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर अर्थ को प्रकट करने का प्रयास करे और उसमे उसकी भाषा क्लिष्ट हो जाए, तो वह सह्य है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति बिना किसी श्रेष्ठ भाव या अथ के केवल जटिल शब्द जाल मे पाठकों को उलझा कर उन पर यह प्रभाव डालना चाहे कि वह किसी बहुत ही सूक्ष्म और दुरुह भाव को प्रकट करना चाहता है, परन्तु सफल नहीं हो पा रहा, तो वह असम्य है। इसी प्रकार के साहित्य-महारथियो की शुक्ल जी ने अपने निबन्ध मे अच्छी तरह खबर ली थी और इसी का यह फल हुआ कि हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र से ऐसे अनेक लेखक एकाएक लुप्त हो गए, जो केवल शब्द-जाल के सहारे उच्च कोटि के रहस्यवादी कवि कहलाने लगे थे। केवल वही कवि अब साहित्य क्षेत्र मे शेष रहे हैं, जिनकी कविताओ मे कुछ बल और जीवन था आज काव्य की यह धारा महादेवी की कविताओं मे ही जीवित देखी जा सकती है। अन्यत्र सवत्र इसका प्राय विलोप हो चुका है।

११ | हिन्दी साहित्य में गद्य शैली का विकास

हिन्दी साहित्य में गद्य का चतुर्मुखी विकास आधुनिक काल की देन है। प्रेस का आविष्कार राजनीतिक आन्दोलन का चलन पत्र-पत्रिकाओ का व्यापक प्रचलन और बौद्धिकता का विकास आदि अनेक ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप आधुनिक युग मे पद्य के स्थान पर, प्रायः भी प्राय सभी जातियों के साहित्य में पद्य का [illegible] गद्य का [illegible] हुआ, हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं

हिन्दी साहित्य में हमें गद्य का अत्यन्त [illegible] भाषाओं ब्रज और राजस्थानी में [illegible] रस

गोकुलनाथ की लिखी 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' तथा नाभादास कृत 'अष्टयाम' मे उपलब्ध होता है इसके अतिरिक्त अनेक टीका ग्रथो की रचना भी गद्य म ही की गई। किन्तु शुक्ल जी के विचार मे टीका-गद्य बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। वास्तविक रूप मे हिन्दी साहित्य में गद्य का प्रादुर्भाव खडी बोली मे लिखे गये गद्य से माना जाता है।

खडी बोली गद्य के आदि लेखक अकबर के दरबारी कवि गग कहे जाते हैं। इनकी लिखी 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक पुस्तक की भाषा आधुनिक खडी बोली के आस पास है जो कि १६वी शताब्दी मे लिखी गई थी। गग के लगभग पौन दो सौ वर्ष पश्चात् खडी बोली गद्य दो के महत्त्वपूर्ण लेखक हुए। इनमे रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषा योग वासिष्ठ' लिखी और प० दौलत राम ने जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। किन्तु भाषा की दृष्टि से निरजनी के 'भाषा योग वासिष्ठ' को खडी बोली का प्रथम ग्रन्थ तथा निरजनी को खडी बोली गद्य का प्रथम प्रौढ लेखक मान सकते हैं।

१६वी शताब्दी के आरम्भिक काल मे खडी बोली को साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया गया। इस कार्य मे चार प्रमुख महानुभावों—मुशी सदासुखलाल, इशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र का योगदान सराहनीय है। इन्ही के उद्योग से हिन्दी-गद्य ने साहित्यिक रूप ग्रहण करने मे सफलता प्राप्त की। इनमे से लल्लूलाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष जॉन गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से हिन्दी गद्य मे पुस्तक लिखी। इशा अल्ला खाँ का अध्ययन फारसी तक ही सीमित था। अत इनकी भाषा मे सस्कृत के शब्दो का अभाव है जिसका हिन्दुओं की प्रचलित भाषा मे होना अनिवार्य है। लल्लूलाल की भाषा भी विकास के योग्य न थी। इनकी लिखी प्रेमसागर नामक पुस्तक मे ब्रज भाषा का पुट और पण्डिताऊपन है। इनकी शैली भी गम्भीर विषयो के उपयुक्त न थी। सदल मिश्र और मुशी सदासुखलाल की व्यवहारोपयोगी भाषा तत्सम और तद्भव शब्दो से पूर्ण होते हुए भी मुन्शीजी की भाषा मे अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दो का बहिष्कार तथा मिश्रजी की भाषा में शुद्धता, प्रौढता और परिमार्जन का अभाव होने से विकास के योग्य न रही। फिर भी आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इन्ही दोनो के गद्य को आधुनिक गद्य का आदर्श मानते हैं।

ईसाइयो द्वारा भी हिन्दी के गद्य-साहित्य की पर्याप्त मात्रा मे सेवा हुई। जनता तक अपने धर्म को पहुचाने के लिए उन्होने बाइबिल अनुवाद हिन्दी मे करवाया। मुख्यत उनका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था, हिन्दी-गद्य की उन्नति करना नही था, फिर भी अभिव्यक्ति के इस माध्यम की ओर

लोगों का ध्यान तो इन्होंने आकर्षित किया ही। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिए इन दिनों अनेक स्कूल खुलने लगे थे। ईसाई पादरियों ने भी अपने छोटे मोटे मिशन स्कूल खोलने शुरू कर दिए। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों की माँग को पूरा करने के लिए इन्होंने सिरामपुर तथा आगरा आदि विभिन्न स्थानों पर स्कूल, बुक सोसायटीज कायम कीं। इनके अपने बहुत से छापेखाने भी थे।

इसी समय साम्प्रदायिकता के शिकारों ने कुछ मुसलमानों के प्रभाव में आकर सरकार की नीति हिन्दी के प्रति बदली। हिन्दी का अस्तित्व मिटाने का जोर शोर से प्रयत्न किया गया एवं उर्दू को उसके स्थान पर आसीन कर दिया गया। धीरे धीरे स्कूलों तथा सरकारी कार्यालयों से हिन्दी का अस्तित्व हटाया जाने लगा था। पहले शिवप्रसाद सितारे हिन्द हिन्दी के समर्थक थे। परन्तु शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर आसीन होते ही वे उर्दू के समर्थक बन गये। इनका विरोध राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। वे विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। आपने संस्कृत भाषा के तत्सम और तद्भव शब्दों को आवश्यकतानुसार अपनाकर भाषा को सरल, सरस और स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया। इनके 'शकुन्तला नाटक' में भाषा का ऐसा रूप ही दृष्टि गोचर होता है। फिर भी इन्होंने कुछ विदेशी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसी समय अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करने की प्रवृत्ति चल रही थी। आर्य समाज की स्थापना के द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी का प्रचार करना भी आरम्भ कर दिया। स्वामी जी की अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में तो लिखी थी। उन्होंने समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य कर दिया था। श्रद्धाराम फुलौरी का गद्य भी परिमार्जित एवं प्रौढ़ है। इन्होंने कठिन दार्शनिक तथ्यों को सरल भाषा के द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है जिसमें ये सफल भी हुए हैं इस प्रकार इस युग में हिन्दी गद्य को विकसित करने तथा उसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय आर्य समाज को है।

अब तक हिन्दी गद्य का निर्माण तो भली प्रकार से हो चुका था किन्तु इसे साहित्य के क्षेत्र में लाने का कार्य शेष रह गया था। साहित्यिक गद्य का उद्भव एक प्रकार से १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ। तब से लेकर अब तक का जो काल है उसे गद्य के विकास के अध्ययन की सुविधा के लिए चार युगों में विभाजित किया जा सकता है—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद युग तथा वर्तमान-युग।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु के आगमन के साथ ही हिन्दी गद्य तथा पद्य के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु-युग राष्ट्रीय-जागरण का काल था। १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। युग की

चेतना को जनता तक पहुँचाने मे साहित्यिकों ने बड़ा योग दिया। नाटक, पत्र-पत्रिकाओं आदि के द्वारा लेखक जनता तक अपना सन्देश पहुँचा सके। इसीलिए आधुनिक युग को गद्य-काल की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इस युग मे गद्य का सर्वतोमुखी विकास हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। 'उन्होंने कवि वचन सुधा' का सन् १८६७ मे तथा 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का सन् १८७६ मे प्रकाशन कार्य आरम्भ किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके सहयोगियों ने जिस प्रकार की भाषा मे अपने लेख और ग्रन्थ लिखे, वह बहुत स्वाभाविक और भाव प्रकाशन में समर्थ भाषा थी।" हरिश्चन्द्र मैगजीन के प्रकाशन से हिन्दी मे नई भाषा शैली की नींव पड़ी। भारतेन्दु जी ने उर्दू फारसी-बहुल हिन्दी और तत्सम-बहुल विशुद्ध हिन्दी का अपनी भाषा में समन्वय स्थापित करके एक व्यावहारिक भाषा-शैली को जन्म दिया। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य-क्षेत्र में इस नई शैली का प्रवर्तन करके युगान्तर उपस्थित किया। उनकी भाषा-शैली मे सहजता एवं भावों को अनुसरण कर सकने के जो गुण हैं, उनके द्वारा भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य को खूब समृद्ध किया।

बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र हमारे समक्ष गद्य-साहित्य के स्वतन्त्र शैलीकार के रूप मे आते हैं। भट्ट जी ने भारतेन्दुजी की गम्भीर निबन्धों की शैली का अपनी रचनाओं मे विकास किया है। किन्तु उन्होंने भाषा की शुद्धता के प्रति अपना आग्रह अधिक नहीं दिखाया। उन्होंने अंग्रेजी, उर्दू फारसी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया। इसके विपरीत प्रताप नारायण मिश्र ने कहावतों का प्रयोग तथा व्यग्य और हास्य के पुट से भारतेन्दु की सामान्य शैली को सजीव बना दिया। एक प्रकार से इनकी भाषा जन प्रिय बन सकी है।

जहाँ हिन्दी मे गद्य-शैली का विकास हुआ, वहाँ गद्य-साहित्य के विविध अंगों यथा नाटक, उपन्यास और निबन्ध का विकास हुआ। भारतेन्दु-युग में बहुत से मौलिक नाटक उपन्यास एवं निबन्धों की रचना की गई तथा अनुवाद का कार्य भी जोरों से चला।

द्विवेदी-युग मे चलकर गद्य के विभिन्न अंगों का जो उद्भव एवं विकास हुआ उनके प्रभाव मे आकर गद्य-शैली की भाषा तत्सम-प्रधान हो गई और उसमे अनेकरूपता आ गई। यों तो समीक्षा का सूत्रपात भारतेन्दु-युग में हो चुका था, परन्तु उसका वास्तविक विकास इसी युग मे प्रारम्भ हुआ। आधुनिक कहानी का जन्म भी इसी युग में हुआ। गद्य शैली को सवारने तथा निखारने मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का बहुत बड़ा हाथ है। 'सरस्वती' के द्वारा

उन्होने गद्य-साहित्य की बहुत सेवा की। इस युग के बहुत से प्रसिद्ध लेखकों ने न्यूनाधिक मात्रा मे द्विवेदी जी की भाषा शैली को अपनाया है। इसका कारण यह है कि द्विवेदी जी की भाषा शैली प्रसाद एव ओज गुण से परिपूर्ण है तथा उसमे सयम भी है। प्रवाह और सजीवता भी उनकी शैली का अनुपम प्रदर्शित करती है। प० पद्मसिंह शर्मा की शैली मे उर्दू शैली की सी चुलबुलाहट तथा चलताऊपन है। श्यामसुन्दर दास ने तत्सम शब्दो को अपनी भाषा मे प्राधान्य दिया है। इस युग मे प्रेमचन्द जी भी अपनी विशिष्ट प्रकार की भाषा शैली लेकर आए। उन्होंने खडी बोली के चलते हुए रूप को अपनाया है। अपने अद्वितीय उपन्यासो तथा कहानियो के द्वारा उन्होंने हिन्दी के गद्य साहित्य के भण्डार को खूब भरा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गम्भीर विषयो का विश्लेषण करने वाली प्रौढ भाषा-शैली को अपनाया है। इनकी विशुद्ध साहित्यिक खडी बोली मे गाम्भीर्य सयम और सौष्ठव है। उन्होंने अपनी भाषा को अपूर्व शक्ति प्रदान करके उसे सभी प्रकार के विषयो का प्रतिपादन करने मे समर्थ बनाया है। इसीलिए उन्होंने अपनी भाषा का शब्द चयन और वाक्य विन्यास बडी सतर्कता से किया है।

छायावादी कवि प्रसाद ने भी प्रौढ भाषा-शैली को प्रश्रय दिया। उपन्यास के क्षेत्र मे भी कुछ नवीन शैलियो का प्रवर्तन हुआ। उदाहरणार्थ मनो-विश्लेषणात्मक, लाक्षणिक, व्यग्यमूलक अर्थात् साम्यवादी विचारो को व्यक्त करने वाले नाटक के क्षेत्र मे प्रसाद जी नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। लक्ष्मी-नारायण मिश्र उपेन्द्रनाथ अश्क इत्यादि का नाम आधुनिक नाट्य-शैलीकारो मे आता है।

छायावाद-युग मे भी गद्य शैलियो का विकास हुआ। गद्य मे लाक्षणिकता अलकृति काव्यात्मकता इत्यादि तत्वो का विकास हुआ। महादेवीजी के आलोचनात्मक निबन्ध छायावाद रहस्यवाद यथार्थवाद, आदर्शवाद आदि काव्य और साहित्य के विविध रूपो को लेकर बडे महत्त्वपूर्ण हैं। अपने गद्य मे भी कविता की भाँति उन्होने सस्कृति-गर्भित खडी बोली को अपनाया है। भाषा मे इतनी तीव्रता है कि पाठक कलाकार के भावो के साथ बहता हुआ चलता है। सक्षेप मे भावुकता, विदग्धता मधुरता और लालित्य महादेवीजी की भाषा शैली के विशिष्ट गुण हैं। अपने भावो की अभिव्यक्ति महादेवी जी ने बडी आलकारिक भाषा एव व्यजना-शैली मे की है। माखनलाल चतुर्वेदी भी वर्तमान युग के श्रेष्ठ शैलीकार हैं। इनका गद्य भी काव्यात्मक है। इनकी भाषा-शैली के तीन विशेष गुण हैं—तन्मयता, रागात्मकता एव सुबोधता।

प्रसाद जी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पौराणिक वातावरण को नवीन युग के

आलोक स आलोकित किया है और भारतेन्दु-युगीन पौराणिक नाट्य-शली से पृथक एक नवीन नाट्य-शैली की उदभावना की है। इसके अतिरिक्त पौराणिक नाटको के क्षेत्र म सुदशन माखनलाल चतुर्वेदी, उदयशकर भट्ट ने भी नवीन शैली विधान का सयोजन किया है। इसके अतिरिक्त कहानी निबन्ध उपन्यास आदि गद्य के विभिन्न अगो का भी समुचित रूप से विकास हुआ। इस युग मे क्या भाषा क्या शली क्या विषय सभी क्षेत्रो मे एक अभिनव कलात्मकता, मसृणता विविधता और गहराई आई।

गद्य के विकास की दृष्टि से वतमान-युग अपना अलग महत्त्व रखता है। इस युग म गद्य का इतना अधिक प्रयाग हुआ है और हो रहा है कि कुछ विद्वान् आधुनिक-काल को गद्य-काल के नाम से पुकारने लगे है। भावात्मकता, विचारात्मक शैलियो के साथ ही-साथ वतमान युग अनुसधानात्मक और वैज्ञानिक शैलियो का भी विकास करने वाला कहा जा सकता है। आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी के नाथ-पथ, कबीर मध्यकालीन धम-साधना आदि ग्रन्थो मे अनुसधानात्मक शली का सुन्दर उदाहरण मिलता है। वैज्ञानिक विवेचन की शैली का परिचय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के भाषा के इतिहास मे मिलता है। डा० नगेन्द्र का भी अपनी विशिष्ट भाषा शैली के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने प्रौढ चितन, मनोवज्ञानिक समीक्षा पद्धति और आलोचना के मौलिक सिद्धान्तो द्वारा हिन्दी के आलोचना साहित्य को बडा समृद्ध बनाया है। इनकी भाषा शैली की विशेषता भावात्मक, विचारात्मक एव कलात्मक तत्त्व हैं। इन्होंने आलोचना मे अपनी सरस शैली के द्वारा तथ्य-निरूपण को बहुत सरल बना दिया है।

वतमान युग म शैली की दृष्टि से कुछ प्रगतिशील लेखको ने भी प्रयोग किये हैं जिनका अपना विशेष महत्त्व है। डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक आचाय रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी समालोचना मे चलती हुई ओजपूर्ण गद्य-शली का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। डॉ० रागेय राघव गम्भीर-विचार-विश्लेषण एव मनोवैज्ञानिक तकपूण शली को लेकर गद्य के क्षेत्र मे अवतीण हुए। उनकी शैली मे पाठको को उदबुद्ध करने की शक्ति है। ज्ञान की गरिमा एव सयमित व्यग्य भी इसी शैली की अन्य विशेषताएँ हैं। यशपाल के गद्य-साहित्य मे भी एक नवीन भाषा शैली के दशन होते हैं। यशपाल ने अपनी साम्यवादी विचार-धारा को अपनी भाषा-शली के द्वारा अच्छे ढग से प्रस्तुत किया। प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह प्रभति अन्य प्रगतिशील लेखकों ने [इ]स नवीन गद्य-शैली को अपनाया है जिसका प्रवतन यशपाल ने किया था। इस शली मे व्यग्य एव कटूक्तियो की प्रधानता है तथा डॉ० रागेय राघव की सी व्यक्ति निष्ठता को भी लिए हुए है। वतमान चरणो म हिन्दी गद्य के विधात्मक रूपो मे सभी प्रकार से सूक्ष्मता, सांकेतिकता का समावेश हो गया है।

अतः नाना गद्य रूपों में नवीन निखार एवं विकास आ रहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं हिन्दी गद्य का जब से उद्भव हुआ, तब से लेकर अब तक उसने अत्यधिक उन्नति की है। गद्य साहित्य की विविध विधाओं पर यथा नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कहानी, समीक्षा आदि पर सुन्दर तथा उच्च कोटि का साहित्य उपलब्ध है। आज भी गद्य की विभिन्न शैलियों में वर्तमान युग का गद्य-साहित्य भरा जा रहा है। वर्तमान-युग का लेखक अपने हृदय के पाठकों के सम्मुख उड़ेल देने के लिए नई-नई शैलियाँ गढ़ता जा रहा है। इस प्रकार वर्तमान-काल में हिन्दी गद्य उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया है। क्या भाव क्या भाषा-शैली सभी क्षेत्रों में यह प्रगतिशील है। सत्य तो यह है कि आज कविता भी गद्य के अधिकतम निकट आती जा रही है। वास्तव में यह युग गद्य-साहित्य के चरम विकास का युग है।

१२ | हिन्दी नाटक और रंगमंच

न केवल भारतीय, बल्कि समस्त विश्व की साहित्यिक परम्पराओं में नाटक को प्राचीनतम विधा स्वीकारा जाता है। इस दृष्टि से नाटक साहित्य जितना पुराना है उसके दृश्य विधान के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले रंगमंच का इतिहास भी उतना ही अधिक पुराना एवं परम्परागत है। भारतीय साहित्य में संस्कृत के नाटक अपना विशेष महत्त्व एवं विकास की एक समुन्नत परम्परा रखते हैं। यहाँ नाट्य का महत्त्व पंचम वेद के समान माना जाता है। ऐसी मान्यता भी है कि विश्व-साहित्य के आदिम माने जाने वाले महान् ग्रन्थ ऋग्वेद में ही हमें नाटक के तत्त्व उपलब्ध होने लगते हैं। इसमें जो संवादात्मक सूक्त हैं अनेक विद्वान उन्हीं से नाटक और रंगमंच की उत्पत्ति तथा विकास मानते हैं। इतना ही नहीं, भारत में तो नाटक को एक अलौकिक कला के रूप में मान्यता मिलती रही है। शिव-पार्वती, ब्रह्मा, नारद आदि देवों को इसके स्वरूप का विधायक स्वीकारा जाता है। जो हो, इतना निश्चित है कि लौकिक संस्कृत के काल में काव्य के रूप में यहाँ सर्वाधिक रचना नाटकों की ही हुई होगी। तभी तो भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रथम प्रणेता आचार्य भरत ने काव्य शास्त्र का जो विवेचन किया है वह वास्तव में नाट्य एवं नाट्य शास्त्र का ही विवेचन किया है।

नाटक के समान इस देश में रंगमंच की कथा भी अत्यन्त प्राचीन मानी

जाती है। ऐसी मान्यता है कि सवप्रथम देवताओ ने समुद्र-मथन की पौराणिक कथा सुव्यवस्थित रगमच पर प्रस्तुत की थी। इस मान्यता मे सत्य कितना है, इस विवाद मे न पड कर हम केवल यह मानकर चलना चाहते हैं कि सस्कृत के नाटय-रचना-काल मे निश्चय ही भारत मे अभिनेयता की दष्टि से उन्नत रगमच रहा होगा तभी तो सस्कृत के काव्य या नाटय शास्त्रा मे रगमच रचना के छोटे-बडे अनेक प्रकार के विधान उपलब्ध होते हैं। रगमच के साथ-साथ साज-सज्जा गह (Green rooms), प्रेक्षण-गह नपथ्य आदि के भी समुन्नत विधान मिलते हैं। नाटकों के कथानकीय स्रोतो के आधार पर ही नही, दशको की विविध और विभिन्न कोटिया के आधार पर भी यहाँ रगमच-विधान की एक सुव्यवस्थित एव समुन्नत परम्परा रही है। पर खेद का विषय है कि सस्कृत-काल की समाप्ति के साथ ही साथ उन सब का क्रमश ह्रास होता गया। सस्कृत की परवर्ती प्राकृतो और अपभ्रशो के काल मे न तो कोई विशेष नाटको की परम्परा ही मिलती है और न रगमच की ही। फिर भी १६वी शताब्दी के छटे-सातवें दशको तक यहाँ रगमच यत्र तत्र बिखरे रूप मे उपलब्ध रहा है ऐसे प्रमाण हमे इतिहास मे मिलते हैं। अवध के नवाबो ने तो रगमच को प्रश्रय दिया ही, झाँसी के राज्य मे भी एक सुव्यवस्थित रगमच था, जिसे अग्रेजो ने ध्वस्त कर दिया था। इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जब सामान्य रूप से रगमच के होने के प्रमाण मिलते हैं तो विविध बोलियो या भाषाओ मे सामान्यत नाटक भी रचे जाते रहे होगे, ऐसा मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

यह तो हुई समग्र रूप से भारतीय नाटक और उसके रगमच की सामान्य कथा। इस आलोक मे हिन्दी नाटक और उसके अपने रगमच का क्या स्थान एव महत्त्व है, यह देखना अब बाकी रह जाता है। एक वाक्य मे हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक काल (सम्वत १६०० से) के आरम्भ होने तक—अर्थात सम्वत् १०५० से लेकर सम्वत १६०० वि० तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास के जो आदि, भक्ति और रीति नाम के तीन काल माने गये हैं उन कालो म हिन्दी नाटक-रचना की दृष्टियो से सवथा अकाल रहा है। जब नाटक रचे ही नही गये, या इस ओर साहित्यकारो एव जन-मानस की रुचि ही न थी तो किसी रगमच की कल्पना ही कैसे की जा सकती है अनेक विद्वानो का यह मत है और हमारा अपना भी विचार यही है कि यह काल-खण्ड आन्तरिक एव बाह्य सभी दृष्टियो से अनेक प्रकार के सक्रमणो एव सघर्षों के काल रहे हैं। दूसरे, जैसे ही सस्कृत काल का अवसान होता जाता है भारत पर विदेशी शक्तियो एव उनके आक्रमणो का दबाव भी बढता जाता है। यह भी एक सवमान्य तथ्य है कि नाटक इस्लामी सस्कृति-सभ्यता की मूल प्रवृत्तियो से मेल

नही गाते और ये काल वास्तव में भारत पर इन्हीं सभ्यता-संस्कृतियों के आक्रमणों एव राजत्व का काल है। अत नाटक रचना और उनके अभिनय की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया, फिर रगमच का उदय एव विकास कहां न हो जाना? हाँ, इन तीन काल-खण्डो म देश के कुछ विशिष्ट भागों एव प्रभागो म रास लीला राम-लीला एव नौटकिया आदि के रूप में अस्थायी एव सामान्य रगमच रहने के प्रमाण कुछ न कुछ अवश्य मिल जाते हैं।

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अवध के नवाबो का ध्यान उनके रगीले स्वभावो के कारण अवश्य ही नाटको और रगमच की ओर आकर्षित हुआ। उनमे से कुछ नवाबो ने नाटक लिखवाए और उनका अभिनय भी करवाया। इतना ही नही इन नाटका मे नारी पात्रो का अभिनय नारियों ने ही किया ऐसा माना जाता है। इसका कारण यह है कि नवाब और उनके चहेते महलकार पुरुष-पात्रो की भूमिका म स्वय अवतरित होते थे। रगीले नवाब वाजिद अलीशाह का स्व-रचित एक नाटक भी उपलब्ध होता है, जो राधा-कृष्ण और गोपियो की प्रेम-लीला पर आधारित है। इसम कृष्ण की भूमिका में नवाब स्वय और राधा तथा गोपियो की भूमिका म उनकी चहेती नर्तकियाँ आदि अवतरित हुई थी। इनके अतिरिक्त कुछ व्यावसायिक नाटक मण्डलियों के होने का उल्लेख भी मिलता है जो नौटकी के समान इधर उधर घूमकर अस्थायी एव स्व निर्मित मच पर अभिनय किया करती थी। इस प्रकार के सारे प्रयत्नो को समग्रत हिन्दी नाटक और रगमच की परम्परा नही कहा जा सकता क्योकि वहाँ मापायी खिचडी अधिक है। विशुद्ध नाटकीयता का सतत अभाव है।

हिंदी नाटका और रगमच की वास्तविक परम्परा का समारम्भ हमारे विचार मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही होता है। यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारतेन्दु जी को इस सब की प्रेरणा अग्रेजी नाट्य मचो और बगला नाट्य मचो से ही प्राप्त हुई थी। अपनी जगन्नाथ पुरी की यात्रा के दौरान भारतेन्दु जी जब कलकत्ता पहुचे तो वहा उन्होने देखा कि पहले अग्रेजी रगमच और उससे प्रेरित होकर बगला रगमच का सतत विकास हो रहा है। वहाँ रहकर उन्होंने दोनो मचो पर अभिनीत किये जाने वाले नाटको को गहरी एव एक अध्यता की दृष्टियों से देखा। अभिव्यक्ति के इस माध्यम ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। हिंदी मे भी नाटका और रगमच की स्थापना का निश्चय लेकर ही वे वापिस अपने घर आये। वापिस आकर उन्होंने अनेक मौलिक नाटक लिखे कुछ अनुवाद किये और कुछ का रूपान्तरण किया। फिर भारतेन्दु मण्डल के सदस्यो के साथ मिलकर उन्होंने एक रगमच की स्थापना की। उसी मण्डल के सदस्यो के साथ मिलकर अपने प्राय समस्त नाटको का

अभिनय प्रस्तुत किया। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अपने नाटकों की प्रमुख भूमिकाओं म भारतेन्दु जी स्वय रगमच पर अवतरित होते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी मे नाटको की रचना, हिन्दी रगमच और हिन्दी-नाटको के अभिनय का वास्तविक इतिहास यही से ही आरम्भ होता है, पर यह खेद का विषय है कि भारतेन्दु जी की यह स्थापना और परम्परा उनके बाद जारी नही रह सकी। उनके बाद एक बार फिर हिन्दी-नाटक और उसका स्थापित रगमच पूणतया अस्त व्यस्त बल्कि ध्वस्त होकर रह गया।

भारतेन्दु जी के बाद आचाय महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग आता है। अपने युग मे द्विवेदी जी ने विशिष्ट दष्टिकोण एव ढग से साहित्य की अन्य विधाओ के विकास की ओर तो समुचित ध्यान दिया पर जाने क्यो नाटक रगमच की ओर उनका ध्यान गया ही नही। परिणामस्वरूप हिन्दी के नाम पर नाटक के क्षेत्र म अनेक व्यावसायिक मण्डलियाँ उतर आई। अनेक पारसी थियेटीकल कम्पनियाँ सामान्य स्तर के नाटक लेकर रगमच और अभिनय के क्षत्र म काम करने लगी। ये कम्पनियाँ जो कुछ भी कर रही थी, विशुद्ध आर्थिक एव व्यावसायिक दष्टियो से ही कर रही थी। अत इनके प्रयासा से न तो हिन्दी नाटक को ही कुछ लाभ पहुच सका और न हिन्दी रगमच का ही कोई रूपाकार रूपायित हो सका।

उसके बाद हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र म श्री जयशकर प्रसाद का आगमन हुआ। प्रसाद जी ने भारतीय सभ्यता, सस्कृति एव राष्ट्रीय चेतनाओ से अनुप्राणित होकर अनेक साहित्यिक नाटक रचे, पर सखेद स्वीकार करना ही पडता है कि उनके अन्तिम नाटक 'ध्रुव स्वामिनी' को छोडकर अन्य किसी म भी रगमचीय सम्भावनाओ का कतई ध्यान नही रखा गया। हम इस विवाद म नही पडना चाहते कि प्रसाद जी के नाटको के उपयुक्त रगमच का अभाव रहा या प्रसाद जी ने कहा कि रगमच की योजना उपलब्ध नाटको के आधार पर होनी चाहिए। हमारा यह निश्चित मत है कि यदि प्रसाद जी कुछ वष और जीवित रहते, 'ध्रुव स्वामिनी' के बाद यदि वे और भी नाटक रचने तो निश्चय ही वे नाटक उपलब्ध रगमच की सभी प्रकार की सम्भावनाओ के अनुरूप होते, ऐसा हम 'ध्रुव स्वामिनी' के स्वरूप विधान को निहार कर नि:सकोच कह सकते हैं। तात्पय यह है कि प्रसाद जैसा प्रतिभाशाली नाटककार भी विशुद्ध सुपाठ्य साहित्यिक नाटक ही हम प्रदान कर सका, रगमचीय नही। अत हिन्दी रगमच के निर्माण म हमे उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार का सहयोग नही मिल सका। तभी तो आज भी हिन्दी का कोई एकान्त अपना रगमच नही बन सका है। अभी तक हम अनवरत प्रयत्नो की गलियो मे ही निरन्तर भटक रहे हैं।

हिन्दी नाटकों का आज जो थोड़ा-बहुत रंगमंचीय रूप उपलब्ध है व हिन्दी रंगमंच का कुछ-कुछ अपना विनिर्माण हो रहा है इसे हम तत्त्व रूप से एकदम हिन्दी एकांकी और उसके रंगमंच की देन कह सकते हैं। यहाँ भी यह अंग्रेजी, बंगला और मराठी नाटकों की देखा-देखी ही आई यह एक निर्भ्रान्त सत्य है। हिन्दी में इसका आरम्भ स्कूल-कालेजों के वार्षिक व विशेष उत्सवों के अवसरों पर खेले जाने के लिए हुआ। स्कूलों-कालेजों के पास अपने हॉल एवं सीमित मंच थे। उन्हीं को ध्यान में रखकर पहले-पहल छोटे बड़े अभिनय एकांकी रचे जाने लगे। फिर योरुप में तथा भारत के अनेक भागों में भी सिनेमा की तुलना में नाटक और उसके रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'पृथ्वी थियेटर' ने भी निश्चय ही हिन्दी नाटक और रंगमंच के विनिर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अतिरिक्त बंगला, मराठी, पंजाबी आदि देशी और अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के अभिनय नाटकों की बाढ़-सी आने लगी। इनके लिए उचित रंगकर्मी सामने आये। उनकी प्रतिभा और प्रयासों से उन भाषाओं के उन्नत रंगमंचों का निर्माण होने लगा। सबसे मुख्य बात तो यह है कि उन भाषाओं में रंगमंच की समस्त सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर नाटक रचे जा सके। हिन्दी वालों को भी देखा-देखी प्रेरणा मिली। परिणामस्वरूप हिन्दी में भी रंगमंच की समस्त सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर नाटक रचे जाने लगे। जब नाटक रचे जाने लगे तो उनके अभिनय के लिए रंगमंच का भी उचित निर्माण होने लगा। सो आज हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हिन्दी नाटक और उसका रंगमंच अपने सतत् विनिर्माण की प्रक्रिया में से द्रुत गति से गुजर रहा है। अतः हम एक उन्नत भविष्य की आशा कर सकते हैं।

आज हिन्दी नाटक और उसके रंगमंच दोनों में ही अनेक प्रकार के नये नये प्रयोग हो रहे हैं। शिल्प रंग-योजना विषय एवं उनका विन्यास आदि सभी में द्रुत विकास हो रहा है। हिन्दी के नाटक देश विदेश के रंगमंच पर अभिनीत होकर ढेरों प्रशंसा अर्जित कर रहे हैं। फिर भी अभी तक हम यह कहने की स्थिति में नहीं आ पाये कि हिन्दी नाटकों के लिए अभी तक किसी नितान्त निजी रंगमंच का विनिर्माण नहीं हो पाया है।

१३ हिन्दी में गीति काव्य का विकास

जीवन के एकांत भावुक क्षणों की लयात्मक अभिव्यक्ति ही गीति है। से ही मानव हृदय में दुःख और विषाद के भाव तरंगित होते हा

रहे है। जब मानव हृदय पर कठोर आघात (...) है, तो वह व्याकुल, उदास क्षुब्ध अथवा प्रसन्न हो उठता है। उस समय प्रसन्नता अथवा दुःख से पूर्ण वाग्धारा उसके मुख से फूट पड़ती है। यही वाग्धारा प्राय गीति-काव्य का रूप ग्रहण कर लेती है।

गीति काव्य म भाव-पक्ष ही प्रधान होता है। इसमे कवि अपने उठते हुए असीमित भावो को समेटने तथा उनके मूल चारुत्व को प्रस्फुटित करने का प्रयास करता है। भाषा छद, लय और भावो का अविरल सगुम्फन ही गीति-काव्य का शैली सम्बन्धी आदर्श है। गीति-काव्य मे कवि के लिए निर्बाध क्षेत्र खुला हुआ नही होता है। उसकी कल्पना न तो अपने विषय से इधर-उधर हो सकती है और न ही वह अधिक दूर जाकर 'विभिन्न' सामग्री एकत्रित कर पाती है।

काव्य मे सगीत नाद और लय का होना आवश्यक है यदि इनमे से किसी का अभाव होता है, तो फिर उसे काव्य कहने मे सकोच होता है। परन्तु अन्य विधात्मक काव्य से भी गीति-काव्य मे इनका महत्व बहुत अधिक है। सगीत भावो को ताल और लय मे बाँध गीति-काव्य को माधुर्य एव सौन्य स भरता है।

गीति-काव्य की अपनी प्राचीन परम्परा है। सवप्रथम इसके दर्शन वैदिक ऋचाओ मे प्राप्त होते है। हमारे वेद-मन्त्र गेय थे। 'सामवेद' मे विशेष रूप से ऐसे मन्त्र ही मिलते है। वैदिक काल के परवर्ती साहित्य मे भी गीति का रूप उपलब्ध होता है। जयदेव के 'गीत गोविन्द' ने सस्कृत के गीति काव्यो की परम्परा को वैभव की चरम सीमा तक पहुचाया। जयदेव ने विभिन्न राग-रागिनियो म बहुत ही मनोहर ढग से भापा को ढाला है। ऐसा सुन्दर गीति-काव्य अन्यत्र दुलभ है।

विद्यापति ने सस्कृत गीति-काव्यो की परम्परा का स्वर की पूर्ण मधुरता एव पद के लालित्य के साथ हिन्दी मे भान का प्रदर्शन किया। बगला गीति-काव्य का भी इनने पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुई। रागात्मक आवेग की व्यजना तो इनके गीतो म जयदेव से भी अधिक है।

कबीर के अनेक पद भी गेय है। गीतो म स्वर की प्रधानता तथा एक-निष्ठ प्रेमी की बेचनी कवि की वाणी की विशेषता है। रहस्य की व्याकुल प्रेम की विह्वलता, आत्माभिव्यक्ति के सौन्दर्य ने कबीर के गीति-काव्य मे ... गीत आकषण उत्पन्न कर दिया है।

भक्ति काल म 'मीराबाई' गीति काव्य की सबसे महान्

हिन्दी नाटकों का आज जो थोड़ा-बहुत रंगमंचीय रूप उपलब्ध है व हिन्दी रंगमंच का कुछ-कुछ अपना विनिर्माण हो रहा है इसे हम सहज रूप से एकदम हिन्दी एकांकी और उसके रंगमंच की देन कह सकते हैं। वहाँ यह अंग्रेजी, बंगला और मराठी नाटकों की देखा-देखी ही आई यह निर्भ्रान्त सत्य है। हिन्दी में इसका आरम्भ स्कूलों-कालेजों के वार्षिक व विशेष उत्सवों के अवसरों पर खेले जाने के लिए हुआ। स्कूलों-कालेजों के अपने हॉल एवं सीमित मंच थे। उन्हीं को ध्यान में रखकर पहले-पहल छोटे बड़े अभिनय एकांकी रचे जाने लगे। फिर बीच में तथा भारत के अन्य भागों में भी सिनेमा की तुलना में नाटक और उसके रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'पृथ्वी थियेटर' ने भी विशेष ही हिन्दी नाटक और रंगमंच के विनिर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अतिरिक्त बंगला, मराठी, पंजाबी आदि देशी और अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के अभिनय नाटकों की बाढ़-सी आने लगी। इनके लिए उचित रंगकर्मी सामने आये। उनकी प्रतिभा और प्रयासों से उन भाषाओं के उन्नत रंगमंचों का निर्माण होने लगा। सबसे मुख्य बात तो यह है कि उन भाषाओं में रंगमंच की समस्त सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर नाटक रचे जाने लगे। हिन्दी वालों को भी देखा-देखी प्रेरणा मिली। परिणामस्वरूप हिन्दी में रंगमंच की समस्त सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर नाटक रचे जाने लगे। जब नाटक रचे जाने लगे तो उनके अभिनय के लिए रंगमंच का भी उचित निर्माण होने लगा। सो आज हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हिन्दी नाटक और उसका रंगमंच अपने सतत् विनिर्माण की प्रक्रिया में से द्रुत गति से गुजर रहा है। अतः हम एक उन्नत भविष्य की आशा कर सकते हैं।

आज हिन्दी नाटक और उसके रंगमंच दोनों में ही अनेक प्रकार के नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। शिल्प, रंग-योजना विषय एवं उनका विन्यास आदि सभी में द्रुत विकास हो रहा है। हिन्दी के नाटक देश विदेश के रंगमंच पर अभिनीत होकर ढेरों प्रशंसा अर्जित कर रहे हैं। फिर भी अभी तक हम यह कहने की स्थिति में नहीं आ पाये कि हिन्दी नाटकों के लिए अभी तक हिन्दी का नितान्त निजी रंगमंच का विनिर्माण नहीं हो पाया है।

१३ | हिन्दी में गीति काव्य का विकास

जीवन के एकान्त भावुक क्षणों की लयात्मक अभिव्यक्ति ही गीति है। आदि काल से ही मानव हृदय में दुःख और विषाद के भाव तरंगित होते आ

रहे हैं। जब मानव हृदय पर कठोर आघात होता है तो वह व्याकुल, उदास क्षुब्ध अथवा प्रसन्न हो उठता है। उस समय प्रसन्नता अथवा दुःख से पूर्ण वाग्धारा उसके मुख से फूट पड़ती है। यही वाग्धारा प्रायः गीति-काव्य का रूप ग्रहण कर लेती है।

गीति काव्य मे भाव-पक्ष ही प्रधान होता है। इसमे कवि अपने उठते हुए असीमित भावो को समेटने तथा उनके मूल चारुत्व को प्रस्फुटित करने का प्रयास करता है। भाषा छद, लय और भावो का अविरल सगुम्फन ही गीति-काव्य का शैली सम्बन्धी आदर्श है। गीति-काव्य मे कवि के लिए निर्बाध क्षेत्र खुला हुआ नही होता है। उसकी कल्पना न तो अपने विषय से इधर-उधर हो सकती है और न ही वह अधिक दूर जाकर विभिन्न सामग्री एक-त्रित कर पाती है।

काव्य मे सगीत, नाद और लय का होना आवश्यक है यदि इनमे से किसी का अभाव होता है, तो फिर उसे काव्य कहने मे सकोच होता है। परन्तु अन्य विधात्मक काव्य से भी गीति-काव्य म इनका महत्त्व बहुत अधिक है। सगीत भावो को ताल और लय मे बाँध गीति-काव्य को माधुर्य एव सौंदर्य से भरता है।

गीति-काव्य की अपनी प्राचीन परम्परा है। सर्वप्रथम इसके दर्शन वैदिक ऋचाओ मे प्राप्त होते हैं। हमारे वेद-मन्त्र गेय थे। 'सामवेद' मे विशेष रूप से गेय मन्त्र ही मिलते हैं। वैदिक काल के परवर्ती साहित्य मे भी गीति का रूप उपलब्ध होता है। जयदेव के 'गीत गोविन्द' ने सस्कृत के गीति काव्यो की परम्परा को वैभव की चरम सीमा तक पहुचाया। जयदेव ने विभिन्न राग-रागनियो म बहुत ही मनोहर ढग से भाषा को ढाला है। ऐसा सुन्दर गीति-काव्य अत्यन्त दुर्लभ है।

विद्यापति ने सस्कृत गीति-काव्यो की परम्परा को स्वर की पूर्ण मधुरता एव पद के लालित्य के साथ हिन्दी मे लाने का प्रयत्न किया। बगला गीति-काव्य को भी इनसे पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुई। रागात्मक आवेग की व्यजना तो इनके गीतो म जयदेव से भी अधिक है।

कबीर के अनेक पद भी गेय हैं। गीतों मे स्वर की प्रधानता तथा एका-न्तिक प्रेमी की बेचैनी कवि की वाणी की विशेषता है। रहस्य की अनुभूति, प्रेम की विह्वलता आत्माभिव्यक्ति के सौंदर्य ने कबीर के गीति-काव्य म भावा-तीत आकर्षण उत्पन्न कर दिया है।

भक्ति काल मे 'मीराबाई' गीति काव्य की सबसे महान् कलाकार हुई हैं

उनके पद उच्च कोटि के गीति-काव्य का सुन्दर निदर्श हैं। मीरा के पदों में अपने प्रियतम (कृष्ण) के चरणों में आत्म-समर्पण का तन्मयकारी सौन्दर्य है। जैसे—

'कोई कछुक कहै मन लागा।
ऐसी प्रीति लगी मनमोहन, ज्यूँ सोने में सुहागा।
जनम जनम को सोयो मनुयो सतगुरु शब्द सुण जागा।।
माता पिता सुत कुटुम कबीला टूट गया ज्यूँ तागा।
'मीरा के' प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा।।"

सूरदास और तुलसीदास की सगुण भावना ने गीति-काव्य के माध्यम से भी अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त की। सूरदास जी का 'सूर सागर' एक विशाल ग्रंथ है। यह आदि से अन्त तक अन्तमु खी प्रबन्ध के रूप में हो गया है। परन्तु आलोचकों ने इस गीति-काव्य का ही ग्रंथ स्वीकार किया है। सूरसागर के विभिन्न भागों को एक-दूसरे से पृथक कर दिया जाय तो भ्रमरगीत वाला भाग उच्च-कोटि के उपालम्भ काव्य में स्थान पाएगा। तुलसीदास जी की 'विनय-पत्रिका' में आत्म निवेदन तो है, परन्तु भावों का उच्छल आवेग नहीं, जिसका गीति-काव्य में होना नितान्त आवश्यक है। तुलसीदास की गीतावली को गीति-काव्य का अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

रीतिकालीन कवि हिन्दी गीति काव्य की परम्परा को आगे न बढ़ा सके, यद्यपि उन्होंने मुक्तक रचनाएँ कीं। रीतिकालीन कवि तो नायक-नायिकाओं के शारीरिक सौंदर्य और स्थूल शृंगारिक चेष्टाओं को व्यक्त करने में लीन रहे। इसके अतिरिक्त उनके कवित्तों-सवैयों में उस तन्मयता तथा आत्म लीनता का अभाव है जो कि गीति-काव्य के लिए आवश्यक है। रीतिकालीन कवियों में केवल घनानन्द के छन्दों में ही गीति-तत्त्व प्राप्त होता है। घनानन्द ने वर्ण्य वस्तु का वर्णन न कर उसके प्रभाव का निरूपण किया है। विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति [illegible] । कविताओं में [illegible]

है। 'आँसू' कविना का एक उदाहरण नीचे दिया गया है—

छिल छिलकर छाले फोड़े मल-मलकर मधुल चरण से।
धुल धुलकर वह रह जाते, आँसू करुणा के कण से ॥
मादकता से आये थे संज्ञा से चले गये थे।
हम व्याकुल खड़े बिलखते थे उतरे हुए नशे से ॥"

कवि प्रसाद की काव्य रचना 'लहर' के गीत बहुत ही सुन्दर हैं। इसमे सगीत और कल्पना का सम्मिश्रण है। कवि किसी की खोज मे भटकता हुआ उत्सुक हो वह उठता है—

मेरी आँखों की पुतली मे, तू बनकर प्राण समा जा रे।
जिसके कण-कण मे स्पन्दन हो, मन मे मलयानिल चन्दन हो।
करुणा का नव अभिनन्दन हो वह जीवन गीत सुना जा रे ॥"

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला' के गीतो मे तो एक निराला सगीत रहता है। इनकी कविताओ का सगीत प्राचीन राग-रागनियो पर आधारित नही, उसका समूचा व्यक्तित्व नितान्त नवीन और अपना है। 'गीतिका' इनके गीतो का सुन्दर सग्रह है जिसके प्राय सभी गीत मधुर और हृदयग्राही बन पड़े हैं। इसके कितने ही गीत तो 'राष्ट्रगीत' होने की क्षमता रखते हैं और रवीन्द्रनाथ टैगोर के राष्ट्रीय गीत—जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता' को भी मात दे जाते हैं। निराला जी के भारत वन्दना' का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

'भारती जय विजय करे, कनकशस्य कमल धरे।
लका पदतल शतदल गर्जितोर्मि सागर जल ॥
गगा ज्योतिजय-कण, धवलधार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम तुषार, प्राण प्रणव ओंकार ॥
ध्वनित दिशाएँ उदार, शतमुख शतरव मुखरे ॥"

महादेवी वर्मा का तो समूचा व्यक्तित्व और काव्य ही गीति-काव्य है। उनके ५१ गीत और ५१ ही चित्र 'दीपशिखा मे सगृहीत हैं। इनमे विरह और वेदना का चरम विकास हुआ है। इसी रचना के कारण इनको 'आधुनिक मीरा' कहा जाता है। इसके गीत और चित्र इतने मनोहारी हैं कि देखते ही बनते हैं। चित्रकार की तूलिका और कवि की वाणी दोनो के सुन्दर सयोग मे कविता खिल उठी है चमक उठी है।

डॉ० हरिवशराय बच्चन की रचनाओ में व्यग्य-गीत के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। बच्चन की चुनौती का तीखापन देखने योग्य है—

मैं छिपाना जानता तो—
जग मुझे साधु समझता।

शत्रु [मेरा बन गया है
छल रहित व्यवहार मेरा।"

आधुनिक युग की हिन्दी कविता में अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं। अन
शैलियों में गीति-काव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हो रही है। उपयु
प्रौढ़ कवियों के अतिरिक्त श्री शम्भूनाथ सिंह श्री हंसकुमार तिवारी
गोपालदास नीरज, श्री जानकीवल्लभ शास्त्री आदि अनेक गीतिकार हिन्दी
गीति-काव्य का सृजन कर काव्य के भण्डार को भर रहे हैं। आधुनिक युग
हिन्दी गीति-काव्य पर पश्चिम का प्रभाव बहुत पड़ा है परन्तु अब वह प्रभा
धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है और इसका स्वतन्त्र रूप से विकास हो रहा है
आशा है कि निकट भविष्य में ही कविता का यह क्षेत्र बहुत ही विकसित
जाएगा। परम्परागत भाव प्रवण गीति ने आज नव-गीत के क्षेत्र में कदम र
दिया है। मन्द ही सही, यह नव गीत गीति-काव्य को निश्चय ही न
और दिशा प्रदान कर रहा है।

१४ | हिन्दी काव्य में वीर रस और राष्ट्री

साहित्य शास्त्र में यद्यपि नौ रस माने गए हैं परन्तु मुख्य रस शृंगा
वीर और करुण ही हैं। शृंगार और करुण रस में कविता सबसे अधिक लि
गई है। इनके बाद वीर रस का स्थान है। संस्कृत आचार्यों ने वीरता के
चार प्रकार माने हैं। उनके अनुसार वीर रस के आश्रय चार प्रकार के ना
होते हैं—युद्धवीर, दानवीर धर्मवीर और दयावीर। इस दृष्टि से वीरगा
काल के 'पृथ्वीराज रासो इत्यादि' काव्य युद्ध वीरता के काव्य कहे जा
और आधुनिक काल के वे वीर काव्य जिनमें गाँधी जी के सत्याग्रह
अहिंसा इत्यादि का वीरतापूर्ण वर्णन किया गया है दयावीर अथवा धर्म
काव्यों की श्रेणी में आयेंगे।

हिन्दी काव्य का प्रारम्भ वीर काव्य से तो हुआ है। जिस समय अप
भाषाएँ परिवर्तित होकर हिन्दी का रूप धारण कर रही थी, उस समय देश
स्थान-स्थान पर युद्ध हो रहे थे। राजपूत राजा आपस में भी लड़ा करते
और विदेशी मुसलमान आक्रान्ताओं का भी मुकाबला करते थे। कविगण
दिनों राजपूत राजाओं की प्रशंसा और उनके शत्रुओं की निन्दा में वीर
ओजमयी कविता लिखा करते थे। इस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीर

रासो,' 'खुमान रासो', 'विजयपाल रासो' 'आल्ह खण्ड' इत्यादि हैं। इनमे से 'पृथ्वीराज रासो' साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

वीरगाथा काल मे जिस वीर-काव्य की रचना हुई, उसमे अपने आश्रय-दाता राजाओ की खूब बढ़ा चढ़ाकर प्रशंसा की गई है। कई बार इन ग्रन्थो को पढ़ने से ऐसा भ्रम भी होता है कि य ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य भी है। किन्तु स्थिति इसके विपरीत है।

इस काल के वीर काव्यो मे युद्धो का अत्यन्त रोमांचकारी और उत्साह-वर्द्धक वर्णन प्राप्त होता है। इस काल के वीर काव्यो मे राष्ट्रीयता की वैसी भावना दृष्टि-गोचर नहीं होती, जैसी आज के युग मे पाई जाती है। उस समय हिन्दुओ और मुसलमानो की जातीय भावना भी उतनी नहीं पनप पाई थी जितनी रीतिकाल तक मे आकर पनपी। वीरगाथा काल मे व्यक्तिगत वीरता और व्यक्तिगत शत्रुता का ही वर्णन प्राप्त होता है। इसमे कोई संदेह नहीं कि वर्णन अत्यन्त काव्यपूर्ण है। इस काल मे अधिकांश प्रबन्धकाव्य ही लिखे गए है।

लड़ाई भिड़ाई का युग समाप्त हो जाने के साथ-साथ वीरगाथा काल । वीर काव्य रचना भी समाप्त हो गई। किन्तु भक्तिकाल मे नवीन प्रकार क वीरता का वर्णन भक्त कवियो ने किया। वीरगाथा काल के चारणो ने अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता के गीत गाये थे, किन्तु भक्तिकाल मे सूर और तुलसी जैसे कवियो ने दीन-दुखियो के आश्रयदाता कृष्ण और राम की वीरता का वर्णन किया। इनके काव्य मे चारण काल की-सी चाटुकारिता का प्रश नहीं है। सूरदास ने पूतना-वध, कंस-वध, कालियदमन इत्यादि घटनाओ द्वारा कृष्ण की वीरता का वर्णन किया और तुलसी का 'रामचरितमानस' तो भक्ति-काव्य होते हुए भी इस दृष्टि से वीर काव्य कहा जा सकता है कि उसमे दुष्टो का संहार करने और अपहृता सीता का उद्धार करने के लिए रामचन्द्र जी ने अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया। इस वीरत्व की कथा का वर्णन ही 'राम चरित-मानस' का मुख्य सूत्र है। प्रेममार्गी कवि जायसी, के 'पद्मावत' मे भी वीर रस के अनेक सुन्दर प्रसंग आये हैं। जायसी, सूर और तुलसी के भक्ति आचार्य केशवदेव ने भी अपनी 'रामचन्द्रिका' मे वीर रस का अच्छा परिपाक किया है। श्री रामचन्द्र जी अश्वमेध-यज्ञ का घोड़ा छोड़ते है। वह घोड़ा घूमते-घूमते वाल्मीकि ऋषि के आश्रम मे पहुंच जाता है। लव और कुश उसे बांध लेते है। श्री रामचन्द्रजी की सेना उस घोड़े को उनसे छुड़ाने के लिए युद्ध करती है। उस युद्ध म उन बालकों की वीरता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

बोलि उठे सब—"मैं यही बांध्यो," यों कहि कै धनु सायक साध्यो।
मारि भगाई किये तिगरे यों मन्मथ के शर ज्ञान ने ज्यों।"

भक्तिकाल के वीर काव्य में हमें नायकों की वीरता व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित न होकर किसी महान् आदर्श से प्रेरित दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि पद्मावत में रत्नसेन पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए युद्ध करता है, किन्तु यहाँ जायसी का आध्यात्मिक रूपक रत्नसेन के स्वार्थ को गौण बना देता है। सूर, तुलसी और केशव ने अपने नायक सवगुण सम्पन्न चुने हैं। इसलिए उन नायकों की वीरता और विजय सत्य पक्ष की विजय प्रतीत होती है। भक्तिकाल में रचित वीर काव्य में पाप और अत्याचार के विरुद्ध किए जाने वाले संघर्ष का वर्णन था। इन नायकों के साथ पाठक का साधारणीकरण अत्यन्त सफलता पूर्वक हो जाता है।

केशवदास ने केवल राम की वीरता का ही वर्णन नहीं किया, अपितु उन्होंने महाराज वीरसिंहदेव की वीरता का भी सुन्दर वर्णन किया है। केशवदास में काव्य प्रतिभा थी और उसका उपयोग उन्होंने भक्ति-काव्य और नर-काव्य दोनों के लिए किया। वैसे तो केशव के राम भी आदर्श राजा ही हैं भगवान् नहीं।

भक्तिकाल के उपरान्त हिन्दी साहित्य में रीतिकाल का अभ्युदय हुआ। इस काल में या तो रीतिग्रन्थों की रचना हुई और या श्रृंगार प्रधान काव्यों की। परन्तु रीतिकाल में वीर कवि भूषण ने जैसी ओजमयी कविता लिखी, वैसी हिन्दी साहित्य में और कहीं नहीं मिलती। यों तो रीतिकाल में जोधराज लाल कवि सूदन और गुरु गोविन्दसिंह आदि ने भी वीर रस की रचनाएँ लिखीं किन्तु भूषण की रचनाएँ इन सबकी अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुईं। इसका कारण यह था कि भूषण की रचनाएँ तत्कालीन हिन्दुओं की जातीय विचारधारा के अनुकूल थीं। कहने को कहा जा सकता है कि वीरगाथा काल के कवियों के भाँति भूषण ने भी अपने आश्रयदाता शिवाजी की स्तुति में चाटुकारिता से भरा हुआ काव्य लिखा। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। भूषण का काव्य अर्थ लालसा या चाटुकारिता से प्रेरित नहीं था। शिवाजी अपने युग में उसी प्रकार लोक-रक्षक नेता के रूप में प्रकट हुए थे, जैसे किसी समय राम और कृष्ण हुए थे। हिन्दू जाति अपना रक्षक मानती थी और अत्याचारी औरंगजेब की क्रूरताओं से त्राण पाने के लिए वह शिवाजी की ओर ही दृष्टि लगाये थे। शिवाजी इस वीरत्वपूर्ण चरित्र से भूषण की कविता में तुलसी की-सी तन्मयता है। भूषण की कविता में रीतिकालीन कवियों की भाँति बुद्धि का व्यायाम नहीं अपितु हृदय का सच्चा उद्गार है। यही कारण है कि वह कविता शताब्दियों से जनता के गले का हार

बनी रही है। भूषण के वीर काव्य का उदाहरण नीचे दिया गया है—

> "इन्द्र जिमि जभ पर बाडव सुअभ पर,
> रावन सदभ पर रघुकुल राज है।
> पौन बारिवाह पर सभु रतिनाह पर,
> ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
> दावा द्रुम-दण्ड पर चीता मृग-झुण्ड पर,
> भूषण वितुड पर जसे मृगराज है।
> तेज तम अस पर, कान्ह जिमि कस पर,
> त्यों म्लेच्छ बश पर सेर सिवराज है।"

भूषण की कविता के पीछे शिवाजी और औरगजेब की व्यक्तिगत शत्रुता की ध्वनि नहीं है, अपितु उसमे जातीय सघर्ष की भावना विद्यमान है। औरगजेब विदेशी अत्याचारी आक्रान्ता के रूप में इस देश में विद्यमान था और शिवाजी हिन्दू जाति और भारत देश को उसके अत्याचारो से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील थे। भूषण की कविता मे जातीयता और राष्ट्रीयता का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। कभी-कभी भूषण पर यह आक्षेप किया जाता है कि साम्प्रदायिक कवि थे, राष्ट्रीय नहीं किन्तु यह धारणा दूषित दृष्टिकोण का परिणाम है। भूषण के काल मे राष्ट्रीयता का वह स्वरूप नहीं था, जो आज है। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति भी आज सी नही थी। अत्याचारी विदेशी आक्रांता की निन्दा करना और उसे परास्त करके देश को मुक्ति प्रदान करने वाले वीर की स्तुति करना ही सच्ची राष्ट्रीय कविता कही जा सकती है और इस दृष्टि से भूषण पूर्णतया राष्ट्रीय कवि थे।

'लाल' कवि की रचनाओ मे भी हमे जातीय भावना सुन्दर रूप मे दिखाई पड़ती है। यह महाराज छत्रसाल के राजकवि थे। महाराज छत्रसाल भी छत्रपति शिवाजी की भाँति हिन्दू जाति के उद्धार के लिए औरगजेब के अत्याचारो के विरुद्ध सघर्ष कर रहे थे।

रीतिकाल मे वीर रस की कविता हुई तो थोड़ी, किन्तु जितनी भी हुई, वह उत्कृष्ट कोटि की थी और उसमे राष्ट्रीयता की भावना पर्याप्त रूप मे विद्यमान थी। प्राय सभी कवियो ने रसो के वर्णन की दृष्टि से दो-एक वीर-रस-पूर्ण पद्य अवश्य रचे हैं। अत अन्य गत्यावरोधो के रहते हुए भी वीर-रस के वर्णन म गत्यावरोध नही आया था।

आधुनिक काल मे राष्ट्र-प्रेम की भावना का विकास नये रूप में, और बहुत अधिक हुआ है। इस काल के प्रारम्भकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। उन्होंने देश और समाज की दुर्दशा से व्यथित होकर हिन्दी काव्य की धारा को रीतिकालीन विषयो से हटाकर नये समाज-सुधार और देश-प्रेम के विषयों

की ओर लगाया था। अंग्रेजो के शासन काल मे भारत की आर्थिक और सामाजिक दशा बहुत अधिक बिगड गई थी। उसे देखकर प्रत्येक सहृदय राष्ट्र प्रेमी व्यक्ति का दुःखी होना स्वाभाविक था। भारतेन्दु जी की यह व्यथा हमें उनकी 'भारत दुदशा' इत्यादि रचनाओ मे स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होती है। वस्तुत आधुनिक काल मे वीर रस की कविता उतनी नही हुई जितनी राष्ट्र-प्रेम की हुई है। यहाँ तक कि भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं मे भी राष्ट्रीयता का भाव सवत्र समन्वित हो गया है।

एक ओर बात ध्यान देने योग्य है कि इस युग मे वीरता की धारणाओं मे ही आधार भूत परिवतन हो गया है। अंग्रेजो के मजबूत पंजुल से भारत को छुडाने के लिए महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग जसे नवीन शस्त्रो का अवलम्बन किया। इसलिए इस युग मे वीरता दूसरे की गदन काट लेने मे न होकर स्वय कष्ट सहने मे समझी जाने लगी गांधी जी ने बताया कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें दूसरा को नही देना, अपितु स्वय कष्ट सहन करना है। इसीलिए आधुनिक हमें युद्ध वीरता के वणन बहुत कम मिलते हैं। आधुनिक वी" धर्मवीर और दयावीर काव्य के अन्तगत रखा जा सकता है यद्यपि साहित्यकारो की दृष्टि मे धमवीरता और दयावीरता का जो अथ था, कसौटी पर भी सम्भवत यह खरा न उतर सकेगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आधुनिक काल मे सबसे पहले भारत की करुणाजनक वणन अपनी रचनाओ मे किया। उनके युग के अन्य देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा पर अश्रु बहाए। देश वासियो के स्वाभिमान को जागृत करने के लिए उन्होंने अपने देश के गौरवमय अतीत का भी चित्रण किया। राष्ट्रीयता की भावना को जगाने लिए ऐसा चित्रण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।"

वर्तमान युग मे श्यामनारायण पाडेय का महाकाव्य हल्दी घाटी' की सर्वोत्तम काव्य-रचना है। मथिलीशरण गुप्त ने अपने 'जयद्रथ वध', वियोगी हरि ने अपनी वीरसतसई', श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपने 'पथिक' और भगवानदीन दीन ने अपने वीर पचारत्न' मे रस की जहाँ-तहाँ सुन्दर व्यजना की है। चतुर्वेदी ने अपने भारतीय आत्मा नाम को सार्थक करते हुए की अभिलाषा को निम्नलिखित ढग से उपस्थित किया है—

'मुझे तोड़ लेना बन माली। उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।"

नवीन जी की वीर रस तथा राष्ट्रीय कविता का एक उदाहरण निम्न-लिखित है—

> कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।
> एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।

वस्तुत आधुनिक युग मे राष्ट्रीय काव्य मे वीरता के बजाय कष्ट-सहिष्णुता का वर्णन अधिक है। इसका कारण यह है कि गांधीजी की विचार-धारा के कारण पशु बल की अपेक्षा आत्म बल को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। कुछ प्रगतिवादी कवियो ने भी वीरता की कविता लिखी है। इधर कविवर 'दिनकर' की सर्जनाओ मे शौर्य और वीरता का औदात्य सर्वत्र देखा जा सकता है। आज के जन-मानस का आकाश भरा वीरत्व वास्तव मे इन्ही की कविता म स्वर और रूप पा सका है।

हमारे अधिकाश वर्तमान कवि जन जीवन से बहुत दूर हैं, इसीलिए उन्हें वीरत्व की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए कठिनाई होती है। अपने देश मे हुए वीरकृत्य उनकी प्रतिभा को सजग नही कर पाते। काश्मीर मे भारतीय सेनाओ ने जिन विषम परिस्थितियो में अदभुत वीरता प्रदर्शित करके विजय प्राप्त की उससे किसी कवि को प्रेरणा मिली प्रतीत नही होती। ज्यो-ज्यों हमारे कवियों का सम्पर्क जनता के जीवन के साथ-साथ बढेगा, त्यो-त्यों उनका काव्य अधिकाधिक राष्ट्रीय होता जाएगा, और वीरत्व के वर्ण्य विषय देश मे भी दिखाई पडने लगेंगे।

१५ | हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण

मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। आज भले ही मनुष्य वन-पर्वतो और नदी सरोवरो का साहचर्य त्याग कर बडे-बडे नगरो में आ बसा है, परन्तु उसका प्रकृति के प्रति अनुराग किसी प्रकार भी कम नहीं हुआ है। आज भी जब उपवनो मे नव वसन्त के फूल खिलते हैं, तब उसका मन आनन्द से विभोर हो उठता है। जब ग्रीष्म के प्रचड ताप के उपरान्त श्रावण की घटाएँ उमड़ती हुई आती हैं, तब नगर मे रहने वाले मनुष्य का मन भी एक प्रकार की विचित्र शान्ति अनुभव करने लगता है। प्रकृति आज भी हमारे सुख-दुःख की वैसी ही संगिनी बनी हुई है, जैसी आज से हजारों वर्ष पहले थी।

जिस प्रकार मानव के मन मे प्रकृति का अनुरागमय स्थान है, उसी प्रकार

साहित्य में भी है। पुराने संस्कृत कवियो ने अपनी रचनाओ में अत्यन्त स्मरणीय चित्र उपस्थित किये हैं। महाकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण मे विभिन्न स्थान पर सरोवरो मे खिले हुए कमलो, वर्षा ऋतु में मघो के कारण होती हुई धूप-छाँह इत्यादि के अत्यन्त चित्ताकर्षक चित्र अकित हैं। महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव रघुवश और ऋतुसहार मे भी प्रकृति का मनोरम चित्रण है। उनकी अमर रचना अभिज्ञान शाकुन्तल मे तो प्रकृति का स्थान लगभग उतना है, जितना मानव का। वहाँ वन, लताएँ, मयूर सहकार तरु, भ्रमर और पाले हुए हिरन महर्षि कण्व के तपोवन के उतने ही सजीव सदस्य प्रतीत होते हैं जितने शकुन्तला, प्रियवदा और अनसूया। संस्कृत आचार्यों ने महाकाव्य मे विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन करना अनिवार्य बताया है। वस्तुत जिस व्यक्ति ने प्रकृति के विभिन्न रूपों का तन्मय होकर आलोकन नही किया, जिसने प्रकृति की शोभा मे अपने चित्त को रमा नही लिया, उसे महाकाव्य लिखने का अधिकार ही नही दिया गया है।

हिन्दी कवियो मे प्रकृति-चित्रण के प्रति वैसा अनुराग दिखाई नहीं पड़ा। संस्कृत के कवियो का प्रकृति-निरीक्षण जितना सूक्ष्म था, उसकी झलक हिन्दी कवियो मे दिखाई नहीं पडती है। हिन्दी कवियो के लिए मानव ही सब कुछ बन गया है। प्रकृति उपेक्षिता-परिचारिका के समान एक ओर कोने में खड़ी रह गई है। परन्तु इसका अभिप्राय यह भी नही है कि हिन्दी के कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया ही नहीं। यदि वे चाहते भी तो भी प्रकृति के वर्णन के बिना अपनी कविता की गाडी को आगे नही चला सकते थे। इसलिए प्रकृति-वर्णन तो हमे उनकी रचनाओ मे अवश्य दिखाई पडता है, किन्तु वह वैसा मनोरम नही है, जैसा संस्कृत कवियो का प्रकृति वर्णन।

कविता मे प्रकृति का वर्णन कई रूपो मे किया जाता है। सबसे पहला और सबसे अधिक प्रचलित रूप उद्दीपन विभाव के रूप मे है। उद्दीपन विभाव के रूप मे जब प्रकृति को प्रस्तुत किया जाता है तो उसका कार्य केवल मानव के मनोभावो को उद्दीप्त करना होता है। जैसे किसी सुन्दर नायिका को देख कर नायक के मन में प्रेम उत्पन्न हो और वह प्रेम वसन्त के फूलों को देखकर और अधिक उद्दीप्त हो जाए। या किसी विरहिणी नायिका का विरह-दुख चन्द्रमा की चाँदनी को देखकर और तीव्र हो उठे। इस प्रकार उद्दीपक के रूप मे हिन्दी कविता मे प्रकृति का वर्णन पर्याप्त हुआ है और यह बहुत कुछ संस्कृत कविता के अनुकरण पर ही है। फिर भी उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व से इन्कार नही किया जा सकता।

प्रकृति का एक अन्य रूप मे वर्णन आलम्बन रूप में होता है। जब प्रकृति आलम्बन रूप में किया जाता है, तब कवि प्रकृति के रूपों को देख

कर ही भावातुर हो उठता है और उन रूपों को देखकर अपने मन मे उत्पन्न हुए विभिन्न भावों को अपनी रचना में प्रस्तुत करता है। यहाँ प्रकृति भावों को स्वय जगाती है। यहाँ उसका स्थान प्रमुख होता है। कलाकार साक्षात् प्रकृति से ही प्रभावित होकर रचना करता है। इस प्रकार की रचनाएँ भी हिन्दी में हुई हैं, किन्तु बहुत कम। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, रामचन्द्र शुक्ल और जयशकर प्रसाद की रचनाओ में प्रकृति का आलम्बन रूप मे चित्रण देखने को मिलता है।

प्रकृति का तीसरे रूप में चित्रण एक सहानुभूतिपूर्ण चेतन सत्ता के रूप में किया जाता है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रकृति का इसी रूप में चित्रण है। वहाँ शकुन्तला के दुख में लताएँ पत्ते गिराने लगते हैं, जैसे आँसू गिरा रहे हों, हिरनियाँ अधचबाई घास उगल कर खडी रह जाती हैं, प्यार से पाला हुआ हिरन आकर शकुन्तला के आचल का छोर खींचने लगता है, जैसे उसे जाने से रोकना चाहता हो। इस प्रकार का वर्णन सबसे अधिक मर्मस्पर्शी होता है। हिन्दी में ऐसा प्रकृति-वर्णन महाकवि जायसी ने किया है। उनके पद्मावत में प्रकृति का उद्दीपन रूप में तो वर्णन हुआ है, परन्तु सहानुभूतिपूर्ण चेतन सत्ता के रूप में भी प्रकृति का बहुत सरस वर्णन हुआ है। वहाँ नागमती के दुख में सारी प्रकृति जलने लगती है। उसका विलाप सुनकर वन के पक्षियो की नींद समाप्त हो जाती है। जायसी का प्रकृति-वर्णन इस दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक सकेतो ने उसे और भी अधिक मर्मस्पर्शी बना दिया है।

प्रकृति के वर्णन का एक और प्रकार यह है, जिसमें प्रकृति का मानवीकरण किया जाता है। इसमें प्रकृति के विभिन्न रूप जैसे फूल, बादल, सरोवर, निर्झर, शैल इत्यादि को मानववत् ही मान लिया जाता है और उनमें मानवोचित भावो की कल्पना करके कविता लिखी जाती है। इस प्रकार की प्रकृति के मानवीकरण से युक्त रचनाएँ आधुनिककाल मे छायावाद में लिखी गई हैं। इस प्रकार की रचनाओं में कहने को तो प्रकृति-चित्रण रहता है और नाम भी प्राकृतिक वस्तुओं के ही होते हैं परन्तु भावनाएँ सब मानवीय होती हैं। प्रकृति के मानवीकरण का इस प्रकार को लेकर छायावाद में असख्य रचनाएँ मिलती हैं।

हिन्दी कविता मे इन चार प्रकार के प्रकृति-वर्णनों में से दो ही अधिक पाये जाते हैं। प्रकृति का उद्दीपन के रूप मे वर्णन भक्तिकालीन, रीतिकालीन और आधुनिक कवियो ने पर्याप्त किया है। भक्तिकाल के कृष्ण-भक्त कवियों ने यमुना कु ज, वसन्त, पावस इत्यादि का वर्णन कृष्ण और गोपियों के सयोग और वियोग शृगार के उद्दीपन के रूप मे किया है। तुलसी की रचनाओं में

भी प्रकृति का वर्णन उद्दीपन और उपदेशात्मक के रूप में ही है।

'सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मदमोहा।
रिस रिस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिम ज्ञानी।
क्षुद्र नदी भरी चलि उतराई। जिमि थोरे धन खल बौराई।"

रीतिकालीन कवियो के लिए प्रकृति उद्दीपन विभाव के रूप मे अवश्य थी परन्तु रीतिकालीन कवि इतने रूढ़िग्रस्त हो गये थे कि वे काव्य-रचना के लिए प्रकृति के निरीक्षण की आवश्यकता बिल्कुल नही समझते थे और परम्परा से चले आ रहे उपमानो को रखकर ही अपने काव्य कर्म की इतिश्री मान लेते थे। इसलिए रीतिकालीन कविताओ मे प्रकृति का सजीव चित्रण नहीं है। परन्तु सेनापति और बिहारी की रचनाओ मे कही-कही प्रकृति के एस संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उन्होंने सचमुच प्रकृति का निरीक्षण किया था।

सन्त कवियों की रचनाओ मे हमे प्रकृति-चित्रण का एक और रूप देखने को मिलता है। वैसे इसे प्रकृति-चित्रण न ही कहा जाए, तो भला है। उन्होंने कमल शख सूर्य, चन्द्र इत्यादि को अपनी आध्यात्मिक तथा साधना-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावलियो का रूपक बना डाला था। केवल उन रूपकों के तौर पर ही प्रकृति के रूपो के नाम उनकी रचनाओ मे आ गये हैं, इसे प्रकृति का अच्छा वर्णन न मानते हुए भी उद्दीपन प्रकार के अन्तर्गत ही परिगणित किया जा सकता है, क्योकि ये सब प्राकृतिक उपादान उपमानो के रूप में ही प्रयुक्त किये गये हैं और उनका प्रयोजन केवल आध्यात्मिक विषय को स्पष्ट करना मात्र है।

मानवीकरण के रूप मे प्रकृति का वर्णन आधुनिक काल के कवियों ने किया है। इसमे छायावादी कवि प्रमुख हैं। वैसे श्रीधर पाठक की कविताओं में भी हमे प्रकृति का मानवी रूप दृष्टिगोचर होता है परन्तु इसका निखार सुमित्रानन्दन पन्त निराला और महादेवी वर्मा की मधुर और कोमल रचनाओं मे पूर्ण रूप से दिखाई पडता है। निराला की जुही की कली, महादेवी की 'बसन्त रजनी' और पन्त की 'छाया तथा ज्योत्सना' कविताएँ इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं परन्तु इन छायावादी कवियों ने कहीं-कहीं प्रकृति के मानवीकरण में अति कर दी है, जिसके कारण प्रकृति का अनुरागमय रूप बहुत कुछ छिप-सा गया है।

हिन्दी में आलम्बन के रूप मे प्रकृति का वर्णन कम हुआ है। छायावादी [illegible]वा प्रकृति का मानवीकृत रूप आलम्बन होते हुए भी वसा चित्ताकर्षक उत्पन्न नहीं कर पाता, जैसा प्रकृति का सहज रूप आलम्बन बनने [illegible] है। रामचन्द्र शुक्ल श्रीधर पाठक और सेनापति की रचनाओं

मे हमें प्रकृति का आलम्बन रूप वर्णन सुन्दर रूप मे दिखाई पड़ता है। सेनापति के इस कवित्त मे ग्रीष्म का कैसा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है—

"वृष को तरनि तेज सहसा किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचित धरनि, जग जलत झरनि, सीरी,
छाँहि कौं पकरि पथी पछी बिरमत हैं।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत, होत,
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनो सीरी ठौर को पकरि कौनो,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितत हैं।"

परन्तु साधारणतया हिन्दी कवियों ने प्रकृति को आलम्बन मान कर कम ही रचना लिखी है। हिन्दी के बहुत से प्रसिद्ध कवियों को प्रकृति के घनिष्ठ संसर्ग मे आने का अवसर प्राप्त नही हुआ।

संस्कृत ही नही, बल्कि यूनान के 'इलियड' और 'ओडीसी' जैसे महाकाव्यों मे भी हम प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों ही रूपों के वर्णन पढ़ने को मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहाँ तक कहा है कि 'जो व्यक्ति केवल प्रकृति के सौम्य रूप पर ही रीझता है वह सच्चा प्रकृति प्रेमी नहीं कहा जा सकता।" वस्तुत प्रकृति के विकराल रूप, जैसे प्रचंड आँधियाँ, भयानक तूफान, दावानल, बाढ़, घनघोर वृष्टि, विद्युत्-पतन इत्यादि भी उतने ही हृदय को रसमग्न करने वाले हैं, जितने कि वसन्त के विकसित फूलों से भरे हुए उपवन और मलय-सौरभ से मन्थर वायु का स्पर्श। हिन्दी कवियों मे हमे जैसे-तैसे प्रकृति के सौम्य रूप की तो कुछ-न-कुछ झाँकी मिल जाती है, परन्तु प्रकृति के विकराल रूप का चित्रण बहुत कम दिखाई पड़ता है। सूरदास की रचनाओं मे एक-आध स्थान पर दावानल या आँधी का वर्णन अवश्य है। परन्तु सूरसागर के विशाल आकार को देखते हुए वह एक बूँद से भी कम है। इसी प्रकार प्रसाद जी की रचनाओं मे भी एकाध स्थान पर प्रकृति का विकराल रूप चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु उन्हें सफल चित्रण किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। पंत की 'परिवर्तन' जैसी कुछ कविताओं मे अवश्य ही ऐसे सुघड़ रूपों के दर्शन हो जाते हैं।

प्रकृति का मुख्य रूप से उपयोग उपमान संगृहीत करने के लिए किया गया है। कुंद, कमल, चन्द्र, मेघ इत्यादि शरीरांगों के उपमान के रूप में ही प्रयुक्त होते रहे हैं। तुलसीदास जी ने प्राकृतिक व्यापारों के आधार पर शिक्षाएँ

देने की चेष्टा भी की है, जैसे—

'दामिनी दमक रही घन माही।
खल की प्रीति यथा थिर नहीं।"

ऐसे स्थलो पर प्रकृति गौण हो जाती है और शिक्षा प्रधान।
प्रकृति वर्णन की दृष्टि से ऐसे स्थलो को रमणीय नही कहा जा सकता।

आजकल के कवियो मे प्रकृति-वर्णन का उत्साह पहले
कम दिखाई देता है। अधिकांश कवि प्रकृति की अपेक्षा मानव को महत्त्वपूर्ण मानकर चल रहे हैं। इसलिए प्रकृति-वर्णन का प्रयत्न होने पर नई कविता और प्रतीक-प्रयोग जैसे वादो के रहते अभी तो ऐसी बहुत कम ही दिखाई देती हैं। प्रकृति के संश्लिष्ट और रसमग्न करने वाले चित्र अभी तक प्रस्तुत नही किये जा रहे हैं। ज्यो-ज्यो कवियो मे प्रकृति के सूक्ष्म की प्रवृत्ति बढ़ेगी, त्यो-त्यो प्रकृति-वर्णन उत्कृष्ट और उत्कृष्टतर होते

१६ | नयी कविता

मध्ययुगीन भावप्रवणता तथा रूढ़िवादिता की केंचुल उता
साहित्य ने आधुनिकता के चरण चूमे तो वह यथार्थ का वरदा
तब से लेकर अब तक की कविता वस्तुत यथार्थ को छूने का,
पाकर उसे निर्बाध अभिव्यक्ति देने का ही प्रयास मात्र है।
कविता ने यथार्थ को विभिन्न स्तरो पर छुआ है और इसमे व
यथार्थ का धूलि-धूसरित बाना पहन खड़ी हुई है तो कभी उस
अपना कल्पना अनुरंजित एव भाव-स्पदित बाना पहनाया है
यथार्थ को गले लगाकर उसे साधक कर दिया है तो कभी उससे
ज से विमुख हो गई है। इस समस्त प्रयास के फलस्वरूप
का छायावाद रहस्यवाद प्रगतिवाद प्रयोगवाद आदि कितने ही
वहन करना पड़ा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कविता
प्रयोगो घिसी पिटी मान्यताओं और अर्थशून्य प्रतीको के बोझे
लाद कर चलने में असमर्थ है। आधुनिकता के नाम पर हिन्दी-
ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता आदि के लेबल चिपकाए गए थे
हैं तथा बदले हुए मानव-मूल्यों को अभिव्यक्ति देने मे असफल
अतएव 'नई-कविता' ने आँख खोली है। आधुनिक भाव-बोध

सच्चे अर्थों मे नई-कविता ने ही अपनाया है ।

नई कविता क्या है, इसका ऐतिहासिक दृष्टि से कैसे प्रचलन हुआ, इसके प्रतिमान क्या है, इस कविता का परम्परा से क्या सम्बन्ध है, इसकी साहित्यिक उपलब्धि क्या है, आदि असख्य प्रश्न है जो नई कविता को लेकर उठ खडे हुए है । नई कविता के स्वरूप मे अभी स्थिरता नही आई है अतएव इन प्रश्नो को लेकर मतक्य सम्भव नही । और फिर छायावाद को अपने जन्मकाल मे जैसे आलोचको की सहानुभूति प्राप्त न हुई थी और अन्त मे छायावादी कवियो को ही अपनी वकालत करनी पडी थी, इसी प्रकार की स्थिति 'नई कविता' के कवियो के सामने भी उपस्थित है ।

वैसे हम ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए भले ही इस कविता का प्रारम्भ नवीन-काव्य प्रवृत्तियो को देखते हुए १९४३ मे प्रकाशित प्रथम 'तार सप्तक' से मान लें, किन्तु वास्तव मे नई-कविता का आरम्भ सन् १९५० से ही समझा जाना चाहिए । इस समय तक आते-आते प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो गई थी, प्रतिक्रिया का आक्रोश भी कुछ-कुछ ठडा पड गया था और एक नए क्षणमुक्त अनुभव की कविता सामने आने लगी थी जो तथाकथित प्रयोगवाद से भिन्न थी । प्रयोगवादी सत्य के अन्वेषक द्वन्द्ववादी और प्रतिक्रियावादी थे, उनमे नई कविता की सश्लेषण-पद्धति तथा सामजस्य का अभाव था । प्रयोगवाद केवल बौद्धिक प्रतिक्रिया थी और उसका लक्ष्य भी अनिर्दिष्ट था । किन्तु नई कविता ने समस्त बौद्धिक धारणाओ, आदर्शवादी मान्यताओ, सास्कृतिक, सामाजिक रूढियो, वर्जनाओ आदि के विरुद्ध मानव-मुक्ति की क्रातिकारी घोषणा की तथा सत्य मात्र की अभिव्यक्ति को अपना अभीष्ट बनाया । इस प्रकार प्रयोग-वादी धारा के अन्तर्गत आने वाले सप्तको के कवि ही यद्यपि 'नई कविता' के आधार स्तम्भ कहलाए किन्तु सदेह नही कि नई कविता अपने रूप शिल्प, भाव-बोध, मानव मूल्यों और काव्य प्रतिमानो की दृष्टि से प्रयोगवाद से भिन्न प्रकार की व्यापक परिप्रेक्ष्य वाली कविता है ।

आज नई-कविता का प्रचलन है और इसके कवियो के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके है । किन्तु सामान्य पाठक आज भी इसे कविता कहने मे अपने आपको असमर्थ पाता है । यह कविता चिर-परिचित एव रूढ प्रतिमानों से इतनी कटी हुई है कि साधारण पाठक में लोकप्रिय होने के लिए इसे अभी काफी समय चाहिए ।

नई कविता के प्रतिमान क्या है ? आधार और स्वरूप क्या है, दृष्टि और सीमाएँ क्या है ? इस पर प्रकाश डालने से पूर्व नई कविता के कुछ उदा हरणों का अवलोकन समीचीन होगा । नई कविता के उल्लेखनीय कवियो में लक्ष्मीकात वर्मा, जगदीश गुप्त, विपिनकुमार अग्रवाल, मनोज वाजपेयी,

श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी आदि विशेष ध्यान देने योग्य हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'कुछ घोषणाएँ' कविता मे जीवन की स्थितियो का कितनी सत्यता से मूल्यांकन किया है ? वह लिखते हैं—

"मैं अभिनेता हूँ किराये का
मुझसे ईमानदारी की मांग मत करो।
क्योंकि मैं अभी अभी जमात से निकला हूँ
मुझे एक स्थिति दो उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूंगा
मैं कागज की नाव पर नदी के पार उतर सकता हूँ
मैं युद्ध क्षेत्र मे अपने को हाथी के पर के नीचे कुचलवा सकता हूँ
किसी ऊँची चोटी पर से हजारों फिट नीचे
किसी भी अंधेरे खडड मे कूद सकता हूँ
और
वह सब करने के बाद
बिना किसी हीरो के रोल किये
शाम को थका मांदा
अपनी सतान के लिए गंस भरे गुब्बारे लेकर
अपने घर को जिंदा वापस आ सकता हूँ
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ
नियन्ता या निर्देशक नहीं
मुझसे स्थितियों की असगतियों की मांग करो
ईमानदारी की नहीं"

यदि इस कविता मे श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने स्थितियों की असंगतियों का यथार्थ अनुभव दिया है तो निम्नलिखित कविता मे श्री जगदीश गुप्त ने 'शब्द और अर्थ के बीच' मे भटकती काव्य आकांक्षा का सच्चा अनुभव उपस्थित किया है—

"मैं कवि हूँ स्वाभिमानी,
शब्दों में नया और सच्चा
अर्थ भरना चाहता हूँ
खोखली ध्वनियों को
बेरहम जंजीर से बँधकर

कुत्ते की मौत
नहीं मरना चाहता हूँ।"

शब्दों को नया और सच्चा अर्थ देने वाली, रूढ़ियों से मुक्त, निस्सार परम्पराओं के बंधन से रहित कविता ही आज के कवि की 'नई कविता' है।

इस प्रकार सन् १९५५ तक आते आते एक और प्रयोगवाद की घुटन, अनास्था तथा अति बौद्धिक परिधि में चलने वाले कुछ प्रतिभाशाली कवि एक नये पथ के पथिक बन गये, जिसे प्राय: नई कविता के नाम से सम्बोधित किया जा रहा है। इसके साथ कुछ नये कवि-व्यक्तित्व भी उभर कर सामने आये हैं और इनकी नई कविताएं हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं जैसे—'नई कविता', 'निकष', 'ज्ञानोदय', 'कल्पना' आदि में प्रकाशित होती रही है। यद्यपि इन नये कवियों में एक विशेष उत्साह तथा नई सम्भावनाओं के प्रति आश्वस्त करने वाला एक अदम्य कवि-व्यक्तित्व है किन्तु कुछ तो ऐसे हैं कि जिन्होंने शीघ्र ही इस नई उपज में अपने कृतित्व द्वारा कुछ विशिष्ट दिया है। ऐसे कवियों का नई कविता के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान बन गया है। इनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं कुंवर नारायण, कीर्तिचौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, राजेन्द्रकिशोर, अजितकुमार, रमेश कुंतलमेघ' इत्यादि।

जहाँ तक इस नई-कविता के प्रतिमानों का सम्बन्ध है सबसे प्रथम है सत्य की अभिव्यक्ति। वास्तव में नई-कविता का आंदोलन केवल प्रतिक्रियावादी आंदोलन नहीं अपितु जीवन और उसकी नई तथा सच्ची अभिव्यक्ति से सहज जुड़ा है। जीवन का यह सत्य निपट यथार्थ है—भले ही वह खुरदरा है, रूढ़ अर्थों में कलाहीन है, उसमें अभ्यस्त शिल्प का रचाव नहीं, रस की मधुमति भूमिका नहीं, श्लील और अश्लील का कोई संकट नहीं, पुनर्जन्म, परमेश्वर, मोह, अहिंसा, दया, क्षमा, करुणा जैसे तथाकथित शाश्वत मूल्यों जैसे पिचके, तुड़े मुड़े कटे-फटे जीवन आदर्शों की कोई प्रतिष्ठा नहीं कोई मान्यता नहीं। नई कविता का यथार्थ दिवा-स्वप्नों वाली कल्पनाजीवी प्रवृत्ति के ह्रास का उद्घाटक है जिसे यूटापिया कहते है। इस यथार्थ की केवल शर्त यह है कि उसका कथ्य अनुभूत या भोगा हुआ हो और जहाँ उसे किसी रमणीय कल्पना से युक्त करके उपस्थित न किया जाए वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसे किसी बौद्धिक जटिलताओं पूर्वाग्रहों और धारणाओं से आच्छन्न न किया जाये। इसका अभिप्राय यह नहीं कि नई कविता प्रयोगवादी कविता की प्रतिक्रिया में अबौद्धिक होने की प्रकृति लिये है। वास्तव में आज के बौद्धिक युग में ऐसा सम्भव भी नहीं। युग का यथार्थ ही जब बौद्धिक धरातल पर स्वीकार किया जा रहा है तो अबौद्धिकता अयथार्थ ही होगी। इसीलिए नई कविता भी बौद्धिक प्रबुद्धता की देन है, एक प्रबुद्ध और सजग कवि की देन है।

श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी आदि विशेष ध्यान देने योग्य हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'कुछ घोषणाएँ' कविता मे जीवन की स्थितियो का कितनी सत्यता मूल्याकन किया है ? वह लिखते हैं—

' मैं अभिनेता हूँ किराये का
मुझसे ईमानदारी की माग मत करो।
क्योकि मैं अभी-अभी जमात से निकला हूँ
मुझे एक स्थिति दो उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लू गा
मैं कागज की नाव पर नदी के पार उतर सकता हू
मैं युद्ध क्षेत्र मे अपने को हाथी के पर के नीचे कुचलवा सकता हूँ
किसी ऊँची चोटी पर से हजारो फिट नीचे
किसी भी अंधेरे खड्ड मे कूद सकता हू

और

यह सब करने के बाद
बिना किसी हीरो के रोल किये
शाम को थका-मांदा
अपनी सतान के लिए गस भरे गुब्बारे लेकर
अपने घर को जिंदा वापस आ सकता हू
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ
नियन्ता या निर्देशक नहीं
मुझसे स्थितियों की असगतियों की माग करो
ईमानदारी की नहीं'

यदि इस कविता मे श्री लक्ष्मीकात वर्मा ने स्थितियो की असगतिया का यथाथ अनुभव दिया है तो निम्नलिखित कविता मे श्री जगदीश गुप्त ने 'शब्द और अर्थ के बीच' में भटकती काव्य आकाक्षा का सच्चा अनुभव उपस्थित किया है—

"मैं कवि हूँ, स्वाभिमानी,
शब्दों में नया और सच्चा
अर्थ भरना चाहता हूँ
खोखली ध्वनियों की
बेरहम जजीर से बँधकर

कुत्ते की मौत
नहीं मरना चाहता हूँ ।"

शब्दो को नया और सच्चा अर्थ देने वाली, रूढियो से मुक्त, निस्सार परम्पराओ के बंधन से रहित कविता ही आज के कवि की 'नई कविता' है।

इस प्रकार सन् १९५५ तक आते आते एक ओर प्रयोगवाद की घुटन, अनास्था तथा अति बौद्धिक परिधि मे चलने वाले कुछ प्रतिभाशाली कवि एक नये पथ के पथिक बन गये, जिसे प्राय नई कविता के नाम से सम्बोधित किया जा रहा है। इसके साथ कुछ नये कवि-व्यक्तित्व भी उभर कर सामने आये हैं और इनकी नई कविताए हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ जैसे—नई कविता', 'निकष', ज्ञानोदय' 'कल्पना' आदि मे प्रकाशित होती रही है। यद्यपि इन नये कवियो मे एक विशेष उत्साह तथा नई सम्भावनाओ के प्रति आश्वस्त करने वाला एक अदम्य कवि-व्यक्तित्व है किन्तु कुछ तो ऐसे है कि जिन्होने शीघ्र ही इस नई उपज मे अपने कृतित्व द्वारा कुछ विशिष्ट दिया है। ऐसे कवियो का नई कविता के क्षेत्र मे एक विशिष्ट स्थान बन गया है। इनमे से कुछ उल्लेखनीय हैं कुंवर नारायण कीर्तिचौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, राजेन्द्रकिशोर, अजितकुमार, रमेश कुंतलमेघ' इत्यादि।

जहां तक इस नई-कविता के प्रतिमानो का सम्बन्ध है सबसे प्रथम है सत्य की अभिव्यक्ति। वास्तव मे नई-कविता का आदोलन केवल प्रतिक्रियावादी आदोलन नही अपितु जीवन और उसकी नई तथा सच्ची अभिव्यक्ति से सहज जुड़ा है। जीवन का यह सत्य निपट यथार्थ हैं—भले ही वह खुरदरा है, रूढ अर्थों म कलाहीन है उसमे अभ्यस्त शिल्प का रचाव नही, रस की मधुमति भूमिका नही, श्लील और अश्लील का कोई संकट नही पुनर्जन्म परमेश्वर मोह, महिमा, दया, क्षमा, करुणा जसे तथाकथित शाश्वत मूल्यो जैसे पिचके मुड़े मुड़े कटे-फटे जीवन आदर्शों की कोई प्रतिष्ठा नही कोई मान्यता नही। नई कविता का यथार्थ दिवा-स्वप्नो वाली कल्पनाजीवी प्रवृत्ति के ह्रास का उद्घोषक है जिसे यूटोपिया कहते है। इस यथार्थ की केवल शर्त यह है कि उसका कथ्य अनुभूत या भोगा हुआ हो और जहाँ उसे किसी रमणीय कल्पना मे युक्त करके उपस्थित न किया जाए वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसे किसी बौद्धिक जटिलताओ पूर्वाग्रहो और धारणाओ से आच्छन्न न किया जाये। इसका अभिप्राय यह नही कि नई कविता प्रयोगवादी कविता की प्रतिक्रिया म अबौद्धिक होने की प्रवृत्ति लिये है। वास्तव मे आज के बौद्धिक युग म ऐसा सम्भव भी नही। युग का यथार्थ ही जब बौद्धिक धरातल पर स्वीकार किया जा रहा है तो अबौद्धिकता अयथार्थ ही होगी। इसीलिए नई कविता भी बौद्धिक प्रबुद्धता की देन है, एक प्रबुद्ध और सजग कवि की देन है।

श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी आदि विशेष ध्यान देने योग्य हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'कुछ घोषणाएँ' कविता मे जीवन की स्थितियो का कितनी सत्यता से मूल्यांकन किया है? वह लिखते हैं—

"मैं अभिनेता हूँ किराये का
मुझसे ईमानदारी की माग मत करो।
क्योंकि मैं अभी अभी जमात से निकला हूँ
मुझे एक स्थिति दो, उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूँगा
मैं कागज की नाव पर नदी के पार उतर सकता हूँ
मैं युद्ध क्षेत्र मे अपने को हाथी के पर के नीचे कुचलवा सकता हूँ
किसी ऊँची चोटी पर से हजारों फिट नीचे
किसी भी अधेरे खड्ड मे कूद सकता हूँ
और
यह सब करने के बाद
बिना किसी हीरो के रोल किये
शाम को थका-मांदा
अपनी सतान के लिए गस भरे गुब्बारे लेकर
अपने घर को जिंदा वापस जा सकता हूँ
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ
नियन्ता या निर्देशक नहीं
मुझसे स्थितियों की असगतियों की माग करो
ईमानदारी की नहीं"

यदि इस कविता मे श्री लक्ष्मीकात वर्मा ने स्थितियो की असगतिया का यथार्थ अनुभव दिया है तो निम्नलिखित कविता मे श्री जगदीश गुप्त ने 'शब्द और अर्थ के बीच' मे भटकती काव्य आकाक्षा का सच्चा अनुभव उपस्थित किया है—

"मैं कवि हूँ स्वाभिमानी,
शब्दों में नया और सच्चा
अर्थ भरना चाहता हूँ,
खोखली ध्वनियों को
बेरहम जओर से बँधकर

कुत्ते की मौत
नहीं मरना चाहता हूँ।"

शब्दो को नया और सच्चा अर्थ देने वाली, रूढियो से मुक्त, निस्सार परम्पराओ के बधन से रहित कविता ही आज के कवि की नई कविता' है।

इस प्रकार सन् १९५५ तक आते आते एक और प्रयोगवाद की घुटन, अनास्था तथा अति बौद्धिक परिधि मे चलने वाले कुछ प्रतिभाशाली कवि एक नये पथ के पथिक बन गये, जिन्हे प्राय नई कविता के नाम से सम्बोधित किया जा रहा है। इसके साथ कुछ नये कवि-व्यक्तित्व भी उभर कर सामने आये हैं और इनकी नई कविताए हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ जैसे—नई कविता', 'निकष', 'ज्ञानोदय' कल्पना आदि मे प्रकाशित होती रही है। यद्यपि इन नये कवियो मे एक विशेष उत्साह तथा नई सम्भावनाओ के प्रति आश्वस्त करने वाला एक अदम्य कवि-व्यक्तित्व है किन्तु कुछ तो ऐसे हैं कि जिन्होंने शीघ्र ही इस नई उपज मे अपने कृतित्व द्वारा कुछ विशिष्ट दिया है। ऐसे कवियों का नई कविता के क्षेत्र मे एक विशिष्ट स्थान बन गया है। इनमे से कुछ उल्लेखनीय है कुवर नारायण कीर्तिचौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, राजेन्द्रकिशोर, अजितकुमार, रमेश कुतलमेघ' इत्यादि।

जहाँ तक इस नई-कविता के प्रतिमानो का सम्बन्ध है सबसे प्रथम है सत्य की अभिव्यक्ति। वास्तव मे नई-कविता का आदोलन केवल प्रतिक्रियावादी आदोलन नही अपितु जीवन और उसकी नई तथा सच्ची अभिव्यक्ति से सहज जुडा है। जीवन का यह सत्य निपट यथार्थ है—भले ही वह खुरदरा है स्व अर्थों मे कलाहीन है उसमे अभ्यस्त शिल्प का रचाव नही रस की मधुमति भूमिका नही श्लील और अश्लील का कोई सकट नही, पुनर्जन्म, परमेश्वर, मोह, अहिंसा, दया, क्षमा, करुणा जैसे तथाकथित शाश्वत मूल्यो जैसे पिचके, गुडे मुडे, कटे-फटे जीवन आदर्शों की कोई प्रतिष्ठा नही, कोई मान्यता नही। नई कविता का यथार्थ दिवा-स्वप्नो वाली कल्पनाजीवी प्रवृत्ति के ह्रास का उदघोषक है जिसे यूरापिया कहते है। इस यथार्थ की केवल शर्त यह है कि उसका कथ्य अनुभूत या भोगा हुआ हो और जहाँ उसे किसी रमणीय कल्पना मे युक्त करके उपस्थित न किया जाए वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसे किसी बौद्धिक जटिलताओ पूर्वाग्रहो और धारणाओ से आच्छन्न न किया जाये। इसका अभिप्राय यह नही कि नई कविता प्रयोगवादी कविता की प्रतिक्रिया मे अबौद्धिक होने की प्रवृति लिये है। वास्तव मे आज के बौद्धिक युग मे ऐसा सम्भव भी नही। युग का यथार्थ ही जब बौद्धिक धरातल पर स्वीकार किया जा रहा है तो अबौद्धिकता अयथार्थ ही होगी। इसीलिए नई कविता भी बौद्धिक प्रबुद्धता की देन है, एक प्रबुद्ध और सजग कवि की देन है।

वास्तव मे यथाथ का अनुभव और उसका आग्रह तब तक हो ही नही सकता जब तक कवि की बौद्धिक प्रबुद्धता पूण रूप से सजग न हो।

खुरदरे यथाथ और तत्सम्बन्धी सत्य की अनुभूति मे संलग्न आज की नई-कविता का दूसरा प्रतिमान है नया व्यक्ति ! नये मानव और नये व्यक्ति मे अन्तर है। नये मानव की जडें यथाथ के खुरदरे धरातल पर नही जम सकतीं। उसमे कल्पना, आदश और एक स्वप्निल मनोजगत् की आवश्यकता होती है। नई कविता आदश के मोह भग की, उससे मुक्ति की कविता है। अतएव नई-कविता निकवच व्यक्ति की कविता है जिस पर किसी आदशवाद, रूढि, वजना, कल्पना इत्यादि का कवच नही झीना झिलमिला पर्दा भी नही। अतएव नई-कविता का सम्बन्ध यथाथ से नही तो उसको जन्म देने वाले यथाथ से तो ही है। परिवेश्य मे व्यक्ति की सच्ची पहचान के लिए कल्पना और समाज के नाम पर निर्मित कवच आज अव्यवस्थ की रद्दी की टोकरी मे फेंक दिये गये हैं। शाश्वत मूल्य, नैतिक सदभ, राष्ट्रीय स्खलन, धम दशन समाजवाद आदि के नारे अथहीन हो गए हैं और यथाथ के विविध रोडो से निर्मित इस नई-कविता का कवि पीछे वाले व्यक्ति से भिन्न नया व्यक्ति बनकर सामने आ रहा है।

इस नई कविता का तीसरा प्रतिमान उसकी सदभहीनता है। हर कवि व्यक्ति है—नया व्यक्ति ! अतएव व्यक्ति के बाह्य परिवेश मे अन्तर होना स्वाभाविक ही है। इतना ही क्या, व्यक्ति के विभिन्न क्षणो मे क्योकि मानसिक स्तर भिन्न होंगे अतएव उनमे परिवेश के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। अतएव यह आवश्यक नही कि निकवच निर्व्याज तथा नितात सहज मे ही की गई अभिव्यक्ति मे कोई ठोस सदभगत अन्विति मिले और फिर लम्बी कविता मे, जिसमे एकाधिक मानसिक स्तर होते हैं ऐसी सदभ-हीनता स्वाभाविक ही है। पर इसका अभिप्राय यह नही कि सदभ न होने से कविता मे अथहीनता आ जाएगी। वास्तव मे यदि अनुभूति यथार्थ है तो उसमे अथहीनता आ ही नही सकती। और यदि सदभ को सार्थक बनाने तथा अन्विति लाने की दृष्टि से काट छाँट करनी पडे, तो उसे अथ की वास्तविक अनुभूति अर्थात् सहज यथाथ न कहा जा सकेगा। अतएव नई कविता का कवि बाह्य परिवेश को अपने पर हावी होने नही देना चाहता। इसीलिए सदभहीनता उसकी कविता का महत्त्वपूण प्रतिमान है।

सदभहीनता की जब बात की जाती है तो परम्परा का प्रश्न एकदम सामने आ जाता है। परम्परा के सम्बन्ध म एक विचार तो श्री मुद्राराक्षस का है जिसमे उन्होन कहा है कि परम्परा को उखाड फेंकने की, उस पर थूक देने की आवश्यकता है।

प्रयोगवादी अज्ञेय जी ने भी कहा था कि परम्परा का कवि के लिए कोई

अर्थ नहीं जब तक वह उसे ठोंक बजाकर, तोड-मरोड कर, देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता, उसे गहरा सस्कार बनाकर ग्रहण नहीं कर लेता।

इस प्रकार परम्परा पर तनिक ध्यान देने की आवश्यकता है न कि उस पर थूक देने की या उसे अर्थहीन कहकर उससे छुटकारा पाने की। परम्परा अनुकूल भी हो सकती है और प्रतिकूल भी। उससे दोनो प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं। आप उस परम्परा से या तो अपने आप को सम्बद्ध कर सकते हैं या उससे पृथक् रह सकते हैं। परम्परा को उखाडने की बात केवल थोथा थोथा है।

इस प्रकार इन प्रतिमानो पर आधारित नई कविता आधुनिक भावबोध की कविता है जो उसे नित्य प्रति रसायन-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, प्राणि-विज्ञान समाज-शास्त्र, नृतत्व शास्त्र की नवीनतम खोजो से प्राप्त होते हैं तथा जिनके कारण मानव-मन मे अनेक प्रकार के परिवर्तनो की प्रक्रिया होती रहती है। इसी कारण यह नई कविता कहीं दुरूह बौद्धिक असगत तथा अर्थहीन सी लगने लगती है क्योकि पहले तो सामान्य पाठक आधुनिक ज्ञान विज्ञान की नवीन उपलब्धियो तथा उनके द्वारा मानव-मन पर पडे प्रभाव से पूर्णतया अनभिज्ञ है और दूसरे वह सस्कारवश अपनी पुरानी परिपाटियो मे बँधा है।

इस कविता की अनुभूतियाँ जहाँ सत्य और यथार्थ हैं वहाँ साथ ही चेतना की गहराई से भोगी हुई या अनुभूत होने के कारण मौलिक, असाधारण तथा प्रामाणिक भी हैं और इनमे कहीं घिसी-पिटी अनुकृति नहीं, परम्परा बद्धता नहीं।

नई कविता ने भी प्रतीको और बिम्बो का प्रयोग किया है किन्तु उसके प्रतीक और बिम्ब ताजे और अप्रयुक्त हैं। कविता का पुराना ढाचा जो भाषा की अलकरण प्रवृत्ति, कलात्मक अभिव्यक्ति पर आधारित था, आज टूट गया है तथा नये ढाचे म आरोपित बातो का निषेध है। इसी कारण कविता से रस का लोप तो हो ही गया है साथ ही रोमांटिक प्रवृत्ति का भी ह्रास हुआ है भले ही इस कारण कविता किन्ही अशो मे सहज वक्तव्य का भी रूप लेती दिखाई देती है। बुद्धि रस ही आज की कविता का रस है।

नई कविता का रूप-शिल्प भी सवथा नया है। इसके छद-विधान मे गद्य की लय है पद्य की रूढ लय नहीं। अर्थात् नई कविता का कवि भावुक होने की बजाए प्रबुद्ध अधिक है। अतएव नाद की लय नही, उसके चरणो म अर्थ की लय है। इसके लिए नई-कविता का आग्रह है कि बिम्ब विधान के साथ-साथ लय और शब्द-सवेदना की बारीकियो पर अर्थात् ध्वनि-कल्पना पर भी ध्यान रखना चाहिए।

नई कविता सहज और बोलचाल की है, जिसमे स्थान-स्थान पर उर्दू के

मुहावरे और अंग्रेजी के पदों का प्रयोग भी रहता है। भाषा के इस यथार्थ प्रयोग से शब्द और अर्थ के बीच में जो दृश्य-कल्पना की जाती है, दूसरे यथार्थ का जो बिम्ब उभारा जाता है, उससे भाषा की व्यंजक शक्ति बढ़ी ही है।

इस प्रकार नई कविता बिम्बों की भाषा है, अर्थ को व्यंजित करने वाली ध्वनियों का संकेत देकर यथार्थ का अनुभव देने वाली भाषा है और इसे कवि सहज ही उपयोग में लाता है न कि खराद पर चढ़ाकर उसके शब्दों को ललित तथा सुडौल बनाकर कला की छैनी से सँवार कर। कहने का अभिप्राय यह है कि भाषा के इस सहज प्रयोग से बिम्बों पर काई नहीं जम पाती उनका अर्थ धूमिल नहीं हो पाता और दृश्य-कल्पना का ताजापन तथा नवीनता बनी रहती है। इसीलिए नई कविता के बिम्ब विधान और भाषा के प्रयोग ने अभिव्यक्ति-क्षमता का अपरिमित विकास किया है।

इधर नई-कविता के आन्दोलन ने एक नया मोड़ लिया है। नई-कविता भिन्न भिन्न दिशाओं में चलती प्रतीत हो रही है। और तो और नामों में आपाधापी तथा अलगाव की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। कोई इसे अकविता कहता है तो कोई सकविता, कोई इसे नूतन कविता कहता है तो कोई ताजी कविता, कोई इसे बोट-कविता कहता है तो कोई कांक्रीट (ठोस) कविता, कोई इसे एण्टी-कविता कहता है तो कोई इसे सही कविता। कहने का अभिप्राय यह है कि जब साहित्यिक जगत् में नई-कविता को मान्यता प्राप्त होने लगी और पत्र पत्रिकाओं में बड़े उत्साह से उसे छापा जा रहा है तब ऐसा लगता है कि नई-कविता में विघटन की स्थिति आ गई है, एक आवेग-हीनता और बिखराव के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। पर इससे नई-कविता की शक्ति का भी परिचय मिलता है और प्रतीत होता है कि नई-कविता की यह मोर्चेबन्दी केवल शक्ति को हस्तगत करने का ही प्रयास है जैसा कि प्रायः हर आन्दोलन में होता है। अतएव आज की स्थिति विघटन की नहीं विकास की द्योतक है नई कविता की शक्ति की परिचायक है।

अन्त में यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस नई कविता की उपलब्धि क्या है? क्या पत्र पत्रिकाओं में छप जाना इधर-उधर कुछ कविता-संग्रहों का छप जाना या तत्सम्बन्धी दो चार शोध ग्रन्थों का निकल आना ही पर्याप्त है। आज कवियों की गणना के विचार से नई कविताओं की संख्या अपरिमित है किन्तु इस प्रकार फल राशि की देन क्या है? क्या यह कविता महज इसलिये रची जानी चाहिए क्योंकि कविता को जीवित रखना जरूरी है। ये और कई ऐसे प्रश्न हैं जो आज नई कविता से उत्तर की आकांक्षा लिये हैं और साथ ही आशा रखते हैं कि नई-कविता भी छायावाद की भाँति पंत, प्रसाद, निराला

जैसे काव्य-व्यक्तित्व दे ! पर विकास की अवस्था मे से गुजर रही नई-कविता के लिए शायद अभी कुछ कहना समव नही । केवल भविष्य ही इन समावनाओ का ठीक-ठीक उत्तर दे सकेगा ।

१७ | भ्रमरगीत परम्परा

'भ्रमरगीत' शब्द को सुनते ही सहृदय के मन मे प्रेम और विरह की अत्यन्त मधुर कल्पनाएँ सजग हो उठती हैं । इसका कारण यह है कि हिंदी के कवि शिरोमणि सूरदास अपने 'सूरसागर' मे भ्रमरगीत' नामक एक प्रसग जोड गए हैं, जिसमे उद्धव और गोपियो के सवाद का वर्णन है । उद्धव गोपियो को ज्ञान-मार्ग का उपदेश करने आये थे , किन्तु गोपियो की प्रेम विह्वलता को देखकर उनका ज्ञानयोग भूल गया और स्वय भी प्रेम-मार्ग के पथिक बन गये । भ्रमरगीत के इस प्रसग मे सूरदास ने जिस अलौकिक से दिखाई पडने वाले नि स्वार्थ प्रेम का चित्रण किया है और गोपियो के वचनो मे व्यग्य, उपालम्भ और वाक्-चातुरी का जैसा कौशल-दिखाया है, उसके कारण 'भ्रमरगीत' हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट निधियो मे से एक बन गया है । भ्रमरगीत हृदय की सुकुमारतम भावनाओ का प्रतीक हो उठा है ।

भ्रमरगीत का प्रसग परवर्ती कवियो को इतना अच्छा लगा कि बाद मे अनेक कवियो ने भ्रमरगीत लिखकर आत्म-सन्तोष अनुभव किया । नन्ददास ने तो 'भ्रमरगीत नाम से एक पृथक् पुस्तक ही लिख डाली । आधुनिक काल मे जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'उद्धव शतक' की रचना की । 'उद्धव-शतक' का नाम भ्रमरगीत न होने पर भी इसमे उसी प्रसग को उठाया गया है जिसे लेकर सूरदास ने भ्रमरगीत की रचना की थी और इस प्रसग का अत्यन्त कुशलतापूवक निर्वाह किया है । हरिऔध ने अपने 'प्रियप्रवास' मे और द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने अपने 'कृष्णायन' मे भी भ्रमरगीत के प्रसग को चित्रित किया है । परन्तु ये दोनो ही इस प्रसग का ऐसा रूप नही निखार सके, जिसमे इन्हे सूरदास, नन्ददास और रत्नाकर की कोटि मे रखा जा सके । पर भ्रमरगीत-परम्परा मे इनका नामोल्लेख तो किया ही जा सकता है । डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' का 'भ्रमरगीत' भी अपनी परम्परा मे एक उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है ।

सूरदास ने अपने सम्पूर्ण सूरसागर की कथा श्रीमद्भागवत से ली है ।

भ्रमरगीत का मूल स्रोत भी श्रीमद्भागवत ही है। परन्तु श्रीमद्भागवत में यह सारा प्रसंग एक पृथक रूप में है। सूरदास ने अपने काव्य की आवश्यकता के अनुसार भागवत के मूल प्रसंग में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है। भागवत में भ्रमरगीत की कथा यह है—कृष्ण ने गोपियों को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को गोकुल भेजा। सायं वेला में उद्धव गोकुल पहुंचे। रात्रि के समय नन्द और यशोदा को कृष्ण के समाचार सुनाते रहे और तरह-तरह के उपदेश देकर उन्हें धैर्य बंधाते रहे। दूसरे दिन प्रभात में गोपियों ने नन्द के घर के आगे रथ खड़ा देखा तो उन्हें यह जानने की उत्सुकता हुई कि रथ में कौन आया है। गोपियां उद्धव के पास जाकर कृष्ण का कुशल-मंगल पूछने लगीं। उद्धव उन्हें उपदेश देने लगे। उसी समय एक भ्रमर उड़ता दिखाई पड़ा। उसे देखकर एक गोपी कुछ उन्मत्त-सी होकर प्रलाप करने लगी। उद्धव ने उन सबको निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि कृष्ण स्वयं परब्रह्म है। गोपियों को भी यह बात पहले से ही ज्ञात थी परन्तु उद्धव के मुख से सुनकर उन्हें बहुत सन्तोष प्राप्त हुआ। उद्धव भी प्रसन्न होकर वापस लौट आये। एक तरह से भागवत में निर्गुण ब्रह्म की उपासना का पक्ष विजयी प्रदर्शित किया गया है। सूरदास के भ्रमरगीत की भांति उद्धव-गोपिका संवाद और भ्रमर का लक्ष्य करके गोपियों द्वारा उद्धव पर व्यंग्य-बाणों की वर्षा भागवत में नहीं की गई है।

भ्रमरगीत लिखते समय सूरदासजी के सम्मुख दो लक्ष्य थे। प्रथम तो यह कि उन्होंने शृंगार रस का वियोग पक्ष प्रस्तुत करना था और दूसरे यह कि निर्गुण ज्ञान मार्ग पर उन्हें सगुण भक्ति मार्ग की विजय दिखानी थी। इसलिए उन्होंने भ्रमरगीत की कथा में कुछ परिवर्तन कर दिया। सूर के भ्रमरगीत में कथा यह है कि कृष्ण के मित्र उद्धव को यह अहंकार हुआ कि वे बहुत बड़े ज्ञानी हैं और उन्होंने अपने ज्ञान द्वारा कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप को पहचान लिया है। उनके इस अहंकार को कम करने और उनके मन में भक्ति भाव जगाने के लिए कृष्ण ने उद्धव को गोपियों के पास गोकुल भेजा। उद्धव गोपियों को ज्ञानमार्गी उपासना-पद्धति में दीक्षित करने गये थे। गोकुल पहुंचकर वे गोपियों से मिले और उन्हें समझाने लगे कि तुम लोग कृष्ण के विरह में व्यर्थ क्लेश न पाओ। कृष्ण तो घट-घट व्यापी हैं। योग-मार्ग द्वारा उनकी उपासना करो। तुम्हें उनके दर्शन मन में होंगे, इत्यादि। परन्तु गोपियां तो कृष्ण के सगुण रूप पर मुग्ध थीं। इसलिए उद्धव का उपदेश उन्हें कैसे अच्छा लग सकता था। वे उद्धव को अपनी विरह-व्यथा सुनाने लगीं। उन्होंने बताया कि किस तरह कृष्ण के वियोग में सारा ब्रज, यमुना, उसके तट के कुंज और वृक्ष उदास हो उठे हैं। गोपियों के अपने मन में भी विरह की ज्वाला निरन्तर

जलती रहती है। बिना सगुण कृष्ण . . . .

उद्धव गोपिया को फिर निगु ण का उपदेश देने लगें, तो वे खीज उठी। उसी समय एक भौंरा उडता हुआ वहाँ आ पहुँचा। उद्धव कृष्ण के मित्र थे, इसीलिए गोपियो के पूज्य थे। वे सीधे तौर पर कुछ कहना नही चाहती थी, इसलिए उस भौरे को लक्ष्य करके अपने मन की कहने लगी। उन्होंने तरह-तरह से निगु णवाद की हँसी उडाई और उद्धव को खरी-खरी सुनाई। उनकी प्रेम भावना को देखकर उद्धव गद्‌गद हो गए। उनका ज्ञान का अहकार समाप्त हो गया, और वे सगुण कृष्ण के भक्त बनकर वापस लौटे।

सूरदास के भ्रमरगीत का सौंदय मुख्य रूप से उनके विरह-वणनो, जिनके द्वारा गोपियो के उत्कृष्ट प्रेम की व्यजना होती है और गोपियो के उपालम्भ भरे वचनो मे है जिनके द्वारा सगुण भक्ति की निगु ण उपासना पर विजय प्रदर्शित की गई है। गोपियो की विरहावस्था के चित्रण मे सूरदास ने लगभग सभी सचारियो का चित्रण कर दिया है। इन पदो मे कवि न शब्द की अभिधाशक्ति पर आश्रित न रहकर व्यजना का सहारा लिया है जिसके कारण काव्य के सौदय मे चार चाद लग गए हैं। गोपियो की वाक्‌चातुरी भी इस प्रसग मे बहुत आकषक है। स्त्री-सुलभ कुशलता के साथ उन्होंने उद्धव को मूख ही बनाया है और रुष्ट भी नही होने दिया। अन्त मे उनके प्रेम की एकाग्रता का प्रभाव उद्धव पर पडता है और वे भी ज्ञान का अहकार त्याग कर भक्त बन जाते है।

भ्रमरगीत के सम्बन्ध मे सूरदास के पश्चात् नन्ददास का नाम आता है। नन्ददास जी अष्टछाप के कवियो मे से एक थ। इन्होंने अपना 'भ्रमरगीत' प्रबन्ध रूप मे लिखा। इनके भ्रमरगीत की कथा लगभग वही है, जो सूर के भ्रमरगीत की है। अन्तर केवल इतना है कि सूर न तो कृष्ण द्वारा उद्धव को गोकुल भेजने और उद्धव के नन्द, यशोदा और गोपियो से मिलन का भी वणन किया है किन्तु नन्ददास ने अपना भ्रमरगीत सीधा 'उद्धव को उपदेश सुनो, ब्रज नागरी" से प्रारम्भ किया है। गोपियो और उद्धव दोनो क्रमश सगुण भक्ति और निगु ण उपासना के पक्ष मे तक प्रस्तुत करते है। सूरदास की गोपिया तो सरल हृदय ग्रामीण युवतियाँ हैं किन्तु नन्दास की गोपियाँ वैसी अशिक्षित नही। वे उद्धव के तर्कों का युक्तियुक्त उत्तर देती हैं। परन्तु कवि ने वाद-विवाद का क्रम ऐसा रखा है, जिसम उद्धव का पक्ष स्पष्ट रूप से दुबल दृष्टिगोचर होता है। नन्ददास के 'भ्रमरगीत' मे भी विवाद के अन्त मे एक भ्रमर आता है और एक गोपी के पैर पर बठ जाता है। उसे लक्ष्य करके गोपियाँ उद्धव पर खूब व्यग्य कसती हैं और तरह-तरह के उलाहने देती हैं। अन्त मे उद्धव पूरी तरह परास्त हो जाते है और ज्ञान-माग का पक्ष छोडकर भक्ति-

माग के अनुगामी बन जाते हैं।

सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीत मे थोडा अन्तर है। सूरदास का भ्रमरगीत मुख्यतया मुक्तक काव्य है, परन्तु नन्ददास के भ्रमरगीत मे प्रबध का पुट भी है। नन्ददास का भ्रमरगीत आकार मे छोटा, किन्तु अधिक सुव्यवस्थित है। सूरदास की गोपियाँ भावुक अधिक हैं, और तार्किक कम, परन्तु नन्ददास की गोपिया तर्क मे परास्त नही करती, बल्कि अपनी प्रेम भावना द्वारा परास्त करती हैं। अपने अपने स्थान पर सूरदास और नन्ददास दोनो के ही भ्रमरगीत उत्कृष्ट काव्य-ग्रथ है।

अष्टछाप के और भी कई कवियो ने उद्धव और गोपियो के प्रसग को लेकर थोडे बहुत पद लिखे हैं। परन्तु किसी ने सुव्यवस्थित ग्रथ की रचना नही की। रीतिकाल मे भी इस प्रकार के मुक्तक काव्य मिल जाते हैं। भ्रमरगीत को आधार मानकर आधुनिक युग मे काव्य-रचना की बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने। उनका 'उद्धव शतक' भ्रमरगीत प्रसग को लेकर लिखी गई श्रेष्ठ-काव्य रचना कही जा सकती है। रत्नाकर का 'उद्धव शतक, सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीत से सफलतापूर्वक टक्कर ले सकता है। यो भारतेन्दु की कविता मे भी कुछ इस प्रकार के पद्य मिल जाते हैं पर उनका विशेष महत्त्व नही।

'रत्नाकर के उद्धव शतक का प्रारम्भ भी अधिक कवित्वपूर्ण है। एक बार कृष्ण अपने मित्र उद्धव के साथ यमुना मे स्नान कर रहे थे। उसी समय एक मुरझाया हुआ सा कमल का फूल पानी की धारा मे बहता हुआ आया। उसी कमल की सुगध से कृष्ण को राधा की स्मृति हो आई। वे अचेत हो गए। उसी समय एक तोते ने 'राधा-राधा' कहकर पुकारा तो उन्हे होश आया। गोकुल और गोपिया की स्मृति मे वह विह्वल हो उठे। आँखो से आँसू बहने लगे।

'रत्नाकर' का 'उद्धव शतक-काव्य-सौदय मे सूरदास से टक्कर लेता है, तो उक्ति प्रत्युक्ति क्रम म नन्ददास के भ्रमरगीत के समकक्ष है। नन्ददास ने अपने भ्रमरगीत नाटक की तरह उद्धव गोपी सवाद का क्रम रखा है। पहले एक बात उद्धव कहते है, अगले पद मे गोपियाँ उसका उत्तर देती हैं। ऐसा क्रम न सूरदास मे है और न 'रत्नाकर' मे। कुछ पदो मे उद्धव अपनी बात कहते है और कुछ मे गोपियाँ। वार्त्तालाप का मुख्य भाग गोपियो के हिस्से मे आया है। परिमाजन और अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'रत्नाकर' का उद्धव-शतक हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं मे से एक है। उसमे अलकार, रस और भाव-व्यजना तथा अनुभावो का बडा समुचित प्रयोग किया गया है। भ्रमरगीत-परम्परा का श्रेष्ठ ग्रन्थ होते हुए भी उद्धव-शतक मे न तो भ्रमर

का ही उल्लेख है और न इनकी रचना गीत शैली मे ही हुई है। रत्नाकरजी ने गोपियों के मुख से कितने स्पष्ट शब्दो मे उद्धव के निर्गुण भगवान का खण्डन करवाया है—

ऊधो मुक्ति माल वृथा मढत हमारे गर।
कान्ह बिन काको कहो मन मोहेगो ?"

हरिऔध जी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे उद्धव-गोपी सवाद का प्रसग उठा कर कृष्ण को ब्रह्म बतलाया है और समस्त विश्व को कृष्ण का रूप मानकर विश्व-सेवा को कृष्ण की सेवा कहा है। इस प्रकार कृष्ण से मिल पाने मे असमर्थ होकर गोपिया विश्व-सेवा का व्रत ले लेती हैं और उसको कृष्ण की सेवा मानकर अपना जीवन सफल करने का यत्न करती हैं। 'प्रियप्रवास' मे भ्रमरगीत के प्रसग मे उपदेशात्मकता अधिक है और हृदय को छूने वाली सरसता कम।

द्वारिकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' मे भी उद्धव गोपी सवाद प्रस्तुत किया गया है। परन्तु इसमे भी सूर, नन्ददास या रत्नाकर का सा काव्य सौंदर्य दिखाई नही पडता। प्रसग तो उठाया गया है, किन्तु निखारा नही जा सका।

इन प्रसिद्ध कवियो की रचनाओ के अतिरिक्त डॉ० रसाल का 'उद्धव-शतक', हरिविलास का 'विष्णु गीत', रसीले का 'ऊधो ब्रजागमन' मुकुन्दीलाल का मुकुन्द विलास', जगन्नाथ सहाय का कृष्ण-सागर', कवीन्द्र माहौर का 'अश्रु माल, चन्द्रभानु रत्न का नेह निकुंज', प्रद्युम्न दुगा का 'कृष्ण चरित मानस, लाला हरदेव प्रसाद का 'ऊधो पच्चीसी और श्यामसुन्दरलाल दीक्षित का 'श्याम-सन्देश' भ्रमरगीत काव्य मे अपना विशेष स्थान रखते है। सतराम के 'भ्रमरगीत' मे ओर राजेश्वरप्रसादसिंह मातादीन शुक्ल और विद्याभूषण विधु' के स्फुट पदो मे हमे भ्रमराख्यान मिलता है।

डा० गुप्त के शब्दो मे 'उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य मे भ्रमरगीत की दीर्घ परम्परा रही है। इस प्रसग को लेकर हमारे कवियो ने अपने-अपने दृष्टिकोण मे ज्ञान, विरह और उपालम्भ की योजना की है। इस प्रसग को हिन्दी मे प्रचलित करने का श्रेय एकमात्र महाकवि सूरदास को ही है—उनके भ्रमरगीत की मार्मिकता ने ही परवर्ती कवियो को प्रभावित एव प्रेरित किया। यद्यपि परवर्ती कवियो ने इस प्रसग को रोचकता, तार्किकता एव कलात्मकता मे अभिवृद्धि करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है, किन्तु सूरदास से कोई भी आगे नही बढ सका। भ्रमर की आड मे सूरदास की गोपिया ने विरह-वेदना, विवशता, रोष, उपालम्भ, व्यग्य, उपहास एव आत्मदैन्य आदि

विविध भावो से मुक्त जो उक्तियाँ कही हैं वे युग-युगो तक अमर रहने वाली हैं। उनका रस शताब्दियो तक सहृदय पाठको के मन को आकर्षित, प्रवित एव आनन्द मग्न करता रहेगा, इसम कोई सन्देह नही। सूरसागर की गोपिया ने उद्धव से कहा था— 'ऊधो मन नाही दस-बीस एक हुतो सो गयो स्याम सग" और यही बात सूर के भ्रमरगीत को पढ लेने पर पाठक को अनुभूति होती है, उसे लगता है मानो उसका मन सूर की काव्य गगा मे प्रवाहित हो गया है, उसके मन तर किसी अन्य काव्य का रस लेने के लिए उसे दूसरा मन खोजना पडता है, किन्तु—

"मन नाहीं दस बीस।"

१८ हिन्दी साहित्य को स्त्रियों की देन

स्त्रियो के विषय मे जितना साहित्य लिखा गया है, उसकी तुलना म स्त्रियो द्वारा लिखे गये साहित्य का परिमाण बहुत कम है। इसका ठीक ठीक कारण क्या है यह तो बतला पाना सम्भवत सरल हो, परन्तु हिन्दी साहित्य मे स्त्रियो द्वारा लिखित साहित्य की अल्पता के बडे कारण स्त्री शिक्षा का अभाव, स्त्रियो की सामाजिक दुदशा और अस्त व्यस्त राजनीतिक परिस्थितियाँ कही जा सकती हैं।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ उस काल से हुआ, जब देश पर विदेशियो के आक्रमण हो रहे थे। ऐसे अवसरो पर स्त्रियो की स्थिति सदा ही कुछ दुबल हो जाती है क्योकि ऐसा समझा जाता है कि स्त्रिया आत्म रक्षा म असमर्थ होती हैं। पुरुष पर आश्रित रहने के कारण नारी मे कुछ-न-कुछ आत्महीनता का भाव आ ही जाता है और जब पुरुष यह अनुभव करते है कि नारिया की रक्षा उन्होने करनी है तो वे स्त्रियो पर मनमानी भी चलाते हैं। राजनीतिक उथल-पुथल के काल मे उच्च शिक्षा स्त्रियो को तो दूर, पुरुषो तक को प्राप्त नही होती। इन सब कारणो से हिन्दी साहित्य म स्त्रियो की देन उतनी नही है जितनी कि आशा की जा सकती थी।

यह मानने का कोई कारण नही कि साहित्य सजन की प्रतिभा शक्ति स्त्रिया म पुरुषो से किसी प्रकार कम होती है। इसे केवल सयोग ही कहना चाहिए कि सस्कृत साहित्य मे श्रेष्ठ काव्य रचना स्त्रियो की नही मिलती। यो कहने को स्त्रियो द्वारा रचित बहुत-सा साहित्य सस्कृत हिन्दी तथा ससार

की अन्य भाषाओं में भी है, परन्तु उत्कर्ष की दृष्टि से वह कुछ हल्का ही ठहरता है। आधुनिक काल में पाश्चात्य देशों में कुछ उत्कृष्ट कोटि की उपन्यास-लेखिकाएँ अवश्य हुई हैं किन्तु उनके अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य में भी स्त्रियों की देन नगण्य-सी है।

भारतीय समाज में स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र में आने और प्रशंसा पाने का अवसर वैदिक काल में रहा हो तो रहा हो, किन्तु मध्य काल में बिल्कुल नहीं रहा। मीरा भी केवल इसीलिए ख्याति पा सकी क्योंकि उसने अपनी भक्ति और प्रेम के आवेश में परिवार और समाज के बन्धनों को तिलांजलि दे दी थी। ऐसी दशा में यदि स्त्रियों ने कुछ उत्कृष्ट काव्य-रचना की भी हो, तो उसका प्रकाश में आना कठिन ही था। बहुत सम्भव है कि ऐसी बहुत-सी रचनाएँ लिखी जाने के बाद भी अज्ञात रूप से नष्ट हो गई हों। इतने पर भी अनेक कवयित्रियों और लेखिकाओं ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया है।

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक काल वीरगाथा काल है। इस काल में हमें किसी कवयित्री की रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। परन्तु वीरगाथाकाल के तुरन्त बाद भक्ति-काल में हमें हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री मीरा का साहित्य प्राप्त होता है। कृष्ण को लक्ष्य करके मीरा ने जैसी विरह की पीर और प्रेम की आतुरता से भरी हुई कविता लिखी है, वैसी हिन्दी में कम ही कवि लिख पाए हैं। अपने काल की अन्य स्त्रियों के समान मीरा भी सम्भवतः बहुत शिक्षित नहीं थी। उसने अपने पदों के लिए बहुत कुछ बोल-चाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा का परिष्कार और अलंकारों का बुद्धिपूर्वक प्रयोग मीरा के पदों में दिखाई नहीं पड़ता। उसने तो केवल अपनी तीव्र प्रेमानुभूतियों को स्वाभाविक भाषा में प्रस्तुत कर दिया है —

'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।"

मीरा की भक्ति दाम्पत्य भाव की भक्ति है। वह कृष्ण को अपना पति मानती थी और उसी रूप में उनकी उपासना करती थी। पति-पत्नी का प्रेम तीव्रतम अनुभूतियों का परिचायक होता है। मीरा स्वयं स्त्री थी और कृष्ण की उपासिका थी। इसीलिए उसने अपने-आपको पत्नी मानकर कृष्ण के विरह में जो दुःख भरे गीत गाये, वे बहुत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी बन पड़े। मीरा का पारिवारिक जीवन भी विरह और कलह से पूर्ण था, इसलिए उसकी वेदना में सत्य की झलक है। कबीर आदि ने अपने-आप में जो स्त्रीत्व का आरोप किया है उसमें स्वाभाविकता नहीं आ पाई। इसी से वह हृदय पर वैसा प्रभाव नहीं छोड़ता, जैसा मीरा के पद छोड़ते हैं।

मीरा के पद लोक मे बहुत प्रचलित हैं। इन पदों की इतनी लोकप्रियता का कारण यही है कि उनमे मीरा ने अपने हृदय की सच्ची और तीव्र प्रेमानुभूति प्रकट की है। कही उनमे विरह की व्याकुलता है, कही प्रतीक्षा और प्रेम की विह्वलता का भाव भरा हुआ है।

(क) "दरद की मारी बन-बन डोलूँ बद मिल्यां नही कोय।
'मीरा' की प्रभु पीर मिट जब बैद सांवलिया होय।"

(ख) 'बावुल बद बुलाइया रे पकड दिखाई म्हारी बाह।
मूरख बैद मरम नहीं जाने करक करेजे मांह॥

मीरा की भांति सहजोबाई और दयाबाई ने भी सन्त-काव्य की रचना की है। मीरा के पदो मे निगुण ब्रह्म की उपासना के कुछ पद पाये जाते हैं, परन्तु मुख्य रूप से उसकी कविता सगुण भक्ति को लेकर चली है। इसके विपरीत सहजोबाई और दयाबाई की कविता निगुण ब्रह्म की उपासना की कविता है। ये दोनों महात्मा चरणदास की शिष्या थी। वस्तुत इन दोना को कवयित्री न मानकर भक्ति न मानना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इनकी रचनाओं म काव्य का अश कम और सिद्धात-प्रतिपादन का अश अधिक है। केवल पद्य बद्ध होने स किसी भी रचना को काव्य मान लेना उचित नही।

भक्तिकाल मे मुसलमान कवयित्री ताज ने कृष्ण भक्ति के कविता द्वारा अपने सरस हृदय का परिचय दिया है। कृष्ण के मनमोहक रूप का उन्होंने अत्यन्त सुन्दर वणन किया है। उनका यह कवित्त अत्यन्त प्रसिद्ध है—

"सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी,
तेरे हस्त की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी, और निमाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरानी सारे गुनन गहूँगी मैं॥
सांवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह दाघ मे निदाघ ह्वै दहूँगी म।
नद के कुमार कुरबान तार्णी सूरत प
हौं तो मुगलानी, हिंदवानी ह्वै रहूँगी म।'

ताज ने ब्रज भाषा और खडी बोली दोनो मे ही काव्य रचना की है।

रीतिकाल मे आलम की पत्नी शेख रगरेजिन ने भी अच्छी कविता लिखी। कहा जाता है कि शेख की प्रतिभा पर रीझ कर ही आलम ब्राह्मण से मुसलमान बने थे। शेख की कविता परिमाजित ब्रज भाषा म लिखी गई है। शख की प्रत्युत्पन्नमति क विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि एक बार बादशाह ने शेख से पूछा 'क्या आलम की पत्नी आप ही हैं?' शेख के पुत्र का नाम

जहान था। शेख ने तुरन्त उत्तर दिया—'हाँ जहापनाह जहान की माँ मैं ही हूँ।" बादशाह ने उसे सारे ससार की पत्नी कहकर चुटकी ली थी, उसने अपने आपको ससार की मा बताकर उसका भरपूर बदला दे दिया।

हिन्दी मे नीति की कुण्डलियाँ लिखने वाले प्रसिद्ध कवि गिरिधर राय की पत्नी भी कवयित्री थी और उनकी कुण्डलियाँ गिरिधर की कुण्डलियो के रूप मे ही है। गिरिधर कविराय के नाम मे जो कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं, उनम से साई को सबोधित करके लिखी गई कुण्डलियाँ गिरधर की पत्नी द्वारा रचित कही जाती हैं।

राजस्थान मे बहुत-सी रानियो ने भी काव्य-रचना की थी। परन्तु यह काव्य-रचना सामान्य कोटि की है। इन कवयित्रियो मे रसिक बिहारी, प्रतापकु वर बाई जुगलप्रिया, चन्द्रकलाबाई इत्यादि नाम विशेष रूप से उल्लेख नीय हैं।

इसके बाद हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्त्री शिक्षा के लिए जोरदार आन्दोलन चलाया था। उसके फल-स्वरूप द्विवेदी युग मे हमे साधारण कोटि की कवयित्रियो के दर्शन होते हैं। श्रीमती रघुवशकुमारी, श्रीमती बुन्देलबाला, श्रीमती कीरतिकुमारी, श्रीमती राजदेवी इत्यादि कवयित्रियो ने देश प्रेम तथा समाज सुधार सम्बन्धी अनेक कविताएँ लिखी। इन कवयित्रियो मे श्रीमती तोरनदेवी 'लली' की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हुईं। तोरनदेवी जी की रचनाओ म कही कहीं रहस्यवादी भावना भी है।

श्रीमती महादेवी वर्मा न हिन्दी साहित्य मे अपना विशेष स्थान बना लिया है। जो आदर और गौरव भक्तिकाल की कवयित्रियो मे मीरा को प्राप्त है, वह आधुनिक युग की कवयित्रियो म श्रीमती महादेवी वर्मा को है। महादेवी की रचनाओ म करुणा और विरह की बडी मधुर और सजल अभिव्यक्ति हुई है। उनका काव्य मुख्य रूप स पीडा का काव्य है

'बिछाती थी सपना के जाल तुम्हारी वह करुणा की कोर।
गई वह अधरो की मुस्कान मुझे मधुमय पीडा मे बोर॥'

× × ×

'इन ललचाई पलकों पर पहरा था जब व्रीडा का।
साम्राज्य मुझे द डाला उस चितवन ने पीडा का।
उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोश [illegible] हैं मोती बरसा कर रोते॥'

उनकी रचनाओ मे एक अद्भुत व्याकुलता विद्यमान है, जो रहस्यमयी

सत्ता की ओर सकेत-सी करती प्रतीत होती है। महादेवी की कविताओं मे मीरा की तरह अनुभूतियो की प्रधानता नही। इनमे प्रधानता है कल्पना की। ये कल्पनाएँ कई जगह अत्यन्त मनोरम बन पडी है। महादेवी कवयित्री होने के साथ-साथ कुशल चित्रकार भी है और अपनी निजी भावनाओं को उन्होंने गीतो मे व्यक्त किया है, उन्हे तूलिका के रंगो मे भी अकित कर दिया है।

महादेवी वर्मा के बाद श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का नाम हिन्दी कवयित्रियो मे सबसे प्रमुख दिखाई पडता है। सुभद्राकुमारी ने वीरत्व और वात्सल्य की सुन्दर कविताएँ हिन्दी को दी है। उनकी 'झासी वाली रानी' और 'मेरा बचपन' कविताएँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। 'झासी वाली रानी' कविता अत्यन्त ओजमयी रचना है। 'मेरा बचपन' कविता मे कवयित्री का वात्सल्यपूर्ण हृदय मुखर हो उठा है।

> 'वह भोलापन मधुर सरलता, वह प्यारा जीवन निष्पाप।
> क्या फिर आकर मिटा सकेगा, तू मेरे मन का सताप ?
> मै बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
> नदन वन सी फूल उठी वह छोटी-सी कुटिया मेरी।" (मेरा बचपन)
>
> × × ×
>
> चमक उठी सन् सत्तावन मे वह तलवार पुरानी थी।
> बुन्देले हरबोलो के मुख हमने सुनी कहानी थी।
> खूब लडी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।।
>
> (झांसी वाली रानी)

आधुनिक युग मे पद्य का महत्त्व दिनो दिन घटता जा रहा है और गद्य का महत्त्व बढ रहा है। आजकल अनेक लेखिकायें कहानियाँ, उपन्यास, निबन्ध इत्यादि लिखकर हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा कर रही हैं। महादेवी वर्मा ने कई निबन्ध लिखे हैं। 'शृखला की कड़ियाँ', 'अतीत के चलचित्र' और 'पथ के साथी' नामो से उनके निबन्ध-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीमती उषादेवी मित्रा श्रीमती शिवरानीदेवी, श्रीमती कमलादेवी चौधरी, श्रीमती सत्यवती 'छाया' अपनी सुन्दर कहानियो के लिए हिन्दी जगत मे प्रसिद्ध है। श्रीमती कचनलता सब्बरवाल के कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके है। ससद की सदस्या श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल भी उच्च कोटि की लेखिका हैं। उनकी शिक्षा मनोविज्ञान पर लिखित पुस्तक का हिन्दी-जगत मे बहुत आदर हुआ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनेक विघ्न बाधाओ और असुविधाओ के होते हुए भी स्त्रियाँ यथाशक्ति साहित्य-सृजन द्वारा हिन्दी की सेवा करती रही हैं। उनकी रचनाओ से यह स्पष्ट है कि साहित्य-सृजन की प्रतिभा एव क्षमता का उनमे अभाव नहीं है। आजकल स्त्री शिक्षा का प्रचार दिनो दिन बढ रहा

है और स्त्रियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में आगे आ रही हैं। साहित्य-सृजन के लिए जीवन के विविध रूपों के अवलोकन और निरीक्षण की आवश्यकता होती है। उसका अवसर अब महिलाओं को भी वैसा ही मिल सकेगा जैसा अब तक पुरुषों को मिलता रहा है। यह आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में हिन्दी साहित्य को स्त्री-कलाकारों की ओर से और भी उत्कृष्ट कोटि की साहित्य कला-कृतियाँ प्राप्त होंगी जो न केवल स्त्री-साहित्यकारों के नाम को उज्ज्वल करेंगी बल्कि हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य सम्पत्ति बनकर रहेंगी।

१६ हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव

जब दो देश या दो जातियाँ दीर्घ काल तक पारस्परिक सम्पर्क में बनी रहती हैं तो पारस्परिक प्रभाव भी अवश्यम्भावी हो जाता है। इस आधार पर कई सौ वर्षों तक निकट सम्पर्क में बने रहने के कारण अगर हिन्दी पर अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा तो आश्चर्य ही क्या! अंग्रेजी भारत के शासकों की भाषा थी और हिन्दी गुलाम देश की भाषा। इसलिए भी अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। अंग्रेजी सैकड़ों सालों की समृद्ध विश्व भाषा थी और हिन्दी को समृद्ध होना था, इसलिए हिन्दी ने अन्य प्रभावों को ग्रहण करने के साथ-साथ अंग्रेजी प्रभाव का भी ग्रहण करने में संकोच न किया और सचमुच हिन्दी साहित्य ने अंग्रेजी से काफी प्रभावित होकर अपना यथाधिक विकास किया है।

यदि किसी भाषा का साहित्य अन्य भाषाओं के साहित्य से प्रभावित होता है तो यह कोई बुरी बात नहीं है। यदि हम किसी समृद्ध भाषा के समृद्ध साहित्य से लाभ नहीं उठाते हैं और हम अपनी भाषा के साहित्य को सर्वश्रेष्ठ मानकर आत्म-सन्तुष्ट रहते हैं तो वह हमारी कूप मण्डूकता ही होगी। आज के युग में कोई एक जाति, कोई प्रदेश या कोई राष्ट्र अपने-आप में पूर्ण नहीं रह सकता। उसे दूसरों के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। एक दूसरे की समृद्धि से प्रभावित होकर समृद्ध निधियों को अपनाना अनिवार्य होता है। ये निधियाँ साहित्य और संस्कृति दोनों की हो सकती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में एक साहित्य का दूसरे साहित्य पर प्रभाव स्वाभाविक और आवश्यक है। हम इसी रूप में हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव को लेते • बात यह है कि किसी की नकल करना तो बुरा है किसी में मिल

बुरा है लेकिन किसी भी श्रेष्ठ परम्पराओं, उन्नत विचारों का अपना लेना बुरा नहीं यदि अपनी मौलिकता नष्ट न हो।

पाश्चात्य साहित्य ने लगभग सौ वर्षों से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। यह प्रभाव अनेक रूपों में देखने को मिलता है। सबसे पहली बात तो यह है कि अंग्रेजी के श्रेष्ठ साहित्य का अनुवाद हिन्दी में भारतेन्दु काल से ही होने लगा था। इससे एक बड़ा लाभ तो यह हुआ कि अंग्रेजी का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी में आया, जिससे हमारे हिन्दी साहित्यकार परिचित हुए और उन्हें भी वैसा ही उत्कृष्ट साहित्य लिखने की प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त उस साहित्य का अन्य रूप में भी प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य में अनेक साहित्य विधाएँ विद्यमान हैं जो पहले हिन्दी में साहित्य में नहीं थी। लेकिन जैसे-जैसे हमारा साहित्यकार उन विधाओं से परिचित होता गया वैसे वैसे वह उन विधाओं का ग्रहण भी करता गया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में अनेक साहित्य विधाओं का उद्भव और विकास हुआ। जैसे हम यह कह सकते हैं कि कथा की प्रवृत्ति तो संस्कृत साहित्य में थी पर आधुनिक उपन्यास का स्वरूप संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता है। इस साहित्य विधा पर अवश्य ही अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव है। प्रसिद्ध समालोचक श्री शिवदानसिंह चौहान के मतानुसार आधुनिक उपन्यास का विकास योरुप में हुआ, भारत में नहीं।

हमारे साहित्य पर जहाँ एक ओर पाश्चात्य साहित्य विधाओं का प्रभाव पड़ा है वहाँ पाश्चात्य विचारकों का भी प्रभाव काफी मात्रा में पड़ा है। हिन्दी साहित्य में मार्क्सवाद (साम्यवाद) का प्रभाव अंग्रेजी के माध्यम से ही आया। फ्रॉयड, एडलर और युंग जैसे मनोविश्लेषकों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर काफी पड़ा है। टॉलस्टॉय, शेक्सपियर इब्सन, बर्नार्ड शॉ, टी० एस० इलियट डी० एच० लारेंस आदि का पर्याप्त प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा।

विधात्मक रूपों की दृष्टियों से हिन्दी नाटक पर विशेष रूप से अंग्रेजी नाट्य साहित्य का प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव विशेष रूप से इन दो रूपों में पड़ा है (१) रोमांटिक नाटक का प्रभाव। इसके अन्तर्गत विशेष रूप से शेक्सपियर और मौलियर का नाट्य-साहित्य आता है। (२) अंग्रेजी के समस्या नाटकों का प्रभाव। इसके अन्तर्गत इब्सन, शॉ, आस्करवाईल्ड आदि के नाटक आते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लक्ष्मीनारायण मिश्र पर अंग्रेजी प्रभाव को स्पष्ट करते हुए कहा— 'नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरुप से लाये हैं उसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है।' मिश्रजी ने पश्चिमी नाटककारों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए स्वयं कहा है ऊपरी आकार प्रकार, भाषा संवाद-व्यंग्य आदि पर अवश्य ही थोड़ा प्रभाव इब्सन और उसके बाद के नाटककारों का मेरे नाटकों पर पड़ा है पर

भीतरी भावलोक उनका भारतीय है कालिदास और भास की परम्परा म ही।" मिश्रजी के नाटका पर मिफ प्रभाव है, उन्होंने कोई चोरी नही की। विशेष बात यह है कि उनके नाटको के शिल्प-पक्ष पर ही प्रभाव पडा है, नाटका का भावलोक तो भारतीय ही है।

डॉ० रामचरण महेन्द्र के अनुसार हिन्दी एकाकी पर पाश्चात्य प्रभाव इस प्रकार पडा है—"इब्सन, शॉ, आदि पाश्चात्य एकाकीकारो का अनुकरण हमारे एकाकीकारों के लिए कई दृष्टियो से उपयोगी सिद्ध हुआ। इनके अनुकरण से उन्हें नए आदर्श मिले स्वाभाविकता और अभिनयशीलता की प्रवृत्ति जागृत हुई, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि उन्हें मनोवैज्ञानिक शैली प्राप्त हो गई तथा हिन्दी-एकाकियो म मानव-जीवन का आन्तरिक पक्ष सच्चाई से चित्रित होने लगा। एकाकी जीवन की सची हुई झाकी हो गया तथा उसकी व्यजना इतनी स्पष्ट हो गई कि वह कुतूहल के साथ-ही-साथ स्वाभाविकता और जीवन की सच्चाई की ओर सकत भी कर सका। उसमे वणनात्मक तत्व की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता होने लगी।"

आचाय रामचन्द्र शुक्ल ने पत जी के नाटक 'ज्योत्स्ना' पर शैली के नाटक का प्रभाव बताते हुए लिखा है—"अ ग्रेज कवि शैली के ढग पर श्री सुमित्रानन्दन पत ने कवि-कल्पना को दृश्य रूप देने के लिए 'ज्योत्स्ना' नाम से एक रूपक लिखा है। 'शैली के नाटको का नाम है ' Promethens Unbound 'शैली के इस नाटक की तरह पतजी का नाटक भी प्रतीति नाटक है। इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य मे स्वप्न नाटक 'अश्क' जी का छठा बेटा, (गीतिकाव्य), श्री उदयशकर भट्ट के 'मत्स्यगन्धा' विश्वामित्र, राधा, (भावनाट्य), श्री गोविन्द वल्लभ पन्त का अत पुर का छिद्र, (समस्या नाटक), श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र का सिन्दूर की होली, सन्यासी आदि अनेक नाट्य-रूप मिलते हैं और हमे इस बात को निस्सकोच रूप से स्वीकार करना चाहिये कि इन सभी नाट्य रूपा पर किसी न किसी रूप मे पाश्चात्य प्रभाव पडा है।"

डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार हिंदी एकाकी के क्षेत्र मे ये रूप मिलते हैं—१ सवाद या सम्भाषण रूप मे। २ मोनोड्रामा, (एक पात्री नाटक)। ३ फीचर। ४ फण्टेसी। ५ रेडियो प्ले। ६ झाकी। एकाकी के ये सभी रूप हिंदी साहित्य मे स्पष्टत पाश्चात्य साहित्य से आये हैं। मोनोड्रामा का परिष्कृत रूप सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ' मे मिलता है जिसमे आकाशभाषित के चार प्रयोग हैं। रेडियो के विकास के साथ-साथ रेडियो नाटक ने भी पर्याप्त विकास किया है। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का बे बात की बात एक प्रहसन है और श्री सुमित्रानन्दन पन्त का 'छाया एकाकी', छाया नाटक।' (Shadow Play) का सुन्दर नमूना है। 'अश्क' का अधी गली' एक नवीन

नागर के महाकाल' मे देखने को मिला। इसके बाद हिन्दी-उपन्यास साहित्य मे एक अन्य प्रवृत्ति आ गई जिसे आंचलिकता कहा जाता है। श्री उदयशकर भट्ट ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' मे बम्बई के समुद्र के किनारे रहने वाले मछुओ के जीवन का अकन किया। फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' जैसे सशक्त उपन्यासो मे विशेष अंचल का चित्राकन किया है। शैलेश मटियानी ने भी आचलिक उपन्यास लिखे है। उपन्यास के इन रूपो पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्टत मिलता है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना भी पाश्चात्य प्रभाव से युक्त है। रीतिकालीन आलोचना पर तो संस्कृत का प्रभाव है पर आधुनिक आलोचना संस्कृत प्रभाव के साथ-साथ पाश्चात्य प्रभाव को भी लेकर चली और चल रही है। हिन्दी से व्यावहारिक आलोचना का उदय ही पाश्चात्य प्रभाव को लेकर हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना पर संस्कृत का प्रभाव था, पर वे पाश्चात्य आलोचना से भी प्रभावित हुए। उन्होंने 'कवि और कविता' नामक निबन्ध मे मिल्टन के कवि आदर्श के आधार पर विवेचन किया है। आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना के विकास पर भी अंग्रेजी आलोचना का प्रभाव था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो पूर्णत भारतीय आदर्श व सिद्धान्तो को लेकर चले किन्तु उनकी समीक्षा पर शिल्पगत प्रभाव तो पाश्चात्य आलोचना का था। शुक्लजी ने अपनी आलोचना मे अंग्रेजी के कई आलोचको का उल्लेख यत्र-तत्र किया है और वह कई बार आई० ए० रिचर्ड्स से प्रभावित जान पड़ते हैं। डाक्टर श्यामसुन्दर दास के साहित्यालोचन पर तो पूर्णत पाश्चात्य आलोचना का प्रभाव पड़ा है। लीलाधर गुप्त और ए० पी० खत्री ने पाश्चात्य आलोचना का व्यापक परिचय प्रस्तुत किया है।

आज हिन्दी साहित्य मे यह प्रवृत्ति मिलती है कि साहित्य की परख पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्तो के आधार पर की जाती है। नाटक उपन्यास व कहानी के तत्त्व पाश्चात्य समीक्षा से लिए गए हैं। उनके आधार पर ही किसी विशेष कृति की समीक्षा की जाती है। क्रोचे के अभिव्यजनावाद अरस्तू के रेचन सिद्धान्त आदि का विवेचन हिन्दी साहित्य मे हुआ है। डॉ० नगेन्द्र ने तो रस-सिद्धान्त की परख अरस्तू के सिद्धान्त के आधार पर ही की है। इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक समीक्षा पर पाश्चात्य समीक्षा का प्रभाव पड़ा है और काफी गहरा असर पड़ा है।

आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण देन है प्रगतिवादी आलोचना। यह आधुनिक हिन्दी आलोचना समाजवादी दृष्टिकोण को लेकर आयी जिसके अनुसार साहित्य विशुद्ध कलात्मक अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। उसका [illegible] है समाज को बदलना। इस आलोचना पर [illegible] [illegible] [illegible]

है। श्री शिवदानसिंह चौहान और डॉ० रामविलास शर्मा ने इस दिशा में विशेष योगदान दिया है। मनोविश्लेषणात्मक आलोचना भी नयी आलोचना की देन है। यह व्यक्तिवादी आलोचना है। इस आलोचना में एकांगी दृष्टिकोण है और यह साहित्य की माप व्यापक आधारों पर नहीं कर सकती। इस आलोचना पर विशेषत फ्रॉयड का प्रभाव है पर एडलर व युंग का भी काफी प्रभाव है।

हिन्दी कविता भी पाश्चात्य साहित्य से बराबर प्रभावित रही है। अंग्रेजी कविताओं का हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु काल से ही होने लगा था जो कम आज तक जारी है। श्रीधर पाठक पर गोल्डस्मिथ का विशेष प्रभाव है। भारतेन्दु युग में नए काव्य रूप शोक-गीति (Elegy) का आरम्भ हुआ। अंग्रेजी के सॉनेट ओड लिरिक व अन्य काव्य-रूपों को भी हिन्दी काव्य में स्थान मिला। हिन्दी काव्य में बुद्धिवाद मानवतावाद राष्ट्रीयतावाद के उदय व विकास का बहुत कुछ श्रेय पाश्चात्य काव्य को है। द्विवेदी-युग की तीन विशेषताओं पर व प्रकृति चित्रण पर पाश्चात्य विचारधारा एवं अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। अवतारवाद की ऐतिहासिक व्याख्या अलौकिक एवं कपोलकल्पित कथानकों का परित्याग, मनुष्य का मनुष्य के रूप में समुचित आदर स्त्री-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी आन्दोलन, जन-सेवा द्वारा ईश्वर-प्राप्ति की भावना एवं राष्ट्रीयवाद के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक स्वरूपों का उदय और विकास, प्रतिवर्तनवादी दृष्टिकोण और अन्त में प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन आदि द्विवेदी-युगीन हिन्दी कविता की इन विशेषताओं की मूल प्रेरणा पाश्चात्य विचारधारा तथा अंग्रेजी साहित्य से ही मिला है।

अंग्रेजी का रोमांटिसिज्म ही कुछ अन्य प्रभावों और कारणों से प्रेरित होकर हिन्दी में छायावाद बनकर आया और अंग्रेजी का मिस्टिसिज्म ही हिंदी में रहस्यवाद बन गया। अंग्रेजी काव्य का निराशावादी स्वर हिन्दी काव्य में भी सुनाई पड़ता रहा है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त अपने काव्य पर पड़े हुए प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहते हैं—'पल्लवकाल में मैं उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी कवियों मुख्यत शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनीसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्य-बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है।

डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा का अभिमत है कि 'हिन्दी काव्य की शैली और रूप पर भी अंग्रेजी का इतना ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। काव्य की भाषा और शैली में अधिक अभिव्यंजना शक्ति लाने का प्रयास किया गया है। प्राचीन काव्य रूपों में परिवर्तन होने के साथ-साथ अंग्रेजी के नये काव्य-रूपों को भी अपनाया गया है। महाकाव्य और गीति-काव्य दोनों अंग्रेजी काव्य के

प्रभाव के परिणाम स्वरूप क्रान्तिकारी परिवर्तन किए गए हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के सम्बोधन गीति (Odes) सानेट और शोक गीति (Elegy), पर भी हिन्दी कवियो ने प्रयोग किये हैं। छन्द विधान मे भी अनेक परिवर्तन हुए हैं और अतुकांत एव मुक्त छन्दो का प्रयोग अबाध रूप से होने लगा है।"

छायावादी कविता के बाद हिन्दी म प्रगतिवादी कविता का उदय हुआ जो स्पष्टत कार्ल मार्क्स के साम्यवादी प्रभाव को लेकर हुआ। इसके बाद प्रयोगवादी कविता आयी। प्रयोगवादी कवियो का नेतृत्व श्री अज्ञेय ने किया। अज्ञेय व अन्य प्रयोगवादी कवि कई आधुनिक अंग्रेज कवियो से प्रभावित रहे है। उन पर विशेषतया टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेंस ऑडन व स्पेण्डर का प्रभाव है। जहाँ तक विचारधारा का सम्बन्ध है, वे मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित हुए हैं। अज्ञेय और गिरिजा-कुमार माथुर की कविता म अंग्रेजी कविता की भाँति फ्री थाट एसोसिएशन' और स्वप्न पद्धति का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओ पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव कई रूपो मे पड़ा है। यह प्रभाव है अनुकरण नही। अत कोई त्याज्य नही है। पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करके हिन्दी साहित्य बराबर बढ़ता रहा है और उसमे मौलिक सृजन भी हुआ है। आज तो यह प्रभाव कही अधिक वृद्धि पर दृष्टिगोचर होने लगा है।

२० | हिन्दी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियाँ

काल के प्रवाह के साथ-साथ हिन्दी कविता भी अपना रूप बदलती रही है। वीरगाथाकाल म रणभेरी का निनाद डिंगल भाषा मे सुनाई पड़ता था, भक्तिकाल मे राम और कृष्ण की सगुण भक्ति तथा निर्गुणियो की ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी उपासना के स्वर ब्रज और अवधि भाषा म सुनाई पड़े, रीति-काल म शृंगार की रुनझुन ब्रज भाषा मे सुनाई पड़ी उसी हिन्दी कविता ने आधुनिक काल मे प्रविष्ट होकर खड़ी बोली मे देशोद्धार और समाज-सुधार के गीत गाए। आधुनिक काल मे आकर हिन्दी कविता का रूप इससे पूर्व की कविता की अपेक्षा बिल्कुल ही भिन्न हो गया है।

आधुनिक युग का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हुआ है। भारतेन्दु के

समय हमारे समाज म एक महत्त्वपूर्ण क्रांति हो रही थी। पुरानी रूढ़ियों के बन्धन आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज की चोटों के कारण एक-एक करके टूट रहे थे। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के बाद हमारे देश मे शिक्षित वर्ग की भी आँखें खुल चली थी और लोग नवीन शिक्षा के प्रकाश मे प्राचीन अंधविश्वासों और कुरीतियों को हटाने के लिए कमर कस कर जुट गये थे। इस दिशा में बंगाल म राजा राममोहनराय ने और उत्तर-पश्चिमी भारत म महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अत्यन्त उपयोगी काम किया। साहित्य के क्षेत्र म यही काम भारतेन्दु ने किया।

भारतेन्दु काल मे हिन्दी कविता म समाज-सुधार की भावना ही सबसे बड़ी प्रेरणा थी। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध तीव्र विद्रोह का स्वर हमें भारतेन्दु युग मे सुनाई देता है। स्वयं भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी मंडल के अन्य सभी लेखक बड़े जिन्दादिल लोग थे। यद्यपि उस समय खड़ी बोली का बहुत परिष्कृत और व्याकरणसम्मत रूप तैयार नहीं हो पाया था, फिर भी उनकी भाषा भावाभिव्यक्ति मे अत्यन्त समर्थ है।

भारतेन्दु युग मे काव्य-सर्जन खड़ी बोली मे होने लगा था, परन्तु अभी प्रधानता ब्रज भाषा ही की थी। परन्तु भारतेन्दु के पश्चात् द्विवेदी युग में काव्य में पूर्ण रूप से ब्रज भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया था। इसी प्रकार पद्य की अपेक्षा गद्य का महत्व अधिक होता जा रहा था और गद्य के लिए ब्रज भाषा वैसे ही अत्यन्त अनुपयुक्त थी।

भारतेन्दु युग के बाद द्विवेदी युग प्रारम्भ हुआ। द्विवेदी युग म समाज-सुधार और देश प्रेम की भावना ने और भी अधिक जोर पकड़ा। कविता का उपयोग प्रचार और उपदेश के लिए अधिक होने लगा। इस काल मे मैथिली-शरण गुप्त ने 'भारत-भारती', 'जयद्रथ वध' इत्यादि इतिवृत्तात्मक काव्य ग्रन्थों की रचना की। दूसरी ओर अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' जैसे रचनाएँ लिखीं।

द्विवेदी युग मे यद्यपि हिन्दी कविता मे भाषा का परिष्कार हुआ व्याकरण के नियमों का भी पालन किया जाने लगा, किन्तु इस काल की कविता में शुष्कता और उपदेशात्मकता बहुत आ गई थी। द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया के रूप मे प्रसाद युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता सूक्ष्म का स्थूल के विरुद्ध विद्रोह कहा जा सकता है। इस काल के कवियों ने भाषा छन्द और भाव सभी दृष्टियों से पुरानी परम्पराओं का परि-त्याग कर दिया। द्विवेदी युग की भाषा यदि शुष्क नीरस और व्याकरण सम्मत थी तो इन नये कवियों ने जिन्हें छायावादी कवि कहा जाता है बंगला से प्रेरणा लेकर हिन्दी मे कोमल-कान्त पदावली का प्रयोग प्रारम्भ

किया। इससे भाषा मे पर्याप्त सरसता आ गई।

छायावादियो ने व्याकरण की भाँति छन्द के बन्धन को भी तोड डाला। भारतेन्दु युग मे कवित्त, सवैयो, दोहो तथा हिन्दी के अन्य मात्रिक छन्दो मे कविता होती थी। द्विवेदी युग मे सस्कृत के वर्णवृत्तो और हिन्दी के मात्रिक छन्दो मे कविता होती रही। परन्तु इन सभी मे छन्द का काफी बन्धन रहता था। छायावादी कवियो म से कुछ ने, जिनमें सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रमुख थे, केवल अतुकान्त छन्दो की रचना प्रारम्भ की अपितु इस प्रकार के मुक्त छन्दो का भी आविष्कार किया, जिनमे मात्रा, यति और गति का कोई बन्धन न था। केवल लय ही इस प्रकार के छद की प्राण थी और केवल कवि ही अपने ढग से गाकर सुना सकता था।

भावो के क्षेत्र मे भी छायावादी कवियो ने क्राति की। रवि बाबू की 'गीताजलि' तथा अन्य रहस्यवादी रचनाओ से प्रभावित होकर इन्होंने हिन्दी मे विषयी प्रधान मुक्तक काव्य-रचना प्रारम्भ की। इन कविताओ में कवि अपनी सुख-दु ख की भावनाओ और मनोरम कल्पनाओ का चित्रण करता है। कई बार इन छायावादी कवियो की भावनाएँ और कल्पनाएँ इतनी सूक्ष्म होती हैं उन्हे सामान्य भाषा मे प्रकट नही कर पाते इसलिए वह प्रतीक शैली का सहारा लेते हैं। प्रतीक-शैली का प्रयोग हिन्दी मे नवीन नही है। कबीर इत्यादि सत कवियो ने भी प्रतीको के प्रयोग किये हैं, किंतु छायावादी कवियो ने नये-नये प्रतीक चुने हैं। अनेक बार इनके प्रतीक दूर की कौडी बन जाते हैं और उनकी रचना का अर्थ बिना किसी प्रतिभाशाली टीकाकार की सहायता के समझ मे आ पाना असम्भव होता है।

छायावादी कवियो ने हिन्दी कविता को जो एक और नई वस्तु प्रदान की, वह थी—अमूर्त उपमाना का प्रयोग। छायावादी कवियो से पहले तक केवल मूर्त उपमानो का ही प्रयोग होता रहा था क्योकि साहित्य शास्त्र का यह नियम था कि उपमान लोक प्रसिद्ध होना चाहिए जिनके द्वारा उपमेय का अभीष्ट गुण सहृदय पाठक के मन मे चित्रित-सा हो उठे। छायावादी कवियो ने अमूर्त उपमानो का प्रयोग किया, जिससे उनके काव्य मे पर्याप्त सौन्दय-वृद्धि हुई। किन्तु इस सौन्दय का आनन्द अत्यन्त उच्च शिक्षित दार्शनिक लोग उठा सकते थे, जो पहले उन अमूत उपमानो की मूर्ति अपने मन में कल्पित करने और उस मूर्ति के सौन्दय द्वारा उपमेय के सौन्दय का बिम्ब ग्रहण करने मे समय थे। उदाहरण के लिए प्रसाद जी ने बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल' लिखकर बिखरी हुई अलको की उपमा अमूत तर्क-जाल से दी। अब सामान्य कोटि के पाठक के लिए इस उपमा का आनन्द उठा पाना कठिन है। प्राचीन कवि काले बालो की उपमा बादलो से या अधेरे से दे देते थे। उसमें सहृदय

पाठक को मस्तिष्क का व्यायाम नही करना पडता था। केवल उपमान को सुनते या पढ़ते ही उपमेय का बिम्ब ग्रहण हो जाता था। प्रभूत उपमानो के कारण छायावादी कविता जन-साधारण के लिए दुर्बोध्य हो गई और कही-कहीं इसके फलस्वरूप कविता का रस ले पाना विज्ञ सहृदयो के भी वश की बात न रही।

छायावादी काव्य की एक विशेषता यह थी कि यह सारी कविता दुःख, रुदन और पीडा से भरी हुई थी, आँसुओ से तर थी। आलोचको ने इसे पलायनवादी कविता भी इसी कारण कहा है। इसका यथार्थ से सम्बन्ध नही के बराबर था। जिस समय देश स्वाधीनता सग्राम मे जूझ रहा था उस समय छायावादी कवि आहें भर रहे थे और आँसुओ की धाराएँ बहा रहे थे। छायावादी रचनाओ मे कल्पनाओ की उडान तो बहुत ऊँची थी परन्तु उसका सत्य जगत से सम्बन्ध नही था। इसलिए बहुत शीघ्र छायावादी कविता अपना आकर्षण खो बैठी।

छायावादी कवियो मे केवल प्रसाद और पत ने ही एक एक प्रबन्ध काव्य लिखा—'कामायनी' और 'लोकायतन'। अन्य सभी कवियो ने निर्बाध रूप से मुक्तक काव्य ही रचे।

छायावादी युग मे भी अन्य बहुत से कवि छायावाद से भिन्न रचना कर रहे थे। इन कवियो ने छायावाद के फलस्वरूप हिन्दी मे ललित-मधुर भाषा का तो सदुपयोग किया, किन्तु छन्दो और भावो के सम्बन्ध मे वे स्वतन्त्र ही रहे। मैथिलीशरण गुप्त का साकेत और यशोधरा इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिनमे छायावादी भाषा का सा परिष्कार तो है, किन्तु भावो की अस्पष्टता नही है। श्यामनारायण पाण्डेय की हल्दी घाटी भी इसी काल की उत्कृष्ट काव्य रचना है जो भावो की दृष्टि से छायावाद से प्रभावित नही है।

छायावादी कवियो ने अपनी रचनाओ मे प्रकृति-वर्णन को प्रधानता दी। इन्होंने प्रकृति पर मानवीय भावनाओ का आरोप किया। प्रकृति मे मानवीय भावनाओ का आरोप करने से प्रकृति-वर्णन अधिक सुन्दर और सजीव हो सकता है जैसा जायसी के पद्मावत मे हुआ है। किन्तु छायावादी कवि अनुभूति प्रधान कवि थे निरीक्षण प्रधान नही। इसीलिए उनके प्रकृति वर्णनो मे प्रकृति की मनोरम छटा दिखाई नही पडती, बल्कि प्रकृति को सम्बोधित करके उनकी अपनी भावनाओं का अम्बार लगा दिखाई पडता है।

वर्तमान युग के कुछ कवियो ने अपनी रहस्यवादी रचनाओ मे आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना का दावा किया है। ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी कवियों ने भी आध्यात्मिक प्रेम की कविताएँ लिखी हैं। किन्तु उन कवियों का जीवन उनकी

रचनाओं में वर्णित भावनाओं के अनुरूप ही साधनामय था जबकि हमें आधुनिक रहस्यवादी कवियों में उस साधना का नितांत अभाव दिखाई पड़ता है। इसलिए कई बार यह संदेह होता है कि इनके ये आध्यात्मिक प्रेम के वर्णन केवल कल्पना की उड़ानें हैं। फिर भी कहीं-कहीं ये कल्पना की उड़ानें भी सुन्दर बन पड़ी हैं।

प्रसाद युग की समाप्ति पर कुछ समय तक 'बच्चन' ने अपनी मस्ती भरी कविताओं द्वारा हिन्दी पाठकों को सम्मोहित-सा किये रखा। बच्चन की कविताएँ तीव्र अनुभूति से भरी हुई थीं। उनकी भाषा स्फटिक की भाँति स्वच्छ और सरल थी। उनका अर्थ सुनने के साथ ही स्पष्ट हो जाता था और पाठक के हृदय को आच्छन्न कर लेता था। बच्चन की रचनाओं पर 'उमर खैय्याम' का गहरा प्रभाव था। कुछ आलोचकों ने 'बच्चन' की रचनाओं को 'हालावाद' का नाम दिया है और लिखा है कि 'उमर-खैय्याम की तरह बच्चन' भी हाला, प्याला और मधुबाला के गीतों में मस्त रहे।

छायावाद की प्रतिक्रिया अत्यन्त तीव्र हुई। जनता ऐसा साहित्य चाहती थी कि उसके जीवन की समस्याओं से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो। इस माँग की पूर्ति के लिए प्रगतिवादी चेतना सामने आयी। प्रगतिवाद जीवन की कठोर समस्याओं को उनके नग्न रूप में चित्रित करने का ध्येय लेकर चलता है। प्रगतिवाद न केवल छायावाद की प्रतिक्रिया है, अपितु यह समस्त प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह है। अतः जो कुछ राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद है वही साहित्य में आकर प्रगतिवाद बन गया है।

प्रगतिवादी रचनाओं की विशेषता यह है कि वे जन-साधारण के लिए लिखी जाती हैं। प्रगतिवाद से पूर्व साहित्य सामन्ती परम्पराओं में पले शोषक वर्ग के मनोरंजन का साधनमात्र रहा है। प्रगतिवादी साहित्य जनता का साहित्य है। इसलिए वह जनता की सरल और सुबोध भाषा में लिखा गया है भले ही उसमें परिष्कार और परिमार्जन कम हो। इस साहित्य में जनता के वास्तविक जीवन का चित्रण हुआ है भले ही वह कितना ही कुत्सित और कुरूप क्यों न हो। छायावादी कवि दुःख और दैन्य के मध्य रहता हुआ भी सुख और सौन्दर्य के स्वप्न देखा करता था किन्तु प्रगतिवादी वास्तविक जगत के दुःख और दैन्य को ही स्पष्ट रूप में अंकित करता है, यह यथार्थवादी है।

छायावादी कवि 'कला को कला के लिए' मानने थे प्रगतिवादी लेखक कला को जीवन के लिए मानता है। किन्तु आजकल अनेक प्रगतिवादी लेखक ऐसे हैं जो कृषकों और श्रमिकों के जीवन से बिना घनिष्ठ सम्पर्क में आए ही उस जीवन के बड़े दुःख भरे और दर्द भरे चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अधिकांश चित्र लेखक ने अपने ऐश्वर्य से भरे घर में बैठकर अंकित किये होते हैं।

ऐसे प्रगतिवादी साहित्य में यथार्थ का नाम भी नहीं होता। इसलिए वह पाठको को रसमग्न नही कर पाता।

कविता मे छन्दो के सम्बन्ध मे प्रगतिवादी कवि, छायावाद से भी एक कदम आगे हैं। छायावादी कवि मात्रा, यति, गति के बन्धन को तोडकर भी लय का तो ध्यान रखते थे, परन्तु प्रगतिवादी कवि मानते हैं कि इस एक बन्धन को रखने की भी क्या आवश्यकता है? प्रगतिवाद के कारण कविता का कलापक्ष बहुत विकृत हो गया है। प्रगतिवादी लेखको मे काव्य-साधना का अभाव है। वे केवल प्रतिभा के बल पर उडना चाहते हैं।

आधुनिक काल मे आकर प्राचीन अलकारो का प्रयोग बहुत कम हो चला है। इसका कारण अशत यह है कि आधुनिक लेखक प्राचीन काव्य ग्रन्थो और रीति ग्रन्थो का अवगाहन किये बिना ही काव्य रचना प्रारम्भ कर देते हैं। साथ ही अशत यह कारण भी कहा जा सकता है, कि हमारा आधुनिक साहित्य पाश्चमी साहित्य से अधिक प्रभावित हो रहा है और अपने प्राचीन साहित्य से कम।

बिना पर्याप्त अध्ययन और काव्य-साधना के काव्य-रचना प्रारम्भ कर देने का दुष्परिणाम यह होता है कि भाषा मे व्याकरण की त्रुटियाँ पर्याप्त रहती हैं यहाँ तक कि विराम चिन्हो तक का प्रयोग समुचित नही होता। आजकल हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक से एक नवीन प्रयोग किए जा रहे है। इस प्रकार की कविताओ को प्रयोगवादी कविता कहा जाता है। इनमे से बहुत सी तो विदेशी साहित्य का अनुकरण भर होती हैं।

हिन्दी कविता को यदि सुपथ पर लगाना अभीष्ट है तो उसके लिए नई पीढी के लेखको से हमारा अनुरोध है कि वे कुछ भी काव्य रचना करने से पूर्व पुराने साहित्य-ग्रन्थो का भली भाँति अध्ययन करें, और उसके उपरान्त चाहे जैसे नये-नये प्रयोग करें। उसी दशा में उनके नवीन प्रयोग साहित्य के लिए मूल्यवान् सिद्ध होंगे।

२१ | क्रांतिकारी कवि कबीर

एक लोकोक्ति है कि 'जब बाड़ ही खेत को खाने लगे तो फसल की कुशलता की कोई आशा शेष नही रह जाती।' ठीक यही दशा थी हमारी सामाजिक व्यवस्था की, जब कबीर जनसाधारण के सामने आए। जो सिद्धान्त और

नियम धम के रक्षाथ बने थे वही अब उसके ध्वस का कारण बन रहे थे। धम की आत्मा कभी की जाने कहाँ प्रस्थान कर चुकी थी। किन्तु समाज उसकी व्यवस्था तथा मान्यताओ को ठीक उसी प्रकार कलेजे से चिपकाए था जिस प्रकार ममता की मारी गाय अपने मृत बछडे की खाल को भी चाटती रहती है। 'निबल के बल राम' का अब धनिको और पाखण्डियो के बल के रूप म प्रयोग हो रहा था। क्लेश-युक्त था मानव। वह भटक रहा था अपनी व्यथा भार लिए। उसे समझ नही आता था वह किससे कहे, कौन सुनेगा उसकी पीडा को। ऐसे समय म कबीर सामने आए। कबीर ने अनुभव किया मानव की पीडा को। उसके दु खो को स्वय अनुभव करके कबीर उसका निदान खोजने की चिन्ता मे ही जाग और रोए जबकि ससार सुख मे मस्त खाता और सोता था। समाज की फसल के इस कुशल रखवाले कबीर ने पैनी दृष्टि से तत्कालीन अव्यवस्था को देखकर घोषणा कर दी कि यह बाड अब खेत को खाने लगी है अत इसे उखाड कर फेंक दो। इस प्रकार आरम्भ मे ही एक प्रश्न उठता है कि-कबीर क्रान्तिकारी रूप मे ससार के सामने क्यो आए ?

जहाँ तक कबीर की व्यक्तिगत परिस्थितियो का प्रश्न है, चाहे उनके जन्म के विषय मे विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होने और जुलाहा दम्पती द्वारा पाले जाने वाली कथा सत्य हो अथवा यह सत्य हो कि वह भ्रष्ट हिन्दू और भ्रष्ट मुसलमानो की बनी जुगी जाति मे उत्पन्न हुए किन्तु इतना निर्देश दोनो ही घटनाएँ करती हैं कि उन्हें अपने जन्म के विषय मे समाज से घृणा, तिरस्कार, अपमान व अवहेलना ही मिली। इन सबने मिलकर तत्कालीन समाज के प्रति घृणा विद्रोह की भावना को कबीर के हृदय मे गहराई से जमा देने मे सहारा दिया। कबीर की शिराओ मे हिन्दू तथा मुसलमान दोनो जातिया का रक्त प्रवाहित हो रहा था। उन्हें उभय सस्कार प्राप्त थे। वे दोनो जातियो की दुबलताओ को जानते थे। अत जब दोनो ही जातियो ने उन्हे ठुकराया तो कबीर भला चुप कैसे रहते। दोनो को ही कुछ ऐसे जोरदार शब्दो मे फटकारा मानो कबीर स्वय इन दोनो से ऊँचे धरातल पर खडे हो

"हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।"
"अरे इन दोऊन राह न पाई।"
'जो तू तुरकोन आया। तो भीतर खतना क्यों न कराया।"
'जो तू ब्राह्मण ब्राह्मनी आया। तो आन बाट से क्यों नहीं आया।"

कबीर जानते थे समाज से बहिष्कृत व्यक्ति की पीडा को। कितनी ही बार समाज के द्वारा ठुकराये जाने के कारण वह इस पीडा की गहराई स्वय अनुभव कर चुके थे। अत इन्होने साफ कहा कि मानव जाति ही ससार में

मनुष्या के लिए एकमात्र जाति है। केवल ईश्वर ही हमे इस जाति से बहिष्कृत कर सकता है। वह मनुष्यो को मनुष्य ही मानते थे। इससे कम बढ कुछ नही। यही कारण था कि उनका झुकाव अधिक अद्वैत की ओर था। किन्तु क्या कबीर की केवल व्यक्तिगत परिस्थितियाँ ही उनके क्रांतिकारी वचन के लिए उत्तरदायी हैं ?

वास्तव मे बात ऐसी नही है। कबीर ने जब मनुष्य मनुष्य को एक ही माना तो सभी की पीडा उनके लिए अपनी पीडा बन गई और वह उसका निदान करने मे लग गये। समाज मे त्राहि-त्राहि मची थी। रीतियाँ जीवन के लिए विकास और रक्षक होती है, अब समय वह था जब जीवन का बलिदान रीतिया के लिए हो रहा था। कबीर ने देखा कि सदाचार केवल कल्पना का विषय रह गया था। धम पुस्तका का मनमाना अथ निकलकर साधारण वग को बहकाया जा रहा था। भगवान का शासन सूत्र ब्राह्मणो और मुल्लाओ के हाथो म था। अत वे उसे जिस ओर चाहे मोड सकते थे। पडित और मुल्ला अपने-अपने धम के बाह्याडम्बरो के आधार पर लोगो को अपने वस म किए हुए थे। ब्राह्मणत्व के मद मे मत्त ब्राह्मण और राजसत्ता के नशे म मदहोश मुल्ला साधारण वग को कुचलने म लगा था। कबीर ने यह सब देखा। जन जन की पीडा का अनुभव किया। यही था कबीर के जीवन का वह अध्याय जिसके विषय मे कबीर स्वय ही कह उठे—

'दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।'

पर रो धोकर ही चुप रह जाने वाले कबीर न थे। उन्होने इसका उपाय सोचा। कबीर जानते थे कि तत्कालीन परिस्थितिया मे किसी भी प्रकार की नई व्यवस्था को लागू करना और झझट फलाने के अतिरिक्त कुछ न होगा। अत उन्होने सहज मानव धम के मदिर के निर्माणाथ इस झाड झखाड को साफ करने का निश्चय किया।

मुल्लाओ और पण्डिता म आचरण हीनता थी। कबीर ने शेर को उसकी माद मे पछाडा—आचरण पर बल दिया। इस बहाने पण्डिता और मुल्लाओ को वह फटकार दी कि उनसे उत्तर न बन पडा बेचारे तिलमिलाकर रह गये। कबीर के व्यग्य इतने तक्पूण और सबल होते थे कि उत्तर देना सम्भव ही न हो पाता होगा। कबीर ने जनसाधारण को उसकी भेड चाल के लिए फट कारा। अधानुकरण कबीर को असह्य था। उन्होने किसी को धम पुस्तका का मनमाना अथ निकालने का अवसर ही नही दिया। साफ कह दिया कि पुस्तका मे ज्ञान नही ज्ञान तो अनुभव का विषय है। जीवन पुस्तका म अनुभवो के अध्यायो को उन्होने स्वय पढा और दूसरो को भी उसी ओर जाने का निर्देश

किया —

पोथि पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ सो पंडित होय।'

कबीर ने उस समय के तथाकथित धर्मों के मूल आधारों पर चोट की। उन्होंने देखा कि हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा नींव का पत्थर है— वर्ण-व्यवस्था। यह व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन थी तथा समाज को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए विभिन्न वर्ण दे दिए गए थे। समाज को एक जीवित मनुष्य का ढांचा मानकर यह व्यवस्था बनाई गई थी। किन्तु कालान्तर मे यह सब वर्ण कर्म से नही माने जाने लगे। क्योंकि ब्राह्मण समाज के मुख्य थे अत जो उन्होंने कह दिया वह मान लिया गया और इस प्रकार दशा बिगड चली।

कबीर एक अनुभवी डाक्टर बनकर समाज के रोगी को देखने आए किन्तु उन्होने बडी विचित्र अवस्था पाई। उन्होंने देखा कि एक नही सभी अंग इस शरीर के निस्पन्द हो गए है। पैर (शूद्र) काट भी डाले जाएँ तो मुख (ब्राह्मण) से उफ तक नही निकलती। न भुजा आदि ही उसकी रक्षार्थ आगे बढ़ते है। किसी भी अंग की कुछ दशा हो दूसरे अंग निश्चेष्ट हैं। ऐसी स्थिति देखकर कबीर नामक समाज के नये डाक्टर ने इस समाज रूपी पुरुष के मृत्यु होने की घोषणा कर दी और स्वय ही दाह कर्म की भी तैयारी आरम्भ कर दी।

हिन्दू धर्म की नींव का एक और पत्थर था आश्रम-व्यवस्था। किन्तु कबीर ने देखा कि यह व्यवस्था भी कुछ कम बाधक नही है मनुष्यता के मार्ग मे। जीवन के पचास वर्ष अकर्मण्य रहकर समाज के ऊपर भार बनकर रहना कबीर की दृष्टि मे नही जचा। कबीर के अनुसार तो जीवन भर कर्मरत रहना चाहिए। जीवन कर्म करने के लिए बना है। अत इसका क्षण मात्र भी व्यर्थ खोने के लिए नही है। कबीर ने संन्यासियों के गैरिक वस्त्रों को भी आडम्बर मे ही स्थान दिया—

मन न रगाये रगाये जोगी कपरा
कपरा रगाये जोगी जटवा बढ़ौले।'

इस प्रकार उन्होंने आश्रम व्यवस्था को भी व्यर्थ मानकर उसका स्पष्ट विरोध किया।

हिन्दू धर्म मे ईश्वर प्राप्ति की साधना के रूप मे व्रत उपवास मूर्ति पूजा आदि का महत्त्व था। ये मान्यताएँ जीवन के आदर्श को लक्ष्य मानकर आदि साधन रूप मे बनाई गई थी। किन्तु बाद मे लोग इसके सही प्रयोग को

भूल बैठे और लक्ष्य भ्रष्ट होकर इन्ही को अपना लक्ष्य मानकर चलने लगे। कबीर ने एक ओर तो देखा लक्ष्य से भटके हुए लोगों का यह थोथा कर्मकाण्ड और दूसरी ओर देखा शाक्तो के विभिन्न प्रकार के वाह्याडम्बरो और वामाचारों का। एक ओर प्रतिमा-पूजक घण्टी की टन-टन तथा कीर्तन की झाँझ मे मस्त होकर अपने लक्ष्य को भुला बैठे थे तो दूसरी ओर मदिरा पी-पीकर मतवाले हुए शाक्त वर्ग धर्म की आड मे वामाचार और दुराचार मे ही जीवन के आदर्श की सिद्धि का दर्शन कर रहे थे। कबीर ने ऐसे मतवालो को अपने तीव्र व्यग्य की ठोकर मारकर जगाने का व्रत लिया। उन्होंने अपने पदो और साखियो द्वारा इन व्रत-उपवास, मूर्ति पूजा आदि के खोखलेपन को स्पष्ट किया।

कबीर ने इस्लाम को भी नही छोड़ा। कुरान, रोजा नमाज आदि का जी खोलकर विरोध किया। उन्होंने देखा ऐसा लोगो की बडी सख्या थी जो कोई कुकर्म करके भी रोजा, नमाज आदि के निवाह के पश्चात स्वय को इस्लाम की छत्र-छाया मे सुरक्षित समझते थे। कबीर यह सब सहन न कर सके और मुसलमान समाज को जी भर कर बुरा-भला कहने के अतिरिक्त उनके पास चारा ही क्या था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने समाज अथवा धर्म की किसी भी व्यवस्था को वैसा नही रहने दिया जैसे कि वह चली आ रही थी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विप्लव की एक लहर दौड़ा दी। समाज की प्रत्येक पुरानी व्यवस्था को तोड़ा और उसे समाप्त करने का अनवरत प्रयत्न किया। किन्तु यह सब किस लिए? क्या वह कोई अपनी ओर ही से नई योजना लेकर आए थे। नही ऐसा तो नही पाते कि कबीर ने अपनी कोई नई धर्म-व्यवस्था दी हो तो फिर क्या कबीर केवल तत्कालीन समाज और धर्म के नष्ट करने के विचार से आगे बढे थे? ऐसा भी नहीं है। उनके द्वारा किए गए विनाश में निर्माण की झलक स्पष्ट मिल रही थी। निर्माण हुआ भी, किन्तु किसी पन्थ विशेष अथवा धर्म विशेष रूप मे कोई नया ढाचा नही बनाया गया। कबीर धर्म बनाने के पक्ष में भी नहीं थे। उनका कहना था कि धर्म ईश्वर प्रदत्त है। धर्म को किसी से सीखने जाने की आवश्यकता नही। सहज कर्म ही, जो हम मनुष्य होने के नाते करते हैं सबसे बडा धर्म है। कबीर ने बताया कि मनुष्य ही एकमात्र जीवन का साध्य विषय है। अत हमारा प्रत्येक कर्म, हमारी हर व्यक्तिगत साधना उस उच्चतम जीवन के साधनस्वरूप होनी चाहिए। कबीर ने कुछ नई बात नही कही अपितु सहज धर्म पर वेद पुराण आदि का जो आवरण पड गया था उसे हटाकर मानव मात्र को उस सहज धर्म के दर्शन भर कराये हैं। यही उनकी सफलता का चरम सार और रहस्य है।

जायसी की काव्य साधना

जब ईश्वर के दरबार में भावुकता, कल्पना और कवित्व बट रहे थे तब ही रूप-सौन्दर्य से तिरस्कृत कवि ने हाथ बढ़ा दिया, उसका अंचल ऊपर तक भर गया कल्पना के रत्नों, भावुकता के मोतियों और कवित्व के माणिक्यों से। वह कवि था कौन ? वह था एक सरवन एक आँखि' तज देने वाला जायसी।

जायसी मुसलमान होकर भी हिन्दी के कवि ही नहीं महाकवि हैं। उनकी प्रतिभा देखकर हम आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। यों तो समय-समय पर अनेक मुसलमान कवियों ने भारतीय काव्य संगीत की स्वर साधना की है किन्तु इतना ऊँचा, सुरीला, मधुर और मोहक कण्ठ किसी अन्य को नहीं मिला।

जायसी कुशल प्रबन्धकार थे। विरह ही सूफी कवियों की साधना है और कथा ही उनकी शैली है। कथा में भी विशेष रूप से प्रेम कथा और वह भी एक सघन-संकटों वाली कथा ही अपनाते हैं जो आध्यात्मिक संकेतों में सहायक हो सके। जायसी नैसर्गिक कथाकार थे—उनकी कथा में औत्सुक्य, रोचकता वर्णन कौतूहल, जिज्ञासा, भय, शंका आदि तत्त्वों का सुन्दर समावेश है। शुक्ल जी की 'मार्मिक स्थलों की पहचान' वाली कसौटी पर भी वे खरे उतरते हैं।

पदमावत के महाकाव्य पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वह काव्य लगभग सभी विशेषताओं को पूरा करता है। उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय धीर ललित धीरोदात्त दक्षिण नायक है महान कथा है छन्द के नियम का निर्वाह है अष्टाधिक प्रसंग और विषयानुकूल शीर्षकों के रूप में सर्ग हैं, काम मोक्ष की प्राप्ति उसका लक्ष्य है एक महान् अभियान है महान् अभ्युदय है, सज्जन प्रशंसा और खल निन्दा है, स्तुति है नाट्य सन्धियाँ हैं रसराज प्रधान तथा अन्य रस क्रोड में हैं प्रभात, रजनी, सन्ध्या, शैल, सरिता, नगर, वन, दुर्ग आदि का वर्णन भी है और सबके बाद एक महान् उपसंहार है। किन्तु फिर भी उसमें महाकाव्य जैसी महान् प्रेरणा नहीं है, युग के ओर-छोर को छू लेने वाली, देशकाल की सीमाओं से परे चिरन्तन शाश्वत हिलोर भरने वाली सशक्त स्पन्दन चेतना नहीं है। ग्रन्थ में ऐसे कुछ अभाव हैं जो उसे महाकाव्य नहीं बनने देते उसमें एक महती, महिमामयी आन्तरिक चेतना की कमी है। उद्देश्य वैयक्तिक अतः संकुचित है। महान् राष्ट्रीय या सांस्कृतिक सन्देश उसमें नहीं मिलता है। रत्नसेन के चोरी-चोरी दुर्गारोहण और राम के स्वेद सिंचित मुख मण्डल से भव तानकर सेतु बन्धन के लिये सागर को ललकारने में कोई समता ही नहीं है। न पद्मावत में, मानस की भाँति भिन्न भिन्न वर्ग, न व्यापक लक्ष्य, न वैसी

विराट पृष्ठभूमि है। अत सुन्दर प्रबन्ध काव्य होकर भी वह मानस जैसा श्रेष्ठ महाकाव्य नही है।

जायसी के दर्शन म उनकी मान्यताएँ सूफी होकर भी इस्लाम से प्रभावित हैं। आखिर सूफी मत इस्लाम की ही तो एक शाखा है। बाह्याडम्बरो में न सही कुरान और पैगम्बर मे उनका अटूट विश्वास है। 'खुदा' की कल्पना उन्होने सब शक्तिमान अनादि अनन्त अजन्मा और निर्विकल्प के रूप म की है। जीव को ईश्वर अश जीव अविनाशी की भाति 'सोई अक घट घट मेला' भी कहा है और इसी तत्व का पोषक सूत्र है पिण्ड हृदय मे भेंट न हुई। जायसी माया को भी मानते हैं और उसके तीन रूप हमारे सामन रखे हैं ऐन्द्रिय भोग, विघ्न अहकार जिन्हें क्रमश नागमति राघवचेतन और अलाउद्दीन पर घटाया गया है।

जायसी ने प्रकृति का चित्रण विशद और व्यापक रूप मे किया है। यहाँ वे वदान्त की अपेक्षा सांख्य के अधिक समीप दिखाई पडते हैं, जिसमे पुरुष और प्रकृति की महिमा समान है। यहा प्रकृति अपने दोनो रूपो मे चित्रित ह। जड रूप मे प्रकृति को उस अलौकिक सत्ता का दपण माना गया है और चेतन रूप मे प्रकृति सुन्दरी को उस परम पुरुष की प्रतीक्षा मे उत्सुक श्रृंगारमयी, अनुरागमयी नायिका के रूप मे और विरह म तडपते रुदन करते हुए भी। प्रकृति वर्णन की शलियो मे आलम्बन उद्दीपन उपदेश रूप के अतिरिक्त जायसी की सबस बडी विशेषता प्रकृति का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रूप मे उसे घटाना है। जायसी के षडऋतु वर्णन और बारहमासा तो अद्वितीय है ही जिनमे प्रतिमास होने वाले ऋतुगत वर्णन का सुन्दर चित्राकन किया गया है और विरहिणी के मानस पट पर उसकी सूक्ष्म प्रतिक्रियाओ को भी प्रकट किया गया है।

विरह जायसी की साधना का एक अग है। अत विरह के लिए उनके हृदय म आतरिक श्रद्धा है, दाशनिक प्रेरणा है और साहित्यिक अभिरुचि भी। यह विरह इतना व्यापक और विराट है कि कभी हम इसके व्यापकत्व पर चकित विस्मित होत हैं कभी मुग्ध हो उठत हैं और कभी त्रस्त और भयभीत। यह विरह मानव के पिंजर म ही बद्ध न रह कर समस्त सृष्टि के अगा-उपागो मे फल जाता है—इसका ताप असह्य है। ज्वलनशीलता अपरिमित है। विरह के शास्त्रीय पक्ष मे पूवराग मानहतुक और प्रवास हेतुक तीनो प्रकार उपलब्ध हैं। विरह का मनोवज्ञानिक पक्ष भी है और उसम विभिन्न मनोदशाएँ चित्रित की गई है। पद्मावती, नागमती और रत्नसेन सबका विरह अलग-अलग कोटि का है। मातृ हृदय की वेदना भी है जिनम सूर तुलसी जैसी मार्मिकता और सूक्ष्मता न होते हुए भी एक बार हमे यशोदा और कौशल्या की याद आए बिना नही रहती। जायसी ने भारतीय और फारसी पद्धति का समन्वय करके

स्त्री-पुरुष दोनो का विरह चित्रित किया है। प्रेम उभय पक्षीय है। विरह-निरूपण मे चमत्कारिता होते हुए भी स्वाभाविकता और मार्मिकता है। जायसी का विरह ताप प्रधान है और उन्हें उसका आधिक्य प्रकट करने के लिए अत्युक्ति का सहारा लेना पडा है किन्तु यह विरह अत्युक्ति पूर्ण होकर भी हास्यास्पद नही हो गया है। यह विरह अकर्मण्य और हाथ-पर हाथ धरे रहने वाला विरह नही है सात समुद्र पार करा देने वाला और पालकी मे बैठकर छल बल से शठे शाठ्य समाचरेत् का पाठ दोहराकर पति को कारागृह से छुडा लाने वाला कर्मण्य विरह है। जाने या अनजाने विरह की शास्त्रानुमोदित एकादश अवस्थाएँ भी इसमे आ गई हैं। इस विरह की त्रिवेणी मे लोक, शास्त्र और दर्शन 'अध्यात्म' की तिरगी रसधारा है।

शुक्लजी ने जायसी के रहस्यवाद को रमणीय और सुदर अद्वैती रहस्य-वाद कहकर सम्मानित किया है। निसन्देह यह रहस्यवाद अनेक स्थलो पर उच्च-कोटि की भावना तक पहुचा देता है। दार्शनिको द्वारा निरूपित तीनो तत्त्व जीव, ब्रह्म और प्रकृति को उन्होने माना है और योग को भी अपनाया है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद भी दो प्रकार का है—साधनात्मक और भावात्मक। किन्तु जायसी मे योग का बहुत अधिक आग्रह नही है वह प्रबन्ध का अग बनकर कथाक्रम मे पच गया है और प्रसगो को रोचकता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से बचे रहने के कारण दुरूहता और जटिलता के दोष से भी दूर है। उनका यह साधनात्मक रहस्य-वाद सहज और सरल है अधिक उल्टवासियो के जाल मे फसा हुआ नही है। रहस्यवाद की व्यजना सभी कवियो ने माधुर्य भाव से की है, जायसी ने भी इसे ही अपनाया है किन्तु फारसी शैली या पद्धति के अनुसार जीव को पुरुष रूप और ब्रह्म या प्रज्ञा बुद्धि को नारी रूप मे अकित किया है। प्रबन्धकार होने के नाते इन्होंने अपना रहस्यवाद कथा के सहारे और उसमे भी रूपक शैली और प्रतीक शैली के माध्यम से प्रकट किया है। जायसी के प्रतीक दो प्रकार के हैं—एक तो स्थिर जो आदि से अन्त तक एक से रहते है दूसरे अस्थिर जो प्रसगानुकूल नये अर्थ देने लगते है। प्रतीको की इस अस्थिरता के कारण जायसी मे दुरूहता और जटिलता का दोष आ गया है। रूपक शैली मे उन्होंने साग निरग अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति और साध्यवसान रूपक को अपनाया है।

जायसी की प्रेम-भावना अत्यन्त गहन और मधुर तथा सौंदर्य भावना अत्यन्त निखरी हुई है। प्रेम के क्षेत्र मे वे लौकिक प्रेम अलौकिक तक इश्क-मजाजी से इश्क हकीकी तक पहुचते हैं। सौंदर्य के क्षेत्र मे वे लौकिक सौंदर्य (हुस्नमिजाजी) से पारलौकिक (हुस्न हकीकी) का आभास देते हैं।

पद्मावती के लौकिक सौंदय के द्वारा वे उस अलौकिक सौंदय को प्रतिभासित करते हैं जिस तक पहुँचना साधक का लक्ष्य है। जायसी का ध्यान शीलगत या स्वभावगत सौन्दय की ओर ही अधिक रहा है। लौकिक मे दो रूपा—नारी और पुरुषो म नारी सौन्दय का चित्रण ही प्रधान है, पुरुष का नहीं। नारी सौन्दय मे भी केवल गोर वण का सौन्दय है श्यामल सौन्दय की कुछ अवहेलना सी कर दी गई है यद्यपि रत्नसेन ने अपनी सांवरी गोरी जोड़ी को सोने और चांदी के महलो मे रखा है। सौन्दय के लौकिक वणन ही वे अलौकिक सकेत करते चलते हैं— वेनी छोर झार जो बारा सगर पतार भयेउ अधियारा और 'जग डोलत नैंनाहा' कहकर वे हम एक अतीन्द्रिय, अलौकिक सौन्दय की भावना मे निमज्जित कर देते हैं।

सौन्दय-प्रेम का प्रेरक बनकर आया है। जायसी मे प्रेम की तीन कोटिया स्पष्टत परिलक्षित होती हैं—रूप, लोभ, रूपनिष्ठ या विशेषोन्मुख प्रेम और आध्यात्मिक प्रेम की अत्यन्त उच्च स्थिति। यहाँ प्रम सूर, विद्यापति के सदृश साहचयजन्य रूप मे न होकर गुण श्रवण द्वारा उत्पन्न हुआ प्रेम है। अत रत्नसेन का एकदम दौड़ना आध्यात्मिक दृष्टि से ठीक होकर भी लौकिक दृष्टि से अस्वाभाविक हो गया है। प्रेम की भावना का साहित्य मे परिपक्व रूप ही शृगार रस है। जायसी के काव्य मे शृगार का उभय पक्ष है किन्तु विप्रलम्भ का प्राधान्य है। सयोग मे नाना मन स्थितियो का अकन नही।

जायसी ने नख शिख निरूपण न करके फारसी पद्धति के अनुसार शिख-नख निरूपण किया है। एक-एक अग का क्रम पूण वर्णन तो है किन्तु पुनरुक्ति अधिक है जिससे प्राय ऊब-सी हो जाती है। इस क्षेत्र मे उनकी उत्प्रेक्षाएँ अनूठी हैं पुरानी उक्तियो मे भी नया चमत्कार है। कुछ नवीन उक्तियाँ भी हैं। नख-शिख के दपण मे प्रकृति के सौदय ने भी झलक कर मानो सुवण को सुगन्धित कर दिया है। उनकी यह छवि विन्यासी तूलिका, काव्य कला की उच्चता और सौन्दर्यानुभूति, दोनो ही दृष्टियो से सराहनीय है।

जायसी की रुचि अलकारो के प्रयोग की ओर भी अधिक दिखाई देती है। छद का प्रवाह निर्दोष और सुन्दर है। प्रबन्ध के लिए एक छंद का निर्वाह उपयुक्त ही है। कथा के रस से वह सरस बना रहा है। रसों मे रसराज तो प्रधान है ही वीर, शात, अदभुत करुण, बीभत्स और स्मित हास्य के भी स्थल हैं। जायसी रससिद्ध कवि थे इसमे कोई सदेह नही। रस की परिपक्वता के बिना उनका काव्य आध्यात्मिक सदेश ही कैसे दे सकता था।

जायसी के भाषा-सौदय न श्रेष्ठ भाषाविद डा० ग्रियसन को भी, लोक भाषा मे इतनी भावाभिव्यजकता देखकर आश्चयचकित कर दिया था।
मे ग्राम-सारल्य के साथ एक अनोखी अल्हड़ता है मार्मिक भावा-

भिव्यजन है। भाषा तीनों गुणों—ओज, माधुर्य और प्रसाद से पूर्ण है और मुख्यत अभिधेयार्थ होते हुए भी लक्षण-व्यंजना का पूर्ण उत्कर्ष भी उसमें है। देशज और प्रान्तीय शब्दों के प्रयोग से भाषा में एक विशेष माधुर्य फूट पड़ा है। भाषा में फारसी प्रयोग भी है और क्रियापदों का प्रयोग भी कहीं-कहीं उसी के अनुसार है अत उनकी भाषा बोल चाल की होकर भी साहित्यिक है—पाण्डित्यपूर्ण है।

जायसी ने यहाँ की संस्कृति को पचाने का जो प्रयत्न किया, उसमें उन्हें सफलता भी मिली है और असफलता भी। भारतीय कथा और उपकथाओं का ज्ञान प्रकट करने की लालसा में ही वे रत्नसेन सूलीखंड में हनुमान को भी घसीट लाये हैं, अंगद को भी हाजिर होना पड़ा है। कैलास, रावण और नारद का तो वे सही भाव ही नहीं समझ पाये। ऐसी ही अनेक भ्रान्तियाँ उनके ज्ञान की अपरिपक्वता की घोषणा करती हैं।

किन्तु इन सब दुर्बलताओं के बाद भी उनका व्यक्तित्व अप्रतिम है। आलोचना-सम्राट शुक्लजी ने तुलसी के बाद और सूर से पहले जो इन्हें स्थान दिया है, वह सोच समझकर ही। उनका पद्मावत हिन्दी का सर्वाधिक सरस प्रबन्ध काव्य है, जिसका स्थान रामचरितमानस के बाद ही है। हिन्दी काव्य की पुरातन परम्पराओं का वह एक ऐतिहासिक शिखर है। रहस्यवाद की लता फारसी और भारतीय जलवायु के सुखद संस्पर्शों से, उन्हीं की वाणी में फैल-फूटकर आगे बढ़ी है। प्रकृति का माधुर्य और सजीवता उनमें अनोखी है। वाणी की सरलता और मिठास पर राह चलता ठिठक जाता है। उनका बारहमासा प्रबंध में भावुक ग्रामीणों का जन काव्य है। उनकी कला में लोक और शास्त्र का समंत सामंजस्य है। निस्सन्देह वे एक श्रेष्ठ कवि हैं और काव्य है वाटिका का एक चिर-तरुण नूतन प्रसून।

२३ | भक्त-शिरोमणि सूरदास

हिन्दी-साहित्य की काव्य भूमि में कितने ही कवियों ने अपनी कविता की आनन्दमयी रस धाराएँ बहाई है। परन्तु रस का सागर सूरदास ने अपने 'सूर सागर' के रूप में ही प्रस्तुत किया है। हिन्दी-साहित्य में सूरदास की टक्कर के केवल तुलसीदास ही एक कवि हैं और जहाँ वात्सल्य और शृंगार का क्षेत्र आता है वहाँ हिन्दी का कोई सर्वश्रेष्ठ कवि भी सूरदास की बराबरी नहीं कर

सकता ।

सूरदास के वर्णनों को पढ़कर, जिनमें सूक्ष्मता और विस्तार अपनी चरम सीमा तक पहुंचा दिखाई पड़ता है, यह मानने को मन नहीं होता कि सूरदास जन्मांध थे। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि जन्मांध व्यक्ति के लिए इस प्रकार के वर्णन लिख पाना असम्भव है। यह किम्वदन्ती है कि उन्होंने किसी सुन्दरी के रूप की माया में फंसकर अपने नयन फोड़ लिए थे। पर यह किम्वदन्ती ही मालूम पड़ती है। क्योंकि सूरदास ने अपने नेत्रहीन होने के कारण भगवान को उलाहना दिया है— 'सूरदास को कौन निहारो नैनन हू की हानि।' यदि उन्होंने स्वेच्छा से अपनी आँखें फोड़ डाली होतीं तो उलाहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिए उनकी नेत्रहीनता का इतिहास निश्चय से ही नहीं बताया जा सकता।

सूरदास कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण का लोकरंजन और मनमोहक रूप उन्हें प्रिय था। यह शायद उनकी अपनी प्रवृत्ति के भी अनुकूल रहा हो, परन्तु उसके लिए सुनिर्दिष्ट प्रेरणा उन्हें अपने गुरु वल्लभाचार्य से मिली थी। वल्लभाचार्य ने 'पुष्टि-मार्ग' का प्रवर्तन किया था और वह मुक्ति पाने के लिए दास्यभाव की भक्ति को पसन्द न करके साख्यभाव की भक्ति को अधिक महत्त्व देते थे। सूरदास के किसी विनय-भरे पद को सुनकर उन्होंने टोका था—'इस तरह गिड़गिड़ाना अच्छा नहीं।' उन्होंने सूरदास को श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित कृष्ण लीला की कथा गेय पदों में लिखने का आदेश दिया था। उसी आदेश को स्वीकार करके सूरदास ने 'सूरसागर' की रचना की। परन्तु दशम-स्कन्ध की कथा में उन्हें बाल-लीला और यौवन में जागृत होने वाले प्रेम के प्रसंग ही अधिक रुचे। इस प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष उनकी रचना में अपूर्व आभा के साथ अंकित हुए हैं। वात्सल्य और श्रृंगार इन दो रसों के अतिरिक्त अन्य रसों के वर्णन में सूरदास की प्रतिभा चमक नहीं सकी।

उन दिनों निर्गुणवाद और सगुण वाद का विवाद जोरों पर था। कबीर, दादू सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों के कवियों ने प्राचीन कर्मकाण्ड का पाखण्ड बताकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना और योग-साधना इत्यादि के उपदेश दे रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मकाण्ड की विधियों पर से जनता की श्रद्धा उड़ गई और निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर उनका विश्वास जमा नहीं। यह यौगिक साधना सबके बस की नहीं थी। फल यह हुआ कि सामाजिक जीवन में एक अभाव सा उत्पन्न हो गया। उस समय सूरदास ने माधुर्य-पूर्ण सगुण भक्ति का प्रचार किया जिससे जनता के हृदय को विश्राम करने के लिए एक उपयुक्त आश्रय स्थान मिल गया।

कृष्ण की माधुर्य भाव से भरी भक्ति के गीतो की परम्परा बगाल मे संस्कृत के कवि जयदेव से प्रारम्भ हुई थी जिन्होंने अपने सरस गीतो मे हरि-स्मरण और विलास-कलाओ का अद्भुत सम्मिश्रण किया था। उसी परम्परा को आगे बढाते हुए मैथिलकोकिल विद्यापति ने भक्ति और शृगार से भरे पदो की रचना की। उसी परम्परा की अगली कडी सूरदास हैं।

सूरदास की रचना को देखकर आलोचक कुछ असमजस मे पड जाता है। 'सूरसागर' ब्रज भाषा-साहित्य की प्रथम उपलब्ध गेय पद-रचना है। परन्तु क्या भाषा क्या भाव, क्या अलकारो के प्रयोग तथा रसपरिपाक, सभी दृष्टियो से यह रचना अत्यन्त परिमार्जित दिखाई पडती है। किसी साहित्य की पहली ही रचना इतनी उत्कृष्ट हो कि उसके बाद की सारी रचनाएँ उनकी जूठन-सी जान पडे यह इतना आश्चर्यजनक है कि इस पर विश्वास करने को मन नही होता। यही अनुमान किया जाता है कि सूरदास से पहले ही ब्रजभाषा मे इस प्रकार के गीतो की परम्परा चली आ रही होगी और उसी को परिमार्जित रूप देकर सूर ने इन पदो की रचना की होगी।

जब हम सूरदास के काव्य पर दृष्टिपात करते हैं तो विस्मयविमुग्ध रह जाना पडता है। यद्यपि इस समय सूरदास के पूरे पद उपलब्ध नही हैं, पर कहा जाता है कि, 'सूरसागर' मे सवा लाख पद थे। सवा लाख पदो की रचना कर पाना अपने आप मे एक विलक्षण सफलता है। केवल परिमाण की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त विशाल है। इसके बाद जब अलग-अलग पदों पर दृष्टि डालते हैं, तो प्रत्येक पद भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अद्भुत प्रतीत होता है। बहुत से पदो मे एक ही भाव की आवृत्ति भी हुई है, पर सवा लाख पदो के विशाल ग्रथ के लिए यह बात बिल्कुल स्वाभाविक है। दोष होते हुए भी यह दोष इसलिए नहीं है क्योंकि ये सब पद अलग-अलग राग-रागनियो मे बधे हुए हैं और शास्त्रीय सगीत के नियमों के अनुसार गाये जा सकते है। इसीलिए कवि ने एक ही भाव का एक राग में पद लिखने के बाद दूसरे राग मे भी पद लिख दिया है। इसमें [illegible] को भलेवत पुनरुक्ति प्रतीत हो परन्तु सगीत-शास्त्री को पुनरुक्ति [illegible] न होगी। जैसा कि सर्वविदित है ये पद श्रीनाथ जी के मन्दिर में [illegible] जाने के लिए रचे गये थे। इसलिए इनका मुख्य उद्देश्य गाया जाना था [illegible] नहीं।

परन्तु गौण उद्देश्य काव्य की दृष्टि से भी ये पद निराले बने हैं। [illegible] की कल्पना ने अत्यन्त सचेत होकर [illegible] में [illegible] की है। बाल-लीला का प्रकरण [illegible] पर [illegible] सप्रयोजन और निष्प्रयोजन [illegible] और [illegible] प्रस्तुत किए गए हैं। [illegible]

सोते सोते उनके अधर फड़कने लगते हैं। दूध के दांतों का निकलना घुटना चलना साथियों के साथ स्पर्धा करना इत्यादि कितनी ही छोटी-छोटी, किन्तु हृदय को छूने वाली बातें बाल-लीला के इन पदों में वर्णित हुई हैं। जैसे—

(क) 'भीतर तैं बाहर लौं आवत।
घर आंगन अति चलन सुगम भयौ देहरी बेह अटकावत।
गिरि-गिरि परत जात नहीं उलघी अति श्रम होत न धावत॥'
'अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनि धरै पया॥

(ख) "जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावै मल्हावै जोई सोई कछु गावै।"

इसमें संदेह नहीं कि जितना सुन्दर बाल-वर्णन सूरदास ने किया है उतना हिन्दी साहित्य में क्या, विश्वसाहित्य में भी अन्य कोई कवि नहीं कर पाया है। इसलिए सूरदास को वात्सल्य रसावतार कहा जाता है।

वात्सल्य रस के अन्तर्गत केवल बालक कृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन नहीं है, बल्कि कृष्ण के प्रति नन्द, यशोदा और गोकुल की गोपियों के स्नेह पूर्ण भावों की व्यंजना भी अत्यन्त मनोरम रूप में हुई है। जिस कारण इन पदों की मर्मस्पर्शिता बहुत बढ़ गई है।

वात्सल्य रस में पाठक को आकण्ठ मग्न करने के उपरान्त सूरदास उनके सामने शृंगार का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। यह शृंगार भी अपने ढंग का अनोखा ही है। गोकुल की गोपियाँ कृष्ण से प्रेम करने लगती हैं। यह प्रेम एकाएक प्रथम दृष्टि में उत्पन्न हो जाने वाला जादू का सा प्रेम नहीं है यह केवल बाह्य रूप आसक्ति नहीं है, यह तो वर्षों के निरन्तर परिचय और एक जगह निवास के कारण उत्पन्न प्रेम है, जिसमें यौवन की सहज आकांक्षाएँ विचित्र ढंग में घुल मिल गयी हैं। कल तक के बाल-क्रीडाओं के संगी आज प्रेमी प्रेमिका बन बैठे हैं। इस प्रेम में कालुष्य का बिन्दु भी नहीं है।

सूरदास ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्ष अति सुन्दर बन पड़े हैं। अन्य किसी भी कवि को शृंगार के दोनों पक्षों में इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई। एक दिन कृष्ण खेल रहे थे कि इसी समय राधा भी वहाँ आ पहुँची। कृष्ण उससे पूछते हैं—

'बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कहाँ रहत काको है बेटी ? देखी नाहिं कबहुँ ब्रज खोरी।'

राधा भी तुरन्त ही कितना चुभता हुआ उत्तर देती है—

काहे को हम ब्रज तन आवति खेलत रहत अपनी पौरी।
सुनत रहत इक नन्द को ढोटा करत रहत माखन की चोरी॥'

कृष्ण राधा के घर आने जाने लगते हैं। दोनों में घनिष्ठता बढती जाती है। कृष्ण राधा की गायो का दूध दुहते हैं, परन्तु उनका ध्यान राधा की ओर होता है और दूध की धार भूमि पर गिरती है। यह गोरस की हानि कहाँ तक सहन होती। अन्त मे एक दिन राधा ने कह ही दिया—

"तुम से कौन दुहाव गया ?
इत चितवन उत धार चलावत यही सिखायो मया।"

इस तरह प्रेम के सयोग-पक्ष को चरम कोटि तक पहुचाने के उपरान्त प्रेम का वियोग पक्ष प्रारम्भ होता है। कृष्ण कस के बुलावे पर मथुरा चले जातेहैं और फिर कभी मुडकर गोपियो की सुध नही लेते। विरह का उत्ताप भीषण दावानल की भाति समस्त गोकुल को व्याप्त कर लेता है। जमुना, मधुवन, गोएँ और गोपियाँ सभी विरह की व्यथा से तडपने लगती हैं। शृगार की पूर्णता वियोग मे जाकर ही होती है। सूरदास के इस वियोग-वर्णन मे शृगार की जैसी मर्मस्पर्शी व्यजना हुई है, वैसी हिन्दी साहित्य मे अन्यत्र कही नही दिखाई देती।

'भ्रमरगीत' इस विरह-वर्णन का ही एक महत्त्वपूर्ण भाग है। कृष्ण ने अपने मित्र उद्धव को गोपियो के पास इसलिए भेजा था, कि उन्हे जाकर समझाएँ कि कृष्ण घट घट व्यापी हैं। उनके निर्गुण रूप की उपासना करो। व्यर्थ उनके विरह मे दुखी न होओ। उद्धव ने गोपियो को समझाया, परन्तु वे तो कृष्ण के सगुण रूप पर मुग्ध थी। उन्हे उद्धव की बात क्यो समझ मे आती ? अपने प्रेम के आवेश मे उन्होने उद्धव और उनके निर्गुणवाद की तरह-तरह से खिल्ली उडाई। यहाँ तक कि अन्त मे गोपियो के प्रेम को देखकर उद्धव अपना निर्गुणवाद भूल बैठे और स्वय भी सगुण के ही भक्त बन गए। 'भ्रमरगीत' का महत्त्व इसलिए तो है ही कि इसमे सगुण और निर्गुण का विवाद खडा करके अन्त मे निर्गुण-पक्ष की पराजय दिखाई गई है, साथ ही काव्य सौन्दर्य, वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य की दृष्टि से भी 'भ्रमरगीत' के पद बेजोड हैं।

यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि सूरदास ने कवित्व-प्रदर्शन के लिए कविता की है, किन्तु यह मानना पडेगा कि साहित्य-शास्त्र की कसौटी पर उनका काव्य बिल्कुल खरा उतरता है। उनकी भाषा अत्यन्त प्रवाहमयी और माधुर्य गुण-युक्त है। उसमे थोडे बहुत शब्द अरबी फारसी और प्राकृत के भी आ गये हैं, परन्तु उनकी सख्या बहुत कम है और प्रवाह मे खटकते नही हैं। सूर की रचना मे अलकारो का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है और अधिकाश स्थलो पर अलकारो ने उनकी अभिव्यक्तियो को विशद और प्रभावोत्पादक बना दिया है। पर कुछ स्थल ऐसे भी ढूँढे जा सकते हैं, जहाँ अलकारों का प्रयोग अपने आप मे लक्ष्य बन गया है। उससे भावाभिव्यक्ति मे सहायता न

होकर कुछ बाधा ही पड़ी है। कहीं-कहीं उनके रूपकों और अन्योक्तियों ने उनकी रचना को क्लिष्ट कर दिया है। परन्तु 'सूर सागर' में अनुपात की दृष्टि से ऐसी रचना बहुत थोड़ी है।

सूरदास ने अपनी सारी रचना पद-शैली में ही की है। रचना इन पदों की बहुत बड़ी विशेषता है। ऐसी रचना में माधुर्य और प्रसाद गुणों का आ जाना स्वाभाविक है। ओजपूर्ण रचना लिखने का न तो सूरदास को आग्रह ही रहा है और न वे उसमें सफल ही हुए हैं।

सूरदास के काव्य का सामाजिक दृष्टि से महत्त्व यह है कि उन्होंने अपने समय में विद्यमान हिन्दुओं की निराशाजनक स्थिति में उन्हें अपनी माधुर्यभाव की भक्ति द्वारा एक नया मार्ग दिखाया। निर्गुणवादियों के शुष्क उपदेशों से व्याकुल जनता को सगुण भक्ति का सरल सम्बल प्रदान किया। उन्होंने भक्ति का सुन्दर और आकर्षक रूप दिया।

काव्य और संगीत के प्रेमियों में सूरदास के पदों का आदर बहुत समय से होता आया है और विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि भविष्य में भी इसी प्रकार होता रहेगा।

२४ | गोस्वामी तुलसीदास

हिन्दी साहित्य में महाकवि तुलसीदास का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। यद्यपि सूरदास और मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के उत्कृष्ट कवि हैं और तुलसीदास के साथ इनकी तुलना भी की जाती है, परन्तु प्रायः सभी आलोचक इस बात पर सहमत हैं कि तुलसीदास इन दोनों की अपेक्षा उत्कृष्ट कवि हैं।

तुलसी को यह गौरव प्रदान करने के कई कारण हैं। कवि के बाह्य रूप की दृष्टि से तुलसी की रचना का क्षेत्र अन्य किसी भी हिन्दी कवि की अपेक्षा विस्तृत है। उन्होंने अपने काल में प्रचलित सभी शैलियों में रचना की। उन्होंने 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' दोनों प्रकार के काव्य लिखे। इससे भी बड़ी बात यह कि उन्होंने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं में पूर्ण अधिकार के साथ सफल काव्य-रचना की। छन्दों की विविधता का भी उन्होंने ध्यान रखा और पचास से अधिक छन्द उनकी रचनाओं में पाए जाते हैं। साहित्य शास्त्र का उन्हें अच्छा ज्ञान था। इसलिए अलंकारों का बहुत ही समीचीन प्रयोग उनकी रचना में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार काव्य के बाह्य पक्ष की दृष्टि से तुलसी अपने प्रतिद्वंद्वियों की अपेक्षा अधिक समर्थ और सफल दिखाई पड़ते हैं।

काव्य के अन्तरंग पक्ष अर्थात् भाव पक्ष की दृष्टि से तुलसी की स्थिति

और भी सुदृढ है। अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में उन्होंने मानव-जीवन के समग्र रूप को लेकर उसमें आने वाली विविध परिस्थितियों और जीवन के विविध पहलुओं का चित्रण किया है। कथा के प्रवाह में उन्होंने अनेकानेक मर्मस्पर्शी प्रसंगों की उद्भावना की है और उनमें अद्भुत और उच्च कोटि के भावों का चित्रण किया है। उनके चित्रण आदर्श की भावना से प्रेरित हैं। इसीलिए वे समाज के लिए उपयोगी भी हैं। तुलसी के ग्रन्थ प्रतिद्वन्द्वियों में हमें भावों की ऐसी आदर्श प्रेरित विविधता के दर्शन नहीं होते।

तुलसी का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ और उनका बालकपन जिन कठिन स्थितियों में बीता उन्हें देखते हुए शायद ही किसी ने आशा की होगी कि यह बालक किसी दिन एक ऐसे काव्य-ग्रन्थ की रचना कर जाएगा जो शताब्दियों तक करोड़ों व्यक्तियों के लिए धर्म ग्रन्थ का काम देता रहेगा। तुलसी का जीवन दुःख और विपत्तियों की एक कहानी है। जन्म होते ही उनके माता-पिता ने उन्हें अशुभ समझकर त्याग दिया था। मुनिया नाम की एक दासी ने अपने पास रखकर उनका पालन किया परन्तु दुर्भाग्य ने मुनिया को भी जीवित न रहने दिया, मुनिया मर गई। तुलसी फिर निराश्रय हो गए। कुछ समय तक इधर-उधर अनाथ भटकते रहे। शायद पेट भरने के लिए भीख भी मांगनी पड़ी। अन्त में बाबा नरहरिदास ने अपने पास रखकर उन्हें पढ़ाया-लिखाया। समय आने पर उनका विवाह हुआ। संसार में अनेक विवाह इस लिए असफल होते हैं कि पति-पत्नी में परस्पर प्रेम नहीं होता। परन्तु तुलसी का विवाह इसलिए असफल रहा क्योंकि पति-पत्नी में अत्यधिक प्रेम था। पत्नी मायके गई, तो प्रेमातुर तुलसी भी पीछे-पीछे वहीं जा पहुंचे। पत्नी ने लज्जित होकर कहा—

> 'लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
> धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, का कहौं मैं नाथ॥
> अस्थि चर्म मय देह मम ताम जसी प्रीति।
> तैसी जो श्री राम मँह होति, न तौ भव भीति॥"

पत्नी के इन शब्दों की चोट तुलसी के हृदय पर गहरी लगी। प्रेम विरक्ति में परिणत हो गया और उन्होंने पत्नी के साथ-साथ सारे संसार को त्याग दिया। जीवन के पिछले दिनों में भी तुलसीदास को शारीरिक कष्ट काफी सहना पड़ा। शायद प्लेग उन्हें हुई थी। प्लेग में तो बच गये किन्तु उसके कुछ ही समय बाद उनका स्वर्गवास हो गया। उनका जन्म संवत् १५५५ में और मृत्यु १६८० में हुई।

यों तो तुलसीदास ने हिन्दी-साहित्य को बारह से अधिक रचनाएँ प्रदान की, परन्तु इनकी कीर्ति का मुख्य आधार 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका'

हैं। 'रामचरितमानस' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह एक महाकाव्य है। इसकी मुख्य कथा वाल्मीकि रामायण से ली गई है, जिससे तुलसीदास ने कुछ जोड़-तोड़ अपनी ओर से और कुछ अन्य संस्कृत ग्रंथों के आधार पर किया है। 'रामचरितमानस' को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि तुलसीदास ने अनेक शास्त्रों का भली भाँति अध्ययन किया था और उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन अपनी काव्य रचनाओं में किया है।

रामचरितमानस' में तुलसीदास ने रामचन्द्र जी के लोकरक्षक स्वरूप का चित्रण किया है। तुलसी के राम स्वयं भगवान् हैं। लीला करने के लिए उन्होंने देह धारण किया है। इन लीलाओं का उद्देश्य दुष्टों का दमन और सज्जनों का परित्राण है। राम के स्वरूप में अवतरित होकर भगवान् ने मानव-जीवन की मर्यादाओं की स्थापना की है। इसलिए राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। किन्तु इतने महान् स्वामी की शरण में जाने के लिए अतिशय विनय की आवश्यकता है। इसीलिए तुलसी में एक तुच्छ दास की-सी विनय दिखाई पड़ती है। जैसे राम का गौरव असीम है उसी तरह मानो तुलसी की लघुता की भी कोई सीमा नहीं है। क्या 'रामचरितमानस' और क्या 'विनय पत्रिका' दोनों में ही तुलसी की यह दास्य भाव की भक्ति प्रधान स्वर बनकर गूंज रही है। 'विनय-पत्रिका' तो स्पष्ट रूप से भक्ति काव्य है ही, रामचरितमानस भी मुख्य रूप से भक्ति ग्रन्थ है और गौण रूप से काव्य है।

राम की सगुण भक्ति का प्रचार निर्गुणवाद की प्रतिद्वन्द्विता में सामने आया। निर्गुणपन्थी संतों की विचारधारा खण्डन प्रधान थी। पुराने विधि-विधानों को तोड़ने का तो उनमें आग्रह था किन्तु कोई महत्त्वपूर्ण नई परंपरा वे नहीं दे रहे थे। इसलिए समाज में अव्यवस्था बढ़ रही थी। इस बात को पहचान कर ही तुलसी ने निर्गुण भक्ति का विरोध किया और भगवान् के सगुण लोकरक्षक स्वरूप का प्रतिपादन किया। परन्तु खण्डनात्मकता तुलसी में नहीं थी। इसलिए निर्गुणवाद के विरोधी होते हुए भी उन्होंने सूरदास की तरह उग्रता से निर्गुणियों का विरोध नहीं किया। वह विक्षोभ उत्पन्न करना नहीं चाहते थे, बल्कि समन्वय द्वारा जनमत को एक ही दिशा में केन्द्रित करना चाहते थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में हमें सब जगह समन्वय दिखाई पड़ता है। उन्होंने लोक और शास्त्र का, भक्ति और ज्ञान का, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, निर्गुण और सगुण का समन्वय करने का प्रयास किया है।

तुलसीदास में साम्प्रदायिक कट्टरता का अभाव था। वे स्वयं वैष्णव थे और एकमात्र राम के भक्त थे। परन्तु राम की भक्ति के आवेश में अन्य देवताओं की निन्दा करना तो दूर उपेक्षा भी उन्होंने नहीं की है। शिव, गणेश, ब्रह्मा इत्यादि सभी देवताओं की उन्होंने स्तुति की है जो उनकी

उदारता का परिचायक है। अपनी इस सहिष्णुता और उदारता के कारण भी तुलसी का आदर जनता मे बहुत हुआ है।

कथा के समुचित सम्बन्ध निर्वाह के अतिरिक्त तुलसीदास को मार्मिक प्रसगो की पहचान भी खूब थी। सीता स्वयवर, राम वनवास, कैकेयी की वर-याचना, सीता के विरह मे राम का दु ख, लका-दहन, युद्ध इत्यादि सभी रोचक प्रसगो का उन्होने विस्तार से रसमग्न होकर वणन किया है। एक भी मार्मिक प्रसग बिना विस्तृत वणन के छूटने नही पाया है। इन वणनो मे कवि की प्रतिभा मनोहारी रूप मे प्रकट हुई है।

जसा पहले कहा जा चुका है, तुलसी की प्रतिभा बहुमुखी थी। महाकाव्य लिखने के लिए ऐसी ही प्रतिभा की आवश्यकता होती है। सूरदास की भाँति तुलसीदास केवल एक या दो रसो के वणन तक ही सीमित नही रह है उन्होने यथास्थान सभी रसो का विस्तार से वणन किया है। जनकपुर की वाटिका मे राम और सीता के पारस्परिक-दशन के अवसर पर सयोग शृगार की, सीता-हरण के अवसर पर वियोग-शृगार की, राक्षसो के साथ युद्ध के प्रसग मे वीर-रस की दशरथ-विलाप या लक्ष्मण मूर्च्छा के समय करुण-रस की, नारद मोह के प्रकरण म हास्य की, सीता-स्वयवर के समय लक्ष्मण के क्रुद्ध होने पर रौद्र-रस की, लका-दहन के समय भयानक-रस की और उत्तर-काड मे शात-रस की व्यजना हुई है।

तुलसी ने अपने पात्रो के चरित्र चित्रण मे भी आश्चयजनक कुशलता दिखाई है। 'रामचरितमानस' मे सभी प्रकार के चरित्र पाए जाते हैं, एक ओर राम, भरत, कौशल्या और सीता जैसे श्रेष्ठ चरित्र हैं तो दूसरी ओर रावण और मथरा जैसे दुष्ट चरित्र भी हैं। ककेयी और मारीच जैसे भी कुछ चरित्र हैं जो स्वभावत बुरे नही हैं, परन्तु बुरे लोगो की प्रेरणा पर बुरा काय करने को उद्यत हो जाते हैं। शबरी, निषादराज गुह जैसे दीन, किन्तु सेवा-भावयुक्त चरित्र भी हैं।

'रामचरितमानस' मे तुलसी ने अपने विस्तृत शास्त्र ज्ञान के आधार पर सामाजिक सम्बन्धो की मर्यादाएँ प्रस्तुत की हैं जो सशय उपस्थित होने पर पथ निर्देश कर सकती हैं। पिता का पुत्र के प्रति कत्तव्य, राजा का प्रजा के प्रति कत्तव्य, शिष्य का गुरु के प्रति कत्तव्य, पति का पत्नी के प्रति कत्तव्य, इत्यादि सभी सम्बन्धो के बारे मे विभिन्न परिस्थितियों मे उचित कत्तव्य का निर्देश कर दिया गया है।

इस प्रकार तुलसी की कला उपयोगी कला है। सूरदास की तरह इनकी कला केवल कला के लिए नही। सूरदास की कला मुख्यतया सौन्दय और आनन्द की भावना से प्रेरित है जबकि तुलसी की कला मे सौन्दय का स्थान गौण

है और प्रमुखता मंगलमय-आदर्श को ही दी गई है। तुलसी की इस विशेषता ने उनका महत्त्व अन्य किसी भी हिन्दी-कवि की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ा दिया है। क्योंकि ऐसी मंगलमय रचना तुलसी के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने नहीं की।

'रामचरितमानस' के अतिरिक्त 'विनयपत्रिका' में भी तुलसी का भक्ति भावपूर्ण कवित्व विलक्षण रूप में दृष्टिगोचर होता है। विनय और भक्ति की जितनी सुकुमार भावनाएँ इस ग्रन्थ में दिखाई पड़ती हैं, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं हैं। भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता तथा भक्त की प्रार्थना 'विनय पत्रिका' में अत्यंत मनोरम रूप में चित्रित हुई है। 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने जहाँ-तहाँ अपने दार्शनिक विचार भी प्रकट किए हैं।

तुलसीदास जी ने 'दोहावली' 'कवितावली', 'गीतावली', 'रामलला नहछू' 'पार्वती मंगल', इत्यादि और भी अनेक काव्य रचनाएँ की हैं, जिनसे उनका अनेक शैलियों और भाषाओं में रचना करने का सामर्थ्य प्रकट होता है।

काव्य सौष्ठव, आदर्श की स्थापना और समन्वय बुद्धि के कारण तुलसी का स्थान हिन्दी साहित्य में अन्य सभी कवियों की अपेक्षा ऊँचा ठहरता है। उनके सर्वोच्च स्थान का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनके 'रामचरितमानस' का जितना प्रचार जनता में हुआ है उसका दशांश भी अन्य किसी हिन्दी काव्य-ग्रन्थ का नहीं हुआ।

२५ सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥"

यह सूक्ति मध्यकाल में किसी सहृदय आलोचक ने लिखी थी। 'अब के कवि' से आलोचक का संकेत किस काल के कवियों से है यह ठीक ठीक तभी निर्धारित हो सकता है जब इस सूक्ति के लेखक का काल निर्धारित हो जाए। पर इतना स्पष्ट है कि उस काल में इस आलोचक की दृष्टि में हिन्दी-साहित्य गगन में तीन ही ज्योतिमय विभूतियाँ थीं। जिनकी तुलना उसने सूर्य, शशि और तारों से की है। यह सूक्ति पर्याप्त सीमा तक सहृदय समाज में मान्य हुई। इसीलिए इसका अस्तित्व आज तक बना रहा है।

सूरदास और तुलसीदास दोनों ही हिन्दी साहित्य के महान् कवि हैं। वस्तुतः दो महाकवियों की तुलना करना बहुत-कुछ निरर्थक होता है, विशेष

रूप से तब, जबकि उन दोनो की शैली और काव्य का क्षेत्र अलग-अलग हो। सूर और तुलसी के विषय मे भी यह बात है। दोना मे समानताएँ इतनी कम और विभिन्नताएँ इतनी अधिक हैं कि उनकी तुलना हम किसी सुनिश्चित परिणाम पर पहुचा सकती है, इसमे बहुत सन्देह है। परन्तु बहुत समय से आलोचक इन दोनो की तुलना करके किसी न किसी निष्कर्ष पर पहुचने का यत्न करते आ रहे हैं। उसी प्रयास पर एक दृष्टि डालना यहाँ अभीष्ट है।

केशवदास की इन दोनो कवियो से समानता नही है। आलोचक ने स्वय ही केशवदास को तारो की कोटि मे रखा है अर्थात वह मानता है कि केशव की काव्य प्रतिभा की चमक सूरदास और तुलसीदास की तुलना म बहुत कम है। इस बात से प्राय सभी लोग सहमत हैं कि विद्वता और पाडित्य पर्याप्त होने पर भी केशव का काव्य सूर और तुलसी की रचनाओ की टक्कर मे नही ठहर सकता।

सूरदास और तुलसीदास दोना ही हिन्दी-साहित्य के स्वर्ण-युग कहे जाने वाले भक्ति काल मे हुए हैं। इस काल के कवियो की काव्य-रचना किसी तुच्छ प्रयोजन से नही हुई थी। इन कवियो ने अर्थोपार्जन के लिए काव्य नहं लिखा। सम्भवत यश के लिए भी नही लिखा। उनका प्रयोजन या तो केवल स्वागत -सुखाय था, अथवा अज्ञान मे फँसी हुई जनता का उद्धार करने का प्रयास। ऐसी महद्भावना से भरी प्रेरणा के कारण जिस काव्य की रचना हुई, वह सचमुच ही ससार के किसी भी साहित्य की श्रीवृद्धि कर सकता था। एक के बाद एक अनेक कवियो ने रस मग्न होकर रा- और कृष्ण की भक्ति के गीत गाये, परन्तु रस की जैसी धारा सूर और तुलसी के कण्ठ से वही, वैसी और कही नही बही।

तुलसी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकरक्षक स्वरूप से प्रभावित हुए। उस महान् गौरवमय चरित्र के सम्मुख भक्त जितना भी विनयशील हो जाय उतना ही कम है, इसलिए तुलसीदास ने रामचन्द्र की भक्ति दास्य भाव से की है। परन्तु सूरदास ने माधुर्य भाव को प्रमुखता देकर कृष्ण के लोकरजक स्वरूप का ही चित्रण किया है। वह वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। वल्लभाचार्य को भगवान के सम्मुख गिडगिडाना पसन्द न था। फलत सूरदास की भक्ति सखा भाव की रही। उनके लीलामय कृष्ण गोप-गोपियो के साथ सखाभाव से यमुना तट पर वृन्दावन के कुजो मे विहार करते है। सूरदास भी उन्ही सखाओ म से एक बन गये और सख्य-भक्ति का सहारा लेकर उन्होंने काव्य रचा।

दोनो की भक्ति-प्रणाली मे अन्तर होने के अतिरिक्त दोनो के विषय निर्वा-

चन मे भी बडा अन्तर है। तुलसीदास ने रामचन्द्र जी के सम्पूर्ण जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया था। यह जीवन तरह-तरह की विघ्न-बाधाओं, संघर्षों और कठोर कर्त्तव्यो से भरा हुआ है। इसमे राज्य-त्याग राक्षसो से युद्ध पत्नी वियोग और अन्त मे प्रजा की प्रसन्नता के लिए सीता को वन भेजने तक के प्रसग हैं। रामचन्द्र जी के जीवन को सम्मुख रखकर तुलसीदास ने एक तरह से आदर्श जीवन की मर्यादाएँ निर्धारित कर दी हैं। किसी परि-स्थिति मे किस पद पर बैठे हुए व्यक्ति को क्या आचरण करना होगा, यह उन्होने बतला दिया है। पिता पुत्र, पत्नी, माता, बहन, गुरु, शिष्य—किसी का भी कर्त्तव्य अनिर्दिष्ट नही रह गया। इसी कारण तुलसी का 'रामचरित मानस करोड़ो हिन्दुओ के लिए काव्य ग्रन्थ न रहकर धर्म-ग्रन्थ बन गया।

परन्तु सूरदास ने ऐसा कुछ नही किया। उन्होंने तो कृष्ण के लोकरजक लीलामय मधुर स्वरूप का ही चित्रण किया है। यह स्वरूप कितना सुन्दर, माधुर्य भरा और आकर्षक है, यह सूरसागर म डुबकी लगाये बिना जाना नही जा सकता। बचपन की भोली-भाली क्रीडाओ के सख्यातीत चित्र इसम अकित है। शिशु के अधर फडकने से लेकर स्पर्धा, गव शरारत इत्यादि स्वभाव की कितनी ही क्रियाएँ और भावनाएँ उन पदो मे मूर्त हो उठी हैं। उसके बाद किशोरावस्था का प्रेम एक सुनहले ससार की भाँति आँखो के सामने प्रकट हो उठता है। इस प्रेम का चित्रण करने मे सूर ने हिन्दी के सब कवियो को पीछे छोड दिया है। प्रेम के सयोग और वियोग दोना ही पक्ष सूर की काव्य मन्दा-किनी के दो सरस तीर हैं। एक ओर यदि मिलन के सुख से भरे हुए वासन्ती फूलो के उद्यान क्षितिज तक फैले चले गये है तो दूसरी ओर विरह की ज्वालाओ मे तपता हुआ निस्सीम मरुस्थल फला हुआ है। प्रेम और विरह के सम्बन्ध म तरह-तरह के अनगिनत प्रसगो की कल्पना करके सूर ने उस प्रेम की ऐसी बिलक्षण झाकी दिखाई है कि उसकी तुलना कहीं नहीं है। शृगार को रसराज माना गया है और शृगार के सबसे बडे कवि होने के नाते यदि सूरदास को हिन्दी-साहित्य-गगन का सूर्य कह दिया जाए तो यह उचित ही होगा।

सूरदास ने शृगार-रस की भाँति ही वात्सल्य रस की रचना मे भी अद्वि-तीय सफलता प्राप्त की है। उन्हें वात्सल्य रसावतार कहना अनुचित नही है। महान् सगीतज्ञ तानसेन ने सूर के वात्सल्य पर ही मुग्ध होकर कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत शरीर॥"

सूरदास वात्सल्य और शृगार के हिन्दी मे सबसे बडे कवि हैं, इस विषय म दो मत नहीं हो सकते। परन्तु उनका क्षेत्र वात्सल्य औ[illegible] तक ही

सीमित है। तुलसी का काव्य क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत विस्तृत है। उसमे सब रसो का वणन है। तुलसी ने जीवन के एक अश का नही, बल्कि समग्र जीवन का वणन किया है। तुलसादास ने भी वात्सल्य और शृगार का वणन किया है। परन्तु वह वणन मर्यादाओ मे बधा-बधा सा दिखाई पडता है। उन्होने मर्यादा का इतना ध्यान रखा है कि शृगार में भी वह दूर नही हुई। वे सीता को राम के दशन कगन के नग की परछाई मे ही कराते है—

"दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मदिर माहीं।
गावति गीत सब मिलि सुन्दरी बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं ॥
राम को रूप निहारति जानकि कगन के नग की परछाहीं।
याते सभी सुध भूलि गई कर टेक रही पल टारत नाहीं ॥"

परन्तु सूरदास ने तुलसी की भाँति मर्यादा पालन का ध्यान नही रखा है। वे तो अनेक स्थानो पर भक्ति और शिष्टता की भी सीमाओ का उल्लघन कर गये हैं—

'नीवी ललित गही यदुराई।
जबहि सरोज धरयो श्रीफल पर तब जसुमति तहँ आई ॥

अब सूर और तुलसी का अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई पडने लगता है। जहाँ तुलसी का प्रत्येक वाक्य किसी आदर्श या शिक्षा को लेकर चल रहा होता है वहा सूरदास के पदो में मर्यादा या शिक्षा के लिए कुछ भी आग्रह नही रहता। तुलसी के लिए कला का मगलमय होना एक आधारभूत बात है परन्तु सूरदास के लिए कला का सुन्दर रूप ही सवस्व है। इसलिए आश्चय नही कि उनकी कला सौन्दय का अधिक सचय कर सकी, जबकि तुलसी की कला सौन्दय और मगल दोनो से ही समन्वित है।

सूरदास ने भी कालियदमन और गोवधन धारण इत्यादि प्रसगों मे कृष्ण का लोक रक्षक स्वरूप चित्रित करने का प्रयत्न किया है परन्तु ऐसे प्रसगो मे उनकी प्रतिभा चमकती नही। वे मुख्यतया माधुय के ही कवि हैं।

जहाँ तक भाषा और शैली का प्रश्न है, वहा भी सूरदास का क्षेत्र सीमित दिखाई पडता है और तुलसी का विस्तृत। सूर ने केवल ब्रजभाषा मे रचना की, परन्तु तुलसी का ब्रज और अवधी दोनों पर अधिकार था। सूर ने केवल पद-शैली मे रचना की, जबकि तुलसी ने दोहा चौपाई, पद, कवित्त, सवये इत्यादि सभी प्रचलित शैलियो मे काव्य रचना करके अपने अद्भुत सामथ्य का परिचय दिया। सूरदास ने केवल मुक्तक काव्य ही लिखा, परन्तु तुलसी मुक्तक और प्रबन्ध दोनो ही प्रकार के काव्य की रचना मे सफल रहे।

एक बात स्पष्ट दिखाई पडती है कि सूरदास अपने छोटे से क्षेत्र मे पूरे

सम्राट् थे। शृंगार और वात्सल्य में उनकी काव्य-प्रतिभा अनुपम है। इस प्रकार ब्रजभाषा पर उनका विलक्षण अधिकार है। उनकी भाषा परिमार्जित और प्रवाहपूर्ण है। परन्तु तुलसीदास का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और उस विस्तृत क्षेत्र पर उनकी काव्य प्रतिभा का आलोक सर्व जगह हल्की हल्की चाँदनी-सा छाया हुआ है। सम्भवत इसीलिए किसी पुराने आलोचक ने सूर को सूर और तुलसी को शशि कह दिया है। वैसे रचना की सर्वांगीणता की दृष्टि से तुलसी अधिक प्रौढ और समर्थ दिखाई पड़ते हैं। काव्य-सौन्दर्य के अतिरिक्त उनकी रचनाओं का मंगल कारी स्वरूप भी उन्हें ऊँचा आसन प्रदान करने के पक्ष में एक बड़ी युक्ति है।

केशवदास इन दोनों ही कवियों से भिन्न प्रकृति के कवि थे। सूर और तुलसी ने भक्ति भावना से प्रेरित होकर काव्य रचना की, परन्तु केशव की मुख्य प्रेरणा भक्ति न होकर पाण्डित्य प्रदर्शन की थी। वैसे यह नहीं कहा जा सकता कि कविता की सर्वोत्कृष्ट प्रेरणा भक्ति ही है या भक्ति के अतिरिक्त और कुछ। परन्तु तथ्य यह है कि केशवदास सरस कविता लिखने में उतनी दूर तक न पहुँच सके, जितनी दूर तक सूर और तुलसी पहुँचे थे। केशवदास ने भी 'रामचन्द्रिका' नाम का महाकाव्य लिखा। इस दृष्टि से वे तुलसी की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील दिखाई पड़ते हैं कि उन्होंने राम को भगवान के रूप में प्रस्तुत न कर एक आदर्श राजा के रूप में किया है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में आधुनिक पाठक को यह बात बहुत खटकती है कि तुलसी बार बार यह स्मरण कराते रहते हैं कि राम मनुष्य नहीं, बल्कि भगवान हैं। यह बात 'रामचन्द्रिका' में नहीं है।

केशव की कविता में कई अभाव हैं। उनका कथा निर्वाह समुचित नहीं बन पड़ा है। कई मार्मिक प्रसंगों को वह बिना पूरा वर्णन किए ही लाँघ गए हैं। अनेक स्थानों पर पाण्डित्य प्रदर्शन की धुन में उन्होंने रस की धारा को खंडित कर दिया है। कई जगह वे औचित्य का विचार भी भूल बैठे हैं, जैसे वन जाते समय राम द्वारा अपनी माता को पतिव्रत धर्म का उपदेश दिलाने में उन्हें औचित्य का ध्यान नहीं रहा है।

इस सबके होते हुए भी केशव हिन्दी के महान कवि हैं। 'रामचरितमानस' और 'पदमावत' के बाद हिन्दी महाकाव्यों में 'रामचन्द्रिका' का ही स्थान है। यह बात ठीक है कि बिहार के प्रदेश में लौंग और इलायची के वृक्षों का वर्णन करके केशव ने भूल की है परन्तु उसके अतिरिक्त जितना पाण्डित्य उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है वह प्रशंसनीय है। केशव विद्वान थे साहित्य शास्त्र का उन्हें गम्भीर ज्ञान था और उसके द्वारा उन्होंने अपनी कविता का रूप सँवारा है। अलंकारों का उनकी रचना में भरपूर प्रयोग है। यह बात

दूसरी है कि व अलकार कविता-कामनी के लिए भारस्वरूप हो उठे है। केशव के सवाद भी बडे सजीव वाक्-चातुर्य से भरे हुए है। उनके सवाद तुलसी के सवादो से कही अधिक अच्छे बन पडे है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। उन्होने विभिन्न प्रकार के छदो का प्रयोग किया है जिसके कारण उनकी रचना मे एकरसता का दोष नही आने पाया है। महाकाव्य की रचना अपने आप मे एक बडी सफलता है जो सब दोषो के होते हुए भी सराहनीय है।

इस प्रकार यह सन्देह भल ही बना रहे कि हिन्दी-साहित्यकार के सूर्य तुलसीदास हैं या सूरदास, परन्तु तारा के रूप मे केशव का स्थान सुनिश्चित है। तुलसी और सूर के उत्कर्ष का निर्णय कर पाना यदि असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। सहृदय पाठक के लिए इतना जान लेना पर्याप्त है कि ये दोनो ही हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ आधार स्तम्भ कवि हैं।

२६ | बिहारी और उनकी सतसई

एक फूल और उसकी सुगन्धी से उपवन का कोना-कोना महक उठता है, एक हीरा और अग-जग उसकी चमक के आगे हतप्रभ हो जाता है, एक गीत और उसके बोल गायक को तानसेन बना देते हैं, एक ताजमहल और उसकी ललित-कला प्रेम का अमर स्मारक बन जाती है, भाव की एक हिलोर और प्राणो म उत्साह, आँखो मे मस्ती तथा पाँव म गति आ जाती है, एक रचना कवि की एकमात्र रचना, और रसिक रति रग रस मे डूब जाते हैं, मन म लाल की बतरस' का लालच समा जाता है आँखें लाज की लगाम नही मानती, तन रह रह कर प्रियतम के मुख पर भाँवरें भरता है अली कली से बिंध जाता है और राधानागरी' की छबीली छवि म, स्याम' का अँखियाँ-पखियाँ डूबकर ही भव-बाधा से छुटकारा पा लेती है। बिहारी सतसई ऐसी ही रचना है। उसके दोहे शृगार मजूषा क चमकते-दमकते हीरे हैं काव्य-वाटिका के सुरभित फूल हैं, प्रेम-सागर की सुधामयी हिलोरें है विलासी मन के लिए पुष्प-बाण हैं, उन्मादी प्राणो के लिये पायल की मधुर रुनझुन हैं अनुराग की सरस्वती के चरणो की पूजा है। सतसई का जनता मे इतना अधिक प्रचार हुआ है कि इसी कारण इस पर अड़तीस के लगभग टीकायें लिखी गई हैं। कुछ कवियो ने दूसरी भाषाओ म बिहारी के दोहो का अनुवाद किया है, कुछ ने दोहो के भावो को हिन्दी म ही अन्य छन्दो म बाँधने का भी प्रयास किया। कहने को हिन्दी-काव्य-ग्रन्थो मे 'रामचरितमानस' सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ है किन्तु उसकी लोक-प्रियता का कारण उसकी आदर्शप्रियता और धार्मिकता है। विशुद्ध काव्य

म जाते 'बिहारी सतसई' हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रचना है।

बिहारी रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि हैं। रीतिकाल म अधिकतर मुक्तक की ही रचना हुई थी। उसमे भी शृगार का प्राधान्य रहा। राजदरबार म उन रचनाओ का आदर अधिक हो सकता था जिनमे थोडे में बडी बात कही हो। इस दृष्टि से बिहारी के दोहों की तुलना हिन्दी में और कही नही। कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति का उत्कृष्ट रूप बिहारी के दोहो म दिखाई पडता है।

बिहारी का जीवन-वृत्त बहुत कुछ अन्धकार म ही है। केवल इतना ही है कि इनका जन्म ग्वालियर राज्य में बसुवा गोविन्दपुर नामक ग्राम में हुआ था। विवाह के पश्चात् ये मथुरा मे आकर रहने लगे। घर-जमाई बनकर रहने के कारण इन्हें कुछ तिरस्कृत होना पडा था और बाद म ये आश्रय खोजते हुए जयपुर म महाराज जयसिंह के दरबार म जा पहुँचे थे, जहाँ इन्हें उचित आश्रय मिल गया।

महाराज जयसिंह से इनकी भेंट होने की कथा भी मनोरजक है। कहा जाता है कि उस समय महाराज जयसिंह अपनी नई रानी के प्रेम म इतने डूबे हुए थे कि राज-काज देखने के लिए भी महल से बाहर नही आते थे। किसी को कोई उपाय नही सूझता था। कहते हैं बिहारी ने यह दोहा लिखकर किसी प्रकार महाराज के पास भिजवा दिया—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
> अली कली ही सों बध्यौ, आगे कौन हवाल॥"

इस दोहे को पढकर महाराज जयसिंह बहुत प्रभावित हुए और तुरन्त बाहर चले आये। उन्होने फिर राज काज देखना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इसी तरह के और भी दोहे बनाने का बिहारी को आदेश दिया और आश्वासन दिया कि प्रत्येक दोहे पर उन्हें एक अशर्फी दी जाया करेगी। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से निश्चित होकर बिहारी ने अपनी सतसई रची।

बिहारी को अपनी सामर्थ्य पर अत्यधिक विश्वास था। तभी उन्होंने काव्य रचना के लिए दोहा जैसा छोटा छन्द चुना। दोहा बहुत छोटा छन्द है और इसम लम्बे भाव को प्रकाशित करने के लिए पर्याप्त अवकाश नही रहता। इतनी असुविधा के बाद भी बिहारी ने बडे बडे भावो को अपने छोटे छोटे दोहों म सफलतापूर्वक बाँध दिया है।

यद्यपि बिहारी ने रीतिकाल की परम्पराओ के अनुसार कोई लक्षण-ग्रन्थ नही लिखा, परन्तु उनके दोहो म हम विभिन्न रसो अलकारो और नायिका भेदो के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। भाव अनुभाव और सचारियो की जसी

अदभुत छटा बिहारी के दोहा मे दिखाई पड़ती है वैसी अयत्र दुलभ है। बिहारी अपने अनुभाव विधान के लिए हिंदी-साहित्य मे प्रसिद्ध हैं। अनुभाव का उदाहरण देखिए—

"उन हरकी हसि क इत इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिले मन मिल गए दोउ मिलवत गाइ।"

इसी प्रकार उनके हाव विधान के उदाहरण रूप ये दो दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह कर, भौंहन हस दे न कह नटि जाइ॥
नासा मोरि, नचाइ दग, करि कका की सौंह।
काँटे सी कसकति हिये, गडी कटीली भौंह॥"

बिहारी ने केवल मुक्तक-काव्य लिखा है। मुक्तक-काव्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक होता है कि कवि नए-नए प्रसगो की उदभावना कर सके। इस दृष्टि से बिहारी अत्यन्त सफल रहे हैं। उन्होने अपने लगभग हर दोहे के लिए नए और सुन्दर प्रसगो की कल्पना की है। कही उन्होने ये प्रसग उच्चवग के जीवन मे से लिए हैं तो कही सामान्य जनता के जीवन मे से।

बिहारी की सम्पूर्ण रचना शृगार-प्रधान है। केवल थोडे से दोहे नीति, भक्ति और प्रकृति-वणन सम्बन्धी हैं। शृगार-रस के वणन मे उन्होने अनेक पक्षो का विस्तार से चित्रण किया है। सयोग और वियोग दोनो ही प्रकार के शृगार वणन मे उन्होने सफलता प्राप्त की है। वियोग शृगार मे भी पूर्वानुराग प्रवास और मान इन तीन दशाओ का ही वणन उन्होने अधिक किया, किन्तु मरण-दशा का वणन नही किया क्योकि वह करुण-रस के निकट पहुच जाता है। बिहारी की रचना मे रौद्र वीभत्स और करुण-रस का नितान्त अभाव है।

बिहारी को विशेष सफलता सयोग शृगार के वणन म ही प्राप्त हुई है। सौन्दय वणन मे उन्होने नख शिख वणन द्वारा सौन्दय की अदभुत छटा दिखाई है—

अनियारे दीरघ दगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान।'

किन्तु उनका अधिकाश सौन्दय-वणन भौतिक है और कही-कही वह अश्लीलता की सीमा तक भी पहुच जाता है। सौन्दय की अधिकता करने के लिए उन्होने सवत्र आभूषणो को तुच्छ बताया है।

संयोग शृंगार के वर्णन में सामान्यतया रूप-सौंदर्य और उनके हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव, प्रेमी प्रेमिका की पारस्परिक बातचीत तथा हास्य विनोद इत्यादि का वर्णन हुआ करता है। बिहारी ने सबसे अधिक प्रधानता आलंबन चेष्टाओं और मुद्राओं को ही दी है। ये अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने कहीं नायक के पतंग उड़ाने और उस पतंग की परछाईं छूकर नायिका के प्रसन्न होने की कल्पना की है तो कहीं आँख मिचौनी इत्यादि के खेलों की। पारस्परिक उक्ति-प्रयुक्ति का वर्णन बिहारी में बहुत कम है। पर जहाँ है, वहाँ अच्छा है। जैसे—

> 'बाल कहा लाली भई, लोयन कोयन मांह।
> लाल तिहारे दृगन की, परी दृगन में छाह॥"

बिहारी ने रूप सौन्दर्य का तो वर्णन किया ही है, साथ ही उस रूप सौन्दर्य के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का भी वर्णन किया है जिससे उनके दोहों की चोट अधिक जोरदार हो गई है। मन बाँधत बेनी बधे, नील छबीले बार में काले बालों के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन है।

बिहारी ने शृंगार-रस के उद्दीपन के रूप में प्रकृति के भी वर्णन किए हैं। बादल, खिले हुए पलाश इत्यादि रति भाव को उद्दीप्त करने के साधन के रूप में वर्णित हुए हैं। बिहारी का प्रकृति निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म था। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से भी प्रकृति का वर्णन किया है जो कम होते हुए भी प्रभावी है।

बिहारी का विरह-वर्णन संयोग वर्णन सा मनोरम नहीं बन पड़ा। अनेक जगह वह हृदय को छूने में भी समर्थ होता है, परन्तु बहुत जगह वह ऊहात्मक अधिक है। विरह की व्यथा गणित की नाप तोल की वस्तु सी बन गई है। उसका फल यह हुआ है कि उसमें हृदय की सच्ची अनुभूति नहीं रही और ऐसे दोहे अस्वाभाविक और खिलवाड़ की सी वस्तु बन गये हैं। परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है। उनके विरह के वर्णन में मर्मस्पर्श करने की शक्ति भी पर्याप्त है।

कल्पना अनुभूति और मनोविज्ञान की दृष्टि से तो बिहारी के दोहे उत्कृष्ट हैं ही सही साथ ही उनका कला पक्ष भी अत्यन्त सुन्दर है। बिहारी की रचना में हम लगभग सभी प्रकार के अलंकार प्राप्त हो जाते हैं, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष इत्यादि। इनके अतिरिक्त असंगति विरोधाभास, तद्गुण जैसे कम प्रयुक्त होने वाले अलंकारों का प्रयोग करके बिहारी ने अपने दोहों में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। बिहारी का अलंकार विधान उनके सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। अलंकारों के प्रयोग से उनकी रचनाओं में चित्त को पुलकित कर देने की क्षमता आ गई है।

बिहारी का भाषा पर विलक्षण अधिकार है। उनकी भाषा का सबसे बड़ा

गुण सामासिकता है। उसमें एक शब्द भी व्यर्थ नहीं होता, और थोड़े में अधिक बात कह दी जाती है। उनके दोहों की भाषा परिष्कृत साहित्यिक ब्रजभाषा है। उनकी भाषा में जहाँ-तहाँ अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। किन्तु ऐसे शब्द कम हैं और वे भाषा के प्रवाह में ही समा जाते हैं, इसलिए खटकते नहीं। अर्थगर्भित होने पर भी बिहारी की भाषा क्लिष्ट और दुर्बोध नहीं हुई। उनकी भाषा के विषय में यह दोहा सुप्रसिद्ध है—

> ब्रज भाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि विशाल।
> सबकी भूषण सतसई, रची बिहारी लाल।

बिहारी की सतसई को देखने से इस बात में सन्देह नहीं रहता कि बिहारी को अनेक शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। उनके कई दोहों में ज्योतिष, वैद्यक-शास्त्र, वेदान्त, दर्शन और विज्ञान के सिद्धान्तों का कविता में चमत्कारिक प्रयोग किया गया है। विरह-ज्वर को उतारने के लिए सुदर्शन चूर्ण देने वाला उनका दोहा प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार उनके ज्योतिष ज्ञान का परिचय इस दोहे से प्राप्त होता है—

> "दुसह दुराज प्रजानि कौ, क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द्व॥
> अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चन्द॥"

अमावस्या के दिन रवि और चन्द्रमा एक ही दिशा में आकर मिल जाते हैं तो संसार में अन्धकार हो जाता है। इसी प्रकार दो राजाओं के राज्य में प्रजा का कष्ट बढ़ जाता है। इसके साथ ही व्यंग्य वस्तु यह है कि शैशव और यौवन की वय संधि में नायिका का रूप इतना निखर उठता है कि सहृदयों के लिए उसका दर्शन अत्यन्त आकुलताप्रद हो जाता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बिहारी केवल कविता के क्षेत्र में ही रमे रहने वाले कवि नहीं थे, बल्कि अनेकानेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके उनका काव्योचित प्रयोग अपनी रचना में करने में भी समर्थ थे।

रीतिकाल के शृंगारी कवि भी जीवन और राजनीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों में रुचि लेते थे। यदि बिहारी दब्बू स्वभाव के होते तो संभवतः वे भी राज-नीति से दूर ही रहते। किन्तु जिस कवि ने अपनी कविता की पहली चोट ही राजा को विलास-भवन से निकालकर कार्य-क्षेत्र में लाने के लिए की थी, वह राजनीति के सम्बन्ध में कैसे निश्चेष्ट रह सकता था? जयसिंह मुगलों का पक्ष लेकर मराठों के विरुद्ध लड़ रहे थे। उस समय बिहारी ने अपने एक दोहे द्वारा उनका पथ प्रदर्शन करने का अवसर न खोया। वह दोहा यह है—

> "स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु विहग बिचारि।
> बाज पराये पानि पर, तू पच्छीनु न मारि॥"

कहा जाता है कि यह दोहा व्यर्थ नहीं गया। उसके बाद से महाराजा जयसिंह का रुख शिवाजी के प्रति बहुत परिवर्तित हो गया। उनके प्रयास से शिवाजी और औरंगजेब मे संधि हो गई। जब औरंगजेब ने छल से शिवाजी को आगरे म कैद कर लिया, तब उन्हें चालाकी से बाहर निकलवा देन मे महा राज जयसिंह का ही हाथ रहा था।

इस प्रकार सभी दृष्टियो से देखने पर बिहारी का कवित्व और व्यक्तित्व अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का दृष्टिगोचर होता है। बिहारी ने रीति ग्रंथ की रचना नही की और न उनमे केशव का-सा पांडित्य ही था किन्तु अपने छोटे छोटे दोहो मे वह जो रस का अमृत भर गये हैं, उसके कारण रीतिकाल के कवियो म उनका स्थान सर्वोच्च कहा जायेगा।

२७ | भूषण का वीर-काव्य

हिन्दी साहित्य मे वीर-रस के कवियो मे भूषण का स्थान सर्वोच्च है। भूषण की जिस वीर वाणी ने अपने समय मे छत्रपति शिवाजी और उनके सैनिको म उत्साह का सचार किया था वह उनके पश्चात भी अनेक शताब्दियों तक हिन्दू जाति मे आत्मगौरव और वीरता की भावनाएँ जगाती आ रही है। अत्याचारी मुगल-साम्राज्य पर पहली मर्मान्तक चोट शिवाजी ने ही की थी जिसमे महाकवि भूषण का सहयोग किसी प्रकार कम नही कहा जा सकता। जिस प्रकार भूषण ने अपनी कविता मे शिवाजी को ऊँचा उठाया, उसी प्रकार वह इतिहास म ऊँचे उठते गये और जिस प्रकार भूषण ने औरंगजेब को अपने काव्य मे नीचे गिराया उसी तरह वह इतिहास म भी नीचे गिरता चला गया।

भक्ति-काल के उपरान्त हिन्दी कविता के क्षेत्र मे रीतिकाल प्रारम्भ हुआ, जिसम रीति-ग्रन्थो और शृंगार रस की रचनाओ की ही बहुलता रही। कविता का रथ नग्न शृंगार की दलदल म फसकर रह गया। नायिकाओ के भेदो उप भेदो, रसो तथा अलंकारो के निरूपण के अतिरिक्त किसी ऐसी भावना का चित्रण नही हुआ जिसे देश या जाति के लिए अथवा मानव-व्यक्तित्व के लिए महान् कहा जा सके।

इस काल म अधिकाश कवि राज-दरबारों म आश्रय पाकर अपने आश्रय दाताओ का मन-बहलाव करने के लिए कविताएँ लिखते थे। इसीलिए बिहारी मतिराम और चिन्तामणि जैसे प्रतिभाशाली कवियो की कला केवल शृंगार की रचनाएँ लिख पाने तक ही सीमित होकर रह गई। इसी रीतिकाल में

महाकवि भूषण ने अपनी वीर-वाणी द्वारा इस काल की विलासमयी निस्तब्धता को भग किया। इन दिनो औरगजेब के अत्याचार दिनो-दिन उग्र और उग्रतर होते जा रहे थे और शिवाजी उनके विरुद्ध लोहा लेने के लिए उठ खडे हुए थे। उस काल के कवियो की परम्परा की भाँति भूषण भी आश्रयदाता की खोज करते हुए औरगजेब के दरबार मे पहुचे थे और उन्हे आश्रय मिल भी गया था किन्तु भूषण की नस-नस मे जाति प्रेम कूट-कूटकर भरा था, इसीलिए औरगजेब के साथ उनकी पटी नही। कहते हैं एक बार औरगजेब ने भरी सभा म कहा—'मेरे सब दरबारी खुशामदी हैं। वे मेरे दोष मुझे नही बताते।' इस पर भूषण ने कहा, 'आपके क्रुद्ध हो जाने के भय से ही वे चुप रहते हैं। यदि आप अभय दें तो आपके दोषो को बताने वाले भी यहाँ विद्यमान है।" औरगजेब के अभयदान देने पर भूषण ने एक कवित्त मे औरगजेब के सारे दोष गिनकर सुना दिये। इस पर औरगजेब अत्यन्त क्रुद्ध होकर तलवार लेकर उन्हें मारने के लिए झपटा और भूषण बडी कठिनाई से अपनी जान बचा सके।

उसके पश्चात भूषण शिवाजी के आश्रय मे चले गये। यह मिलन दोनो के लिए ही अत्यन्त लाभकारी रहा। भूषण को शिवाजी के वीरत्व और जाति प्रेम के कारण उन पर सच्ची श्रद्धा थी और शिवाजी को भूषण की कविता बहुत अच्छी लगती थी। भूषण शिवाजी की खुशामद करने के लिए सच्ची झूठी प्रशसा नही करते थे। शिवाजी के जिन गुणो को देखकर हृदय पर सच्चा प्रभाव पडता था, उन्ही से प्रेरित होकर वे अपनी काव्य-रचना करते थे। यही कारण है कि भूषण की अपनी काव्य-रचना खुशामदी कवियो की रचनाओ से बिल्कुल भिन्न है। न जाने कितने कवियो ने कितने राजाओ की स्तुति मे कितने काव्य-ग्रन्थो की रचना की होगी। किन्तु आज उनका अस्तित्व कहाँ है? वे सभी ग्रन्थ काल के ग्रास बन गये हैं, और यदि कही किसी राज-परिवार म वे सुरक्षित भी हैं तो भी जनता मे उनका आदर नही।

परन्तु भूषण का वीर-काव्य काल की तरगो मे विलीन नही हो गया। यही इस बात का प्रमाण है कि उस काव्य के पीछे कोई ऐसी प्रेरणा थी, जिसका सम्बन्ध भूषण और शिवाजी के निजी व्यक्तित्व से न होकर जातीय भावनाओ से था। उनके कवित्त आज किसी भी रीतिकालीन रचना की अपेक्षा जनता मे अधिक लोकप्रिय हैं। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने रामचन्द्र जी के लोकरक्षक मर्यादापूर्ण चरित्र से प्रभावित होकर अपने अनुपम काव्य-ग्रथ 'रामचरितमानस' की और वह रामचरितमानस' उस काल की जनता की भावनाओ का सच्चा प्रतिनिधि होने के कारण देश मे अत्यन्त लोकप्रिय हुआ, उसी प्रकार शिवाजी भी अपने काल के जाति रक्षक नेता के रूप मे सामने आये

थे। यद्यपि कुछ विदेशी या उनसे प्रभावित इतिहासकारों ने शिवाजी को विशुद्ध राज्य-लोलुप सेनापति के रूप में ही चित्रित किया है, किन्तु उस काल की हिन्दू-जनता उन्हें अपना और अपने धर्म का रक्षक मानती थी। इसलिए साधन हीन होते हुए भी शिवाजी अपने प्रयास में सफल हो सके। शिवाजी का यह जातिरक्षक और धर्मरक्षक रूप ही भूषण के लिए प्रेरणाप्रद रहा। भूषण के अपने हृदय की ही नहीं अपितु तत्कालीन हिन्दू जनता की भावनाएं भी मुखरित हुई। इसलिए भूषण का साहित्य इतना स्थायित्व प्राप्त कर सका।

भूषण की रचनाओं में हम तीव्र जाति-प्रेम के दर्शन होते हैं। संख्या और बल में अधिक होते हुए भी हिन्दू राजा आपस की फूट के कारण मुसलमानों से पराजित हो गये थे। इस बात को उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया था। अत्यन्त व्यथित होकर उन्होंने लिखा—'आपस की फूट ही तें सारे हिंदवान टूटे।"

शिवाजी के अतिरिक्त उस काल में मुगल-शक्ति से लोहा लेने वाले एक और भी वीर थे महाराजा छत्रसाल। भूषण ने अपने कुछ कवित्त में छत्रसाल की भी स्तुति की है। इन दोनों के अतिरिक्त अन्य किसी भी राजा की स्तुति में उन्होंने कविता नहीं लिखी। इससे स्पष्ट है कि भूषण का काव्य सोने और चाँदी का मोल देखकर खरीदा नहीं जा सकता था। उनकी लेखनी से अपनी प्रशंसा कराने के लिए देश और जाति के हित के लिए अपना रक्त बहाने और प्राण होम करने की आवश्यकता थी।

भूषण ने अपने काल में चल रहे हिन्दुओं और मुसलमानों के संघर्ष का सजीव वर्णन किया है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि उस काल में मुसलमान विदेशी थे और वे यहां के निवासियों पर तरह-तरह से अत्याचार कर रहे थे। मुख्यतः उनका उद्देश्य अपने राज्य का विस्तार करना था। किन्तु अपने राज्य की जड़ें दृढ़ करने के लिए उन्हें यह भी आवश्यक प्रतीत होता था कि जैसे भी हो, हिन्दुओं को बड़ी संख्या में मुसलमान बना लिया जाए। हिन्दू राजनीतिक दृष्टियों से पराजित होकर भी अपना धर्म किसी बात पर भी छोड़ने के लिए उद्यत न थे। इसीलिए आपसी संघर्ष उग्र हो उठा था। यदि औरंगजेब जैसे अदूरदर्शी शासक धर्म परिवर्तन का आग्रह न रखते तो वैसी ही शान्ति चिरकाल तक बनी रह सकती थी जैसी अकबर के समय विद्यमान थी। किन्तु औरंगजेब के दुराग्रह के कारण हिन्दू-जाति के सम्मुख जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया था। ऐसे समय विश्व-बन्धुत्व की भावना विशेष उपयोगी नहीं थी। इसलिए भूषण ने मुक्त-कण्ठ से अपने पक्ष का उत्साहवर्धन और परपक्ष का दोष चित्रण किया। युग की मांग को देखते हुए भूषण के काव्य को पूर्णतया जातीय अथवा राष्ट्रीय काव्य कहा जा सकता है।

कुछ आलोचकों ने भूषण की कविता पर यह आक्षेप किया है कि वह साम्प्रदायिकता की भावना से भरी हुई है। ये आलोचक वर्तमान में रहकर भूषण के काल की परिस्थितियों को भूल जाते हैं। उस समय राष्ट्र मुख्य रूप से हिन्दू राष्ट्र था और मुसलमान विदेशी आक्रान्ता के रूप में यहाँ आये थे और अपने पाँव जमाने का यत्न कर रहे थे जबकि हिन्दू-जाति अपने छिने हुए साम्राज्य को फिर से जमाने के लिए प्रयत्नशील थी। ऐसी दशा में अपने पक्ष का समर्थन और उत्साहवर्धन किसी प्रकार साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। भूषण को साम्प्रदायिक कहना ऐसा ही है जैसे कोई मैथिलीशरण गुप्त को इस आधार पर जाति द्वेषी कहने लगे कि उन्होंने अपनी 'भारत-भारती' द्वारा अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लोगों के मन में घृणा और विद्रोह के भाव जागृत किये। वस्तुतः विदेशी आक्रान्ताओं से आत्मरक्षा करने अथवा उनके शासन से मुक्ति पाने का प्रयत्न राष्ट्रीयता का अनिवार्य अंग है।

रीतिकाल की रीतिबद्ध परम्परा में रहते हुए भी रस की दृष्टि से अलग वीर-काव्य की रचना भूषण की साहित्यिक क्रांति कही जा सकती है। जिस समय अन्य सभी कवि शृंगार की रूढि-ग्रस्त रचनाओं के निर्माण में लगे थे, उस समय उन्होंने बिल्कुल नये विषय अपनी कविता के लिए चुने। अपने युग के प्रवाह के विरुद्ध चलना अथवा उस प्रवाह को मोडना प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी कवियों का ही काम होता है। इस दृष्टि से भूषण का विशेष महत्त्व है।

भूषण के काव्य में एक ही रस प्रधान है वीर-रस। भयानक-रस का भी उन्होंने वीर के सहायक रस के रूप में मुखर चित्रण किया है। इन दोनों का वर्णन उन्होंने शिवाजी के शौर्य-प्रदर्शन के प्रसंग में किया है। शिवाजी के आतंक से उनके शत्रु मुगलों की कैसी दुर्दशा हो जाती है, उसका चित्रण करने में भूषण को जैसे विशेष आनन्द आता है। उदाहरण के लिए उनका यह कवित्त देखिए—

"चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चित चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजपुरपति
फिरति फिरंगिनो की नारि फरकति है।
थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहन की छाति दरकति है।'

शिवाजी के अतिरिक्त भूषण ने महाराज छत्रपाल की वीरता का भी

वर्णन किया है। महाराज छत्रसाल के दरबार में कवि का आदर बहुत था। एक बार स्वयं महाराज छत्रसाल ने भूषण की पालकी अपने कंधे उठा ली थी। छत्रसाल की श्रद्धा और भक्ति देखकर कवि हृदय बोल उठ

"शिव को सराहौं या सराहौं छत्रसाल को।"

वीर और भयानक रस के अतिरिक्त भूषण ने अपने 'शिवराज भूषण शृंगार रस के कुछ पद्य भी रचे हैं किन्तु इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हो सकी है। यह रस उनकी प्रकृति के भी तो अनुकूल न था।

भूषण की भाषा उनके काव्य विषय के अनुरूप ही ओजपूर्ण है। उ भाषा के भावों के अनुकूल ही कर्कश और कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। परिणामतः उनके कवित्तों को सुनने भर से ही हृदय में उत्साह का स होने लगता है, भले ही अर्थ पूरी तरह हृदयंगम न भी हुआ हो। इसके ही उनकी भाषा में यह दोष भी है कि भाषा का रूप बहुत अव्यवस्थि है। शब्दों को बहुत तोड़ा-मरोड़ा गया है।

भूषण की भाषा अधिकांश स्थानों पर सरल और सुबोध है। उ प्रभावोत्पादकता और चित्रात्मकता का गुण पर्याप्त है। कवि जिस भी प्र का वर्णन करने लगता है, उसका चित्र सा आंखों के सामने प्रस्तुत कर देता

भूषण के वीर-काव्य ने हिन्दू-जाति को नवजीवन प्रदान किया है। भ की रचनाओं को पढ़कर हमें उस काल के इतिहास का भी अच्छा ज्ञान जाता है। यह बात इस काल के काव्य में अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं पड़त

भूषण सरस्वती के सच्चे उपासक थे। उस काल के अन्य कवियों ने जि प्रकार सरस्वती को लक्ष्मी के हाथों बेच दिया था, वैसा दुष्कर्म भूषण ने न किया। शिवाजी से भूषण को अर्थ प्राप्ति हुई अवश्य थी, किन्तु अर्थ प्राप्ति लिए भूषण ने काव्य रचना नहीं की थी। उनके काव्य की मूल प्रेरणा जा और धर्म के रक्षक के रूप में शिवाजी के प्रति सच्ची भक्ति ही थी। जाती कवि के रूप में भूषण का स्थान चिरकाल तक अमर रहेगा।

२८ | भारतेन्दु हरिश्चन्द

इस 'सुजलाम्, सुफलाम्, शस्य श्यामलाम्' धरती ने ऐसी असंख्य प्रतिभा को जन्म दिया है कि जिनसे मानवता का कल्याण हुआ है जीवन के बंध टूटे हैं इतिहास को नई दशा मिली है, देश का सांस्कृतिक विकास हुआ है सामाजिक-मूल्यों में परिवर्तन हुआ है और साहित्य में नए युग का आविर्भा

हुआ है। भारतेन्दु ऐसे ही प्रतिभाशाली महापुरुष थे जिन्होंने हिन्दी साहित्य में नए युग का प्रवर्तन किया।

आधुनिक हिन्दी और उसके साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कवि, नाटककार, लेखक सभी कुछ एक साथ थे। हिन्दी-गद्य को खड़ी बोली का रूप प्रदान करने का श्रेय इनको ही है। लोक-जीवन में हिन्दी को इन्होंने ही प्रतिष्ठित किया। वास्तव में इन्होंने हिन्दी को वर्तमान पद प्रदान करने के लिए बहुत परिश्रम किया। सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने ही यह मूल मन्त्र दिया था—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥"

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देश की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति बहुत ही बिगड़ती जा रही थी। अंग्रेजी शासन स्थापित हो चुका था। भारतीय जनता ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्ति की थी, परन्तु दुर्भाग्यवश पारस्परिक फूट के कारण उसमें असफलता मिली और अंग्रेजों के पैर यहाँ पर दृढ़ता से जम गए। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालकर शासन करने की नीति को अपना लिया। सरकारी कार्यालयों तथा न्यायालयों में अंग्रेजी तथा उर्दू को मान्यता दी गई और हिन्दी का बहिष्कार हुआ। विद्यालयों में भी उर्दू को ही उच्च स्थान दिया गया। इससे हिन्दी का विकास अवरुद्ध हो गया। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य में पदार्पण कर एक नवीन युग का सूत्रपात किया।

भारतेन्दुजी को कविता करने का शौक बाल्यकाल से ही था। उनके पिता भी एक अच्छे कवि और नाटककार थे। घर के साहित्यिक वातावरण का बालक हरिश्चन्द्र पर प्रभाव पड़ा। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने पाँच वर्ष की आयु में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया था—

"लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर के असुर को, हनन लगे भगवान॥"

भारतेन्दु ने १६ वर्ष की अवस्था में साहित्य और सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश किया और निरंतर अठारह वर्ष तक वे हिन्दी तथा हिन्दू-जाति की सेवा करते रहे। यद्यपि उन्होंने केवल चौंतीस वर्ष की अल्प आयु ही प्राप्त की थी, परन्तु इस थोड़े से समय में भी उन्होंने इतनी अधिक रचनाएँ कीं कि उनको देखकर कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

कवि भारतेन्दु—भारतेन्दु साधारण कवि नहीं थे। उनको हिन्दी के महान् कवियों में विशेष स्थान प्राप्त है। उनका काव्य बहुत ही विस्तृत एवं विविधता-

पूर्ण है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में कविताएँ भी हैं। परन्तु खड़ी बोली म उनकी कविता तुकबन्दी से आगे नही बढ सकी। उनकी कविताओ को चार भागो में विभक्त किया जा सकता है—1 भक्ति सम्बन्धी,' 2 शृगार-सम्बन्धी, 3 देश प्रेम-सम्बन्धी, 4 समाज-सुधार-सम्बन्धी।

भक्ति-सम्बन्धी काव्य—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र राधा-कृष्ण के परम भक्त थे। सूरदास की भाँति उन्होंने भी लगभग डेढ हजार भक्ति के पद लिखे हैं। उनके भक्ति-सम्बन्धी ग्रथो की सख्या लगभग इक्तालीस है। सूर की छाप भारतेन्दु पर स्पष्ट दिखाई देती है। कवि ने बाल-लीला, वशी-वर्णन, भ्रमरगीत आदि भी लिखे हैं। उनसे काव्य मे भक्ति छलकी पडती है।

"हम तो मोल लिए या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धु दास गुनकर के।
हरिश्चन्द्र तुम्हरोई कहावत नहीं विधि के नहीं हरि के।

शृ गार सम्बन्धी काव्य—शृगार-सम्बन्धी रचनाएँ कवि ने घनानन्द और रसखान की भाँति कवित्त और सवैया मे की हैं। शृगार के दोना पक्ष ही सुन्दर बन पडे हैं। उनके शृगार मे रीतिकालीन शृगार-जैसी अश्लीलता नही है। यह सयत एव शिष्ट है। उसका शृगार-रस का वर्णन भी पढते ही बनता है—

'तू केहि चितवत चकित मृगी सी।
के ढू ढति तेरो कहा खोयो, क्यों अकुलाती लखाति ठगी सी।
तन सुधिकरु उधरत री आंचर, कौन खयाल तू रहती खगी सी॥"

देश प्रेम सम्बन्धी काव्य—भारतेन्दुजी का अधिकाश साहित्य देश भक्ति से ओत प्रोत है। 'भारत-दुर्दशा' और 'नीलदेवी' नाटको मे उनको देश भक्ति स्पष्ट दिखाई देती है। वे हिन्दू और मुसलमानो की एकता के पक्षपाती थे—

जीवन ससरग जात बोसगत इनसों छूटें।
सब सुपथ पथ चले नित ही सुख सम्पति लूटें॥"

देशभक्ति भारतेन्दु जी के काव्य का प्राण है। भारत की दुर्दशा को देख कर उनका हृदय रो उठता है। वे कहते हैं—

'आवहु सब रोवहु मिलि के भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखि जाई॥'

अग्रेज भारतवर्ष के धन को विदेश मे ले जा रहे हैं। यह उन्हें सहन नहीं—

अग्रेज राज सुख साज सज सब भारी।
प धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥"

समाज-सुधार सम्बन्धी काव्य—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समाज-सुधारक कवि थे। उनका ध्यान समाज में प्रचलित दोषों की ओर भी गया और उन्होंने उन्हें दूर करने का प्रयत्न भी किया। उन्होंने आडम्बरों व पाखण्डों का भी खण्डन किया—

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन मांहि घुसाये।
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाये।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो,
विधवा ब्याह निसेध कियो, व्यभिचार प्रचारयो।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रकृति-वर्णन भी किया परन्तु उसमें उन्हें विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। उनके प्रकृति-वर्णन का एक उदाहरण नीचे दिया गया है—

"लोल लहर लहि पवन एक पर इक इमि आवत।
जिमि नागरन विविध मनोरथ करत मिटावत।।"

नाटककार भारतेन्दु—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी आधुनिक हिन्दी नाटकों के भी जन्मदाता हैं। नाटकीय तत्त्वों को लेकर हिन्दी में सर्वप्रथम हरिश्चन्द्र ही आये। इनके नाटकों में प्राचीन तथा नवीन दोनों शैलियों के ही दर्शन होते हैं। इन्होंने नाटकों की रचना 'अभिनय' की दृष्टि में रखकर की। भारतेन्दु जी के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक, अनुवादित। सच तो यह है कि भारतेन्दु जी के नाटक हिन्दी की अमर सम्पत्ति हैं। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने तो उनके विषय में कहा है—"भारतेन्दु के बाद आज तक कोई नाटककार हिन्दी में पैदा नहीं हुआ।"

गद्यकार भारतेन्दु—भारतेन्दुजी जितने महान् कवि तथा नाटककार थे, उतने ही महान् गद्यकार भी। यह कहना सत्य ही है कि भारतेन्दुजी आधुनिक हिन्दी-गद्य के जन्मदाता हैं। उन्होंने हिन्दी भाषा को शुद्ध किया। हिन्दी गद्य में हास्य और व्यंग्य का सूत्रपात सर्वप्रथम उन्होंने ही किया। भारतेन्दुजी ने कई पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित कीं। इनके अतिरिक्त भारतेन्दुजी ने इतिहास, निबन्ध, आलोचना और आख्यान भी लिखे। अपने उपन्यास लिखने का भी प्रयत्न किया। भारतेन्दुजी ने स्वयं ही साहित्य की सेवा नहीं की बल्कि हिन्दी साहित्य-सेवियों का एक मण्डल भी तैयार किया जो साहित्य के भण्डार को भरता रहा।

भारतेन्दुजी का हिन्दी साहित्य में स्थान—भारतेन्दुजी एक अपूर्व कवि, अद्वितीय नाटककार, सफल इतिहास-लेखक, कुशल निबन्धकार और अपने के सुप्रसिद्ध लेखक थे। वे आधुनिक हिन्दी युग के निर्माता हैं, हिन्दी गद्य

दाता हैं और हिन्दी नाटकों के नायक हैं। यदि अपने समकालीनों प० बाल कृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास आदि लेखकों के पथ प्रदर्शक हैं और हैं हिन्दी में अमर गायक कवि, जिन्होंने सर्वप्रथम हमें देश भक्ति का पाठ पढ़ाया। कवि वर सुमित्रानन्दन पन्त जी ने उनके विषय में सच ही कहा—

"भारतेन्दु कर गये भारती की वाणी निर्माण।"

२६ | राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के राष्ट्रकवि थे। उनकी रचनाओं में सर्वत्र राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व हुआ है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश ने जो स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी, उसकी काव्यमयी व्यंजना गुप्त की रचनाओं में हुई। गांधीजी के राजनीति और समाज-विषयक विचारों को गुप्तजी ने उसी प्रकार कविता में प्रस्तुत किया जिस प्रकार प्रेमचन्द्रजी ने अपने उपन्यासों में किया है। जब देश की जनता स्वाधीनता के लिए छटपटा रही थी और हजारों-लाखों सत्याग्रही वीर अंग्रेजी नौकरशाही की लाठियों, गोलियों और जेलों की यन्त्रणाएँ सह रहे थे उस समय गुप्तजी ने अपनी देश प्रसिद्ध काव्य पुस्तक 'भारत-भारती' रची। यह माँ के चरणों की पूजा का प्रथम पुष्प था। 'भारत-भारती' के बाद भी गुप्तजी ने गांधीजी के सत्याग्रह और अहिंसा की नीति, खादी और रचनात्मक कार्यक्रम हिन्दू मुसलमानों की साम्प्रदायिक एकता इत्यादि के समर्थन में कई काव्य-पुस्तकें लिखीं। अछूतोद्धार और स्त्री शिक्षा इत्यादि के आन्दोलनों का समर्थन भी गुप्तजी ने अपनी रचनाओं में किया। वस्तुतः गुप्त जी अपने सारे जीवन भर जनता के मन के साथ-साथ चलते रहे हैं। राष्ट्र की भावनाएँ उनकी वाणी द्वारा प्रकट हुईं। इसीलिए उन्हें राष्ट्रकवि का गौरव प्राप्त हो सका।

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग की काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। सच तो यह है कि द्विवेदीजी ने ही गुप्तजी को प्रोत्साहन दिया। गुप्तजी की रचनाएँ द्विवेदीजी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका में नियमित रूप से प्रकाशित होती रहीं, जिससे हिन्दी के क्षेत्र में गुप्तजी का विशिष्ट स्थान बन गया। बाद में गुप्तजी ने बंगला भाषा से कई उत्तम काव्य-ग्रन्थों के अनुवाद किए और अपनी प्रतिभा एवं साधना द्वारा हिन्दी जगत में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की।

द्विवेदी-युग की कविता की विशेषता उपदेशात्मकता, नीरसता और इति वृत्तात्मकता थी। उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता गुप्तजी की रचनाओं

की मुख्य विशेषता है। जहाँ तक नीरसता का प्रश्न है गुप्तजी की प्रारम्भिक रचनाएँ न तो अत्यधिक सरस होती थी और न अत्यधिक नीरस। गुप्तजी की रचनाओ मे गद्यात्मकता पर्याप्त रहती थी। इतने पर भी उनकी पद्य-रचना निर्दोष थी। उनके छन्द, न केवल मात्रा यति और गति के दृष्टि से पूर्ण है, अपितु अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी उन्होने बडी कुशलता से किया है। तुक मिलाने मे वे इतने पटु हैं कि साधारणतया उनकी तुको के आधार पर यह जाना जा सकता है कि अमुक रचना गुप्तजी की है। फिर भी शब्दो के चुनाव, भावो की अभिव्यक्ति और अन्त्यानुप्रास की जोड-तोड के कारण गुप्तजी की रचनाओ म गद्यात्मकता छिप नही पाती। तुकबन्दी का मोह उन्हे उच्च कवि की श्रेणी तक नही पहुचने देता।

गुप्तजी ने तीन दर्जन स अधिक काव्य रचनाएँ हिन्दी-साहित्य को प्रदान की है। इनमे महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति-नाट्य और चम्पू इत्यादि कई शैलिया म लिखी गई रचनाएँ सम्मिलित हैं। उनके साकेत और जयभारत' महाकाव्य हैं, 'पचवटी जयद्रथवध' काबा और कर्बला इत्यादि खण्ड-काव्य हैं, अनघ' गीतिनाट्य है और 'यशोधरा' चम्पू-काव्य अर्थात गद्य-पद्य मिश्रित रचना है।

गुप्तजी की कीर्ति का मुख्य आधार उनका महाकाव्य 'साकेत और चम्पू-काव्य यशोधरा है। या तो 'भारत भारती' के कारण उन्हे अधिक ख्याति प्राप्त हुई है किन्तु भारत भारती' के द्वारा उनका राष्ट्र प्रेम अधिक प्रकट हुआ है काव्य-कौशल कम। किन्तु 'साकेत' और यशोधरा गुप्तजी की काव्य-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

साकेत की रचना उर्मिला के चरित्र को विकसित करने के लिए की गई है। किसी समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य की उपेक्षिताएँ' शीर्षक से एक निबन्ध लिखा था, जिसमे रामायण की उर्मिला और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की अनुसूया, प्रियम्वदा इत्यादि को उपेक्षिता बताते हुए उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई थी और यह आशा प्रकट की गई थी कि कोई भावी कलाकार इन उपेक्षिताओ के प्रति न्याय करेगा। उसी निबन्ध से प्रेरित होकर गुप्तजी ने उर्मिला को उपेक्षा के अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में लाने के लिए साकेत' की रचना की। साकेत मे गुप्तजी ने उर्मिला का जैसा चित्रण किया है उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि इतने दिन तक काव्य की उपेक्षिता बनकर रहना उर्मिला के लिए बुरा रहा था। 'साकेत' की [illegible] हमारे सम्मुख वाल्मीकि और गुप्तजी की उर्मिला भी आती। [illegible] काव्यों म उपेक्षित रहने पर भी उर्मिला का [illegible] धुंधला-सा [illegible] पाठक के मन पर अंकित हो जाता है।

दाता हैं और हिन्दी नाटकों के नायक हैं। यदि अपने समकालीनों पं० बाल कृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास आदि लेखकों के पथ प्रदर्शक हैं और हैं हिन्दी के अमर गायक कवि, जिन्होंने सर्वप्रथम हमें देश भक्ति का पाठ पढ़ाया। कवि वर सुमित्रानन्दन पन्त जी ने उनके विषय में सच ही कहा—

"भारतेन्दु कर गये भारती की वाणी निर्माण।"

२६ | राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के राष्ट्रकवि थे। उनकी रचनाओं में सर्वत्र राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व हुआ है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश ने जो स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी उसकी काव्यमयी व्यंजना गुप्त जी की रचनाओं में हुई। गांधीजी के राजनीति और समाज विषयक विचारों को गुप्तजी ने उसी प्रकार कविता में प्रस्तुत किया जिस प्रकार प्रेमचन्द्रजी ने अपने उपन्यासों में किया है। जब देश की जनता स्वाधीनता के लिए छटपटा रही थी और हजारों-लाखों सत्याग्रही वीर अंग्रेजी नौकरशाही की लाठियों, गोलियों और जेलों की यन्त्रणाएँ सह रहे थे उस समय गुप्तजी ने अपनी देश प्रसिद्ध काव्य पुस्तक 'भारत भारती' रची। यह माँ के चरणों की पूजा का प्रथम पुष्प था। 'भारत भारती' के बाद भी गुप्तजी ने गांधीजी के सत्याग्रह और अहिंसा की नीति, खादी और रचनात्मक कार्यक्रम हिन्दू-मुसलमानों की साम्प्रदायिक एकता इत्यादि के समर्थन में कई काव्य-पुस्तकें लिखीं। अछूतोद्धार और स्त्री शिक्षा इत्यादि के आन्दोलनों का समर्थन भी गुप्तजी ने अपनी रचनाओं में किया। वस्तुतः गुप्त जी अपने सारे जीवन भर जनता के मन के साथ-साथ चलते रहे हैं। राष्ट्र की भावनाएँ उनकी वाणी द्वारा प्रकट हुईं। इसीलिए उन्हें राष्ट्रकवि का गौरव प्राप्त हो सका।

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग की काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। सच तो यह है कि द्विवेदीजी ने ही गुप्तजी को प्रोत्साहन दिया। गुप्तजी की रचनाएँ द्विवेदीजी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' पत्रिका में नियमित रूप से प्रकाशित होती रहीं, जिससे हिन्दी के क्षेत्र में गुप्तजी का विशिष्ट स्थान बन गया। बाद में गुप्तजी ने बंगला भाषा से कई उत्तम काव्य-ग्रन्थों के अनुवाद किए और अपनी प्रतिभा एवं साधना द्वारा हिन्दी-जगत में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की।

द्विवेदी-युग की कविता की विशेषता उपदेशात्मकता, नीरसता और इतिवृत्तात्मकता थी। उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता गुप्तजी की रचनाओं

की मुख्य विशेषता है। जहाँ तक नीरसता का प्रश्न है गुप्तजी की प्रारम्भिक रचनाएँ न तो अत्यधिक सरस होती थी और न अत्यधिक नीरस। गुप्तजी की रचनाओ मे गद्यात्मकता पर्याप्त रहती थी। इतने पर भी उनकी पद्य रचना निर्दोष थी। उनके छन्द न केवल मात्रा, यति और गति के दृष्टि से पूर्ण है, अपितु अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी उन्होने बडी कुशलता से किया है। तुक मिलाने मे वे इतने पटु है कि साधारणतया उनकी तुको के आधार पर यह जाना जा सकता है कि अमुक रचना गुप्तजी की है। फिर भी शब्दो के चुनाव, भावो की अभिव्यक्ति और अन्त्यानुप्रास को जोड-तोड के कारण गुप्तजी की रचनाओ मे गद्यात्मकता छिप नही पाती। तुकबन्दी का मोह उन्हे उच्च कवि की श्रेणी तक नही पहुचने देता।

गुप्तजी ने तीन दजन से अधिक काव्य-रचनाएँ हिन्दी-साहित्य को प्रदान की है। इनमे महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति नाटय और चम्पू इत्यादि कई शैलियो मे लिखी गई रचनाएँ सम्मिलित है। उनके साकेत और 'जयभारत' महाकाव्य हैं, 'पचवटी', 'जयद्रथवध', 'काबा और कबला' इत्यादि खण्ड-काव्य हैं, 'अनघ' गीतिनाटय है और 'यशोधरा' चम्पू-काव्य अर्थात गद्य-पद्य मिश्रित रचना है।

गुप्तजी की कीर्ति का मुख्य आधार उनका महाकाव्य 'साकेत और चम्पू-काव्य यशोधरा है। यो तो 'भारत भारती के कारण उन्हे अधिक ख्याति प्राप्त हुई है किन्तु भारत-भारती के द्वारा उनका राष्ट्र प्रेम अधिक प्रकट हुआ है, काव्य-कौशल कम। किन्तु 'साकेत' और यशोधरा' गुप्तजी की काव्य-कला के उत्कृष्ट नमूने है।

साकेत' की रचना उर्मिला के चरित्र को विकसित करने के लिए की गई है। किसी समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'काव्य की उपेक्षिताएँ शीर्षक से एक निबन्ध लिखा था, जिसमे 'रामायण की उर्मिला और 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम् की अनुसूया प्रियम्वदा इत्यादि को उपेक्षिता बताते हुए उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई थी और यह आशा प्रकट की गई थी कि कोई भावी कलाकार इन उपेक्षिताओ के प्रति न्याय करेगा। उसी निबन्ध से प्रेरित होकर गुप्तजी ने उर्मिला को उपेक्षा के अन्धकार से निकाल कर प्रकाश मे लाने के लिए साकेत' की रचना की। 'साकेत' मे गुप्तजी ने उर्मिला का जैसा चित्रण किया है, उसे देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि इतने दिन तक काव्य की उपेक्षिता बनकर रहना उर्मिला के लिए बुरा रहा हो। 'साकेत को पढ़कर हमारे सम्मुख वाल्मीकि और तुलसी की उर्मिला नही आती। इन दोनो महाकाव्यो मे उपेक्षित रहने पर भी उर्मिला का एक धुधला-सा किन्तु सुदर चित्र पाठक के मन पर अकित हो जाता है।

'साकेत' में गुप्तजी ने उर्मिला की विरह-व्यथा को मुखरित करने का प्रयत्न किया है। इसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली है किन्तु यह विरह का वर्णन बहुत लम्बा और इसलिए असंतुलित-सा हो गया है।

मैथिलीशरणजी तुलसीदासजी की भाँति मर्यादावादी हैं और तुलसीदासजी से भी अधिक आदर्शवादी प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि जहाँ तुलसीदासजी ने राम के वनवास का दोष कैकेयी के सिर से हटाकर भगवान के सिर डाल दिया, वहाँ भी वे कैकेयी के मन में श्रेष्ठ भावनाओं का संचार प्रदर्शित करने का साहस न कर सके क्योंकि ऐसा करना काव्य के औचित्य के प्रतिकूल होता। परन्तु मैथिलीशरणजी ने कैकेयी में भी उन्नततर भावनाओं का विकास प्रदर्शित किया है और यह समझा है कि इस प्रकार उन्होंने कैकेयी के चरित्र को उन्नत कर दिया है।

'साकेत' की रचना उर्मिला को अन्धकार में से निकालने के लिए की गई है। उर्मिला के साथ-साथ लक्ष्मण का चरित्र भी प्रमुख हो जाना स्वाभाविक है परन्तु मैथिलीशरण जी राम के इतने भक्त हैं कि 'साकेत' में राम और सीता ही प्रधान बन बैठे हैं। लक्ष्मण और उर्मिला उनके गौरव से न्यून प्रतीत होते हैं।

'यशोधरा' की रचना 'साकेत' की अपेक्षा अधिक सरस है। इसमें गुप्तजी ने एक पतिपरायणा किन्तु स्वाभिमानिनी नारी का चित्रण किया है जो जितना प्राचीन है, उतना ही नवीन और मनोहर भी। गौतम यशोधरा को त्याग कर निर्वाण की खोज में चले गये। उस विरह को यशोधरा ने कितनी दृढ़ता और सहिष्णुता के साथ सहन किया और जब तक गौतम स्वयं ही चलकर उसके पास न आये, तब तक वह उनके पास नहीं गई, इसका चित्रण गुप्त जी ने बड़ी सफलता के साथ किया है। यशोधरा को दुःख इस बात का नहीं है कि गौतम उसे त्यागकर क्यों चले गये अपितु उसे व्यथा इस बात की है कि वे उसे बता कर क्यों नहीं गये। अगर बताकर जाते, तब भी तो वह उनकी सफलता के मार्ग में बाधा न बनती। यशोधरा अपने पुत्र राहुल का लालन-पालन करने में ही अपने दुःख को भुलाए रखती है। अन्त में यशोधरा की विजय होती है। गौतम स्वयं उसके पास आते हैं और जो परम ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ है वह यशोधरा को भी प्रदान करते हैं। यशोधरा पुत्र राहुल के साथ संघ में दीक्षित हो जाती है।

'यशोधरा' में गुप्तजी ने बहुत कुछ स्वाधीनता से काम लिया है। यथावसर उन्होंने छन्द का बन्धन त्यागकर गद्य का सहारा लिया है और पद्य में भी कहीं कहीं अन्त्यानुप्रास का बन्धन छोड़ दिया है। इसका फल अच्छा हुआ है। भावनाएँ उन्मुक्त होकर अपने सहज रूप में प्रवाहित हो पाई हैं और इसी-

लिए पाठक के हृदय को सरलता से स्पर्श कर लेती है। 'यशोधरा' की कुछ पंक्तियाँ तो लोकोक्तियों की भाँति प्रचलित हो गई हैं। जैसे—

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

यशोधरा' में प्रबन्धात्मकता का अंश अवश्य है किन्तु उसमें मुक्तक गीतों का भी अभाव नहीं है। यशोधरा के कुछ गीत भावनाओं की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं। कुछ गीतों की शब्द-रचना भी उत्कृष्ट है। गीत में भाषा का ऐसा परिमार्जन अभीष्ट होता है कि उसका जरा सा अंश भी खुरदरा या गद्यात्मक न रहने पाए। गुप्तजी की भाषा में वैसी कोमलता नहीं रहती जैसी गीतों के लिए अभीष्ट है। उनके गीतों में कोई-न-कोई पंक्ति ऐसी अवश्य आ जाती है जो फूलों के गुच्छे में सूखी हुई पत्ती के समान खटकती है। मुक्तक-काव्य-रचना में गुप्तजी को वैसी सफलता नहीं मिली जैसी प्रबन्ध-काव्य लिखने में मिली है।

'साकेत और यशोधरा के अतिरिक्त गुप्तजी ने जयद्रथ वध, 'पंचवटी', 'अनघ इत्यादि अनेक रचनाएँ लिखी हैं। उनका 'अनघ' गांधीजी के सिद्धांतों के समर्थन में लिखा गया है। इसमें उन्होंने सत्याग्रह के महत्त्व अछूतोद्धार और ग्राम-सुधार इत्यादि समस्याओं को उठाकर रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति-पादन के प्रति आग्रह भाव प्रकट किया है।

'पंचवटी' में बाह्य प्रकृति और मानवीय भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है। यद्यपि यह पुस्तक आकार की दृष्टि से छोटी ही है परन्तु उसमें राम, सीता और लक्ष्मण के वनवास-जीवन की एक सुन्दर झलक हमें देखने को मिल जाती है। वास्तव में गुप्तजी की सर्वाधिक सफल रचना यही है।

गुप्तजी ने यत्नपूर्वक विभिन्न सम्प्रदायों और धर्मों के प्रसंगों को लेकर अपनी रचनाएँ लिखी हैं। उनका साकेत राम-चरित्र पर आधारित है 'द्वापर' कृष्ण चरित्र पर 'यशोधरा' बुद्ध चरित्र पर 'गुरुकुल सिक्ख गुरुओं के चरित्र पर, काबा और कर्बला मुसलमानी इतिहास पर। इस प्रकार उन्होंने अपने काव्य में देश के सभी सम्प्रदायों को स्थान देकर उन सभी का प्रतिनिधित्व करने का यत्न किया है। उनकी प्रवृत्ति तुलसी की भाँति समन्वय की है। इसी कारण वे राष्ट्र-कवि के अधिकारी भी बन पाये हैं।

गुप्तजी की रचनाएँ द्विवेदी-युग की मनोवृत्ति से प्रेरित हैं उनमें इति-वृत्तात्मकता अधिक है। परन्तु द्विवेदी-युग के उपरान्त जब तक छायावाद का विकास हुआ उस समय गुप्तजी भी छायावाद से प्रभावित हुए और उन्होंने भी स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म भावनाओं और सौन्दर्य का चित्रण करना प्रारम्भ

किया। उनके प्रकृति-वर्णनों में भी जहाँ-तहाँ प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोप किया गया है, जो छायावाद की विशेषता है। गुप्तजी के प्रकृति वर्णन सरल और सरस हैं।

जहाँ तक भाषा और शैली का सम्बन्ध है, गुप्तजी की भाषा अत्यन्त परिमार्जित और सुगठित है। उनकी कविता में यथास्थान अलंकारों का भी उचित प्रयोग हुआ है। उनकी रचनाओं में शृंगार, करुण वीर और वात्सल्य रस की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है, किन्तु मर्यादाप्रिय होने के कारण उन्होंने शृंगार का वर्णन बहुत संयत और शिष्ट रूप में किया है।

गुप्तजी ने विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। तुकान्त, अतुकांत और गीति छन्दों पर उन्होंने अच्छा अधिकार प्रदर्शित किया है। गुप्तजी की भाषा संस्कृतनिष्ठ है। कहीं-कहीं वे ऐसे क्लिष्ट शब्दों का भी प्रयोग कर बैठते हैं जो संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए दुर्बोध हो जाते हैं और कहीं-कहीं वे प्रान्तीय बोलियों के शब्दों को भी जैसे 'किजो' 'दीजो' इत्यादि को अपनी कविता में स्थान दे देते हैं, जिसके कारण रचना अपरिष्कृत सी प्रतीत होने लगती है। कहीं-कहीं तत्सम और तद्भव शब्दों का साथ साथ प्रयोग होने के कारण भी भाषा का रूप विकृत हो जाता है। इन सब दोषों के होते हुए भी गुप्तजी की भाषा अधिकांशतः संगत, परिष्कृत और अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ है।

देश प्रेम और राष्ट्रीयता गुप्तजी की नस-नस में रमी हुई है, वे सदा अपने देश और काल की भावनाओं के साथ चलते रहे हैं। गुप्तजी के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह सम्मति बिल्कुल सत्य है—

गुप्तजी सामंजस्यवादी कवि हैं। मद में झूलने वाले या प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों उनमें हैं। यही राष्ट्रीय कवि के रूप में उनकी सफलता का मूल कारण और रहस्य भी है।

३० | प्रसाद की काव्य साधना

महाकवि प्रसाद युग प्रवर्तक युग द्रष्टा, युग प्रतिनिधि कवि थे। इसका कारण उनकी अलौकिक सर्वतोमुखी प्रतिभा और विशाल दृष्टिकोण है। महा-गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य कोई भी हिन्दी का कवि ऐसा जिसने देशकाल की सीमाओं को लाँघकर सम्पूर्ण मानवता के लिए

कह उठता है—

'मेरी आँखों की पुतली में, तू बनकर प्राण समा जा रे।
जिससे कण कण में स्पंदन हो, मन में मलयानिल चंदन हो।
करुणा का नव अभिनन्दन हो, वह जीवन गीत सुना जा रे॥"

'कामायनी' प्रसादजी का महान प्रबन्ध-काव्य है। अधिकांश विद्वान् तो 'कामायनी' को आधुनिक युग का महानतम महाकाव्य मानते हैं। कवि की यह काव्य-साधना आधुनिक हिन्दी कविता के विकास की साधना है। यह कवि की अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट रचना है। प्रसाद जी की मृत्यु के पश्चात इस पर बारह सौ रुपयों का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला था। इसमें पन्द्रह सर्गों में सारी कथा दी गई है। 'कामायनी' में मानव सभ्यता के विकास का आदि से लेकर अन्त तक प्रतीकात्मक विश्लेषण किया गया है। कामायनी' के वर्णन बड़े जोरदार हैं फिर भी संकेतात्मक। चरित्र चित्रण की रेखाएँ एक दक्ष शिल्पी की तूलिका के संस्पर्श की परिचायक हैं। क्या रूप, क्या प्रभाव, क्या गुण सब ही कुछ शब्दों में छलके पड़ते हैं। गदराये सेव की भाँति 'कामायनी' के छन्दों का सौन्दर्य आन्तरिक भाव की मधुरिमा को प्रकट करता है कामायनी' 'राम चरित मानस' के समान युग युग का काव्य है। कुछ पंक्तियाँ यह प्रमाणित कर देंगी—

'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग॥"

× × ×

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजतनग पगतल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥'

छायावादी कवियों की रचनाओं में रहस्यवादिता भी सबसे अधिक प्रसाद के काव्य में ही दिखाई पड़ी। कवि ने शैवों के प्रत्यभिज्ञादर्शन को अपने चिंतन का मूल आधार बनाया और चरम आनन्द की साधना को जीवन का कर्तव्य माना।

जयशंकर प्रसाद के काव्य में राष्ट्रीयता के भी दर्शन होते हैं। कवि ने साहित्य की अनेक शैलियों में अपनी प्रतिभा का प्रसार दिखाया था। उनके नाटक राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हैं तो उपन्यास और कहानियों में जनहित का पक्ष विशेष रूप से मुखरित हुआ है। परन्तु इसके साथ-साथ उनके काव्य में भी राष्ट्रीय भावना व्यापक रूप से उपस्थित है। प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक चन्द्रगुप्त में अलका का निम्नलिखित गान उल्लेखनीय है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती॥

प्रशस्त पुण्य-पन्थ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो ॥"

असमर्थ वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।

प्रसादजी की कविता में 'छायावाद' के सभी बाह्यांग प्रौढ़ रूप में उपलब्ध हैं। उनकी अप्रस्तुत-योजना बहुत ही समृद्धिशाली एवं सशक्त है। उनकी लाक्षणिक भाषा में भाव-प्रेरित वचन-वक्रता का अनुपम सौन्दर्य है और उनकी कल्पनाएं शब्दों की 'ध्वनियों' और अर्थों से रमणीय मूर्त विधान करने में सक्षम हैं।

महाकवि प्रसाद में मानवीकरण की प्रवृत्ति अन्य सभी छायावादी कवियों से सर्वाधिक पायी जाती है। कवि की इस प्रवृत्ति के मुक्तक उदाहरणों के अतिरिक्त कामायनी में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं। इसमें कवि ने लज्जा, श्रद्धा, सौन्दर्य आदि सूक्ष्म वृत्तियों के बड़े सुन्दर मानवीय रूप उपस्थित किये हैं। इस युग में गीति-काव्य का भी बहुत प्रचलन हुआ। इस दिशा में किये गए प्रसाद के प्रयोगों को भाव और कला की दृष्टि से बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है।

प्रसाद भाव-लोक में जितने महान् हैं, शैली के क्षेत्र में भी उतने ही सक्षम हैं। उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही शलियों को अपनाया। मुक्तक शैली में तो केवल निराला ही उनसे टक्कर ले सकते हैं। 'प्रलय की छाया में' और 'पेशोला की प्रति-ध्वनि' उनकी स्वच्छन्द छन्द की अद्भुत कृतियाँ हैं। प्रसाद ने अलंकारों का प्रयोग भी बड़ी स्वाभाविकता से किया है। उपमा और उत्प्रेक्षाएं सर्वथा नवीन तथा मौलिक हैं। भाषा की दृष्टि से भी प्रसादजी का विशेष महत्त्व है। उनकी भाषा के भी दो रूप हैं—१ व्यावहारिक भाषा, २ संस्कृतनिष्ठ भाषा। प्रसादजी की भाषा में भी सभी स्थानों पर स्वाभाविकता है। शब्द-चयन बड़ा अद्वितीय है। भाषा में प्रौढ़ता सौन्दर्य-प्रवाह और सौष्ठव है। तुकान्त के लिए कवि ने भद्दे तथा ग्रामीण शब्दों का प्रयोग नहीं किया। भाषा की तरह उनकी शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिमार्जित है। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव पैदा कर देना और फिर उसमें संगीत तथा लय का विधान करना उनकी शैली की प्रमुख विशेपता है। ओज, माधुर्य और प्रसाद सभी गुण उनकी शैली में हैं। चित्रमयता उनकी शैली का एक विशेष गुण है।

प्रसादजी हिन्दी के युगान्तरकारी कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में युग से ऊपर जीवन के महान तत्त्वों में सामंजस्य लाने का सफल प्रयत्न किया है। दार्शनिक भाव भूमि पर आकर प्रसादजी ने वर्तमान युग के पीड़ित और जर्जरित मानव को जो राह दिखाई है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। हिन्दी के वे वस्तुतः अद्वितीय कलाकार हैं। अपनी कल्पना के उद्यान में अपने भावों तथा विचारों

के सम वय म अपने प्रकृति चित्रण मे, अपने भावो को गीतात्मक रूप दन म वे नवयुग के साहित्य मे मूधन्य पद के अधिकारी हैं।

३१ | नाटककार प्रसाद

श्री जयशकर प्रसाद हिन्दी के सवश्रेष्ठ और युगान्तरकारी नाटककार हैं। उनकी नाट्यकला मे पुरातन और नूतन का अद्भुत मिलन हुआ है। उनके "सज्जन 'करुणालय 'प्रायश्चित' आदि आरम्भिक नाटको पर प्राचीन भारतीय नाट्यशिल्प का प्रभाव पडा है, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त का नाट्यशिल्प शेक्सपियर के नाट्यशिल्प से प्रभावित हैं। उनकी 'ध्रुवस्वामिनी' के नाट्य शिल्प पर शॉ और इब्सन का काफी प्रभाव है।

प्रसादजी विशेषत ऐतिहासिक नाटककार हैं। उन्होंने तेरह नाटक लिखे जिनमे से आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो प्रतीक नाटक हैं। 'एक घूट' और 'कामना' प्रतीक नाटक हैं ऐतिहासिक नही। पर हम यह भी कहे कहे कि आधुनिक युग की समस्याओ और उलझनो से कहानी ली गई है। अत हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी मूलत और पूणत अतीत के चितावन के नाटककार हैं। विशाख की भूमिका म प्रसाद जी ने अपने नाटकों की रचना का उद्देश्य इस प्रकार लिखा है— मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश म से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दशन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वतमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।'

हम जानते हैं कि प्रसादजी अपने इस उद्देश्य मे पूणत सफल हुए हैं। महाभारत स लेकर हषवद्धन तक के प्रमुख युगा के इतिहास को उन्होंने प्रकाशित किया है। बौद्ध काल मौय काल और गुप्तकाल आदि की राजनीतिक उथल पुथल का अकन उनकी सशक्त लेखनी न किया है। इतिहास के इतने युगो का इतना मार्मिक चित्रण शायद ही कोई दूसरा नाटककार कर सका हो। उन्होंने इतिहास के अप्रकाशित अगो का प्रकाशन किया और विदेशियों ने जो हमारा इतिहास विकृत कर दिया था उसको शुद्ध रूप म प्रस्तुत किया है। सास्कृतिक चेतना सवत्र प्रमुख है।

प्रसादजी ने इतिहास का अकन रसात्मक ढग से किया है। उन्होंने कल्पना का प्रयोग इतिहास की बातो को एकसूत्रता मे पिरोने के लिए किया है और नाटकीय प्रभाव व उद्देश्य की पूर्ति के लिए कल्पित पात्रो की सृष्टि की है। उन्होंने इतिहास को तोड मरोड कर प्रस्तुत नही किया। उसका विशुद्ध रूप

हमारे सामने रखा है। उनके नाटकों के अधिकांश स्त्री-पात्र कल्पित हैं और अधिकाश पुरुष-पात्र ऐतिहासिक। उनकी कल्पना का एक रूप देखिए।

डा० सोमनाथ गुप्त के अनुसार, 'ऐतिहासिक घटनाओं के कारण प्रसादजी की सीमाए कुछ सकुचित हो गई हैं। यद्यपि नाटक इतिहास नही होता परन्तु फिर भी किसी नाटक-लेखक को यह अधिकार नही रहता कि वह घटनाओ की सत्यता म परिवर्तन कर सके। प्रसाद जी की स्थिति इस दृष्टि से और भी कठिन थी। उनको घटनाओं के सम्बन्ध में निर्वाह की अनेक सूक्ष्म कड़ियाँ उन्हें प्राप्त नही थी। ऐसे स्थानो पर उन्होंने अपनी कल्पना की सजीवता से नाटक को और अधिक रुचिकर बना लिया है। स्त्री-पात्रों के सन्निवेश से वह कार्य अधिकाश मे सफल हो सका है।'

प्रसादजी के नाटको का सास्कृतिक महत्त्व भी है। डा० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटका का मूलाधार भारतीय सस्कृति को बताया है। उनके शब्दों मे, 'प्रसाद के सभी नाटको का आधार सास्कृतिक है। आर्य सस्कृति मे उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्राय वह परिच्छेद है—चन्द्रगुप्त मौर्य, हर्ष—जिसमें उसकी सस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध सस्कृतियों के सघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था। उनके नाटको में ब्राह्मण सस्कृति और बौद्ध सस्कृति का धूप छाँही आधार मिलता है।"

प्रसाद जी के नाटको मे निस्सदेह अतीत का चित्रण है, उनमे ऐतिहासिक तत्त्व की सुरक्षा है किन्तु फिर भी उनमें आधुनिक युग की समस्याओं का चित्राकन भी सशक्त और मुखर रूप से हुआ है। डा० सोमनाथ गुप्त ने लिखा है कि प्रसाद जी अपने युग से प्रभावित होकर इतिहास द्वारा अपने युग का चित्रण भी करते रहे हैं। उनके शब्दों मे 'चन्द्रगुप्त' में जिस प्रकार के राष्ट्रीय जागरण का चित्रण उन्होंने किया है और उसका जैसा विस्तार सगठित हुआ है उसके मूल मे आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप झलकता है। आय-पताका लेकर अलका देश-प्रेम की जो अलख जगाती फिरती है उनमे आधुनिकता का सच्चा रूप दिखाई पडता है। चाणक्य, सिंहरण और चन्द्रगुप्त के बीच जिस राष्ट्रीय भावना की चर्चा होती है उसका भी यही रूप है स्कदगुप्त जिस सम्पूर्ण आर्यावर्त्त की रक्षा का भार लेकर चलता है वह अवश्य ही गुप्त-साम्राज्य से महत्तर वस्तु है। पुरुषो की भाँति स्त्रियाँ भी जो इतना अधिक देशव्रत का सकल्प लिए दिखाई पडती हैं और पुरुषों की चिरसगिनी बन कर उनके उद्योग मे योग दे रही हैं उसके मूल मे भी वतमान युग की प्रवृत्ति है। ध्रुवस्वामिनी मे जो पुनर्विवाह और नारी समस्या खडी है उसमें भी आधुनिकता ही ध्वनित हो रही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी प्रसाद जी के नाटकों में आधुनिकता को स्वीकार किया है। उनका कहना है, 'प्रसाद के नाटक यद्यपि ऐतिहासिक हैं पर उनमे आधुनिक आदर्शों और भावनाओं का आभास इधर-उधर बिखरा मिलता है।' 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' दोनों में स्वदेश प्रेम, विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप-रंग बराबर झलकता है। आजकल के मजहबी दगों का स्वरूप भी हम 'स्कंदगुप्त' में देख सकते हैं।'

प्रसादजी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है युग की सामाजिक और दार्शनिक विचारधाराओं का निर्देश करना। उनके सभी नाटकों में दार्शनिकता विद्यमान है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' जसे पौराणिक नाटक में ऐक विशेष प्रकार का दार्शनिक संघर्ष है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य और दाण्ड्यायन प्रसाङ्गा के दर्शन को उपस्थित करते हैं। प्रेममूलक दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए प्रसादजी ने नारी-चरित्रों का सृजन किया है। अजातशत्रु और विशाख में बौद्ध दर्शन की झलक है। कामना में मानवीय मनोवृत्ति को चित्रित किया है। यों तो प्रसादजी के सभी नाटक मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए हैं परन्तु इसमें तो मन-सम्बन्धी वृत्तियों का ही संघर्ष है। संतोष' और विवेक' मनोभाव 'विनोद' और 'विलास' के संघर्ष में प्रदर्शित किए गए हैं। इस प्रकार प्रसादजी के नाटकों में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

डॉ० नगेन्द्र का दृढ मत है कि 'देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी साहित्य में कहीं नहीं देखा'। आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी 'चन्द्रगुप्त' में अनेक तीखे व्यंग्य हैं।

प्रसाद जी के नाटकों में दार्शनिक अभिव्यक्ति भी दर्शनीय है। उनके प्रत्येक नाटक में कोई न कोई पात्र दार्शनिक गुत्थियों को प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है। कहीं पर बौद्ध-दर्शन के दु:खवाद से प्रभावित होते हैं और कहीं शैव दर्शन के आनन्दवाद को मानकर चलते हैं। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में प्रसादजी के दर्शन की एक झलक इस प्रकार है—प्रेम के क्षेत्र में भी विपर्यय दिखाई पड़ता है। परन्तु प्रकृत सम्बन्ध का मूलसूत्र अवश्य ही दिव्य और मंगलमय है। यदि उसमें किसी प्रकार की विकृति आई भी तो प्रकृति सुधार का प्रयत्न करती है, प्रयत्न सफल होता है, विकृति के स्थान पर प्रकृति की विजय हो जाती है। यह विकृति द्वारा जनित दुर्बलता तभी उत्पन्न होती है जब स्त्री और पुरुष अपने-अपने माहात्म्य का सीमोल्लंघन करते हैं। जब एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने लगता है तो नाना प्रकार की अवस्थाएँ उत्पन्न होकर प्राकृत-सौन्दर्य को विकृत बनाने लगती हैं। यदि उनमें प्रकृत सम्बन्ध बना रहे तो समाज में सुख, शान्ति और मंगल की विभूति बिखर

जाती है।'

प्रसादजी की नाट्यकला की एक विशेषता यह भी है कि वह अपनी मूल वेदना म न सुखात है और न दु खात। डॉ० नगेन्द्र ने इसीलिए उनके नाटकों को 'प्रसादान्त' कहा है। प्रोफेसर शिलीमुख ने कहा है कि प्रसादजी की मुखान्त भावना प्राय वैराग्यपूर्ण शान्ति है।

प्रसादजी के नाटकों मे पात्रों की योजना और चरित्र-चित्रण का विशेष महत्त्व है। उन पर आरोप लगाया जाता है कि उनके पात्र या सिर्फ अच्छे हैं या सिर्फ बुरे। सच बात यह है कि उन्होंने पात्रों का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। पात्रों के गुणों के साथ-साथ उनकी कमजोरियों का चित्रण भी प्रसादजी ने किया है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाया गया है। उनके पात्र परिस्थितियों से लड़ते हुए नजर आते हैं। 'स्कन्दगुप्त' की विजया ऐसा ही पात्र है।

उनके नाटकों मे पात्रों की बहुलता है। उनके नायक धीरोदात्त भी होते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक का चाणक्य गूढ प्रकृति का पात्र है। नारी चित्रण में प्रसाद की विशेष क्षमता प्रकट हुई है। उन्होंने नारी की आदर्श कल्पना की है, परन्तु उसकी आकर्षक और विकर्षक रमणीक और भयावह कल्पना भी प्रस्तुत की है। नारी-चित्रण में प्रसादजी की अनुभूति और कल्पना को अधिक अवसर मिला है क्योंकि यहाँ उन पर इतिहास का बन्धन नहीं है। डॉ० सोमनाथ गुप्त के अनुसार प्रसाद की चरित्र-चित्रण कला इस प्रकार की है—'अपनी चरित्र चित्रण कला मे प्रसादजी ने एक नई प्रणाली का उपयोग किया। प्रत्येक नाटक म ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ एक ऐसा भी मनुष्य है जो विषमता म समता लाने का उद्योग करता है। सस्कारों मे परिवर्तन अधर्म पर धर्म की विजय, कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्व और विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करना उसका प्रधान कार्य है। कभी-कभी तो यह काम किसी साधु महात्मा से लिया गया है। जैसे दिवाकरमित्र, प्रेमानन्द व्यास, गौतम और मिहिरदेव आदि और कभी-कभी स्त्रियों ने गिरते हुओं को सभाला अपनी स्त्री-जन्य इच्छाओं का त्याग करके। अलका मालविका और देवसेना ऐसी ही सतनारियाँ हैं। सच बात यह है कि प्रसादजी चरित्र निर्माण में बहुत कुशल थे। इसीलिए उन्होंने ऐसे चरित्र रखे हैं जो ऐतिहासिक परिस्थिति का चित्रित कर सकें और साथ ही जिनमें नाटकीय चरित्र बनाने की क्षमता हो। उन्होंने काल्पनिक पात्रों का ऐतिहासिक पात्रों से योग किया है। इससे उनके नाटकों मे अनुरञ्जकता का वातावरण मिलता है। चरित्रों की नवीनता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण है। चरित्र-निर्माण सम्बन्धी उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सभी पात्रों मे एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा

की है।'

तत्कालीन युगो की सामाजिक और सास्कृतिक विकास धाराओं का चित्रण प्रसादजी ने किया है। यही कारण है कि उनके नाटको में पात्र बहुत हैं। प्रसादजी के पात्र मृत अतीत के निर्देशक नही हैं, वर्तमान के लिए भी वे सन्देश लिए हैं और भविष्य की छाया भी उनमें विद्यमान है। यदि उनके नाटक नई नाट्य-शैली का पूरी तरह अनुवर्तन नहीं करते, तो वे पुराने नाटकों के अनुकरण से भी दूर हैं।

प्रसादजी के नाटकों मे कथोपकथन का सौंदय भी दर्शनीय और महत्त्वपूर्ण है। ये सवाद नाटक के कथानक को बराबर अग्रसर करते हैं और पात्रों के चरित्र चित्रण मे पूरा योग देते हैं। उनके कथोपकथनों में सजीवता स्वाभाविकता और मार्मिकता मिलती है। उनके नाटकों के अनेक स्थलों के सवाद और विषय व्यावहारिक और विषय के अनुकूल हैं। पात्रो की प्रकृति के अनुकूल और कथा के अनुसार सवाद कहीं वेगयुक्त और मन्दगामी होते हैं। उनके नाटको मे प्रेम और भावुकता से युक्त कथोपकथन को प्रधानता मिली है और दूसरी ओर वीर रस का उत्साह, जोश और आवेश भरा हुआ रहता है। उनके सवादो में सक्रियता का रूप भी मिलता है। ये सवाद मात्र सवाद ही नहीं हैं अपितु शारीरिक क्रियाओं का अकन भी इनके द्वारा होता है।

प्रसादजी के नाटको के सवादो मे काव्यात्मक सौंदय विशेष-दर्शनीय है। उनका एक-एक सवाद गद्य-गीत का नमूना है। उनके सवादो मे उपमाओ और रूपकों की झडी होती है। इतना ही नहीं उनके प्रारम्भिक नाटकों के सवादो मे कविता का प्रयोग भी हुआ है और तुकान्त सवाद भी मिलते हैं। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का कहना है कि यो तो सवादो मे कविता का प्रयोग भारतीय नाट्य-परम्परा की वस्तु है परन्तु 'प्रसाद पर नवीन युग की पारसी पद्धति का प्रभाव दिखाई पडता है क्योंकि 'उत्तररामचरित' या 'अभिज्ञान शाकुन्तल' वाली काव्य-प्रयोग प्रणाली उन्होंने ग्रहण नही की।

डॉ० सोमनाथ गुप्त ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि सवाद और पात्रों द्वारा वस्तु निर्देशन (Delivery) मे प्रसाद ने एक नूतनता ला दी। भारतेन्दु-काल के सवादो का ढंग भी इनके सवादो मे बना रहा और साथ ही उनमे भावुकता की भी छाप लग गई। प्रसाद ने इस सम्बन्ध मे स्वगत और सूच्य' दोनों शैलियों का समुचित उपयोग किया है। कहीं-कहीं पर उनके पात्रों के अनावश्यक भावुक भाषण बडे अस्वाभाविक एव अरुचिकर हो गए हैं। परन्तु यह त्रुटि कुछ सीमा तक क्षम्य हो सकती है। प्रसाद का हृदय भावुक कवि का हृदय था अतएव यदि किसी स्थल पर वह अपने नाटककार रूप मे कवि रूप का आधिक्य कर दें तो कोई आश्चय की बात नहीं।

प्रसाद के नाटकों की एक विशेषता है गीत-योजना। प्रसाद के गीत तीन प्रकार के हैं जो पात्रों के तीन स्तर निश्चित करते हैं। एक प्रकार के गीत वे हैं जो कामुक और संयमहीन व्यक्तियों के हैं। कैसी कड़ी रूप की ज्वाला' जैसे गीतों में विलासियों के रूप में बड़ी ज्वाला दिखाई पड़ती है। उन्हें पवित्र सुनहरी उषा भी मद्य पिलाती है। 'उषा सुनहली मद्य पिलाती। (प्रजात० श्यामा का कथन) उनके श्वासों से चिंगारी उड़ती है मादकता लाली के डोरे इधर फँस हो पलकों से। इस प्रकार भोगासक्त और विलास प्रमत्त पात्र अपनी तुच्छ प्रवृत्ति की क्षुधा-तृप्ति को ही सौंदर्य-बोध की इतिश्री समझ लेते हैं। इस प्रकार के गीत सरल हैं।

दूसरे प्रकार के गीत वे हैं जो संयमी पात्रों के द्वारा गाये गए हैं। ऐसे साधकों के कण्ठ की अनुभूति की तन्मयता में जो गीत फूट पड़ता है वह सुधा रस की वर्षा करता है—कल्याणी मालविका, देवसेना आदि द्वारा गाये गए गीत इसी श्रेणी के हैं। कल्याणी चन्द्रगुप्त की स्मृति में गाती है कि हे कुमुद बन्धु (चन्द्र), अपने अमृत-कणों से वसुधा को स्नान करा दो जिससे अन्धकार दूर हो जाये और सर्वत्र आलोक छा जाये—'सुधा सीकर से नहला दो।

तीसरी कोटि में अध्यात्मवादियों के गीत हैं। प्रसाद के गीतों का विषय मुख्यतः विषय प्रधान नहीं व्यक्ति प्रधान है।

डा० सोमनाथ गुप्त के शब्दों में प्रसाद के गीतों की विशेषता यही है कि वे शुद्ध काव्य भी हैं और परिस्थिति विशेष का उद्घाटन करने वाले भावचित्र भी। उनके द्वारा गद्य-समापण सुनते सुनते दर्शकों और पाठकों की एकरसता भी भंग हो जाती है और वस्तु-विन्यास एवं चरित्र भी स्पष्ट हो जाता है। वे संगीत के भी रक्षक हैं और मनोरंजकता के प्रचारक भी। उनमें मानवीय प्रेम भी है और ईश तथा देश प्रेम भी। प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटककारों में गीत-काव्य की ये विशेषताएँ और नाटक में उनकी उपयोगिता इस सीमा तक नहीं पहुंची। प्रसाद के गीतों ने नाटकों को वास्तविक 'दृश्य-काव्य' का रूप दे दिया है।

डॉ० दशरथ ओझा ने प्रसादजी के नाटकों के गीतों की प्रशंसा करते हुए लिखा है —

"इन गीत-काव्यों में विरहिणी का अतृप्त प्रेम प्रेमोन्मत नारी का प्रेम-प्रलाप, असफल व्यक्ति के हृदयोद्गार, श्रद्धालु का विश्वास, सन्यासी का वैराग्य पिपासु की अनुनय विनय, नारी का आत्मसमर्पण, मातृभूमि, ममत्व देशप्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोह अध्यात्म का चिन्तन आदि लौकिक-पारलौकिक अनेक भावों और

विचारो का एक स्थल पर सम्मिलन दिखाई पडता है।"

प्रसादजी ने अपने नाटको मे विशेष रूप से वीर रस को प्रधानता दी है। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', जैसे नाटको मे वीर रस ही अगी रस है। इसके प्रति रिक्त शृगार, शान्त और हास्य रस का परिपाक भी हम बीच-बीच म मिलता है। ध्रुवस्वामिनी मे हास्य व्यग्य का जो उत्कृष्ट रूप मिलता है। वह अन्यत्र दुलभ है। इस नाटक का हास्य विदूषक-जसा हास्य नहीं है अपितु परिस्थितियों और व्यक्ति का अकन करके उनके ऊपर एक तीखा व्यग्य है।

प्रसादजी के नाटको मे रगमच सम्बन्धी कुछ दोष हो सकते हैं और है भी, फिर भी अनेक गुण हैं जो हम मुग्ध करते हैं। उनके नाटको म अभिनय के उपयुक्त तत्त्व भी विद्यमान हैं यदि दृश्य-प्रन्थो की उपेक्षा कर दी जाय, तो उनके नाटको मे घटनाएँ बहुत हैं। कार्य-व्यापार में बडी तीव्रता है, आकस्मिक मोडो का चातुय है, नाटकीय मानव व्यापार का बाहुल्य है भावुकता प्रधान कवित्वमय कथोपकथन है। प्रसादजी के नाटकों के प्रथम और अन्तिम दृश्य बडे मनोरजन और आकषण से युक्त होते हैं। दृश्य विधान हम मुग्ध कर देता है। रसानुभूति अथवा प्रभावानुभूति इन नाटको का प्राण है। प्रसादजी के अतिम नाटक ध्रुवस्वामिनी मे अभिनय सम्बन्धी सभी विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसे उच्चकोटि का नाटक कहा जाता है। अन्त मे हम डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दो मे कह सकते हैं —

'इस प्रकार इन नाटको का महत्त्व असीम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी सक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नही रह सकता। ये नाटक अशो मे जितने महान हैं सम्पूर्ण रूप मे उतने नही। प्रसादजी की ट्रैजेडी की भावना उनकी सास्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट मधुर दृश्य उनका काव्य-स्पश हिन्दी मे तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओ और नाटको की तुलना म भी उसकी ज्योति मलिन नही पड सकती।

३२ सुमित्रानन्दन पत और उनका काव्य

आधुनिक हिन्दी कविता को नया मोड और नई दिशा देकर उसे विचारों की नई शक्ति भावना का नवीन सौदय कल्पना का नया ऐश्वय और अभिव्यक्ति का नया शृगार देकर नवीन व्यक्तित्व प्रदान करने वाला मे सुमित्रानन्दन पन्त का नाम बडे आदर और प्यार के साथ लिया जायेगा।

पन्तजी हिन्दी के सुकुमार कवि हैं। इन्होंने प्रेम, सौन्दय और जीवन की

कोमलता के गीत गाये है। अपने भावना-सौन्दय, कल्पना-सौन्दय, भाषा-सौन्दय और शब्द-सौन्दय से इन्होने हिन्दी कविता को सर्वांग सुन्दरी बनाया है। इनकी कविता के क्रीडा-कौतूहल, सौन्दयशील स्पन्दन तथा स्नेह-पुलक से हिन्दी कविता को नये जीवन-रस की उपलब्धि हुई है।

पतजी ने अनेक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को प्रदान किये हैं। यथा उच्छ्वास, वीणा, ग्रथि, पल्लव, गुजन, युगात युगवाणी, ग्राम्या, स्वणधूलि, उत्तरा, प्रतिमा, रश्मि-बधु लोकायतन इत्यादि। इन रचनाओ का अध्ययन करने पर पन्तजी के काव्य-चेतना के विकास के तीन सोपान परिलक्षित होते हैं—१ रोमाटिक युग, २ बाद्धिक चिन्तन युग और ३ बहिरग चेतना के समन्वय का युग।

रोमाटिक युग की ग्रथि, पल्लव और गुजन तीन प्रमुख रचनाएँ हैं। इनमे मधुर प्रणयानुभूति, मुदत कल्पना, सौन्दय चेतना, प्रकृति के प्रति असीम मोह, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भाषा सगीत, दाशनिक चिन्तन तथा अन्तमुखता के दशन होते हैं।

पतजी का शैशव प्राकृतिक सौदय से अभिभूत अल्मोडा जिले के पवतीय ग्राम कौसानी मे बीता है। सुरम्य प्रकृति की गोद मे रहने से प्राकृतिक सौदय और सुषमा के द्वारा उनके हृदय मे कविता का स्फुरण हुआ। स्वय पन्त जी ने कहा है—'कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली, जिसका श्रेय मेरी जन्म भूमि कूर्माचल प्रदेश को है।' इसी सौदय का वाणी और चेतना की तन्मयता को मूत्त रूप पन्तजी की कविताओ ने दिया। अपनी प्रथम कलाकृति वीणा मे पतजी ने प्रकृति के सुदर रूपो की आह्लादमयी अनुभूतियो का चित्रण किया है। उन्होने निम्न पक्तियो मे प्रकृति का एक चित्र प्रस्तुत किया है—

> 'गिरि का गौरव गाकर झरझर, मद से नस-नस उत्तेजित कर।
> गीतों की लडियो से सुदर, झरते हैं झाग भरे निझर॥

ग्रन्थि' मे कवि के पाडित्य और प्रतिमा का मणि-काचन योग दशनीय है। 'वीणा' मे प्रकृति-सौदय निरीक्षण के पश्चात् कवि ग्रथि मे प्रेम का कवि बन गया है। सयोग और वियोग से उत्पन्न तरुण हृदय की मार्मिक अनुभूतियो का ग्रन्थि मे अच्छा सग्रह है।

'गुजन मे प्रथम प्रेम की अलौकिक भाव विभोरता और आत्मोल्लास का स्वर विशेष रूप से मोहक है। इसम कही-कही चितन की भी प्रधानता हो गई है। वस्तुत इन रचनाओ मे कवि अतमुखी वृत्ति के कारण बाह्य जगत मे प्राय तटस्थ रहकर एक ऐसे मनोराज्य के निर्माण मे व्यस्त है जहाँ सब कुछ

विचारो का एक स्थल पर सम्मिलन दिखाई पड़ता है।"

प्रसादजी ने अपने नाटको मे विशेष रूप से वीर रस को प्रधानता दी है। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', जैसे नाटको में वीर रस ही अगी रस है। इसके अति रिक्त शृगार, शान्त और हास्य रस का परिपाक भी हमे बीच-बीच म मिलता है। ध्रुवस्वामिनी मे हास्य-व्यग्य का जो उत्कृष्ट रूप मिलता है। वह अन्यत्र दुलभ है। इस नाटक का हास्य विदूषक-जैसा हास्य नहीं है अपितु परिस्थितियों और व्यक्ति का अकन करके उनके ऊपर एक तीखा व्यग्य है।

प्रसादजी के नाटकों मे रगमच सम्बन्धी कुछ दोष हो सकते हैं और है भी, फिर भी अनेक गुण हैं जो हमे मुग्ध करते हैं। उनके नाटको म अभिनय के उपयुक्त तत्त्व भी विद्यमान हैं यदि दृश्य-बन्धो की उपेक्षा कर दी जाय, तो उनके नाटको म घटनाएँ बहुत हैं। कार्य-व्यापार मे बडी तीव्रता है, आकस्मिक मोडो का चातुर्य है, नाटकीय मानव व्यापार का बाहुल्य है भावुकता प्रधान कवित्वमय कथोपकथन है। प्रसादजी के नाटको के प्रथम और अन्तिम दृश्य बडे मनोरजन और आकर्षण से युक्त होते हैं। दृश्य विधान हम मुग्ध कर देता है। रसानुभूति अथवा प्रभावानुभूति इन नाटको का प्राण है। प्रसादजी के अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी मे अभिनय सम्बन्धी सभी विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसे उच्चकोटि का नाटक कहा जाता है। अन्त मे हम डॉ० नगेन्द्र के शब्दो मे कह सकते हैं —

"इस प्रकार इन नाटको का महत्त्व असीम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषो को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नही रह सकता। ये नाटक अशा मे जितने महान हैं सम्पूर्ण रूप मे उतने नही। प्रसादजी की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सास्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट मधुर दृश्य उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी मे तो अद्वितीय है ही अन्य भाषाओं और नाटको की तुलना म भी उसकी ज्योति मलिन नही पड सकती।"

३२ सुमित्रानन्दन पत और उनका काव्य

आधुनिक हिन्दी कविता को नया मोड और नई दिशा देकर, उसे विचारों की नई शक्ति भावो का नवीन सौदय, कल्पना का नया ऐश्वय और अभिव्यक्ति को नया शृगार देकर नवीन व्यक्तित्व प्रदान करने वालो मे सुमित्रा नन्दन पन्त का नाम बडे आदर और प्यार के साथ लिया जायेगा।

पन्तजी हिन्दी के सुकुमार कवि हैं। इन्होंने प्रेम, सौन्दय और जीवन की

कोमलता के गीत गाये हैं। अपने भावना-सौन्दय, कल्पना सौन्दर्य, भाषा-सौन्दय और शब्द-सौन्दय से इन्होने हिन्दी कविता को सर्वांग-सुन्दरी बनाया है। इनकी कविता के क्रीडा-कौतूहल, सौन्दयशील स्पन्दन तथा स्नेह-पुलक से हिन्दी कविता को नय जीवन रस की उपलब्धि हुई है।

पन्तजी ने अनेक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को प्रदान किये हैं। यथा उच्छ्वास, वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुंजन युगान्त युगवाणी, ग्राम्या, स्वणधूलि, उत्तरा, प्रतिमा, रश्मि-बन्धु लोकायतन इत्यादि। इन रचनाओ का अध्ययन करने पर पन्तजी के काव्य चेतना के विकास के तीन सोपान परिलक्षित होते हैं—१ रोमांटिक युग, २ बौद्धिक-चिन्तन युग और ३ बहिरग चेतना के समन्वय का युग।

रोमांटिक युग की ग्रंथि, पल्लव और गुंजन तीन प्रमुख रचनाएँ हैं। इनमे मधुर प्रणयानुभूति, मुक्त कल्पना, सौन्दय चेतना, प्रकृति के प्रति असीम मोह, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भाषा संगीत, दार्शनिक चिन्तन तथा अन्तमुखता के दशन होते हैं।

पन्तजी का शशव प्राकृतिक सौन्दय से अभिभूत अल्मोडा जिले के पवतीय ग्राम कौसानी म बीता है। सुरम्य प्रकृति की गोद मे रहने से प्राकृतिक सौन्दय और सुषमा के द्वारा उनके हृदय मे कविता का स्फुरण हुआ। स्वय पन्त जी न कहा है—'कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली, जिसका श्रेय मेरी जन्म भूमि कूर्मांचल प्रदेश को है।" इसी सौन्दय को वाणी और चेतना की तन्मयता को मूर्त रूप पन्तजी की कविताओ ने दिया। अपनी प्रथम कलाकृति वीणा म पन्तजी ने प्रकृति के सुन्दर रूपो की आह्लादमयी अनुभूतियो का चित्रण किया है। उन्होंने निम्न पंक्तियो मे प्रकृति का एक चित्र प्रस्तुत किया है—

> 'गिरि का गौरव गाकर झरझर, मद से नस नस उत्तेजित कर।
> गीतों की लड़ियों से सुन्दर, झरते हैं झाग भरे निझर॥'

'ग्रन्थि' मे कवि के पांडित्य और प्रतिभा का मणि काचन योग दर्शनीय है। 'वीणा' मे प्रकृति-सौन्दय निरीक्षण के पश्चात कवि ग्रथि म प्रेम का कवि बन गया है। सयोग और वियोग से उत्पन्न तरुण हृदय की मार्मिक अनुभूतियो का ग्रन्थि मे अच्छा सग्रह है।

'गुंजन' मे प्रथम प्रेम की अलौकिक भाव विभोरता और आत्मोल्लास का स्वर विशेष रूप से मोहक है। इसम कहीं-कहीं चिंतन की भी प्रधानता हो गई है। वस्तुत इन रचनाओ मे कवि अन्तमुखी वृत्ति के कारण बाह्य जगत से प्राय तटस्थ रहकर एक ऐस मनोराज्य के निर्माण मे व्यस्त है जहाँ सब कुछ

पवित्र, मधुर, आह्लादकारी, रहस्यावित, श्री-गौरमपूर्ण एवं स्वर्णिम चेतना के अलोक से आप्लावित है।

'पल्लव' की परिवर्तन कविता में कवि की कोमल भावुकता कठोर और कल्पना यथार्थ बन गई है। किन्तु कवि जीवन में कटु एवं भयंकर सत्य को देखकर भी निराश नहीं हुआ है। 'जग जीवन में उल्लास मुझे नव आशा नव उल्लास मुझे' में उसका आशावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। किन्तु उसमें इतना परिवर्तन अवश्य हुआ है कि वह प्रकृति के उल्लास और उन्मुक्त सौन्दर्य का चित्रण छोड़कर जीवन-मरण जैसे चिरन्तन सत्य की ओर अग्रसर हुआ है। यहीं से पन्तजी के काव्य चेतना के विकास का द्वितीय-युग प्रारम्भ होता है। उसमें एक गहरी मानसिक प्रतिक्रिया प्रकट हुई है और वह एक सर्वथा नई भाव विचार-भूमि पर खड़ा दिखाई देता है। पल्लव वीणा और ग्रन्थि में प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति का कवि गुंजन से आगे युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में जीवन का कलाकार बन गया है। प्रथम युग का आदर्शलोक जैसे एक स्वप्न मात्र था। यह बाहरी संसार, देश, प्रान्त, समाज और उसकी विषम आर्थिक, राज-नीतिक और सामाजिक समस्याएँ और परिस्थितियाँ सब इतनी प्रत्यक्ष हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पन्तजी का व्यक्तित्व सुकुमार है। अत मानव-जीवन के अन्तर्मुखी सौंदर्य की रेखाएँ ही उनके काव्य का आधार बन पाई हैं।

काल्पनिक स्वर्ग के ऐश्वर्य के स्थान पर अब कवि को ग्राम, मिट्टी श्रमिक, पासी के नंगे बच्चे, फल फूल, पशु-पक्षी, खेत-रूप आदि प्रिय हैं। कवि ने गाँवों के नित्यप्रति जीवन को, वहाँ के विविध रूपों सभ्यता तथा संस्कृति को गह-राई से टटोला है और उन्हें अपने काव्य का विषय बनाया है। कवि प्रथम युग की तरह केवल आत्म-केन्द्रित भावाकुल सत्तामात्र नहीं रह गया है। उसके बौद्धिक दृष्टिकोण ने भौतिक और यथार्थ का महत्त्व भी हृदयंगम किया है। कवि की वाणी दीन-हीन श्रमिकों के लिए भी मुखरित हुई है—

> 'ये नाप रहे निज घर का मग,
> कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
> भारी है जीवन भारी पग॥"

इस प्रकार पन्तजी की कविताओं में मार्क्सवादी दर्शन का भी स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। अपनी 'ग्राम्या' और युगवाणी' की कविताओं में पन्तजी निश्चित रूप से प्रगतिवादी कलाकार के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुए हैं।

तीसरा युग कवि के प्रौढ़तम चिन्तन और समन्वय-साधना का युग है। स्वर्ण किरण स्वर्ण धूलि, उत्तरा अतिमा आदि परवर्ती रचनाओं में पन्तजी अन्तश्चेतना-

वादी कवि बन गए हैं। योगिराज अरविन्द ने अपनी चिन्तन-पद्धति मे भौतिक आध्यात्मिकता का समन्वय करते हुए परिपूर्ण मानव-जीवन की कल्पना की है। योगिराज की यह विचारधारा ही पन्तजी के तृतीय युग के काव्य की स्फूर्ति और प्रेरणा है। अपने इस नये रूप म पन्तजी न मानव संस्कृति के अभ्युत्थान के गीत गाए ह। वस्तुत कवि के काव्य-विकास के प्रथम दो युगो की चिन्ता धारा का यह सहज परिणाम है जो संयोगवश अरविन्द-दर्शन की मूल समन्वय दृष्टि से मेल खा गया है। पन्तजी ने अत्यन्त पूज्य बुद्धि से श्री अरविन्द की इस समन्वय साधना को मानव के सर्वांगीण विकास के लिए कल्याणकारी समझा तो परन्तु कविता-कविता है, दर्शन नही। उपयु क्त विचार-सूत्र का कवि ने अपने पाठको के मन म अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढग से उतारने का प्रयत्न किया है परन्तु उत्तरकालीन काव्य मे दर्शन की माँग अधिक हो गई है। इतना सब होते हुए भी इन रचनाओ मे काव्यत्व की मात्रा प्रचुर है—आकाश (आध्यात्मिक चेतना) और पृथ्वी (भौतिक चेतना) को प्रेमी प्रेमिका का रूप देकर प्रस्तुत करना, अन्य अनेक रमणीय प्रतीको की कल्पना, विभिन्न मनोहारी कल्पना चित्र, प्रकृति चित्रण आदि। फिर भी उनके इस काल के काव्य मे सरलता का लोप हो गया है।

इधर उत्तरा के उपरान्त पन्तजी की कई रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं जिनम 'लोकायतन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लोकायतन विश्व जीवन को व्यापक पट पर सजोने की एक समग्र-दृष्टि' है, यह 'सर्वांगीण चेतना' का काव्य है, मानव-चेतना का काव्य है। यह लेखक का सिद्ध काव्य है क्योकि इसका आधार कल्पना नही, अनुभूत सत्य है जो किसी भी मनुष्य का अनुभूत सत्य होने की क्षमता रखता है। इसीलिए लोकायतन बाह्य दृष्टि से बौद्धिक काव्य दीखने पर भी अन्तत भावना प्रधान अथवा रस प्रधान काव्य है और अपने व्यापक अर्थों मे मानव प्रेम का काव्य है जिसम स्वय पन्तजी के अनुसार महत् सत्य अथवा अन्त सत्य को ही प्रबुद्ध पाठको के सम्मुख रखन का प्रयत्न किया गया है।

"छन्द ग्रथित कर सद्य धरा मानस को,
जीवन रचना करो, तन्त्र मे नूतन।

छायावादी कवियो मे पन्तजी का अद्वितीय स्थान है। इन्होने सूक्ष्मता और गहराई से प्रकृति के प्राणो को पहचाना है। इन्होने अपनी प्रकृति मे एक अज्ञात चेतन-सत्ता का आभास प्राप्त किया है। अलौकिक छवि से युक्त अखिल प्रकृति मे व्याप्त इस अज्ञात चेतन-सत्ता की पन्तजी ने सुकुमार नारी के रूप मे उपासना की है। अपने इसी रूप मे पन्तजी छायावादी और रहस्यवादी हैं।
लहरो का नृत्य देखकर उनका हृदय अपूर्व आह्लाद से भर उठता है।

गुंजन में 'एकतारा' कविता मे किसी एक नक्षत्र को देखकर वे कहते हैं कि वह अपनापन खोजता फिरता है। वीणा मे अन्धकार को रात का सहचर और पल्लव में छाया को वृक्ष की प्रेयसी बतलाया गया है। इस प्रकार पन्तजी ने प्रकृति को चेतन मानकर उसके चित्र उतारे हैं। प्रकृति के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण बीसवीं शताब्दी की विशेषता है। संक्षेप में पन्तजी के छायावाद में रूढ़िगत साम्प्रदायिकता न होकर स्वच्छन्दता, सरसता, सरलता और नैसर्गिक भोलापन है।

रहस्यवादी बनने की प्रेरणा पन्तजी को रवीन्द्र-काव्य में मिली। गीतांजलि के एक गीत के अनुकरण पर एक गीत वीणा मे पन्तजी ने रचा है। सौन्दर्य के प्रति उनका भावपण उन्हें प्रकृति, नारी और व्यापक जीवन की ओर खींच लाया। उनकी जिज्ञासा भावना ने किसी भी समय उनका साथ न छोड़ा। वीणा की आधी से अधिक रचनाएँ 'माँ' को निवेदित हैं। यही अलौकिक सत्ता 'माँ' विराट विश्व की जननी है। भावों का निवेदन करने वाली बालिका बहुत छोटी है। इन रचनाओं में एक विलक्षण प्रकार का भोलापन पाया जाता है जो इन प्रारम्भिक रचनाओं की मार्मिकता का मुख्य कारण है।

इस प्रकार वीणा की रचनाएँ गहन पुनीत प्रेम से आप्लावित हैं। एक बालिका का अपनी मां के प्रति जितना प्रेम हो सकता है वह इन कविताओं मे पाया जाता है। माँ भाव की कुछ रचनाएँ पल्लव में भी हैं। जैसे विनय, आकांक्षा और भावना। इसके उपरान्त माँ भावना पन्तजी के काव्य में एक प्रकार से दब सी जाती है। वे प्रकृति, प्रेम, प्रगति आदि में उलझ जाते हैं। गुंजन युगान्त, युगवाणी ग्राम्या स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि और युगान्तर को पार कर तीस वर्ष के उपरान्त उत्तरा' में कवि एक बार माँ को फिर स्मरण करता है। पन्तजी की रहस्य-भावना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह धर्म मूलक न होकर कला मूलक है। उनकी इस भावना का चित्र निम्न पंक्तियों में स्पष्ट हो जाएगा—

> "उस फैली हरियाली में माँ, कौन अकेली खेल रही माँ।
> वह अपनी वयवाली मे सजा हृदय की थाली मे ॥

युगान्त से आरम्भ से ही प्रगतिवाद उनके काव्य में आरम्भ हो जाता है और युगवाणी एवं ग्राम्या तक पहुंचते-पहुंचते वे पक्के प्रगतिवादी कवि बन जाते हैं। गुंजन में ही उन्होंने यह अनुभव किया था कि संसार अनवरत परिवर्तनशील है। युगान्त तक आते आते वे मधुवर्षी कवि से पावक-कण बरसाने

को कहते हैं—

"गा, कोकिल, बरसा पावन-कण।
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,

पन्तजी पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। 'मार्क्स के प्रति' रचना में कवि ने मार्क्स को प्रलयकारी शिव का तृतीय ज्ञान-चक्षु बतलाया है। पन्तजी ने साम्यवादी विचारधारा को जहाँ स्वीकार किया है, वहाँ उसकी कमियों पर भी दृष्टि डाली है। साम्यवाद की देन को वे बहुत बड़ी देन समझते हैं, परन्तु गाँधीवाद, अरविन्दवाद और रवीन्द्र के सौन्दर्यवाद की देन को भी वे कम नहीं समझते। बाहर और भीतर का समविकास ही वे पूर्ण मानव के लिए आवश्यक समझते हैं, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय उन्हें अत्यन्त प्रिय है।

पन्त जी से पूर्व प्रकृति या तो आध्यात्मिक भावों के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त होती थी, या उससे उपदेश लिए जाते थे, या फिर उद्दीपन और अलंकार के रूप में वह आती थी। पन्त जी ने इन रूढ़ियों को छिन्न भिन्न करके प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को घोषित किया। उसमें चेतना का आरोप किया। अतः उनके काव्य में प्रकृति स्वयं बोलती है। प्रकृति को नारी रूप में चित्रित करना भी पंत जी की अत्यन्त प्रिय कल्पना है। कवि ने इस क्षेत्र में अत्यन्त रम्य कल्पनाएँ की हैं—

"कहो, कौन हो दमयन्ती-सी, तुम तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या, अलि? नल-सा निष्ठुर कोई?"

पंतजी का द्रष्टा रूप वहाँ प्रकट होता है जहाँ वे शुद्ध सत्य का दर्शन करने के लिए दृश्य जगत की सत्ता को भेदकर, एक रहस्यदर्शी की दृष्टि से, उसकी तलवर्ती सतह में उतरते हैं। उत्तरा की प्रीति और ऐसी ही कुछ अन्य कविताओं में उनका यह रूप अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई पड़ता है।

कवि का दूसरा रूप स्रष्टा का है। अपनी अनुपम काव्य-प्रतिभा एवं कल्पना की सहायता लेकर जगत् जीवन के तथ्यों पदार्थों, व्यापारों, अनुभूतियों और परिस्थितियों की व्याख्या, वर्णन, निरूपण के द्वारा नवसर्जन करना, आनन्द की सृष्टि करना कवि के स्रष्टा रूप का द्योतक है।

पंत जी की काव्य-कला भी बड़ी सुकुमार है। भावाविल कला का सौन्दर्य ही उनकी कविता में अधिक निखरा है। नगेन्द्रजी ने पंत जी के सम्बन्ध में उचित ही कहा है—'पंत जी प्रधान रूप से कलाकार ही हैं। इनके काव्य में सबसे प्रथम कला, उसके उपरान्त विचारों का, अन्त में भावों का स्थान रहता है।"

पत जी के व्यक्तित्व और उनके काव्य के भाव-पक्ष की भाँति ही पत जी की काव्य कला का प्रधान गुण है उसका कल्पना प्रधान होना। वैसे तो समस्त छायावादी काव्य कल्पनामूलक है, परन्तु पत जी के काव्य मे यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। कल्पना ही उनके काव्य का मेरुदड है। चित्रमयता, ध्वन्यात्मक सौदर्य, शब्द शिल्प सौदर्य, वर्णन-योजना से पत जी का काव्य अनुरजित है। भाव, भाषा और स्वरक्य के सामजस्य से ध्वनि चित्रण करने मे भी वे बडे पटु हैं। 'शत शत फेनोच्छ्वासित स्फीत फुत्कार भयकर" मे भयकरता चित्र की भाति खिच गई है।

पत जी की कविता मे अलकारों का भी सुन्दर एव सुरुचिपूर्ण विधान हुआ है। उनकी रचनाओ म अनुप्रास की मधुर ध्वनि निम्नलिखित पक्तियो से निस्सृत होती है —

"वन वन उपवन
छाया उन्मन उन्मन गुजन
नव वय के अलियों का गुजन।"

पत जी के काव्य मे सादृश्यमूलक अलकारो का सुन्दर चयन मिलता है। उपमा और रूपक उनकी रचनाओ मे नगीने की भाँति जडे हुए हैं। लाक्षणिक सौन्दय भी उनके काव्य का प्राण है।

पत जी की छद योजना अद्वितीय है। छदो के विषय मे पत जी का निजी दृष्टिकोण है— 'कविता हमारे प्राणो का सगीत है कविता का स्वभाव ही छद मे लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते है उसी प्रकार छद भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पदन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल सजल, कल रव भर उन्हे सजीव बना देते हैं।" मात्रिक छदो मे उन्होने पीयूष वर्णन, रूप-माला सखी, रोला आदि का प्रयोग किया है। उनकी भाषा कोमलकात पदावली मनोहर चित्रात्मकता और माधुर्य से भरपूर है। इसका कारण है उनके शब्द चयन की उत्कृष्टता।

यह कहने मे अत्युक्ति न होगी कि भाषा के क्षेत्र म खडी बोली का जितना उपकार पत जी ने किया है उतना किसी अन्य साहित्यकार ने नही किया। सब मिलाकर पत जी का और भाषा शैली मे भावनाओ की लहर है कल्पना का लालित्य है प्रकृति व सुन्दर उपादानो का स्पदन और थिरकन है मानव जीवन के उच्चादर्शो की भाँति दृढता और गम्भीरता है। उनके काव्य मे हमे युगान रूप जागरूकता भी देखने को मिलती है। सक्षेप म काव्य चित्र सगीत तीनों की पुनीत त्रिवेणी उनके काव्य मे प्रवाहित होती है। खेदजनक तथ्य यह है

कि इतनी विशेषताएँ होते हुए भी अपनी भाषा के अभिजात्य के कारण पन्त जी जन-कवि नही बन सके। काश कि व भाषा क स्तर पर भी सामान्य धरातल पर उतर पाते।

३३ | श्रीमती महादेवी वर्मा

आधुनिक युग की मीरा कही जाने वाली महादेवी वर्मा ने ब्रज भाषा म काव्य-रचना करनी आरम्भ की थी, परन्तु मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओ से प्रभावित होकर यह खडी बोली मे लिखने लगी। वतमान युग म वर्माजी का खडी बोली हिन्दी कविता मे अपना विशिष्ट स्थान है। वर्मा जी भारतेन्दु युग से लेकर अपने युग की समस्त चेतना और विशिष्टताओ को लेकर चली है। हृदय मस्तिष्क, प्रेमभक्ति, अनुराग विराग ममता-त्याग का जो सात्विक सम्मिश्रण महादेवी के काव्य म हुआ है वह अन्य किसी भी हिन्दी कवि म नही मिलता है।

महादेवी का काव्य तीन रूपो म मिलता है—१ रहस्यवादी २ वेदना प्रधान, ३ प्रकृति-सम्बन्धी।

महादेवी की रहस्य भावना हिन्दी साहित्य की अमर निधि बन गई है। वर्मा जी का आधुनिक रहस्यवादी कवियो म उच्च स्थान है। 'नीहार' से लेकर 'दीपशिखा' तक सभी म इसका रहस्यवाद छलका पडता है। इनकी रहस्यवादी कविताएँ दाशनिकता से ओत प्रोत होने पर भी माधुर्य गुण से भरपूर हैं। आप अपने प्रेम द्वारा परब्रह्म के साथ मिल जाना चाहती है—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
दूर तुम से हूँ अटल सुहागिनी भी हूँ।"

जीवन म पग पग पर सृष्टि के एक एक स्पन्दन म और उनके क्षण क्षण मे बदलते हुए सौन्दय म हम एक अज्ञात शक्ति की उपस्थिति का भान होता है। कवयित्री उस रहस्यमयी शक्ति का वणन करती हुई कहती है—

अवनि अम्बर की रुपहली सीप मे।
तरल मोति सा जलधि जल काँपता॥
तरते घन मृदुल हिम के पुज से।
ज्योत्स्ना के रजत पारावार मे॥
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे।
नींद के उच्छवास-सा वह कौन है?'

महादेवी जी के काव्य मे जीवन की वेदना कूट-कूटकर भरी हुई है। इस

सम्बन्ध मे इन्होंने लिखा है—"दुःख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे ससार को एक सूत्र मे बाँध रखने की क्षमता रखता है।" वास्तव मे विरह-वर्णन मे मीरा को छोडकर अन्य किसी कवि को इतनी सफलता नही मिली है, जितनी इनको। इन्हें विरह ही पसन्द है, 'मिलन नही

"मेरे छोटे से जीवन मे, देना न तृप्ति का क्षण भर।
रहने दो प्यासी आँखें, भरती आँसू के सागर॥"

महादेवी जी का प्रियतम पीडा का रूप बनाकर हृदय मे बस गया है—

"पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीडा मे ढूँढा, तुममे ढूँढूँगी पीडा॥"

यह अपने जीवन-दीप को निरन्तर जलाते रहना चाहती हैं—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।"

महादेवी जी के काव्य मे स्थान-स्थान पर प्रकृति का भी सुन्दर वर्णन मिलता है। प्रकृति-वर्णन मे यह किसी छायावादी और रहस्यवादी कवि से पीछे नही हैं। उन्होने प्रकृति मे मानवी चेतना देखकर बहुत ही सुन्दर रूपको का प्रयोग किया है। उनकी 'सान्ध्य-गान' कविता छायावाद का श्रेष्ठ उदाहरण है। 'प्रकृति' के द्वारा भी इन्होने अपने मन की व्यथा को व्यक्त किया है—

(क) "सजनी ! मैं उतनी करुण हूँ करुण जितनी रात॥"
(ख) "सुगम ! मैं उतनी मधुर हूँ मधुर जितना प्राप्त॥"
(ग) 'सजनी ! मैं उतनी सजल, जितनी सजल बरसात॥"

एक ओर प्रकृति का मनोहारी वैभव है, दूसरी ओर ससार का करुण क्रन्दन और जर्जर जीवन। कवयित्री किसको अपनाये ? किसे अपने काव्य का विषय बनाये ? इस प्रकार 'क्या देखूँ ?' शीर्षक कविता मे दो विरोधी चित्र-पटो का वैषम्य श्रीमती वर्मा ने बहुत ही सफलता पूर्वक अकित किया है—

"देखूँ खिलती कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को
तेरी चिर-यौवन
वेद

गीतकार की दृष्टि से श्रीमती व
बडी कहा जा सकता है। प्रसाद के ग
चिंतन और महादेवी के गीतो मे इन
के साथ-साथ गीतो म रूप-यौवन
ओत प्रोत शुभ्रवसना
सम्पन्न महा मे चित्रा

और कहना चाहिए कि यह रगीनी चटकीली नही, शुभ्र और सूक्ष्म छायात्मक है। चित्रावली धुधली है, फिर भी रेखाएँ स्पष्ट है, रग हल्के है पर छायाएं कलापूर्ण हैं।

महादेवी के काव्य की श्रेष्ठता केवल मात्र उनकी अनुपम अनुभूति के कारण ही नही है बल्कि प्रभावपूर्ण भाषा के कारण भी है। श्रीमती वर्मा के पास शब्दो का अपार भडार है। उनकी भाषा मे कोमलता और मधुरता है। यह शब्दो का लाक्षणिक प्रयोग बहुत ही सावधानी से करती हैं। उनकी शैली मे अमूर्त वस्तुओ के लिए मूर्त योजनाएँ भरपूर होती है। भावो और प्राकृतिक रूपो के मानवीकरण मे ये विशेष पटु हैं। अपनी बात को प्रतीको के माध्यम से कहती हैं। उनके तारे लौकिक भावो के रूप म, दीपक आत्मा के रूप मे सागर ससार के रूप मे और नौका जीवन के रूप म है। उनकी अलकार-योजना भी बडी स्वाभाविक है। वास्तव मे इनका समूचा काव्य ही एक समासोक्ति है।

महादेवी जी ने निम्नलिखित काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं—१ नीहार, २ रश्मि, ३ नीरजा, ४ दीपशिखा और ५ साध्यगीत। इनमे 'निहार' प्रथम रचना है। इसमे छायावादी और रहस्यवादी दोनो प्रकार की रचनाएँ हैं। 'रश्मि' मे सृष्टि जीवन, विकास और अनन्त के रहस्य का सुन्दर चित्र खीचा गया है। इसमे कवयित्री का दु खवाद बडे तीव्र रूप मे प्रकट हुआ है। नीरजा इनकी रहस्यवादी कविताओ का सग्रह है। इस सग्रह पर इनको ५००) रुपये का सेक्ससरिया पुरस्कार मिल चुका है। 'नीरजा' मे सग्रहीत कविता 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' बहुत ही लोकप्रिय हुई है। 'साध्यगीत' मे आध्यात्मिक मिलन और विरह के गीत खूब पाये जाते हैं। विरह की घडिया इनको 'मधुर मधु की यामिनी-सी' लगती है। इसमे कुछ कविताएँ प्रकृति-सम्बन्धी हैं। दीपशिखा मे विरह और वेदना का चरम विकास हुआ है। इसी रचना के कारण इनको 'आधुनिक मीरा' कहा जाता है। इसमे इन्होने प्रत्येक कविता की पृष्ठ भूमि के लिए एक-एक चित्र भी दिया है। इसमे इक्यावन गीत और इक्यावन ही चित्र हैं। इनके गीत और चित्र परस्पर घुल-मिल गए हैं। इनके चित्र बहुत ही मनोहारी हैं। चित्रकार की तूलिका और कवि की वाणी दोनो के सुन्दर सयोग मे कविता खिल उठी है, चमक उठी है।

महादेवी जी ने कविता लिखने के अतिरिक्त साहित्यिक निबन्ध भी लिखे हैं और कुछ कहानियाँ तथा नारी सम्बन्धी लेख भी लिखे हैं। अतीत के चल चित्र', स्मृति की रचनाएँ तथा 'शृखला की कडियाँ' इनकी गद्य-रचनाएँ हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की स्त्री-कवियो मे महादेवी का प्रथम स्थान है। समस्त हिन्दी साहित्य मे मीरा के पश्चात् महादेवी का ही नाम लिया जा सकता है। छायावादी कवियों मे प्रसाद, पन्त और निराला के साथ महादेवी

का नाम भी सदा लिया जायेगा। आधुनिक हिन्दी के गीतकारों मे भी महादेवी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावपूर्ण गद्य-लेखन मे उनके उत्कर्ष को दूसरा कोई हिन्दी का साहित्यकार नहीं पहुँच पाया है।

३४ | महाप्राण निराला

किसी आलोचक ने निराला का व्यक्तित्व चित्रित करते हुए कहा है—"निरालाजी के पास यूनानी एथलीटो जैसा कद पहलवान की छाती, दार्शनिक का मस्तिष्क, कवि का हृदय नारी की करुणा, शिशु का भोलापन और मस्त मौला फकीरो जैसा अक्खड़पन है। इस हिमालय से शरीर वाले पहलवान कवि दार्शनिक को देखकर वास्तव मे कामायनी के मनु का चित्र साकार हो जाता है जिसके 'अवयव की दृढ़ मांसपेशियां, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार' हैं।"

आधुनिक युग के कवियो मे महाप्राण 'निराला' सदा निराले रहे हैं। उनके अपने ही शब्दो मे 'देखते नही, मेरे पास एक कवि की वाणी, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और फिलॉसफर (दार्शनिक) के पैर हैं।" उन्होने अपने और अपने काव्य के विषय मे सूत्र रूप मे कह दिया था कि आज 'मयूर व्याल पूंछ से जुड़े हुए हैं।" उन्होंने स्वरूप और विद्रूप दोनो से समान अनुराग और प्यार है। उनका 'निरालापन' इस बात मे भी अन्तर्हित है कि 'वह आधुनिक कवियो मे शैलीगत आधुनिकता के कारण आधुनिकतम, किन्तु वेदान्त दर्शन तथा वीर-पूजा सम्बन्धी भावना के कारण पुरातन' बने रहे हैं। 'एक ओर वे घोर अहवादी हैं और दूसरी ओर अपनी उदार मन सम्वेदना के कारण वह पद-दलितो के हिमायती हैं। 'वह तोड़ती थी पत्थर इलाहाबाद के पथ पर' ऐसी भी है उनकी कविता। वह कविता एक ओर तो मार्गी है और दूसरी ओर वह पत्थर तोड-तोड़कर नये युग का मार्ग भी बनाती है।

सन् १९१५ से उन्होंने कविता लिखनी आरम्भ कर दी थी, किन्तु उनका प्रथम काव्य संग्रह 'परिमल' सन् १९२९ मे प्रकाशित हुआ। इनके अन्य काव्य हैं—अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता बेला, नये पत्ते, अर्चना आराधना। परिमल और अनामिका मे प्राय छायावाद की सभी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। तुलसीदास के पश्चात् निरालाजी प्रगतिवाद से अनुप्राणित दृष्टिगोचर होते है अत उत्तरकालीन रचनाओ की छायावादी-प्रवृत्तियाँ लुप्त हो गई हैं। स्वर्गीय श्री जयशंकर प्रसाद को छायावाद का ब्रह्मा माना जाता है। उनके काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियो—प्रकृति चित्रण और रहस्यात्मकता को क्रमश पन्त और निराला ने विकसित किया। अत यह कहा जा सकता है कि छाया-

बाद को अद्वैत दशन की दृढ भित्ति पर स्थित करने का सर्वाधिक श्रेय निराला जी को ही है।

छायावाद-काव्य के इतिहास मे पन्त के 'पल्लव' के समान निराला के 'परिमल' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे छायावाद का प्रतिनिधि काव्य-ग्रंथ कहा जा सकता है। इसम निराला जी की प्रौढ एव श्रेष्ठ रचनाओं का सकलन है। इसकी भूमिका म कवि ने अपनी छन्द-योजना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इसमे प्राथनात्मक, अध्यात्म-सम्बन्धी प्रेम सम्बन्धी, सौन्दय-सम्बन्धी प्रगतिशील रचनाएँ सग्रहीत हैं। 'भिक्षुक', 'कण', 'रास्ते के फूल से', 'विधवा' आदि रचनाएँ प्रगति की द्योतक हैं और कवि के करुण-हृदय की कहानी कहती हैं। यमुना के प्रति और 'पचवटी' मे प्राचीन सस्कृति के प्रति अनुराग अभिव्यक्त किया गया है। 'शिवाजी का पत्र' म हिन्दुत्व की ओर 'जागो फिर एक बार,' मे राष्ट्रीय जागरण की छाया है। इसमे कवि के चिन्तन, कल्पना और अनुभूति के दशन होते हैं। 'कुल मिलाकर परिमल मे छायावाद की अनेकमुखी प्रवृत्तियो की उदात्त झलक मिलती है। राष्ट्रीय चेतना की सूक्ष्म अनुभूतियो की व्यजना जितनी गम्भीर और प्रौढ स्वरो मे परिमल मे हुई है उतनी इस समय तक छायावाद के किसी अन्य कवि की वाणी मे नही हो पाई। परिमल की कविताओ से सचमुच समूची जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है।' परिमल की कविताओ मे विषय की विविधता विभिन्नता को देखते हुए शुक्लजी ने कहा कि 'निराला की बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा है।" इनकी 'गीतिका' और 'अनामिका' दोनो रचनाओ मे गीतो का सग्रह है।

लोकप्रियता की दृष्टि से 'अनामिका' को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हो सकी। इसमे स्वच्छन्द की ओर विशेष आग्रह है। अनामिका मे एक गीत 'सम्राट् एडवड अष्टम के प्रति' मे नारी के प्रति प्रेम की अत्यन्त दिव्य झाँकी प्रस्तुत की गई है—'आलिंगित तुमसे हुई सभ्यता यह नूतन।' इसके अतिरिक्त अनामिका मे सरोज स्मृति', तोडती पत्थर, बादल गरजो', आदि भी बहुत लोकप्रिय गीत सग्रहीत हैं।

निरालाजी एक सधे हुए सगीत विशारद थे। गीतिका' इसका प्रमाण है। इसमे छायावादी, रहस्यवादी, शृगारिक राष्ट्रीय सभी प्रकार के गीत सकलित हैं। अनेक गीत तो जनसाधारण म विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। जसे 'वर दे वीणा वादिनी वर दे'। "निराला के गीतो मे यद्यपि स्वर-ताल और नाद-सगीत के सभी अग विद्यमान हैं, फिर भी उनम नाद-सौन्दय सर्वाधिक है। इन गीता मे अनुप्रासो एव समासो की भरमार है। शब्द-योजना नादमयी एव अलकृत है। महादेवी के गीत अनुराग सुहागपूर्ण हैं, निराला के गीत प्रधान। पन्त के गीत मे यदि वीणा विनन्दित स्वर है तो निराला के गीतो

पटहध्वनि, बादल राग, झरनों का शोर और सागर का गम्भीर घोष है। 'निराला' के पुष्ट व्यक्तित्व के अनुरूप ही हैं उनके गम्भीर गीत।' डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने निराला जी के गीतों में निर्बंध स्वच्छन्दता और मस्ती के दर्शन किए हैं।

'तुलसीदास', 'निराला' की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। 'निराला' जी की रचनाओं में इस शतदल का विशेष स्थान है। डॉ० रामविलास के शब्दों में "इसके पहले किसी भी छायावादी ने इस तरह की गाथा नहीं लिखी था।" श्री रायकृष्ण के अनुसार "कथा को प्राधान्य देने वाली कविताएँ हिन्दी में शतशः हैं, मनोविज्ञान को आधार मान पद्य में लिखी जाने वाली कविताओं में यह एक ही है।" डॉ० रामरतन भटनागर के मत में कामायनी और तुलसीदास नये ढंग के ऐसे कथा-काव्य हैं जो सदैव हिन्दी के गौरव रहेंगे।" और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार भी निराला' ने तुलसीदास' द्वारा नवीन मार्ग पर चलने की सूचना दी है। इसमें कविता के प्रारम्भ में अंकित किया है कि किस प्रकार आर्य संस्कृति का सूर्य मुगल-दल रूप मेघमाला में आच्छन्न हो रहा है। बाद में अकबर की शासन प्रणाली-रूपी अज्ञान एवं अन्धकार से पूर्ण शीतल तथा सुखद रात्रि का चित्रण है। इसके पश्चात् राजापुर का वर्णन है, फिर विवाह आदि का वर्णन है, फिर चित्रकूट पर तुलसीदास की मनोदशा, गृह लौटना, पत्नी का आदेश, तुलसी की मन स्थिति महाप्रयाण आदि का वर्णन है।

"इस काव्य की भाषा अलंकृत एवं लाक्षणिकतापूर्ण है। प्रारम्भ से अन्त तक इसमें विशेष वक्रता तथा सजीवता पाई जाती है। इसमें छायावाद तथा रहस्यवाद की प्रतीक-पद्धति का भी विशेष प्रयोग है। इस काव्य में मानव हृदय के सूक्ष्म व्यापारों का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। भावों की अत्यधिक लाक्षणिकता एवं अभिव्यञ्जनात्मकता ने काव्य को असाधारण एवं साहित्य-रसिकों के उपभोग की वस्तु बना दिया है। कमनीय कल्पना-चातुरी ने काव्य का कलेवर सवार दिया है।' प्रो० जुगमन्दिर तायल के अनुसार सक्षेप में तुलसीदास हिन्दी साहित्य में अपने प्रकार की अकेली रचना है। इसका विषय सर्वथा नवीन है। अपनी मनोवैज्ञानिकता, बौद्धिकता और सांस्कृतिक चेतना में यह अपूर्व है। काव्य में जो बौद्धिकता का प्राधान्य देखना चाहेंगे उन्हें यह श्रेष्ठ रचना प्रतीत होगी।'

तुलसीदास' के पश्चात् हम निराला को एकदम प्रगतिवादी कवि के रूप में देखते हैं। कुकुरमुत्ता अणिमा नये पत्ते और अर्चना में प्रगतिशील कविता की सभी प्रवृत्तियाँ व विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कुकुरमुत्ता गुलाब

से नि:शंक भाव से कहता है—

> "अबे सुन बे गुलाब,
> भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब ।'

इसी प्रकार 'बेला' में हिन्दी काव्य क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग करते हुए हिन्दी को गजलों के रूप में ढाल रहे हैं—

> बिगड़ कर बनने और बनकर बिगड़ते एक युग बीता ।
> परी और शमा रहने दे शराब और जाम रहने दे ।।"

हिंदी के कतिपय आलोचकों ने 'निराला' के काव्य पर क्लिष्टता का आरोप करते हुए 'निराला' को भी केशव के समान 'कठिन काव्य का प्रेत' उपाधि से समलंकृत किया है, किन्तु यह अनुचित है । यह सब कुछ निराला के जीवन के विकास-क्रम तथा उनके मानसिक संगठन को न समझने का दुष्परिणाम है । निराला की प्रतिभा बहुवस्तु-स्पर्शिनी है ।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है ।" निराला जी ने हिंदी को नवीन भाव, नवीन भाषा और नवीन मुक्तक-छन्द प्रदान किए हैं । हिंदी के अधुनातन कवियों में से निराला जी का व्यक्तित्व सबसे अधिक विद्रोही और प्रखर है । निराला को छोड़कर शायद ही हिन्दी के किसी अन्य कवि को जीवन के इतने वैषम्यों और विरोधों का सामना करना पड़ा हो । निराला ने प्रलयंकर शिव के समान कटु गरल पान करके हिन्दी काव्य संसार को पीयूष वितरित किया । निराला के व्यक्तित्व-कृतित्व का मूल्यांकन कविवर पन्त की निम्न पंक्तियों में देखिए—

> 'छन्द बन्ध ध्रुव तोड़ फोड़ कर पर्वत कारा
> अचल रूढ़ियों की कवि, तेरी कविता धारा,
> मुक्त, अबाध अमन्द, रजत निर्झर-सी नि:सृत,
> गलित-ललित आलोक राशि चिर अकलुष अविजित ।
> स्फटिक शिलाओं में तूने वाणी का मन्दिर,
> शिल्प, बनाया, ज्योति कलश निज यश का धर चिर ।'
>
> × × ×
>
> 'अमृत पुत्र कवि, यश:काय तव जरा मरण जित,
> स्वयं भारती से तेरी हृत्तन्त्री झंकृत ।"

३५ | कथाकार प्रेमचन्द

आजीवन सतत् संघर्षों मे जिसने जीवन की गहराई को देखा व समझा, निर्धनता के थपेडो मे जिसने सहानुभूति का पाठ सीखा, उन मुंशी प्रेमचन्द का व्यक्तित्व स्वस्थ व सुलझा हुआ था। उस व्यक्तित्व मे मनोग्रंथियो से रति नही, सर्वथा ऋजु-सरलता विद्यमान थी, उसमे प्रवृत्तियो का स्वस्थ सन्तुलन, अतिचार तथा अविचार का अभाव एव जीवन के प्रति विवेकपूर्ण गाम्भीर्य सर्वत्र प्रतिभासित होता है। ऐसे क्रान्तिदर्शी व्यक्तित्व ने जीवन से टकराने वाली अथवा कही-कही स्पर्श तक करने वाली समस्याओ को सूक्ष्म तथा तीव्र दृष्टि से देखा, उनका विवेचन तथा विश्लेषण कर उन्हें साहित्यिक रूप प्रदान किया।

जीवन की इन विषमताओ का प्रभाव प्रत्येक चेतना-सम्पन्न व्यक्ति पर पडता है, प्रेमचन्द भी उससे अछूते न रह सके। कला सम्बन्धी विचारो मे एक नई चेतना आने लगी। कला का जन-जीवन के साथ कोई सम्बन्ध न था, वह सीमित वर्ग की कामोत्तेजना अथवा मनबहलाव का साधन मात्र थी। प्रेमचन्द जी ने उसे उडते आकाश से पकड कर इस यथार्थ की असमतल भूमि पर ला खडा किया और उसे जन जीवन के लिए ग्राह्य बना दिया। उनकी कला समाज के लिए थी, व्यक्ति के लिए नही। उसका अकन सामाजिक तत्त्वों के निरूपण, मान्यताओ के विश्लेषण तथा उनके द्वारा गृहीत निष्कर्षों के आधार पर किया जा सकता है। अपनी कला द्वारा प्रेमचन्द जी ने समाज की मांगो को न केवल सामने ही रखा है, अपितु समय की आवश्यकतानुसार उनका निदान भी खोजा है। साहित्य मे गांधीवाद को जन्म दे तथा उसे समाजवाद के तत्त्वो से आभूषित कर इन्होंने पददलित जनता की वकालत जोरदार शब्दो मे की है। उनकी समस्त साहित्य-साधना के केन्द्र मे उनका मजदूरो और काश्तकारो के राज्य का सपना ध्रुव-सा अटल है।

वर्तमान समाज मे उपन्यासो की बडी शक्ति है। अत प्रेमचन्द ने उपन्यासो का जो क्षेत्र पकडा वह समयानुकूल तथा समाज की आवश्यकतानुसार था। इन्होंने कुल मिलाकर लगभग ग्यारह उपन्यासो की रचना की। 'कायाकल्प' इनके उपन्यासो का सधिकाल है। कायाकल्प के पूर्व के उपन्यास 'सेवासदन, वरदान', प्रेमाश्रम तथा 'रगभूमि हैं और कायाकल्प के उपरात क्रमश 'निर्मला, 'प्रतिज्ञा गबन', कर्मभूमि' तथा 'गोदान प्राप्त हैं। मगल सूत्र उनकी अधूरी अतिम कृति है।

उपन्यासो मे प्रेमचन्द ने सभी सम-सामयिक परिस्थितियो को स्थान दिया है। राजनीति से भाराक्रान्त तो उनके उपन्यास हैं ही, साथ ही उनके पात्र अंग्रेजी राज्य मे हुए जुल्मो की कथा कहते रहते हैं। 'कमभूमि' को देखिए 'मुन्नी' गोराशाही गुण्डागर्दी की शिकार हुई, उसकी लाज लुटी, सतीत्व का अपहरण हुआ। 'कमभूमि' का नायक अमरकान्त गाँधीवाद विचारधारा का प्रतीक है। चर्खा चलाने से लेकर अहिंसात्मक आन्दोलन तक वह पूरा गाँधीवादी दिखाई पड रहा है। लोकमान्य तिलक की हडतालों वाली नीति को 'रगभूमि' के सूरदास ने आत्मसात् किया है। वह मजदूरो का प्रतिनिधि है, उसमे समाजवादी चेतना है। सलीम के द्वारा नौकरशाही मनोवृत्तियो से परिचय कराया गया है। वह जोशीला जवान कुर्सी पर बैठते ही इतना बदल जाता है कि देखकर आश्चय होता है। उसकी शासन प्रणालियाँ भी उसी अंग्रेजी आतंकवाद (Terrorism) से भरपूर हैं जिसके माध्यम से भारत की जनता को सभी राहो पर कुचला गया।

'गोदान' का होरी गाँव का एक साधारण किसान है, जिसको समाज ने शोषण का शिकार बनाया और वह अनजाने बनता रहा। जहाँ कही वह समझा भी वहाँ उसकी इतनी गहरी विवशता है कि वह कुछ भी कर पाने मे असमर्थ है। महाजन का ब्याज द्रौपदी के चीर की भाँति बढता रहा, आक्रान्त करता रहा। जमीदार का भीषण अत्याचार वह भाग्य को बलवान समझकर चुपचाप सहता है आदश ग्रामीण की भाँति तटस्थ होकर काय करता रहता है। इस प्रकार ग्रामीण जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है।

मुशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो मे ऐसे पात्रो की सृष्टि की है जो सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके पात्रो मे यदि एक ओर पैसे को ही सब कुछ समझने वाले सेठ अमरकान्त हैं, मान को ही सब कुछ समझने वाली सुखदा है, अनन्त सहन शक्ति के लिए होरी है तो दूसरी ओर क्रमश पैसे की नितात उपेक्षा करने वाला अमरकान्त खडा है, मान न करती हुई प्रेम के सकेत को ही अपना सवस्व समझने वाली सकीना और मुन्नी है तथा शोषण के प्रति प्रचण्ड सूरदास खडा है। इसके अतिरिक्त वकील, मास्टर, विद्यार्थी, डाक्टर, बरिस्टर आदि सभी के चित्र इन्होंने चित्रित किये हैं।

उनके अतिम उपन्यासो मे आन्दोलन का जो क्रम चला है वही सब समस्याओं का निदान दीख पडता है। जमीन के लिए आन्दोलन, लगान माफी के लिए आन्दोलन, मजदूरो की समस्याओ को लेकर आन्दोलन। इन आन्दोलनों के अनवरत आगमन को देखकर भय होने लगता है कि कही प्रेमचन्द समस्याओ के स्वाभाविक परिणाम लाने मे अन्याय तो नही कर बैठे ?

इसी पक्ष को लेकर लोग कह उठते हैं कि प्रेमचन्द जी चित्रण करते-करते

जब थक जाते तब वह सभी पात्रों और समस्याओं का गला घोट डालते हैं। यह आरोप चाहे 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यासों में किसी अंश तक सत्य हो किन्तु 'गोदान' इस पक्षपात से बच गया है। उसमें घटनाएँ स्वाभाविक परिणाम की ओर उन्मुख हैं। 'मंगलसूत्र' को छोड़कर 'गोदान' प्रेमचन्द जी की अन्तिम कृति है जिसे देखकर सहज आभास मिल जाता है कि प्रेमचन्दजी ने अपनी इस कमजोरी को समझा अवश्य होगा और यही कारण है कि 'गोदान' अन्य कृतियों से भिन्न है।

मुंशी प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में शील-वैचित्र्य का वर्णन अत्यधिक है। मौलिक उद्भावनाओं ने इसे सबल प्रश्रय दिया है। मनुष्य के अनेक पारिवारिक सम्बन्धों की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखने वाले उपन्यासों में 'सेवा-सदन' 'निर्मला' और 'गोदान' हैं। समाज के भिन्न वर्गों की परिस्थितियों और उनके संस्कार चित्रित करने वाले उपन्यास 'रंगभूमि' व 'कर्मभूमि' हैं जिसमें सर्वाधिक अन्तर्दृष्टि और शील-वैचित्र्य का उनके विकास क्रम के साथ चित्रण किया गया है, वह है 'गबन'। सारांश में, प्रेमचंदजी के उपन्यास समय की शिला पर सत्यों का निरूपण करते अविस्मरणीय संस्मरण हैं, जिसमें भविष्य की ओर संकेतात्मक संकेत निहित है।

उपन्यासों की भाँति ही प्रेमचंदजी की कहानियाँ भी अपना विशेष स्थान रखती हैं। इनकी लघु कथाओं में प्रभावोत्पादकता अधिक है, उपन्यासों की अपेक्षा मन को छू लेने की क्षमता अधिक है। घटनाओं की व्यंजना तो इनमें है ही, साथ ही पाठकों की अनुभूति के साथ लेखक अपनी मार्मिक व्याख्या करता चलता है। इनमें भिन्न वर्गों के संस्कार तथा उनका स्वरूप चित्रण अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है।

वातावरण उत्पन्न करने की कला इन छोटी कहानियों में अधिक स्पष्ट हो गई है। उपन्यासों का शील-वैचित्र्य इनमें भरा पड़ा है मनोवैज्ञानिकता सर्वत्र दृष्टिगत होती है। प्रसाद की 'आकाशदीप' तथा जैनेन्द्र की 'अपना अपना भाग्य' कहानियों में वातावरण की सृष्टि एक विशिष्ट नाटकीय प्रकार की है जो मन को तुरन्त आकृष्ट कर लेती है, परन्तु यह नाटकीय वातावरण उनकी कहानियों को आच्छादित नहीं किये है, ठीक उसके विपरीत प्रेमचन्दजी की कहानी 'पूस की रात' है जिसमें वातावरण आरम्भ से लेकर अन्त तक कहानी का एक मात्र स्वर बना हुआ है। उसमें वातावरण गम्भीर-से-गम्भीर तम एवं संवेदनापूर्ण होता जाता है। 'बूढ़ी काकी' समाज के वर्ग विशेष में व्यक्ति विशेष की चरित्र-सम्बन्धी आलोचना है। मध्यवर्गीय परिवार के संस्कार का सत्य उसमें निहित है। बालकों के शील-वैचित्र्य पर प्रकाश डालने वाली कहानी 'ईदगाह' है जिसमें कठोर-से-कठोर हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत

क्षमता है। 'पच परमेश्वर' उनकी सामाजिकता मे अटल विश्वास प्रदर्शित करने वाली कहानी है जिसमे दो भिन्न विचारो का सघर्ष तथा सतुलन स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है।

उनकी कहानियो के पात्र उपन्यास की भाँति सभी वर्गों मे से लिए गए हैं। भाषा भावानुकूल तथा सरल है। पात्रो मे चित्रण स्वस्थ सामाजिकता लिए हैं, उनमे मीठे व्यग्य हैं, जो पाठक को तडपाकर मरहम भी लगाते चलते हैं।

कुछ लोग तो उनके साहित्य को पूर्णत यथार्थवादी मानते हैं और कुछ आदर्शवादी। जहाँ तक उनके यथार्थतापूर्ण चित्रण का सम्बन्ध है। स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे पूर्णत यथार्थवादी हैं। उनकी घटनाएँ चरित्र चित्रण तथा परिस्थितियो का विशद विवेचन यथार्थ की अनछुई शुद्ध नीव पर किया गया है। हाँ, अलबत्ता, उनके अत आदर्शात्मक रूप से चित्रित किए हैं, जो भारतीय परम्पराओ और दर्शन की अमर देन हैं। उपन्यासो के आदर्शात्मक अत को देखकर लोगो ने एक अन्य नवीन धारणा को जन्म दिया। इस धारणा का साहित्यिक नामकरण 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' से किया गया अर्थात उनकी रचनाओ मे यथार्थ से आदर्श की ओर उन्मुख होने की वृत्ति लक्षित होती है। अत आदर्शवाद यथार्थवाद के स्वाभाविक विकास का परिणाम हुआ। इस यथार्थ और आदर्श को छोडकर कुछ लोग यह भी मानने लगे हैं कि प्रेमचदजी प्रगतिवादी थे। प्रगतिवाद विचारधारा उनके समस्त उपन्यासो व कहानियो मे परिलक्षित होती है।

प्रेमचन्दजी के साहित्य मे इन पर्यवसित तथ्यो के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि वह आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी अथवा प्रगतिवादी कहे जा सकते हैं। यो यथार्थवाद और प्रगतिवाद मे बाह्य अन्तर दिखाई नही पडता किन्तु फिर भी उनकी आत्मा के तत्त्व भिन्न हैं। यथार्थवाद समस्याओ की नग्न उपस्थिति है तो प्रगतिवाद उसकी समाजवादी व्यवस्था। यथार्थवाद मे वस्तुओ का यथार्थ चित्रण तो है पर उसमे निहित समस्याओ का निराकरण नही, जबकि प्रगतिवाद यथार्थ निरूपण के साथ उनका निराकरण भी उपस्थित करता चलता है। अत मुन्शी प्रेमचन्द यथार्थवादी नही हैं, उनमे प्रगतिवाद अपने विस्तृत क्षेत्र मे हिलोरें मार रहा है।

यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुन्शी प्रेमचन्द का प्रगतिवाद अक्षरश राजनीतिक मार्क्सवाद का रूपान्तर नही है। जिन अर्थों मे महात्मा तुलसीदास प्रगतिवादी हैं उन्ही अर्थों मे प्रेमचन्द भी हैं। अन्तर केवल सामयिक परिस्थितियो तथा आराध्य का है। तुलसी के आराध्य भगवान् राम हैं और प्रेमचदजी के दलितवर्ग के श्रमिक और कृषक।

प्रेमचन्द-साहित्य की वादो के माध्यम से विवेचना कर लेने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता कि उनके जीवन के लिए उनके साहित्य के साथ उनके द्वारा प्रेरित पत्रो को भी देखा जाना चाहिए। इनका अवलोकन कर लेने के पश्चात लोगो की भिन्न धारणाएँ निम्न प्रकार हैं—

मुन्शी प्रेमचन्द कर्मवादी थे। उन्होंने कर्म को अपने साहित्य मे प्रमुखता दी है। कायाकल्प' के आधार पर उन्हे अलौकिकतावादी भी ठहराया गया है। उपन्यासो की विचारधारा तथा उनके निष्कर्ष गांधीवादी हैं। इन वादो से ऊपर उठकर उन्होंने शुद्ध मानवतावाद का आश्रय लिया है।

यो थोडे अशो मे सभी वादो का उनके साहित्य मे समावेश हुआ है, परन्तु देखना यह है कि किस प्रकार की विचार-सारिणी उनके साहित्य मे, विशेष रूप से प्रवहमान हुई है। 'अलौकिकवाद' केवल 'कायाकल्प' तक सीमित है। अत अपवाद है। कर्म को उन्होंने प्रधानता अवश्य दी है। कारण कि वह स्वय आजीवन सघर्षों मे रत रहे और परिणाम अपरिणाम की ओर तटस्थ हो जीवन का विवेचन करते रहे। उन्होंने ऐसे पात्रो को जन्म दिया है जो आजीवन कर्मशील दिखाई देते हैं मानो कर्म उनके जीवन का स्रोत हो। इन कर्मों के परिणाम प्राय गाधीवादी विचारधारा से ओत प्रोत हैं। सभी पात्रो पर उनका अपना विश्वास है वर्ग के अनुसार उनकी नैतिकता पर भी विश्वास है। निकृष्ट कोटि के पात्रो के चरित्र चित्रण मे भी जो मानव जीवन के प्रति आस्था परिलक्षित होती है उन पात्रो के प्रति जा सहानुभूति लेखक के द्वारा दिखाई गई है वह शुद्ध मानव-भावनाओ से परिलिप्त है, अत गांधीवादी विचार होने के उपरान्त भी उसम शुद्ध मानवतावाद के दर्शन स्वत ही हो जाते हैं।

प्रेमचन्द जी के उपन्यास पूर्णत सामाजिक हैं। उन्होंने अपने क्षेत्र को शरद बाबू की भाँति परिवार तथा उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियो तक ही सीमित नही रखा है उनका क्षेत्र विस्तृत है।

प्रेमचदजी को विरासत मे,जो मिला वह सचमुच साहित्य कहलाने योग्य नही था, इसम दो मत नही हो सकते। उन्होंने इस असाहित्यिक परम्परा को नष्ट कर नई विचार भूमि, वर्णन शैली तथा सरल भाषा म रोचकता एव स्वस्थता की स्थापना की। इस परम्परा को उनके परवर्ती उपन्यासकार अथवा कहानीकार अधिक अभिवृद्ध न कर सके।

साराश म, आरम्भकालीन सर्वांगीण दारिद्रय से साहित्य को मुक्त कर प्रेमचद ने नया कलास्वरूप, नए उद्देश्य तथा नवीन विचारधारा को जन्म दे उपन्यासो और कहानियो में साहित्यिक गौरव प्रतिष्ठित किया। इस स्वस्थ

वे सरल मनोवृत्ति वाले लेखक का अनुगमन अन्य कोई हिन्दी कलाकार न कर सका। प्रेमचन्द हिन्दी साहित्याकाश के वह नक्षत्र हैं जो रात आते उदय हुआ और प्रभातकालीन किरणें जिसका हार्दिक स्वागत कर रही हैं।

३६ आचार्य शुक्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व

'गद्य कवीनाम् निकष वदन्ति' अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी होता है। कवि म कविता की अभिव्यक्ति तो स्वाभाविक रूप से, हार्दिक प्रेरणा से हो जाया करती है, पर गद्य लिखते समय कवि की भी परख हो जाया करती है। एक अच्छा कवि जो बहुत उच्च कोटि की कविता करता है आवश्यक नहीं कि गद्य भी उसी स्तर का लिख दे। परन्तु शुक्लजी गद्य लिखने की कसौटी पर सर्वथा खरे उतरे हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में जो स्थान उपन्यास-क्षेत्र म प्रेमचन्द का कवि-रूप में निराला का है वही समालोचना के क्षेत्र में शुक्लजी का।

विकास गति के प्रस्तर स्तम्भ—जिस प्रकार मार्ग चलते व्यक्ति को मील, फर्लांग का परिचय मिल जाने के पश्चात् गन्तव्य के प्रति निश्चितता आती जाती है और वह यह भी अनुभव करता है कि वह मार्गों की कितनी वक्रताओं का तय करके आगे बढ़कर आया है शुक्लजी भी ऐसे ही एक प्रस्तर-स्तम्भ है, जिनकी स्थिति बता देती है कि गद्य-क्षेत्र में उनके पीछे क्या मार्ग रहा था और आगे क्या होने की सम्भावना हुई।

उनके आने से पूर्व हिन्दी में भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक निबन्धों का अभाव-सा ही था। पण्डित बालकृष्ण भट्ट का 'आत्मनिर्भरता', प्रताप नारायण मिश्र का 'मनोयोग', माधवप्रसाद मिश्र का 'धृति और क्षमा' नामक निबन्ध लिखे गए। इनमें आत्मनिर्भरता, क्षमा आदि भावों के गुण मात्र ही गिनाये गये हैं। निबन्धों को अपने व्यक्तित्व से जबरन बांधा गया है। शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में आकर क्रांति ही उत्पन्न कर दी है। भारतेन्दु युग के बाद सच्चे अर्थों में ललित निबन्ध शुक्ल जी ने ही रचे।

उन्होंने विभिन्न मनोविकारों से सम्बन्धित निबन्धों में विचारपूर्वक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित किया है। विशिष्ट भाव की उत्पत्ति, विकास तथा अन्य भावों से उसका क्या सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में शुक्ल जी ने बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया है, साथ ही सामाजिक प्रभाव की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने भावों का साहित्य और जीवन से सम्बन्ध भी बताया है। भावों के सम्बन्ध में जहां साहित्य और जीवन ही प्रमुख रहा है। वहां उस मनोवैज्ञानिक

बोलना, बडो का कहना मानना आदि नियम के अन्तगत हैं, शील या सदभाव के अन्तगत नहीं।' (आधुनिक नेताओ पर व्यग्य) "इस जमाने मे वीरता का प्रसग उठाकर वाग्वीरता का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बडी-बडी सभाओ के मचो से लेकर स्त्रियो के उठने हुए पारिवारिक प्रपचो तक मे पाये जाते हैं।" (देश प्रेम के सम्बन्धो म) 'मोट आदमियो ! तुम जरा दुबले हो जाते—अपने अदेशे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियो पर मास चढ जाता।"

शुक्ल जी ने भावो के विश्लेषण मे व्यवहार को ही प्रमुखता दी है तभी तो भावो का मनावैज्ञानिक चित्रण हो सका है। पर यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति सहृदयता और साहित्यिकता के परिवेश का स्पश करते हुए प्रकट हुई है यही कारण है कि भावो पर लिखे गये शुक्ल जी के निबन्ध केवल शास्त्रीय निबन्ध ही नही हैं। विचार विवेचन के साथ साथ विषय की सरलता और सहजता के लिए शुक्ल जी निबन्धो से बीच-बीच मे आत्मपरक घटनाओ का भी सन्निधान हुआ है। जैसे 'लोभ और प्रीति' निबन्ध मे लेखक के मित्र की चर्चा तथा 'श्रद्धा भक्ति' मे काशी के दुकानदार का उदाहरण। पर यह वैयक्तिकता-प्रधान प्रवृत्ति कम ही स्थानो पर आई है।

शुक्ल जी ने तीन प्रकार के निबन्धो की चर्चा की है, विचारात्मक, भावात्मक, वणनात्मक। विचारात्मक निबन्धो के क्षेत्र मे शुक्ल जी वैचारिकता को प्रमुख स्थान देते हैं। उनके अधिकाश निबन्ध विचारात्मक ही हैं। एक श्रेष्ठ समालोचक के रूप मे शुक्ल जी विचारात्मक निबन्ध-लेखक ही हैं। आपने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' सातवें सस्करण मे विचारात्मक निबन्धो के सम्बन्ध म लिखा है—'शुद्ध विचारात्मक निबन्धो का चरम उत्कष वही कहा जाता है जहा एक पैराग्राफ मे विचार दबा-दबाकर कसे गये हो और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचारखण्ड को लिये हो।" इस कसौटी पर जब हम उनके निबन्धो को कसते हैं तो वे खरे उतरते हैं। सामान्य रूप से उनके सभी निबन्ध विचारात्मक ही हैं। ऐसे निबन्धो मे ही उन्होंने सूत्रात्मक शैली को अपनाया है।

कुछ आलोचकों ने शुक्ल जी के निबन्धो मे शुष्कता और नीरसता का दोष लगाया है जो सवथा अमान्य है। विषय विवेचन के कारण दुरूहता आ गई हो तो दूसरी बात है। मनुष्येतर प्राणियो और पदार्थों से उनका तादात्म्य देखिये—

"हम पेड-पौधो और पशु पक्षियो से सम्बन्ध तोडकर बडे-बडे नगरो म आ बसे हैं पर उनके बिना रहा नही जाता। हम उन्हें पास न रखकर एक घेरे मे बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते

हैं। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं और हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यॉं-म्यॉं करके मांगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेवजी कभी कभी दीवार फोड़-फोड़कर निकल पड़ते हैं।"

शुक्ल जी के निबन्धों के विशेष गुण—(अ) औचित्य का ध्यान—विवेचनीय वस्तु का शुक्ल जी ने सीमा के भीतर ही सम्यक् विश्लेषण किया है। विषय को वातावरणानुकूल बनाने में शुक्ल जी कुशल हस्त हैं। मुसलमानी प्रसग आने पर खुले आम उर्दू प्रयोग करते हैं। (आ) मननशीलता की प्रवृत्ति—शुक्लजी के सभी निबन्धों में यह गुण भली प्रकार देखने को मिलता है। (इ) स्पष्टता का स्वभाव—विचारात्मक प्रवृत्ति का गुण है स्पष्टता। शुक्लजी वास्तव में सच्चे स्पष्टवादी निबन्ध-लेखक रहे हैं। जिस समस्या को उन्होंने उठाया है उसे सम्यक् रूप से स्पष्ट करके ही छोड़ा है। (ई) गम्भीरता—जैसे शुक्ल जी के व्यक्तित्व में प्रखरता है ऊर्जा है, उसी प्रकार उनके निबन्धों में विचारों की गम्भीरता देखने को मिलती है। हास्य-व्यग्य के समय भी उनके प्रतिपादन की गम्भीरता देखी जा सकती है (उ) तार्किक प्रवृत्ति—तर्क बुद्धि के पार्श्व में ही निवास करता है और बुद्धि की प्रधानता शुक्ल जी के निबन्धों में प्रमुख है ही, अत तार्किकता स्वाभाविक रूप से ही आ गई है (ऊ) सक्षिप्तता से यहाँ तात्पर्य आकार प्रकार से नहीं है वरन् शैली की सामासिकता से है। यह गुण उनके निबन्धों में सूत्रात्मक पद्धति में सयोजित हुआ है। इन गुणों के अतिरिक्त उनके निबन्धों में आदर्शप्रियता प्रकृति प्रेम आदि के गुण भी सन्निहित हैं।

शुक्ल जी की निबन्ध शैली—भावों की दृष्टि से शुक्लजी के निबन्धों में तीन शैलियों का उपयोग हुआ है—विक्षेप धारावाहिक और तरग। विक्षेप शैली के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'उद्भ्रान्त प्रेम उस विक्षेप शैली पर लिखा गया है जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिए भाषा बीच-बीच में असम्बद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती है।' इस प्रकार की शैली को शुक्ल जी ने अधिक प्रश्रय नहीं दिया। धारावाहिक शैली में भावों का एक प्रकार का प्रवाह बना रहता है। शुक्लजी के भावात्मक निबन्धों की शैली कुछ कुछ इसी प्रकार की है। तरग शैली के सम्बन्ध में उन्होंने इतिहास में लिखा है—'श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्थल' में प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावों की भी प्रबल व्यजना अलग-अलग प्रबन्धों में की गई जिनमें कुछ दूर तक ढग पर चलती धारा के बीच-बीच में भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबन्धों की भाषा तरगवती धारा के रूप में चली जाती थी उसमें धारा और तरग दोनों का योग था।'

शुक्लजी की शलीगत विशेषताएँ—शैली प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् हुआ करती है। शुक्लजी की शैली बिहारी और केशव की भाँति सवथा स्वत सिद्ध है। उनकी शली मे विचारो की कसावट और सवत्र विद्यमान है। जैसे बिहारी ने 'गागर मे सागर' भरने का प्रयास किया है उसी प्रकार शुक्लजी ने समास शैली के माध्यम से विचारो की गहनता प्रस्तुत की है। मोटे रूप मे उनकी शली के छ गुण कहे जा सकते हैं—(१) शैली तत्सम प्रधान है पर मुहावरो का प्रयोग एव विदेशी सरल शब्दो का भी अभाव नही है। उनकी शैली को सूत्रात्मक शैली कह सकते हैं। (२) स्थान-स्थान पर हृदय-पक्ष का प्रवाह उमडता है, जिसमे काव्यात्मकता के दशन होने लगते हैं। (३) व्यग्य विनोद के छीटो से रसधारा की फुहारें छूटती चलती हैं। (४) वाक्य व्याकरणानुकूल कसे हुए हैं। उनकी तुलना शृखला की कडियो से की जा सकती है जो एक-दूसरे से सुसम्बद्ध हैं। (५) बीच-बीच मे कही-कही उपदेशात्मक प्रवत्ति भी उभर आई है। (६) शुक्लजी के जीवन का अध्यापकत्व भी शैली मे प्रकट हुआ है। सूत्रात्मक शैली का उदाहरण देखिए—'बर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।' यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण', "किसी मनुष्य मे जन-साधारण के विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बध मे जो स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय मे स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं।' ऐसी ही सुगुम्फित वाक्य रचना से शुक्लजी अपने विचारो को लबालब भर देते हैं। वाक्यो मे पूर्वापर सम्बध अपेक्षित रहता है। निगमन शैली से उनका पैराग्राफ प्रारम्भ होता है और 'उदाहरण' तात्पय यह है कि 'अर्थात् आदि पर समाप्त होता है।

प्राय उनकी वाक्य रचना सस्कृतनिष्ठ है और गम्भीर विवेचना मे सस्कृत शब्दो की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। फिर भी उनके निबधो की भाषा मे व्यावहारिकता लाने के लिए—इमारत नमूना बारीकी, तारीफ, खैर, खुशामद आदि उर्दू-फारसी शब्दो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग है। उनके निबधों मे प्रचलित मुहावरो का धडल्ले से प्रयोग हुआ है।

शुक्लजी के व्यग्य बडे तीखे हुआ करते हैं ममभेदन की शक्ति उनम स्वत सभूत है। रूढिवादिता पर एक व्यग्य देखिए—"भारतवासी वासना मे ग्रस्त होकर कम से तो इतने उदासीन हो बैठे और फल के पीछे इतने पडे कि गर्मी मे ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार म लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन धान्य की वृद्धि तथा और न जाने क्या-क्या चाहने लगे।'

शुक्लजी ने शली को व्यक्ति का अभिन्न अग माना है। लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने शुक्ल जी की निबध-शैली को 'बादाम तोड शैली' कहा है। जिस

प्रकार बादाम को तोडने मे अवश्य ही कुछ प्रयास करना पडता है परन्तु टूट जाने पर उसकी गिरी आकर्षक, सहज सुस्वाद बन जाती है, उसी प्रकार शुक्ल जी की शैली है, प्रयत्नपूर्वक थोडा समझ लेने पर रसपूर्ण प्रतीत होती हैं।

शुक्ल जी का स्थान—निबन्ध-लेखक की दृष्टि से शुक्ल जी की तुलना *अंग्रेजी लेखक जॉनसन तथा आलोचक की दृष्टि से आरनॉल्ड से की जा सकती* है। क्योंकि शुक्लजी की भाँति वे दोनो भी 'सहज बुद्धि' (Common Sence) की आधार-भूमि का परित्याग कहीं-नहीं करते। शुक्लजी के निबन्धों मे प्राणवत्ता है, उनके व्यक्तित्व मे सहृदय विनोदी साहित्यकार के गुणो की झाँकी है—केवल मात्र पुस्तक-सेवी सन्यासी की ही झलक नही है। शुक्लजी की निबन्ध-शैली एव आलोचना-पद्धति का इतना प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र मे हुआ है कि उनके पश्चात् निबन्धो मे एक क्रान्ति ही आ गई है। शुक्ल जी अपने युग के *प्रतिनिधि निबन्धकार हैं। परवर्तियो के लिए आलोक स्तम्भ हैं।*

३७ | *युग कवि रामधारी सिंह 'दिनकर'*

छायावाद के उपरान्त हिन्दी के काव्य-मच पर तीन कवि विशिष्ट रूप लेकर अवतरित हुए। तीनों के स्वरों मे मस्ती थी, उमग थी, उल्लास था, *तरुणाई का खुमार था, भावो का ज्वर था।* इनमे से भगवतीचरण वर्मा की मस्ती तो 'भैंसा गाडी की चू चू मे ही कही खोकर रह गई। बच्चन की मस्ती पर 'मधुशाला' की हाला का रग ऐसा चढा कि वह व्यक्ति के 'आकुल-अन्तर' एकान्त सगीत' और 'मिलन-यामिनी के अवसाद-उल्लास भरे सीमित क्षितिज मे ही खोकर रह गये और जब उनकी आँखो ने युग की ओर दृष्टि-पात किया तो कवि की भावुकता इस सीमा तक मर चुकी थी और बौद्धिकता इस सीमा तक छा चुकी थी कि उनके पूर्व-कृतित्व पर भी सन्देह सा जागृत होने लगा। तीसरे कवि हैं श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' जो इसी युग की देन है। इन तीनो मे दिनकर ही ऐसे हैं जिन्होने युग-चेतना का [illegible]कार की, अगारों भरी क्रान्ति दी रसवती गान दिया, इतिहास के आँसुओ से मानवता का स्वर खोजा, कुरुक्षेत्र की तप्त भूमि से 'मनुज के लिए श्रेय' तत्त्व की खोज की ओर आज जब हिन्दी का पाठक प्रबुद्ध हो गया है तब कवि भी भावुकता की पुरानी केंचुल को उतार मनोवैज्ञानिक धरातल पर खडा आधुनिक नर-नारी मे उर्वशी और पुरुरवा की झाँकी देखता, इस स्थापना मे तल्लीन है कि 'कोई शक्ति है, जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती और जब वे मिल जाते हैं तब भी उनके भीतर किसी तृष्णा का सचार करती है, जिसकी

तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।"

युग-कवि दिनकर के काव्य का समारम्भ सन् १९३५ मे प्रकाशित 'रेणुका' नामक काव्य-रचना से होता है। इसमे आगे आने वाली 'रसवन्ती' की कोमल भावधारा भी है। जैसे —

"राजा वसन्त वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी।
राजा के मुख मे—हसी कठ में माला
रानी का अन्तर विकल दृर्गों में पानी॥"

और साथ ही 'हुंकार' जैसा ओज भरा सामाजिक चेतना का स्वर भी, जैसे—

"विद्युत छोड़ दीप साजू मैं महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश।"
"तुम गाँवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लू वेश।

इस प्रकार आगे चलकर कवि के काव्य मे जो मूल-स्वर निरतर पल्लवित होते गये उसके बीज 'रेणुका' मे ही मिल जाते हैं।

'हुकार' कवि की वह रचना है जिसकी कविताओ ने कवि को ख्याति प्रदान की। कवि जिस पौरुषमय व्यक्तित्व, ओजस्वी वाणी तथा क्रान्ति के अगारो के लिए प्रसिद्ध है, हुकार उसका प्रतीक है, कवि की प्राणवान रचनाओ का प्रगतिवादी कविता का, राष्ट्रवादी भावो का प्रतिनिधि काव्य-सग्रह है। कवि 'नए प्रात के अरुण' युवको का आह्वान करता है —

'नए प्रात के अरुण, तिमिर उर में मरीचि सधान करो।
युग के मूक शल उठ आओ, हुकारो कुछ गान करो॥"

कवि मे अदम्य उत्साह तथा अगाध विश्वास है। वह जानता है कि विभा-पुत्रो का आलोक-दान ही कर्त्तव्य, जागरण-गान ही मूल-मन्त्र है।

प्रगतिवाद के प्रवाह मे बहते हुए जहाँ कवि को झोपडियो मे साम्य की वशी सुनाई देती है वहाँ कवि ने तत्कालीन दिल्ली को सम्बोधित करते हुए उसके शोषण का भी यथार्थ चित्र दिया है —

'अनाचार अपमान, व्यग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली।"

इस सग्रह की प्रसिद्ध कविता "हाहाकार" है जिसमे दूध-दूध की पुकार है किसानो के बच्चे 'दूध-दूध' करते विलख कर मर जाते हैं। उनकी कब्रो से भी दूध-दूध का हाहाकार सुनाई देता है —

"कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है।
दूध-दूध की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।"

इस प्रकार 'हुकार' की कविताएँ कवि की ओजस्वी वाणी की हुकार भरती,

प्रगतिवादी विचार धारा, यथार्थ को सामने लाकर सामाजिक-चेतना को जगाती तथा ज्वलंत स्वरों में क्रान्ति का पाठ पढ़ाती हैं। ओजं और आक्रोश भरे इन स्वरों ने ही कवि को ख्याति प्रदान की।

यदि 'रेणुका' के पौरुष भरे स्वर को बढ़ावा मिला है 'हुंकार' में तो कोमल स्वरों की मादक झंकार को आधार मिला है 'रसवंती' में। यही कवि के काव्य के मूल स्वर है, जिन्हें कवि ने विकसित किया है। अतएव हुंकार के आवेग के उपरान्त यदि रसवन्ती की कल-कल का मधुर स्वर सुनाई देता है, तो इसे कवि का पथ-भ्रष्ट होना नहीं कह सकते। 'रसवंती' काव्य-संग्रह की 'गीत अगीत' कविता अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

यद्यपि 'रसवंती' के साथ ही १६४० में 'द्वन्द्व-गीत' का भी प्रकाशन हुआ किन्तु उसका जीवन-मृत्यु सम्बन्धी द्वन्द्व-निरूपण कोई विशेष आकर्षण उत्पन्न नहीं करता और इस रचना को आलोचकों ने कोई विशेष स्थान भी नहीं दिया है। किन्तु मेरी दृष्टि से द्वन्द्वगीत नामक रचना एक प्रकार से कुरुक्षेत्र के लिए मैदान तैयार करती हुई प्रतीत होती है।

इसके उपरान्त कवि की अक्षय-कीर्ति का आधार 'कुरुक्षेत्र' आता है जिसका प्रकाशन सन् १६४६ में हुआ। अभी तक कवि फुटकर कविताएँ एवं गीत लिखता आ रहा था, जिसमें भावों का आवेग है किन्तु 'कुरुक्षेत्र' में आकर कवि आख्यान का आधार लेकर प्रबन्ध रचना करता है। कुरुक्षेत्र का सृजन सात सर्गों में हुआ है। इस रचना में सम्बद्धता ही नहीं विचार-बद्धता भी है। वास्तव में 'कुरुक्षेत्र' का प्रसंग तो विचारों को प्रकट करने का माध्यम-मात्र है। इसीलिए इस रचना में युधिष्ठिर तथा भीष्म के प्रसंग की पौराणिकता तथा रचना के प्रबन्ध-कौशल को महत्त्व न देकर कवि ने युद्ध, न्याय आत्म बल, धर्म-अधर्म जैसे विचारों को ही महत्त्व दिया है। इसी कारण 'कुरुक्षेत्र' के स्वर में प्रौढ़ता है संयम है और गम्भीरता है। यहाँ ओज और पौरुष के साथ-साथ विवेक का भी सुन्दर सम्मिलन हुआ है तथा कवि ने हृदय की भावुकता को ही मस्तिष्क की बौद्धिकता के स्तर तक उठाकर जीवन के सामने अनेक प्रश्नों पर परिपक्व विचारों की अभिव्यक्ति की है।

द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया था किन्तु युद्ध की विभीषिका अभी भी मानव को आतंकित किये थी। इधर भारत में अहिंसात्मक आन्दोलन भी असफल ही हुए थे। कवि का मन इस द्वन्द्वपूर्ण वातावरण में निरन्तर चिंतनलीन था। युद्ध शांति, अहिंसा हिंसा, वीरता-कायरता पुण्य-पाप धर्म अधर्म जैसे असंख्य सामाजिक विषयों पर कवि ने जो कुछ उस समय सोचा उसे ही कुरुक्षेत्र के क्षीण कथानक के पट पर अंकित कर दिया है। प्रबन्ध-कल्पना में भले ” शिथिल हो रचना-कौशल पर कवि ने विशेष ध्यान न दिया हो,

किन्तु विचारों की दृष्टि से यह काव्य श्रेष्ठतम कृति है और मानवीय-मूल्यों के आख्यान को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करती है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त दिनकर जी के कई काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। 'बापू' में बापू की हत्या के कारण क्षुब्ध हृदय का भावावेश है, 'धूप और धुआँ' में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है एक ओर स्वराज्य की आशामयी धूप है तो दूसरी ओर असंतोष का धुआँ भी। 'इतिहास के आँसू' 'नीम के पत्ते' तथा 'नील-कुसुम' इनकी नई पुरानी कविताओं के संग्रह हैं। इनसे केवल इस तथ्य की सूचना मिलती है कि 'दिनकर' का कवि उतार पर है। इतना तो स्पष्ट है कि कवि की राष्ट्रीय भावनाओं में गतिरोध आ गया है। 'नील-कुसुम' में कवि ने कुछ नए शिल्प व प्रयोग भी किये हैं किन्तु भाव-धारा वही पुरानी है। इसकी आलोचना करते हुए बच्चन ने कहा है कि "दिनकर या तो अपने को नहीं समझ सका या फिर प्रयोगवाद को। वे मुख्यत और मूलत एक राष्ट्रीय कवि हैं।" इसी प्रकार की एक और रचना 'रश्मि-रथी' भी मिलती है जिसमें कवि की दृष्टि अतीत की ओर गई है तथा कवि ने महाभारत के प्रसिद्ध पात्र कर्ण को दलितों का नेता बनाकर उसके उत्थान का प्रयत्न किया है। उनका यह प्रयास भी निश्चय सराहनीय है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता के उपरान्त प्रकाशित रचनाएँ दिनकर के ह्रास की सूचक हैं न कि विकास की। राष्ट्रीयता का शंख फूँकने वाला युग कवि देश में व्याप्त असंतोष की भावना से मौन-मूक हो गया है। सांस्कृतिक चेतना को जगाने और राष्ट्र निर्माण की कल्पना को भावावेश के रूप में प्रस्तुत करने की कोई योजना इनकी रचनाओं में नहीं मिलती। जहाँ पाठक कवि से राष्ट्रीय-चेतना से परिपूर्ण किसी युगान्तरकारी रचना की आशा लगाए बैठा था, वहाँ कवि की वाणी ने दी है काम के स्पंदन से परिपूर्ण 'उर्वशी'। जीवन-पर्यन्त राष्ट्र के चरणों पर भाव भरी वाणी के फूल चढ़ाने वाला कवि काम अध्यात्म की अखंड समाधि में लीन हो गया है। यह देखकर प्राय निराशा ही होती है।

किन्तु 'उर्वशी' का प्रकाशन हिन्दी काव्य जगत् की एक ऐतिहासिक घटना है। कवि दिनकर के काव्य की यह परिणति एक विस्मय का विषय बनकर आई। इसी कारण इस रचना की कई वर्षों तक पर्याप्त चर्चा रही और प्राय आलोचकों द्वारा विवाद-पूर्ण मत प्रकट किये गये।

वैसे तो आरम्भ से ही कवि के काव्य में दो स्वर मूल रूप से दिखाई देते हैं—सामाजिक चेतना का स्वर जिसका फल कवि की राष्ट्रीय कविताएँ थीं और जिनकी परिणति 'कुरुक्षेत्र' में हुई। दूसरा रोमांटिक स्वर जिसकी मुखर अभिव्यक्ति 'रसवन्ती' में हुई थी और जो यदा-कदा उनकी अन्य रचनाओं में प्रस्फुट होता रहा था। 'उर्वशी' इस दूसरे रोमांटिक स्वर की है

चरम परिणाम है।

उर्वशी में स्त्री और पुरुष के रूप चित्रण का प्रयास किया गया है। कवि की मान्यता है कि 'नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सधान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है जब दैनिक चेतना से परे वह प्रेम की दुगम समाधि में पहुँच कर निस्पद हो जाता है और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता मे नारी अग-सज्ञा के पार पहुचना चाहती है।" इस प्रकार उर्वशी का लक्ष्य उस प्रेम की आध्यात्मिक महिमा का निरूपण करना है जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है—

"प्रणय-भृ ग की निश्चेतनता में अधीर बाँहों के
आलिंगन में देह नहीं, श्लथ यही विभा बँधती है।
और चूमते हम अचेत हो जब असक्त अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर भी चढ़ जाता है।"

इस प्रकार 'उर्वशी' काम और अध्यात्म के बीच द्वन्द्व को प्रतिपादित करने वाली रचना है जिसका आधार कवि दिनकर के ही शब्दों मे उनकी चिर परिचित भूमि सामाजिक चेतना ही नहीं अपितु एक ऐसी चेतना भी है जो वैयक्तिक है रहस्यात्मक और मनोवैज्ञानिक है। इसमें संदेह नहीं कि इस काव्य म सामाजिक चेतना का वह शख फूंक देने वाला युग-चारण रूप नहीं मिलता जिससे हिन्दी का पाठक कवि दिनकर को जानता तथा पहचानता है।

'उर्वशी' के तीसरे अक की आलोचको ने विशेषकर प्रशसा की है क्योंकि इसमे कवि ने नेताओ की भांति प्रश्नो के उत्तर तथा रोगो के समाधान नहीं दिये अपितु कविता को दर्द और बेचैनी, वासना की लहर तथा रुधिर के उत्ताप की वाछित भूमि पर खडा किया है।

इस प्रकार प्रगति के अग्रदूत ओज, पौरुष और विवेक के युग-कवि दिनकर को भले ही कुछ आलोचक उर्वशी' के कामाध्यात्म के विचित्र घोटाले के कारण चारण-युग तक कहने लगे किन्तु सन्देह नहीं कि कवि की सशक्त वाणी ने अतीत के गौरव का, वर्तमान के संघर्ष का और भविष्य के स्वप्नो का भी भार सफलतापूर्वक वहन किया है, अतीत को नई दृष्टि देकर वर्तमान को उजागर करने का स्तुत्य प्रयास किया है न कि परम्परावादी कवियो की भांति नई सामाजिक चेतना के सन्दर्भ म बदलते हुए मानव-मूल्यो की रूढ़िवादी बनकर अवहेलना की है।

कवि दिनकर के काव्य मे भाव-बोध का ही वैविध्य नहीं, रूप शिल्प का

भी प्रयोग विभिन्न रूपों मे हुआ है। इन्होंने केवल हुकार का उद्बोधन काव्य, रसवन्ती के प्रणय गीत, कुरुक्षेत्र का प्रबंध काव्य ही नहीं लिखा अपितु उर्वशी का सवाद काव्य तथा काव्य निबंध, सूक्ति-काव्य, नीति-काव्य, व्यग्य काव्य आदि भी प्रस्तुत किये हैं।

कवि की भाषा अपने ओज और दप के लिये, भाव-वहन करने की क्षमता और रस सिक्त होने के लिए पर्याप्त समर्थ है। कवि के छन्द विधान मे भले ही कोई नवीनता न हो किन्तु सन्देह नही कि ये छन्द इनके भावों के वेग, मन की मस्ती, भाषा के ओज और शैली के वैविध्य को वहन कर अनुभूतियो की सरस अभिव्यक्ति कर पाये हैं।

३८ | नई कहानी

कहानी की भी अपनी कहानी है। क्योंकि कहानी का पाठक बदलता है, युग के अनुरूप उसकी मान्यताएं, रुचियो मे परिवर्तन आता है, इसलिए कहानी भी सदा अपना रग रूप बदलती रही है।

प्रेमचन्द का अन्तिम कहानी-सग्रह था 'कफन'। इस सग्रह मे, विशेषकर इसकी कहानी 'कफन' मे जीवन की भूख की एक नई अनुभूति थी, मानव-चरित्र की एक नई झाँकी थी, जीवन की कटुता और व्यग्य को एक नये शिल्प में प्रस्तुत किया गया था, नई सवेदना दी गई थी। किन्तु यह नई कहानी न थी। इसकी रचना-प्रक्रिया अवश्य ही भिन्न थी, इसका रचना-विधान भी नया था किन्तु इसकी जीवन-दृष्टि कटु यथार्थ के धरातल पर उतर कर भी, मानवीय-मूल्यों का पुराना लबादा ही ओढ कर आई थी। हाँ इस पुराने लबादे के कटे-फटे चीथडों से कहानीकारो ने नई जीवन-दृष्टि, नई रचना-प्रक्रिया और नई चरित्र सृष्टि के सूत्र अवश्य पा लिए थे।

प्रेमचन्द की कहानियों के उपरान्त हिन्दी-कहानी का सूत्र आगे बढ़ाने वालों मे तीन कहानीकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल। इन तीनो के अद्भुत कृतित्व से कहानी में विविधता आई, रचना-शैली और शिल्प-विधान के असख्य प्रयोग हुए, युग का बौद्धिक विश्लेषण भी उपस्थित होने लगा। इस कहानी-युग में सर्वप्रथम बात रही चरित्र। इसी चरित्र के माध्यम से ही जीवन के सब रूप, सब वर्ग, सब स्थितियाँ प्रतिबिम्बित होती रहीं। इन चरित्रों द्वारा ही युग की विचारधारा, युग का दर्शन मनोविज्ञान, गांधीवाद, साम्यवाद आदि अभिव्यक्त होते रहे। ये चरित्र यद्यपि सामान्य और प्रतिनिधि रूप मे भी सामने आये किन्तु अधिकतर इन लेखकों

का आग्रह विशिष्ट चरित्रो को ही चित्रित करने का रहा और उसके अवचेतन की गहराइयो मे उतर कर उसे अंकित करने का कलात्मक प्रयास किया गया। इस कारण कभी-कभी कहानी मनोवैज्ञानिक केस बनकर भी रह गई। फिर भी अधिकांश मे कहानियो म चरित्र को सफल अभिव्यक्ति मिली और वह भी व्यक्तिवादी चरित्रो को।

इस चरित्रांकन के लिए कहानीकारो ने आत्म विश्लेषण, अवचेतन की पर्तें उघाडना, सामाजिक-आर्थिक परिवेश द्वारा चित्रण जसे कई ढग अपनाये और इस प्रकार शुद्ध वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारो पर चरित्रो को अभिव्यक्ति देने का सफल प्रयास किया। इस कारण चरित्रो मे अहं विद्रोह तथा आत्मविश्लेषण का गहन चिन्तन विशेष रूप से दृष्टिगोचर हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि कहानी अधिक बौद्धिक हो उठी। उसमे घटना कौतूहल का तो प्रश्न ही न रहा, विचार हो अपनी पूण गहनता के साथ, चिन्तन की नीरसता के साथ और मानसिक ऊहापोह के साथ उपस्थित होने लगा। कहानी मे कथा न रही, अपितु विचार अपनी सारी उलझनो, अस्पष्टताओ के साथ छा गया। इसम सन्देह नही कि इससे कहानी के काम को तो विस्तार मिला और कहानी स्वीकार करना मात्र ही प्रतीत हुआ। जीवन का बोझ, उसका दद, उदासी और एकरसता सत्य है और इतनी अनुभूति ही जीवन का सत्य नही। यह जीवन को मार्मिक यथाथ समग्र जीवन से कही जुडकर ही तृप्ति दे सकता है। अतएव पीडा का यह मम पकड मे न आ रहा था, इसलिए कहानी विकास की एक ऊँचाई को पाकर भी गति अवरुद्ध हो गई और कथ्य के स्थान पर विविध शिल्प प्रयोगो मे ही सारी सृजन शक्ति लगने लगी।

इधर 'शुद्ध-साहित्यिक सिद्धि' से युक्त कहानियो मे बौद्धिक विश्लेषण की अस्पष्टता थी, यथाथ की अवसाद-ग्रस्त ऊब थी और शिल्प के प्रयोग के लिए प्रयोग थे तो दूसरी ओर इसी की प्रतिक्रिया मे पत्र पत्रिकाओ मे बाढ की तरह छा जाने वाली सस्ती, सैक्स की रोमांटिक कहानियो की धारा थी। दूसरे महायुद्ध के उपरान्त इसी धारा ने कहानी की माग को पूरा किया पाठको को सैक्स-हत्या बलात्कार, रगीन रातो नाटकीय काल्पनिक स्थितिया आदि के बीच उलझा उनका मनोरजन किया, उनकी कहानी पढने की भूख को शान्त किया।

इन धाराओ के फलस्वरूप कहानीकारो के सामने दो रास्ते रह गए। एक रास्ता था व्यावसायिक चेतना का, जिसमे रचना के आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा पसा कमाना अधिक महत्त्वपूण होता है। इसके वशीभूत होकर नगे सक्सी और सस्ते मनोरजन वाला साहित्य धराधड लिखा जाने लगा। दूसरी ओर जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियाँ थी जिनके कथ्य म, अन्तमु खी चरित्रो मे

मन स्थिति के भाव-चित्रों में, असाधारण की कल्पना तथा फैंटसी के द्वारा चमत्कृत करने का प्रयास किया जा रहा था। इस चमत्कारी कल्पना ने यशपाल के यथार्थ को भी छुआ था। इस प्रकार एक धारा साहित्यिक मूल्यों के विकास में लीन थी तो दूसरी धारा केवल लिखने के लिए लिख रही थी, छपने के लिए लिख रही थी। पर इधर समाज बड़ी तेजी से बदल रहा था। कहीं रेखाचित्र बने तो कहीं विश्लेषण चित्र, कहीं उसने डायरी-शैली को अपनाया तो कहीं पत्र-शैली को, कहानी कहीं भावुकता का बाना पहन गद्य-गीत की सीमाएँ छूने लगी तो कहीं विवरण पर दृष्टि टिक जाने से रिपोर्ताज बनकर रह गई। यही कारण है कि इस युग की कहानियों की कोई एक परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसके दृष्टिकोण अनन्त हैं, प्रवृत्तियाँ अनेक हैं, शैलियाँ विविध हैं, मान्यताएँ और प्रेरणाएँ विभिन्न हैं, अतएव कहानी की एक रूप-रेखा, एक सीमा निर्दिष्ट करना कठिन है। इस सम्बन्ध में अज्ञेय जी ने प्रयास किया है तथा एकान्तिक प्रभाव' को ही इन कहानियों का प्रमुख उद्देश्य बताया है उन का कथन है—'कहानी में एकान्त प्रभाव ही कहानीकार का उद्देश्य होता है और उसके द्वारा चुनी हुई वस्तु उस उद्देश्य प्राप्ति का साधन। वह प्रभाव और उस प्रभाव की एकान्तिकता ही मुख्य हैं।"

इस प्रकार प्रेमचन्द जी के उपरान्त हिन्दी कहानी दो दिशाओं में अग्रसर हुई। एक दिशा थी अनुभूति की जिसमें यह माना गया कि लेखक अपनी अनुभूति ही लिखे। जो अनुभूत नहीं है वह कहानी, सैद्धान्तिक प्रेरणा' के कारण भले ही ऋणशोध कही जाए, साहित्यिक सिद्धि नहीं कही जा सकती। दूसरी दिशा में कहानी को सिद्धान्त प्रेरित रूप दिया जाता रहा और कहानी के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा गया कि जिन भावनाओं को सुन्दर अर्थात् समाज उपयोगी और कल्याणकारी समझा जाए, उनको समाज को प्रेरणा देने के लिए अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसमें असुन्दर तथा अन्यायपूर्ण समाज के विरोध की प्रेरणा भी आ जाती है। इसी आशय से यशपाल ने कहा—"मैं जिन मान्यताओं के समर्थन अथवा विरोध में प्रेरणा उत्पन्न करना चाहता हूँ, उनके अनुकूल घटना की कल्पना कर लेता हूँ।"

नई कहानी क्या है? इसका अर्थ, इसकी सीमाएँ, इसका आधार और लक्ष्य क्या है? इन सब प्रश्नों का उत्तर भी नए कहानीकारों को ही देना पड़ा है और उन्होंने भी नई कविता के कवियों की भाँति अपने दृष्टिकोण को बड़े विस्तार से स्पष्ट किया है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध नए कहानीकार मोहन राकेश ने इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि नई कहानियाँ व हैं ' "। किसी-न किसी नये पहलू पर आधारित हैं, तथा जीवन के नये सत्यों को एकदम नई दृष्टि से दिखाने में समर्थ

हैं" नई कहानियों का नयापन किसी अछूते भाग के अजीब से प्राणियों के वर्णन में नहीं। इसका नयापन सामाजिक परिस्थितियों के कारण मानवीय जीवन में आया नयापन है। कुछ कहानियाँ इसलिए भी नई हैं कि उनका सत्य अभी साहित्य द्वारा अछूता है, जीवन के उस पहलू पर अभी रचना नहीं हुई है।

इन नई कहानियों के शिल्प का प्रमुख आधार है अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और 'क्षण-बोध'। इन नई कहानियों की अनुभूतियाँ भी सहज हैं और जीवन के हर पक्ष से प्राप्त हो सकती हैं। अनुभूतियों की यही सहजता रचना को भी सहज सवेद्य बना देती है।

नई कहानी का यह नयापन अपने पूर्व के कहानीकारों से कहाँ तक भिन्न है? इसकी चर्चा करते हुए प्राय यह स्वीकार किया जाता है कि नई कहानी का व्यक्ति समग्र और सम्पूर्ण रूप में नहीं खड-खड रूप में सामने आता है। आज का नया कहानीकार व्यक्ति या समाज को अपने-आप में नहीं देखता अपितु उसे उसके परिवेश में देखता है, कभी-कभी स्वयं परिवेश को ही देखता है। इसी कारण नई कहानी में परिवेश-बोध, वह भी 'क्षण' की विकसित चेतना को बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु माना जाता है। परिवेश-बोध नई कहानी के स्वरूप की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

नए कहानीकार का यथार्थ भी अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। इसे जिस परिवेश में व्यक्ति को पकडना पडता है, वह परिवेश बड़ा संश्लिष्ट और उलझा हुआ है। इसलिए कहानीकार को विशिष्ट भाव चित्रण या विश्लेषण के लिए शिल्प को भी वैसा ही सूक्ष्म बनाना पडता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए नया कहानीकार कथानक, चरित्र चित्रण, चरम सीमा के पुराने विधान को छोडकर कहानी के शिल्प को रूढ़िमुक्त कर चुका है। इसीलिए नई कहानी जीवन की किसी भी अनुभूति अथवा उसके एक बिन्दु को, एक विशुद्ध मनःस्थिति की घटना, भाव-दशा अथवा विचार को लेकर लिखी जा रही है। जहाँ इनमें अनुभूतियों की सहजता लक्षित की जा रही है वहाँ इनमें सहज सामाजिकता भी मिलती है। जहाँ यह सहजता है वहाँ ये कहानियाँ भी सहज सवेद्य हैं और जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ पूर्व के कहानीकारों सी अस्पष्टता आ गई है और ऐसी कहानियाँ अपनी विरलता तथा अत्यन्त जटिल अनुभूतियों के कारण समझ में नहीं आतीं, साधारण पाठकों को तो बिल्कुल ही नहीं।

इस प्रकार नई कहानी में कहानी की आत्मा ही परिवर्तित हो गई है। द्वितीय युद्ध के उपरांत हमारे सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक मूल्यों में जो विघटन हुआ है उसके फलस्वरूप पुराने स्थिर सत्य अधिकांश में भूठे दिखाई देने लगे हैं। आज की कहानी इन्हीं नयी अनुभूतियों का नयापन लिये है। इस

नई अनुभूति की सजीवता परिवेश-बोध तथा उसके सफल चित्रण पर है और सुबोधता उसकी सहज तथा सरल अभिव्यक्ति पर है। इस प्रकार नई कहानी के स्वरूप के आधार-बिन्दु हैं—(१) अनुभूति, (२) सहजता तथा (३) परिवेश बोध की विकसित चेतना। इन्ही तीन कारणो से ही नई कहानी नई है न कि केवल इसलिए कि वह नये समय की है या नये लेखको की है।

नई कहानी को जितनी शीघ्र मान्यता मिली उतने ही वेग के साथ इस साहित्य का निर्माण हुआ और आज इसका फल यह निकला है कि इन थोड़े वर्षों मे ही नई कहानी के उत्कृष्ट उदाहरण, नई कहानी के उत्कृष्ट कहानी-सग्रह तथा नई कहानी के उत्कृष्ट कहानीकार देखने मे आते हैं। मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव कमलेश्वर, मन्नू भडारी, अमरकात उ प्रियम्वदा, फणीश्वरनाथ रेणु, ६. ८र जोशी नई कहानी के प्रतिनिधि लेखक हैं।

धीरे धीरे नई कहानी अपने सफल सर्जन की रूपरेखाएँ भी उभार रही है। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो मे ग्राम तथा कस्बो के जीवन की झाँकी दी थी और उनके रूढ जीवन के परम्परागत सत्य का उद्घाटन किया था। प्रेमचन्द के उपरान्त कहानी शहरो मे आ बसी और जीवन-सत्य को चित्रित करने का ऋजु पथ छोड मनोविज्ञान तथा विश्लेषण के माध्यम से अवचेतन की गहन गुफाओ मे जा बैठी। पर नई कहानी ने समान रूप से नगर, कस्बाती तथा ग्राम जीवन को अपनाया। पर ऐसा करते हुए कहानी के लेखक का सत्य नई सामाजिकता तथा बदले हुए परिवेश की विकास चेतना को लेकर ही चला। इसी कारण जब हम कमलेश्वर को कस्बाती कहानी कहते पाते हैं या मार्कण्डेय को ग्राम्यजीवन की तो उनमे प्रेमचन्द की गध नही आती अपितु नई सवेदनाएँ उभर कर आती हैं नई अनुभूतियाँ होती हैं, नए-सकेत-चित्र उभरते हैं और व्यक्ति या सामाजिक सत्य के नए धरातल प्राप्त होते हैं। यही बात नगर के जीवन के सम्बन्ध में भी सत्य है।

और फिर यह कहानी जीवन की ऊब और उदासी की कहानी नही, पराजित मनोवृत्ति की तो बिल्कुल ही नही। इन कहानियो मे जीवन के जीवत चित्र मिलते हैं। जीवन से जूझते, वर्जनाओ को चुनौती देने का विद्रोह भरा भाव भी इनमें मिलता है। इसमे सदेह नही कि इन कहानियो मे कुछ ऐसी भी हैं जिनमे न इतनी गहराई है न इतना जीवन का जीवत चित्रण। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमे जीवन के उदास, करुण और हीन-जड चित्र हैं। वास्तव मे ऐसा स्वाभाविक ही है। कोई भी युग हो यह सम्भव नहीं कि उसकी हर रचना का स्तर एक जैसा हो। और फिर नई कहानी के लिये तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि यह कुछ नया देने के लिए वचनबद्ध है। यही कारण है कि नई कहानी की अनुभूति मे पर्याप्त विविधता है। अनुभूति की

इस विविधता ने कहानी के न पन की भी रक्षा की है और साथ ही इसके परिवेश को व्यापक भी बना लिया है।

नई कहानी तक आते-आते कहानी की परिभाषा और उसके केन्द्रीभूत तत्व या मात्रा में भी पर्याप्त अन्तर आ गया है।

प्रेमचन्द के युग की कहानियों मे एक आदर्श रहा करता था, जैनेन्द्र आदि की कहानियों मे एक विचार। किन्तु नई कहानी मे एक जिया हुआ जीवन-क्षण या उसका अश-मात्र रहता है। कहानीकार इसी भोगे हुए क्षण को कुशाग्र बनकर मुखरित कर देता है और उस पर विचार के लिए पाठक को खुला छोड़ देता है। इससे कहानी संवेद्य होकर पाठकों के विचार-क्षेत्र मे हलचल मचाने का सहज लक्ष्य लिये है। यही इसका आदर्श है, विचार है।

नई कहानी का आग्रह शिल्प पर नहीं। जहाँ कथ्य से भिन्न कोई फार्म नहीं। तथ्य और फार्म एक ही वस्तु के अभिन्न अंग हैं। कहानी की आत्मा शिल्प मे डूबी है और शिल्प आत्मा मे। मानो उनका एक-दूसरे से अलग कोई अस्तित्व ही नहीं।

जैनेन्द्र आदि के समय मे कहानी शिल्प के विविध प्रयोग हुए थे। वह कौन सा शिल्प है जिसका प्रयोग जैनेन्द्र अज्ञेय आदि कहानीकारों ने नहीं किया। वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, डायरी, आत्मकथा, पत्रात्मक, फ्लैशबैक, सम्भाषण, बिम्ब प्रतीक आदि कौन सी शैली है जिसके शिल्प पर जैनेन्द्र आदि के समय मे सफल प्रयोग नहीं हुए। पर नई कहानी का लक्ष्य नया सदर्भ, नया जीवन और नया परिवेश-बोध है। इस प्रकार जब जीवन-दृष्टि पर ही नया कहानीकार अपनी कला को केन्द्रित कर देता है तो शिल्प केवल उस अनुभूत सत्य का अनुवर्ती मात्र बनकर रह जाता है उसकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। यही कारण है कि नई कहानी मे कटे-छटे कथानक तराशे, आदि मध्य-अन्त, न नाटकीय विकास और न ही बिम्बो प्रतीकों की छटा मिलती है। कहानी की भाषा कहानी की आत्मा की भाषा है कहानी या शिल्प कहानी के कथ्य का सहज ही अभिव्यक्त होने वाला रूप है। इस प्रकार नई कहानी का सार ▌नया सत्य नई जीवन-दृष्टि जिससे इसे अभिव्यक्त करने वाला शिल्प सहज ही घुला मिला रहता है न कि उसके अलग निर्माण का कोई प्रयास करना पड़ता है। शिल्प-सम्बन्धी यह धारणा इस नई कहानी का विशेष बल है। उसका शिल्प सम्बन्धी नयापन भी यही है।

नई कहानी की उपलब्धि के सम्बन्ध मे अभी कुछ कहने का अवसर नहीं आया। किसी साहित्य का मूल्यांकन एक ऐतिहासिक प्रक्रिया होती है और जब तक वह प्रवाह थम नहीं जाता या कोई नया मोड़ नहीं लेता तब तक उसका यथार्थ मूल्य निश्चित नहीं किया जा सकता।

द्वितीय खण

राजनीतिक एवं आर्थिक

३६ प्रजातन्त्र और राजनीतिक दल

प्रजातन्त्र एक हरा-भरा पेड़ है, न्याय जिसका तना है, स्वतन्त्रता जिसका फल है, समानता के फूल जिस पर खिलते हैं और भाई-चारे की भावना ऐसे फलती है जैसे शाखाएं। वास्तव में सफल प्रजातन्त्र वही है जिसमें न्याय स्वतन्त्रता समानता और भाई-चारे की प्रवृत्ति विद्यमान है। इन्हीं चारों लक्षणों के कारण ही तो प्रजातन्त्र के शासन को सर्वोत्तम कहा जाता है। जिस देश में यह शासन-पद्धति वर्तमान है उस देश को स्वर्ग और उसके नागरिकों को परम सुख के सहज अधिकारी देवता कहना चाहिए। प्रजातन्त्र में ऐसी अमोघ शक्ति है कि इसमें मानवता की आदर्श स्थापना हो सकती है, समाज-कल्याण का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो सकता है तथा उसके साथ ही व्यक्ति की स्वच्छन्दता और सम्पन्नता का स्वप्न भी पूरा हो सकता है। इसी कारण इसे आधुनिक राजनीति की सर्वोत्तम खोज माना जाता है।

प्रजातन्त्र की माँग बड़े अनुशासन की माँग है जो आज की स्वार्थ-लोलुप, भोग लिप्सु तथा भ्रष्टाचारी जनता के लिए सम्भव नहीं। प्रजातन्त्र उदारता और सहनशीलता के आधारों पर गति पाता है किन्तु आज की संकीर्ण विद्वेषी और सहज ही उबल पड़ने वाली जनता से इसकी कैसे आशा की जा सकती है प्रजातन्त्र सेवा और त्याग का, कर्तव्य-पालन और कानून के आदर का शासन है किन्तु आज की जनता जब अधिकारों की तो भूखी हो और कर्तव्यों को या तो पहचानती न हो या फिर पहचान कर भी पालन न करना चाहती हो, काम से जी चुराती हो और कानून को ताक पर रखकर मनमानी करने तथा धाँधली मचाने में विश्वास करती हो तो प्रजातन्त्र कैसे सफल हो सकता है।

आज प्रजातन्त्र का अर्थ भीड़ का शासन हो गया है। भीड़ से तात्पर्य है अवसरों और अवसरवादियों की भीड़। भीड़ के शासन से शान्ति कहाँ! भीड़ का विश्वास तो अराजकता और आतंक में होता है। भीड़ हिंसा की भाषा में बोलती है हिंसा का काम करती है अराजकता के मार्ग और आतंक के साधनों से अपनी शक्ति का प्रसार करती है। ऐसे सच्चे अर्थों में प्रजातन्त्र कैसे स्थापित हो सकता है?

प्रजातन्त्र की असफलता के कारण क्या है? क्या इस शास

सिद्धान्तो मे कोई दोष है ? क्या इसकी असफलता इसके शासको की अयोग्यता के कारण होती है ? क्या इसका कारण जनता है कि जिसका राजनीतिक अज्ञान तथा पिछडा स्वरूप इसे सफल नही होने देता । या इसका कारण इसका दल सगठन है जिनकी योजना-बद्ध नीतियो और सुनिश्चित कार्य क्रम से ही शासक और जनता एव माथ परिचालित होते हैं तथा देश को विकास के मार्ग पर अग्रसर करते है । प्रजातन्त्र की असफलता इनमे से किसी एक या एकाधिक कारणो से हो सकती है किन्तु मेरी दृष्टि मे प्रजातन्त्र की सबसे बडी दुबलता उसका दुबल दल-सगठन और लम्बी कार्य प्रक्रिया है ।

जैसा कि सर्वविदित है, प्रजातन्त्र जनता का, जनता पर जनता के लिए शासन होता है । इस शासन-पद्धति मे जनता अधिकतर अप्रत्यक्ष रूप से अपनी शक्ति तथा सत्ता का प्रयोग करती है । जनता को वयस्क मताधिकार प्राप्त होता है अत शासन के लिये जनता अपने प्रतिनिधि चुनती है । यह चुनाव एक निश्चित अवधि के उपरान्त होते हैं । यदि निर्वाचन निष्पक्ष होगा तो जनता के सच्चे और ईमानदार प्रतिनिधि ही चुनाव जीत सकेंगे । ये चुने हुए प्रतिनिधि ही अन्तत मिलकर सरकार बना शासन का कार्य-सचालन करते हैं । स्थूल रूप से यही प्रजातन्त्र की शासन प्रक्रिया है । किन्तु इस शासन का सूत्र जनता को वश मे करने का मन्त्र और निर्वाचन मे जीतों का सेहरा जिस के सिर बाधा जाता है वे हैं राजनीतिक दल । ये दल प्रजातन्त्र शासन के शरीर मे दिल का स्थान रखते हैं । जसे दिल ही शरीर की समस्त शिराओं मे रक्त का सचार करता है उसी प्रकार राजनीतिक दल भी शासन की प्रेरणा हैं, शक्ति हैं आधार हैं ।

प्रजातन्त्र शासन को चलाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि देश में एकाधिक राजनीतिक दल हो । यदि एक से अधिक दल नही होंगे तो निर्वाचन का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकेगा । निर्वाचन तभी प्रभावी हो सकता है यदि परस्पर विरोध के लिए प्रत्याशी हो । अतएव यह प्राय सवमान्य है कि प्रजातन्त्र की सबसे बडी शक्ति है विरोध । यदि शासको का विरोध होगा तो वह सजग बने रहेंगे, जनता के हित को न भूल सकेंगे और उनका कार्य करने का उत्साह सदा बना रहेगा । हाँ यह विरोध न तो विध्वसात्मक होना चाहिए और न ही स्वार्थ-प्रेरित । विरोध का आधार होना चाहिए नीतियाँ । इन्ही नीतियो के आधार पर ही दल-सगठन होने चाहिएँ ।

परन्तु देखा गया है कि प्रजातन्त्र का दल-सगठन एक तो बडा दुबल रहता है और दूसरे उनकी कोई सुनिश्चित और सुस्पष्ट नीति नही रहती । इसका परिणाम यह होता है कि किसी कारण से मतभेद होते ही दल का सगठन टूटता है व्यवस्था भग हो जाती है और इसका देश के शासन पर बुरा

प्रभाव पड़ता है।

भारतीय राजनीतिक दल-संगठन की यह बड़ी [illegible] यहाँ के दलों की नीतियों का कोई सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार नहीं। यहाँ के दलों का इतिहास कांग्रेस की स्थापना से आरम्भ होता है। कांग्रेस स्वतंत्रता से पूर्व दल के रूप में न थी। यह तो राष्ट्रीय आन्दोलन का एक मंच था जिसमें विभिन्न विचार धाराओं के लोग सम्मिलित थे और उनका एक लक्ष्य था, एक नीति थी एक कार्यक्रम था और वह था देश की स्वतन्त्रता।

इसलिये कांग्रेस के संगठन का आधार आर्थिक तथा सामाजिक मामलों में पाई जाने वाली वैचारिक एकरूपता न थी। इसीलिए जब स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई तो गांधीजी ने कहा था कि कांग्रेस को भंग कर दिया जाए और विचारों की एकरूपता तथा नीतियों की समानता के आधार पर नये दलों का संगठन किया जाए। कांग्रेस सत्ताधारियों ने गांधी जी की इस राय को स्वीकार न किया और इस प्रकार भारतीय प्रजातन्त्र में एकरूपता विहीन राजनीतिक दलों का दुर्बल संगठन चल पड़ा। जातीयता प्रान्तीयता आदि के संकीर्ण आधारों पर छोटे छोटे दल बने। निर्वाचन के दिनों में तो इनकी संख्या और भी बढ़ जाती है। इनमें बड़ा निम्न कोटि का गठबंधन चलता है जिससे अन्ततः प्रजातन्त्र की शक्तियों का ही विघटन होता है।

पहले तीन निर्वाचनों में तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। कांग्रेस को हर चुनाव में पर्याप्त बहुमत प्राप्त होता रहा। कांग्रेस दल सुगठित था और उसमें कठोर अनुशासन था अतएव कोई विशेष समस्या सामने नहीं आई। वैसे भी नेहरू जी के नेतृत्व में इस प्रकार की कोई सम्भावना न हो सकती थी। किन्तु इन पिछले निर्वाचनों में कांग्रेस की स्थिति वैसी दृढ़ न रही। कितने ही राज्यों से इसे बहुमत प्राप्त न हुआ। केन्द्र में भी इसकी शक्ति काफी कम हो गई। इधर विरोधी दलों को पर्याप्त सफलता मिली और उन सबने मिलकर कई राज्यों में संयुक्त विधायक दल की सरकारें भी बनाईं जो टूटती-बनती रहीं। कांग्रेस दल का अनुशासन इतना ढीला हो गया कि इसके सदस्यों ने कांग्रेस दल को छोड़कर विरोधी दलों में समझौता किया तथा मन्त्री आदि बन बैठे। सन् १९७० के निर्वाचन में फिर कुछ परिवर्तन हुआ है और एक दलीय बहुमत की सरकार का प्रायः सभी जगह संगठन हुआ।

प्रश्न उठता है कि ऐसा हुआ क्यों? क्या हमारे नेता इतने पतित और स्वार्थरत हो चुके हैं कि वह उदारता से काम लेकर सहनशील बनकर जनता का हित नहीं सोच सकते राष्ट्र की चिन्ता नहीं कर सकते। यदि इस की गहरी छानबीन की जाए तो पता चलेगा कि वास्तव में इस का कारण इन नेताओं की भिन्न-भिन्न नीतियाँ तथा वैचारिक

कांग्रेस मे स्पष्ट ही दो विचारधाराएँ कार्य कर रही हैं—एक समाजवादी विचारधारा जो देश की हर समस्या का हल समाजवादी आधारों पर खोजती है। दूसरी अनुदार राष्ट्रवादी विचारधारा जो दक्षिणपन्थी है तथा समस्या का समाधान लोकतन्त्रवादी स्वतन्त्रता मे खोजती है। यही विचार विभिन्नता इस दल मे संकट का कारण बनी और दल का विघटन हुआ।

इस प्रकार भारतीय प्रजातन्त्र का दल-सगठन बडा दुर्बल है और इनके सगठन म जब तक स्पष्ट रूप से आर्थिक नीतियो और राजनीतिक कार्यक्रमों की वैचारिक एकता न होगी तब तक ये दल देश के लिये समस्या बने रहेंगे और राष्ट्र-निर्माण मे इनसे बाधा ही आती रहेगी। इसलिये यह आवश्यक है कि इन राजनीतिक दलो का आर्थिक और राजनीतिक आधारो पर ध्रुवीकरण किया जाए। यदि ये सुसगठित हो गये इनका रूप स्थिर हो गया तो इससे देश की राजनीति मे भी स्थिरता आएगी दल बदलने का हास्यास्पद नाटक समाप्त होगा और अनुशासन की स्थापना होगी। देश की शासन-व्यवस्था सुधरेगी।

आज देश मे छोटे छोटे राजनीतिक दलो की बाढ आई हुई है। इनका कोई सुनिश्चित कायक्रम नही और न ही कोई वैचारिक एकता है। यह किसी सकीण लक्ष्य से परिचालित होकर सत्ता के भूखे होते हैं। यदि चुनाव मे किसी एक दल को पर्याप्त बहुमत नही मिलता तो इनकी बन आती है। अपनी थोडी सख्या का भी यह पूण लाभ उठाते हैं और मन्त्री इत्यादि पदो को हथियाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार राज्य का राजनीतिक सतुलन इनके हाथ म होता है तथा अन्य बहुसख्यक दलो को इनके इशारे पर नाचना पडता है। इस प्रकार से छोटे छोटे दल प्रजातन्त्र शासन मे भ्रष्टाचार के कारण बनते ह तथा देश के दल-सगठन का कलक है। जिस प्रजातन्त्र मे राष्ट्रव्यापी नीतियो पर दलों का निर्माण होता है, वही शासन सफलतापूवक चल पाता है तथा विकास की गति वेग धारण कर पाती है।

अतएव प्रजातन्त्र शासन की मूल कुजी यही राजनीतिक दल हैं। यदि दल सगठन सुदढ है तो विरोध भी स्वस्थ आधारो पर होगा। प्राय यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र की सफलता सत्ताधारी दल से कहीं अधिक विरोधी दल पर निभर करती है। यदि विरोधी दल सक्रिय है तो सत्ताधारी दल को सजग रहना पडता है। मनमानी नही हो सकती और न ही जनता की माँगो और हितो की अवहेलना सम्भव होती है। इस प्रकार विरोधी दल की सबलता पर शासन का सफल सचालन होता है। विरोधी दल प्रजातन्त्र का प्राण है।

प्रजातन्त्र मे दलो की एक भूमिका और है। जहाँ वे शासन का कायभार सभालते है वहाँ साथ ही देश की जनता को सुशिक्षित करना, उन्हे राजनीतिक

दृष्टि से जागरूक बनाना भी उनका कर्त्तव्य है। जिस देश की जनता अपने राजनीतिक अधिकारों से परिचित नहीं, वहाँ प्रजातन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से हमारे देश में अभी तक यही स्थिति बनी है। इसी कारण वोट बिकते हैं और राजनीतिक विचारधारा का प्रस्तुतीकरण नहीं हो पा रहा है।

राजनीतिक दलों का सर्वप्रथम उद्देश्य देश में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करना है जनता को राजनीतिक शिक्षा देना है। यह कार्य शासन में भाग लेने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु देखा गया है कि राजनीतिक दल सत्ता आकर्षण में पड़कर अपने इस दायित्व को भूल जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जनता राजनीतिक हथकंडों का शिकार होती रहती है और राष्ट्र का राजनीतिक उत्थान नहीं हो पाता। इस प्रकार प्रजातन्त्र की सफलता जनता की राजनीतिक जागरूकता पर निर्भर है और जनता में यह योग्यता तभी आ सकती है जब राजनीतिक दलों का संगठन सुदृढ आधारों पर हो और वे ईमानदारी से अपने दायित्व का पालन करें और रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा जनता में राष्ट्रीय कार्यों के प्रति रुचि और उत्साह भरते रहें।

प्रजातन्त्र-शासन दो प्रकार का होता है। एक संसदीय प्रणाली, जिसमें बहुमत वाले दल का संसदीय नेता प्रधानमन्त्री बनाया जाता है तथा वह मन्त्री-मण्डल शासन के कार्य का संचालन करता है। शासन की दूसरी प्रणाली राष्ट्र-पति वाली है। इस प्रणाली के अंतर्गत शासन का पूर्ण अधिकार जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति के हाथ में होता है। इस प्रकार दोनों प्रणालियों में शासक किसी दल के ही प्रतिनिधि होते हैं तथा दल की नीतियों के आधार पर ही शासन का काम चलाते हैं। अतएव यहाँ भी दल की प्रधानता रहती है। दल जिन नीतियों को सिद्धांत रूप में स्वीकार करता है तथा अपने चुनाव घोषणा-पत्र में जिन योजनाओं के लिये वचनबद्ध होता है—प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति उन्हीं को ही यथासम्भव कार्यान्वित करते हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्र भले ही किसी प्रकार का हो उसका प्रेरणा-स्रोत, उसका पथ प्रदर्शक राजनीतिक दल ही होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि प्रजा-तन्त्र में दल का शासन होता है।

प्राय: यह भी देखा गया है कि शासन-भार संभालने के उपरांत शासक कभी-कभी दल की भी अवहेलना करने लगते हैं और प्राय: वह चाहते हैं कि दल का सारा कार्य और व्यवस्था उन्हीं के निर्देशानुसार चले। इस प्रकार दल में ही संघर्ष उठ खड़ा होता है। कांग्रेस दल का संघर्ष इसी प्रकार का रहा है। इस प्रकार की बातों का निराकरण तभी हो सकता है जबकि शासन और दल

मे प्रमुख नेताओं में ताल-मेल हो और दोनों एक-दूसरे के विचारों का आदर करते हुए समन्वित कार्यक्रम के लिये परस्पर सहयोग करें। दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि एक ही व्यक्ति दल का भी लीडर हो और शासन का भी। किन्तु कांग्रेस मे प्रधानमन्त्री अलग व्यक्ति होता है और अध्यक्ष अलग। इस सम्बन्ध मे कभी-कभी एक और स्थिति भी हो सकती है और कांग्रेस म यह स्थिति कितने ही वर्षों तक बनी रही। कभी-कभी बहुसख्यक दल का जो नेता प्रधानमन्त्री निर्वाचित होता है वह इतना राष्ट्र-व्यापी, लोकप्रिय व्यक्तित्व लिये होता है कि दल का अध्यक्ष उसका विरोध ही नही कर सकता और उसे प्रधानमंत्री का अनुवर्ती बनकर रह जाना पडता है। पडित नेहरू जब तक जीवित रहे कांग्रेस दल की यही स्थिति रही किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाए तो कहना होगा कि दल की स्थिति सर्वोपरि है और भले ही कोई शक्तिशाली प्रधानमंत्री व्यक्तिगत कारणो से दल के अध्यक्ष के निर्देशो को स्वीकार न करे किन्तु वह दल से बाहर नही जा सकता उस दल के आगे सिर झुकाना ही पडता है।

इस प्रकार प्रजातन्त्र का शासन वस्तुत राजनीतिक दल का शासन है। शासन की मूल सत्ता जनता के हाथ मे रहती है किन्तु जनता की आत्मा का सूत्रधार दल ही होता है। दल के निर्देशो के अनुसार ही जनता अभिनय करती है। प्रजातन्त्र मे राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री शासन के अधिकारी होते हैं किन्तु उनके अधिकार का स्रोत दल मे है। अतएव प्रजातन्त्र मे दल की सत्ता सर्वोपरि होती है।

४० | स्वतन्त्र भारत का सविधान

"कोई भी सविधान कितना ही अच्छा क्यो न हो यदि उसे कार्यान्वित करने वाले बुरे हैं तो वह भी निश्चित रूप से बुरा ही होगा।"

—डॉ० अम्बेडकर

ससार के लगभग सभी महान् देशो में शासन को चलाने के लिए कोई-न कोई अलिखित-लिखित सविधान विद्यमान रहता है। किसी भी देश के सविधान में उन आधारभूत सिद्धान्तो और नियमो का वर्णन रहता है, जिनके

आधार पर उस देश का शासन चलाया जा रहा होता या चलाया जा सकता है।

शताब्दियों की पराधीनता और छुटकारे के अनवरत संघर्ष के परिणाम-स्वरूप १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। उससे पहले ही संविधान-सभा की स्थापना की जा चुकी थी और वह संविधान के निर्माण में जुटी हुई थी। १५ अगस्त, १९४७ को भारत के विभाजन और स्वतन्त्र होने के बाद संविधान-सभा के पाकिस्तान वाले सदस्य पाकिस्तान की संविधान सभा में चले गये और भारतीय भाग के सदस्यों ने मिलकर भारतीय संविधान का निर्माण किया। तीन वर्ष के परिश्रम के उपरान्त यह संविधान सभा द्वारा स्वीकृत होकर २६ जनवरी १९५० से भारतवर्ष में लागू हो गया। इस संविधान को वर्तमान रूप देने में डॉक्टर बी० आर० अम्बेडकर, श्री गोपाल स्वामी आयंगर, श्री अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर और श्री के० एम० मुंशी इत्यादि ने विशेष रूप से योग-दान किया था। पहले संविधान का मसविदा तैयार किया गया और उसके बाद संविधान-सभा ने उसकी एक-एक धारा पर विचार करके उसे पास किया था। इस संविधान का उद्देश्य इसकी निम्नलिखित प्रस्तावना से स्पष्ट हो जाता है

'हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुरक्षित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस विधान-सभा में आज ता० २६ नवम्बर १९४९ को एतद् द्वारा इस संवि-धान को अंगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

इससे यह स्पष्ट है कि देश को एक प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य का रूप दिया गया। इसके सब निवासियों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय प्राप्त हो सकेगा, सब नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता रहेगी, सब लोगों को उन्नति करने का समान अवसर दिया जाएगा, तथा व्यक्ति के महत्त्व और राष्ट्र की एकता को सुरक्षित रखने वाले बन्धुत्व का प्रचार किया जाएगा, निर्मित संविधान इस बात की गारंटी करने वाला है। सिद्धांत की दृष्टि से ये उद्देश्य निश्चय ही प्रशंसनीय हैं।

भारत का संविधान संसार का सबसे बड़ा लिखित संविधान है। सन् १९३५ में अंग्रेजी सरकार ने जो भारत सरकार-अधिनियम तैयार

उसी मे कुछ परिवतन-परिवद्धन और सशोधन करक वतमान सविधान का रूप तैयार कर लिया गया है। सविधान का यह रूप दन म अमरिका, इगलड, स्विटजरलड और कनाडा के सविधाना से भी पर्याप्त सहायता ली गई।

भारत अत्यत विशाल देश है। इसमे स्वाधीनता से पूव अनेक प्रात थे जो अब राज्य कहे जाते हैं। अमेरिका मे पहले-पहल सघ शासन प्रणाली का परीक्षण किया गया था। वह अत्यत सफल रहा। उसी के अनुभव से लाभ उठाकर १६ ५ मे अग्रेजो ने भारत म सघ शासन प्रणाली लागू कर दी थी। प्रातो मे अनेक विषयो मे पूण स्वतत्रता दे दी गई थी, और समस्त देश से सम्बद्ध विषय सघ-सरकार के हाथ मे रखे गये थे, वतमान सविधान म भी यही स्थिति रखी गई है। देश विभिन्न राज्यो मे बटा हुआ है। ये राज्य अपने आतरिक मामलो मे स्वतत्र हैं। सेना, मुद्रा, डाक-तार, विदेश नीति और विदेश-व्यापार, दूर सचार और प्रसारण इत्यादि अनेक मामले सघ-सरकार के हाथ में हैं। अब हमारा देश पूणतया प्रजातत्र और सघात्मक राज्य है। यद्यपि भारत का सविधान लिखित रूप मे है परतु उसम यह लचीलापन और गुजायश रखी गई है कि आवश्यकता पडने पर उसम सशोधन या परिवतन किया जा सके।

नवीन सविधान के अनुसार भारत तीन प्रकार के राज्या म विभाजित किया गया है। 'क' श्रेणी वाले राज्य वे ह जो स्वाधीनता से पूव अग्रजी शासन मे प्रातो के रूप मे विद्यमान थे। परतु स्वतत्र भारत मे राज्यो का शासन विधान-सभाआ तथा राज्यपाला के हाथो मे द दिया गया। 'ख' श्रेणी वाले राज्य वे हैं जो स्वाधीनता से पूव देशी रियासतो के रूप मे थे। हैदराबाद, मैसूर जसे बडे राज्य अपने आप म अलग राज्य बना दिए गए और राजस्थान मध्यभारत, सौराष्ट्र इत्यादि राज्य कई छोटी छोटी रियासतो को मिलाकर बनाए गए। हैदराबाद अब आन्ध्र प्रदेश और मैसूर कर्नाटक प्रदेश के अतगत आता है। इन राज्यो मे राज-प्रमुखा और विधान-सभाओ का शासन लागू किया गया। 'ग' श्रेणी वाले राज्य वे हैं, जो पहले चीफ कमिश्नर के प्रान्त कहलाते थे। इस समय भी इनका शासन चीफ कमिश्नरो के हाथ मे ही है। उनमे से कुछ राज्यो मे विधान-सभाए भी बनी हुई है। इस प्रकार स्वतत्र भारत मे क्रियात्मक रूप से समस्त देश मे प्रजातत्र स्थापित किया गया। परतु भारत सरकार ने सन् १९५६ ई० मे समस्त देश मे राज्यो का पुनगठन किया। इस समय राज्यो मे क, ख ग श्रेणियाँ समाप्त कर दी गई और राज-प्रमुखो के पदो का भी अतर कर दिया गया। अब सभी राज्यो का सर्वोच्च अधिकारी राज्यपाल ही होता है।

भारत के सविधान म ससदीय प्रणाली को अपनाया गया है। इसमे प्रशासन विभाग, विधान सभाओ के समक्ष उत्तरदायी होता है। विधान-सभा मे जिस दल का बहुमत होता है उसका नेता प्रधानमन्त्री बनता है और वह अपने मन्त्रिमडल का चुनाव करता है। केन्द्र म भी ससद दो भागो म बटी हुई है एक लोकसभा एव दूसरी राज्य सभा। लोकसभा की सदस्य सख्या पाँच सौ और राज्य-सभा की सदस्य-सख्या ढाई सौ नियत की गई है। भारत का राष्ट्रपति केवल वैधानिक सर्वोच्च पदाधिकारी ही नही है, अपितु वह प्रशासन विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी और सेनाओ का सर्वोच्च सेनानायक भी है।

नये सविधान द्वारा देश के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस वयस्क मताधिकार के आधार पर ही सारे देश मे चुनाव होते है। कहा जाता है कि इतने बड़े पैमाने पर इससे पूर्व ससार मे और कही चुनाव नही हुए। इस सविधान द्वारा देश के सब नागरिको को समानता का अधिकार प्रदान किया गया है। राज्य की ओर से किसी भी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, रग, लिंग आदि के कारण किसी प्रकार का भेद-भाव नही किया जाता। छुआ छूत को हटाया गया और जो व्यक्ति छुआ-छूत को प्रोत्साहन देता है वह दण्डनीय होता है।

लोगो को सभी प्रकार से अभिव्यक्ति की स्वाधीनता का अधिकार प्रदान किया गया। वे शातिपूर्वक सभाए करने, भाषण देने, अखबार निकालने इत्यादि मे पूरी तरह स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार वे अपनी जीविका के लिए कोई भी कानून सम्मत व्यवसाय करने को स्वतन्त्र हैं। लोगो को चाहे जैसे धार्मिक विचार रखने और उनका शातिपूर्वक प्रचार करने का अधिकार दिया गया है। सविधान म अल्पमत वाले लोगो को यह आश्वासन दिया गया है कि उनकी भाषा, लिपि और सस्कृति की भी प्रत्येक स्तर पर रक्षा की जायगी।

सविधान मे स्पष्ट रूप से लोगो को सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रदान किया गया है। लोग कानून-सम्मत उपायो द्वारा उपार्जित सम्पत्ति का सचय कर सकते हैं और राज्य बिना किसी कानून के उस सम्पत्ति को छीन नही सकता। यदि राज्य किसी व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति सार्वजनिक हित के लिए लेता है तो उसका उचित हर्जाना देने का पूर्ण प्रावधान है। जमीदारी उन्मूलन के लिए जमीदारो को इसी आधार पर हर्जाने के रूप मे बड़ी बड़ी राशियाँ दी गई है। अन्य अनक मामलो मे भी ऐसा हुआ है।

सविधान म सिद्धातत शोषण करने की नीति का निषेध किया गया है और अनेक ऐसे नियम बनाये गए है, जिनके कारण पूजीपति या अन्य कोई भी वर्ग-व्यक्ति श्रमिको का अनुचित शोषण न कर सकें। अपने इन अधिकारो की

रक्षा के लिए नागरिक न्यायालय में जा सकता है। देश में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। सर्वोच्च न्यायालय का काय संविधान सम्बन्धी प्रश्नों पर अपना निणय देना भी है।

इस संविधान म यदि कोई भी संशोधन या परिवतन करना अभीष्ट हो, तो उसके लिए संसद की दोनो सभाओ मे उपस्थित सदस्य के दो तिहाई मत प्राप्त होने पर ही संशोधन या परिवतन किया जा सकता है।

यह भी व्यवस्था की गई कि यदि किसी समय किसी राज्य में शासन की स्थिति बहुत बिगड जाए, तो राष्ट्रपति संकटकालीन परिस्थितियों की घोषणा करके उस राज्य में अपना शासन लागू कर सकते हैं। उस दशा मे उस राज्य के राज्यपाल और विधान-सभाएं स्थगित समझी जाएगी और राष्ट्रपति जसा उचित समझे, उस ढग से अपनी परामशदाता समिति बनाकर उसका शासन चला सकते हैं। इस संवधानिक व्यवस्था का प्रयोग कई राज्यो मे कई बार किया जा चुका है।

राष्ट्रपति का चुनाव केन्द्रीय संसद तथा राज्यो की विधान-सभाओं के सदस्य मिलकर करते हैं। राष्ट्रपति का कायकाल पाँच वष का होता है। राष्ट्रपति सेनाओं का भी सर्वोच्च अधिकारी होता है।

भारत का संविधान स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व के अत्यन्त प्रसिद्ध और समद्ध सिद्धातो पर आधारित है। बन्धुत्व की भावना को बढाने के लिए ही भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। परिगणित पिछडी हुई जातियों के लिए दस वष तक कुछ विशेष रियायतो की व्यवस्था की गई, जिससे वे पिछडी हुई जातियाँ भी आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से अन्य जातियों के समकक्ष बन सकें। दस वष बाद उनकी विशेष रियायतें समाप्त कर दी जाएगी, ऐसा प्रविधान था किन्तु ऐसा हो नहीं पाया है। इसे प्रशासन की शिथिलता और असफलता ही कहा जायेगा। विशेष वर्गों को मिलने वाली विशेष रियायतों के लाभ कम और हानियाँ अधिक हुई हैं।

हमारे संविधान की अधिकाश विधि-वमज्ञो ने प्रशसा की है। इतने विभिन्न हितो को संतुलित रखते हुए इतने अल्पकाल मे इतने विशाल संविधान की रचना अपने-आप मे एक बडी सफलता है। इसमे जिन उच्च आदर्शों को सामने रखा गया है, उनके औचित्य के सम्बन्ध म दो मत नहीं हो सकते। प्रजातन्त्र की स्थापना एव व्यावहारिक प्रयोगात्मकता की ओर यह बहुत बडा कदम है। इतने बडे पमाने पर वयस्क मताधिकार का परीक्षण भी संसार मे अनोखा है। समस्त देश मे लगभग बीस-बाईस करोड व्यक्ति मिलकर लगभग ४,५००

प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं, जिनमें से ७५० तो केन्द्रीय संसद के सदस्य होते हैं, और शेष ३७५० राज्यो की विधान सभाओ के। अब इस संख्या मे भी वृद्धि हो चुकी है। यद्यपि इन चुनावो पर बडी राशि व्यय होती है फिर भी वास्तविक प्रजातन्त्र के विकास के लिए इनका अत्यधिक महत्त्व है, जिसे बनाए रख पाना सम्भव नही हो पा रहा।

इस संविधान से बहुत से लोग असंतुष्ट भी हैं। इसके विरोधियो का कथन है कि यह संविधान पश्चिमी देशो के कई संविधानो की नकल करके 'कही की ईंट और कहीं का रोडा' जोडकर अच्छा-खासा 'भानमती का पिटारा' बना दिया गया है। इसमे अपने देश की परिवर्तमान परिस्थितियो और आवश्यकताओ को ध्यान में नहीं रखा गया। जिस वयस्क मताधिकार का इतना ढिंढोरा पीटा जा रहा है वह इस अशिक्षित जनता वाले देश के लिए उतना अधिक उपयोगी नही हो सकता, जितना कि हानिकारक। वयस्क मताधिकार का अधिकतर दुरुपयोग ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त आज के युग म राज्यो मे राज्यपाल और राज प्रमुख के पदों को रखने की आवश्यकता नही है। ये पद केवल सफेद हाथी हैं, जिनका बोझ निर्धन करदाता को व्यय ही उठाना पडता है।

कुछ लोगो का आक्षेप यह भी है कि संविधान मे लोगों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार प्रदान करके पूंजीवादी व्यवस्था को जारी रखने की छूट दी गई है। पूंजीवादी व्यवस्था मे श्रमिक वर्ग का सदा ही शोषण होता है। एक ओर तो संविधान शोषण को मिटाने का दम भरता है और दूसरी ओर शोषण करने वाली प्रणाली को प्रोत्साहन देता है। समाजवादी व्यवस्था का लक्ष्य सामने रखने वाले लोगों को इस संविधान से संतोष नही हो सकता। वास्तव मे भारतीय संविधान की यह एक बहुत बडी कमी है और निहित स्वार्थी इसका जी भरकर लाभ उठा रहे हैं।

कुछ लोगो ने राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति की घोषणा करने और किसी भी राज्य का शासन अपने हाथो मे लेने के अधिकार की भी कडी आलोचना की है। उनका कथन है कि इससे तानाशाही की प्रवृत्ति को बल मिलेगा, जो किसी भी तरह अभीष्ट नही कहा जा सकता। परन्तु देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि केन्द्रीय सरकार अधिकाधिक सुदृढ रहे। आजकल कई राज्यो में जैसी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उनको देखते हुए देश की एकता को बनाए रखने के लिए केन्द्रीय सरकार के हाथ म ऐसे अधिकारो का रहना आवश्यक ही प्रतीत होता है।

अनेक गुणों और दोषो के होते हुए भी हमारा सविधान एक स्तुत्य प्रयत्न है। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि यह सविधान शन शन देश की आवश्यकताओ के अनुसार विकसित नही हुआ है, अपितु केवल अध्ययन क बल पर तयार कर दिया है तो हमें यह अत्यन्त सन्तोषजनक जान पडेगा। इसस भी अधिक सन्तोष की बात यह है कि सविधान मे सशोधन और परिवतन की गुजाइश रखी गई है। जब भी देश की जनता आवश्यकता अनुभव करे, वह दो तिहाई बहुमत से इसमे सशोधन या परिवतन कर सकती है। इस प्रकार क कई परिवतन हुए हैं और हो रहे हैं। इसकी सर्वांगीण सफलता, चरित्रवान नेताओ और प्रशासको द्वारा ही सम्भव है, जिसका आज बहुत अभाव होता जा रहा है।

४१ | तानाशाही और जनतत्र

जीवन के दार्शनिक और धार्मिक आदि अन्यान्य क्षेत्रो के समान राजनीति मे भी अनेक प्रकार के तत्र एव वाद अनादिकाल से चले आ रहे हैं। प्रत्येक युग मे जिस प्रकार की परिस्थितियां रही हैं, समय एव परिस्थितियों के अनुसार जन मानस में जो परिवर्तन आते रहे हैं उसी के अनुसार राजनीतिक विचारधाराए बदली और बनीं। आज भी राजनीतिक विचारधाराओं क इस विकास एव परिवतन में कोई बाधा नही आ पाई है। भविष्य म भी राजनीतिक क्षेत्रो में कोई एक विचारधारा या वाद स्थिर रह सकेगा इस बात की आशा नही की जा सकती। तात्पय यह है कि राजनीति और उसकी विचारधारा तो वास्तव मे एक बहता पानी है और यह पानी कभी स्थिर रहन वाला नही है। आधुनिक राजनीतिक क्षेत्रो के इन विभिन्न वादो एव सिद्धान्तो मे तानाशाही और जनतत्र नामक दो शासन प्रणालियां अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। य दोनो शासन प्रणालियां क्या हैं इन पर अलग से विचार कर लेना बहुत ही उपयुक्त रहेगा।

तानाशाही को एक तत्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसकी सहज और सामान्य प्रक्रिया यह होती है कि देश के शासन की सारी बागडोर किसी एक प्रमुख व्यक्ति के हाथ मे आ जाती है। वह व्यक्ति कोई राजनेता भी हो सकता है और कोई सैनिक जनरल भी हो सकता है। जमन म जो

तानाशाही रही, उसका अधिनायक वहाँ का एक राजनेता हिटलर रहा। इस विपरीत पाकिस्तान मे अनेक वर्षों तक जो तानाशाही रही और आज चल रही है, उसके नेता सनिक अफसर क्रमश फील्ड माशल मोहम्मद अयूब और जनरल याहिया खा और आजकल जनरल जिया हैं। तानाशाही प्रशासन प्रक्रिया म सारी सत्ता सिमट कर एक ही व्यक्ति के हाथा म आ जाया करती है। आगे उसकी अपनी इच्छा, शक्ति और प्रक्रिया पर मुनस्सर रहा करता है कि वह देश को किस ढग से चलाता है। तानाशाह यदि सच्चे अर्थों म राष्ट्र हित का चिन्तक हो तो वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर देश का सभी प्रकार से हित-साधन कर सकता है। वह अपनी बुद्धि चेतना और शक्ति का प्रयोग करके देश को उन्नति एव विकास के चरम शिखरा तक ले जा सकता है। पर यदि तानाशाह और उसकी तानाशाही अपने ही निहित-स्वार्थों तक सीमित होकर रह जाया करती है, तो फिर वह देश, जाति और राष्ट्रीयता आदि सभी बाता के लिए एक भयावह अभिशाप बन कर रह जाती है। तानाशाही की हम प्राचीन राजशाही से तुलना कर सकते हैं। राजशाही म भी सब प्रकार की सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ म केन्द्रित हुआ करती थी। जिस प्रकार तानाशाह अपने-आपको प्रमुख रखते हुए भी अपनी परिषद् के सहयोगियो के सहयोग से ही प्रशासन चलाया करते है, उसी प्रकार राजा लोग भी अपनी सत्ता को सर्वोच्च रखकर अपनी मन्त्रि-परिषद् की सहायता से शासन को चलाया करते थे। जो राजा राजशाही मे रहते हुए भी प्रजा का हित किया करते थे, उनकी कहानिया आज भी जनता की जबान पर हैं। जिन राजाओ ने प्रजा पर अत्याचार किय, इतिहास और जनता की जबान दोना पर उनके लिए निन्दात्मक शब्द ही वतमान हैं। यही बात हम तानाशाह एव उनकी तानाशाही के बारे म भी कह सकते हैं। वास्तव म राजशाही के समान तानाशाही भी यदि चाह तो जनता का बहुत अधिक हित-साधन कर सकती है पर होता विपरीत ही है। इस कारण आज का प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक तानाशाही का विरोधी है।

तानाशाही के कई रूप होन हैं। एक तो स्पष्टत एक ही व्यक्ति क शासन वाला रूप है, जिसे सर्वाधिक खतरनाक माना जाता है। दूसरी तानाशाही कुछ अधिक आकषक प्रतीत होनी है। इसका रूप अनक प्रकार क विशेष वाग्य पर्यावरण म लिपटा रहा करता है। इस प्रकार की तानाशाही म लोग किन्हीं विशेष व्यक्तियों द्वारा निर्धारित विचारधारा के साथ जुड जाया करते हैं। साम्यवादी देशा क प्रशासन का प्राय लोग इसी प्रकार की तानाशाही स्वीकार करते हैं। इसकी सर्वाधिक आकषक विशेषता यह है कि इसम कम

से कम लोगो के सामने रोटी, कपडा और मकान जैसी कोई समस्या नहीं रह जाया करती। इसका आकर्षण आज काफी वृद्धि पर है।

अब तनिक जनतन्त्रवाद पर विचार करें। जनतन्त्र में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सदस्य जनता के नाम पर जनता पर शासन किया करते हैं। अब तक राजनीतिक क्षेत्र में जितने भी प्रकार के वाद एवं सिद्धान्त प्रचलित हैं उन सब में से जनतन्त्र को सर्वाधिक आकर्षक माना जाता है। ससार के अधिकांश देशों में आज जो राज्य प्रणालियाँ प्रचलित हैं, उनमें से जनतन्त्र की ही प्रमुखता है। जनतन्त्र में कोई भी व्यक्ति न तो अपनी इच्छा से नेता बन जाया करता है और न प्रशासक ही। उसे निर्वाचन की प्रक्रिया में गुजर कर ही शासन की कुर्सी तक पहुचना पडता है। अत उसके लिए सभी प्रकार का, सभी स्तरों तक और सभी दृष्टियों से जनता का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक हो जाया करता है। जनतन्त्र में सभी को समान समझा जाता है। सभी को अपने निजी विचार रखने, उन्हें अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। प्रत्येक व्यक्ति बिना जाति, सम्प्रदाय आदि के भेद भाव के किसी भी प्रकार का धन्धा अपने लाभ के लिए कर सकता है। उस धन्धे से होने वाली आय का कुछ भाग उसे सरकार को करों के रूप में देना पडता है। जनतन्त्र में सरकार का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह आन्तरिक एवं बाह्य सभी दृष्टियों से जनता की सुरक्षा की व्यवस्था करे। उसके लिए रोटी, कपडा मकान तथा अन्य सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सन्नद्ध रहे। जो सरकार ऐसा नहीं कर पाती, उसे गद्दियों पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं हुआ करता। सभी को प्रगति और विकास के समान अवसर एव साधन उपलब्ध होने की बात भी जनतन्त्र में खुले रूप में कही जाती है। इस प्रकार [illegible] एव सद्धान्तिक रूप में देखा जाये, तो निश्चय ही जनतन्त्र एक बडा ही आकर्षक राजनीतिक वाद है। इसका महत्त्व अपने मूल और सहज-स्वाभाविक [illegible] में निश्चय ही बहुत अधिक है।

इसके विपरीत जब हम जनतन्त्र की व्यावहारिक स्थितियों पर विचार करते हैं, तो जनतन्त्र से बढकर खोखला कोई अन्य राजनीतिक वाद एवं [illegible] ससार में दिखाई ही नहीं देता। सबसे बडी और दुखद स्थिति तो यह [illegible] जनतन्त्र में छोटे-बडे प्रत्येक काम की प्रक्रिया इतनी लम्बी हुआ करती [illegible] कई बार तो उसके सम्पन्न होने तक काम का वास्तविक महत्त्व या उससे सम्बद्ध व्यक्ति अथवा वर्ग ही समाप्त हो चुका होता है। दूसरे यहाँ [illegible] का स्वामी एक व्यक्ति न होकर चपरासी से लेकर मंत्री तक अनेक [illegible] हुआ करते हैं। ये दोनों ही कारण भ्रष्टाचार और कुप्रशासन को जन्म

दिया करते हैं। आज भारत जैसे जनतन्त्री देशो मे भ्रष्टाचार और कुशासन का जो बोल बाला है, उस सब का मूल कारण इस प्रकार की व्यवस्थाए ही हैं। फिर इस प्रकार की प्रक्रियाओ को मिटाने का हमारे पास कोई उपाय नही है। जनतन्त्र मे यूनियनवाद का विस्तार इस सीमा तक हो जाता है कि किसी उचित बात के लिए भी कोई किसी को टोक नही सकता। टोकने वाले का काम तो होता ही नही, उल्टे अनावश्यक रूप से यूनियनवादिता समूचे प्रशासन को ठप्प कर देने की धमकी हमेशा सिर पर लटकाए रखती है। इस प्रकार जनतन्त्र मात्र एक खिलवाड बनकर रह जाता है। तभी तो एक समय ऐसा भी आया कि जब जाज बर्नार्ड शा जसे जनतन्त्री व्यवस्था के कट्टर समर्थक भी उसके कट्टर विरोधी एव आलोचक बनकर रह गए। हम अपने देश मे भी चारो तरफ जनतन्त्र और उसकी समस्त व्यवस्थाओ की भद्द उडती हुई स्पष्ट देख रहे हैं। कहने को जनतन्त्र की धूम है, पर 'जन' की पूछ कही नही।

तानाशाही और जनतन्त्र की उपरिवर्णित स्थितियो को जान लेने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनो में से किसे अच्छा माना जाए और किसे बुरा? वास्तव मे आज के सदर्भों मे ये दोनो ही शासन-पद्धतियाँ व्यथ बनकर रह गई-सी प्रतीत होती हैं। दोनो का कोई भी व्यावहारिक लाभ दिखाई नहीं देता। तभी तो अनेक बार सीमित तानाशाही का नारा भी सुनाई देता है। कई बार कुछ लोग देश के लिए, कुछ दिनो के वास्ते समग्र तानाशाही व्यवस्था की बात भी कहते सुने जाते हैं। तानाशाही चाहे समग्र हो और चाहे सीमित, उसे हम किसी भी दशा मे अन्तिम रूप से उपयोगी नही कह सकते। उसी प्रकार जनतन्त्री व्यवस्था में कम से कम हमारे देश म जनता की जो दुदशा हो रही है उसे भी किसी भी प्रकार से उपयोगी एव जन हित-साधक नही कह सकते। हमे तो कोई ऐसा रास्ता निकालना है, जो वास्तव म देश-जाति के प्रत्येक सदस्य का हित-साधन तो कर ही सके, देश-काल की सीमाओ से ऊपर उठकर समूची मानवता के लिए भी एक आदश बन सके। इस प्रकार की किसी राजनीतिक व्यवस्था की खोज होना अभी बाकी है।

तानाशाही एव जनतन्त्र दोनो स्थितियो का सक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद, अन्त मे हम केवल यह कहना चाहते हैं कि राजनीतिक तन्त्र कोई भी क्यो न हो, अच्छा उसी को कहा जा सकता है कि जो अपने समग्र परिवश म और समग्र रूप से जहाँ देश की सुरक्षा की गारटी दे वहाँ देश के प्रत्येक निवासी की भी सब प्रकार से सुरक्षा की गारटी दे, वहाँ देश के प्रत्येक निवासी को भी सब प्रकार से सुरक्षा की गारटी प्रदान कर सके। किसी वाद-विशेष के सिद्धान्त बडे अच्छे एव आकषक हैं, इस तब तक

कोई महत्त्व नही हुआ करता कि जब तक वह व्यवहार मे भी उतना ही अच्छा, सफल एव फलदायक न हो। अत आज देश के ही नही, ससार के राजनताओ को इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि क्या व वास्तव म देश की सामान्य जनता का हित-साधन करन के पावन उद्देश्य को लेकर चल रह हैं ? इसका उत्तर निश्चय ही नकारात्मक है। जनता का वास्तविक हित ता तभी साधित हो सकता है कि जब किसी वाद की प्रेरणा से नही, व्यवहार की प्रेरणा से काय किया जाए। ऐसी स्थिति मे किसी देश में तानाशाही रहे या जनतन्त्र रह कोई अन्तर नही पडता।

४२ | भारत मे जनतत्र-प्रणाली की उपादेयता

भारत एक प्राचीन देश है। सामूहिकता और समन्वय भाव इसकी सहजात प्रवत्ति और विशेषता रही है। अनेक जातियो के लोग अपनी-अपनी सस्कृति और सभ्यता लेकर आए परन्तु भारतीय-सस्कृति ने उन सबको अपने म लीन कर लिया। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यहाँ पर सगठित रूप म किसी एक सस्कृति का निर्माण नही हुआ। यह देश शताब्दियो स विभिन्न सस्कृतियो का सगम-स्थल बना चला आ रहा है। इतिहास बताता है कि यहाँ पर विभिन्न कालो मे विभिन्न जातियो का राज्य रहा है। कभी राजपूत शासक थे तो कभी गुप्त, कभी लोधियो ने राज्य किया तो कभी मुगलो ने और कभी अंग्रेजो ने। यही कारण है कि समय-समय पर यहाँ अनेक प्रकार की शासन प्रणालियो का विकास हुआ है। आज भारतवष शताब्दियो की दासता की शृखला को तोडकर स्वतन्त्र है। अत अब हमारे सामने यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या यहाँ भी विश्व के अन्य प्रगतिशील राष्ट्रो के द्वारा स्वीकृत प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली उपयोगी सिद्ध हो सकती है या फिर कोई अन्य प्रणाली अपनाने की आवश्यकता है।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि वतमान जनतन्त्र प्रणाली का जन्म ईसा की सत्रहवी शती के उत्तरार्द्ध मे इग्लैंड म हुआ था और उसका विकास भी वहा पर हुआ। परन्तु यह कहना अनुचित होगा कि इसम पूव विश्व मे कही पर भी प्रजातन्त्र शासन प्रणाली के दशन नही होते विश्व को यह इगलड की ही दन ह। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भारतवष, मिस्र व यूनान की सभ्यता बहुत प्राचीन है। अब से सदियो पूर्व ये राष्ट्र उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुच गए

थे। इन राष्ट्रों के प्राचीन इतिहास पर यदि दृष्टि डाली जाय, तो अवश्य ही हम प्रजातन्त्र शासन प्रणाली के दर्शन होते हैं। मालव गणराज्य और लिच्छवी गणराज्य इस बात के जीवन्त प्रमाण हैं।

प्राचीन भारतवर्ष मे ग्राम पचायतें तथा नगरो का प्रशासन करने वाली सस्थाओ मे भी इस प्रणाली की झलक दृष्टिगोचर होती है। यह ठीक है कि उस समय यह प्रणाली इतनी विकसित नही थी और उसका स्पष्ट नामकरण भी नही हुआ था, परन्तु उस समय भी छोटे ग्रामो तथा नगरो का प्रबन्ध वहा के निवासियो के ही हाथ म था। इस प्रजातन्त्र मे अभिजात कुलो के सभी व्यक्ति एक साथ बैठकर शासन की व्यवस्था को चलाते थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए थोडा-बहुत शासन सम्बन्धी काय करना आवश्यक था। बौद्ध-ग्रथो मे वज्जिया के प्रजातन्त्र का वणन विस्तृत रूप मे उपलब्ध है। परन्तु फिर भी यह नही कहा जा सकता कि भारतवष अथवा यूनान ने वतमान प्रजातन्त्र शासन प्रणाली को जन्म दिया है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि हमारे प्राचीन प्रजातन्त्र की भी मूल भावना वही थी, जो कि आज की इस प्रणाली की है।

इगलड म प्रजातन्त्र प्रणाली के समथक वहाँ के पूजीपति तथा जमीदार रहे है। जिस समय वहाँ पर प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का जन्म हुआ, उस समय वहाँ पर पूजीपति तथा जमीदारो के थोक थे और अब भी हैं। प्रत्येक पूजीपति व जमीदार के साथ सहस्रो व्यक्ति होते हैं। व बेचारे इन धनाढ्य व्यक्तियो को ही अपना सब कुछ समझते हैं और इनको ही वे अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करने के लिए विवश होते हैं। इन जमीदारो, पूजीपति व्यापारियो व उद्योगपतियो के अपने अपने अलग-अलग स्वाथ होते हैं, फिर भी शासन मे सुविधा प्राप्त करने के लिए ये सभी सगठित होकर एक सूत्र मे बध जाते है। इस सामूहिक बन्धु भाव ने ही वहाँ इस प्रणाली को जन्म देकर क्रमश विकसित किया।

इससे स्पष्ट है कि इगलड मे विकसित प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली पूजीवादी सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल है और उसका एक अग है। विश्व मे पूजीवाद के विकास के साथ साथ प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का विकास भी होता गया है। इस प्रणाली म व्यष्टि को समष्टि से अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु विश्व मे सभी जातियोंने इस शासन प्रणाली को पसद नही किया। इसमे पूजीपति तथा जमीदार उनकी नौकरशाही और गुमाश्तागीरी आदि करने वाले सभी की इच्छा मजदूर का गला घोटकर अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की रहती है। कुछ देश इन सत्ताधारियो की मनचाही को सहन नहीं कर सके। वहाँ पर बडी-बडी

क्रान्तियाँ हुई और उन अत्याचारी शासकों को समाप्त करके वहाँ पर जनतन्त्रीय शासन प्रणाली की स्थापना की गई। रूस की सन् १९१७ ई० की क्रान्ति इसका एक उदाहरण है। परन्तु प्रजातन्त्र के समर्थक साम्यवाद या समाजवाद की जनतन्त्रीय प्रणाली को जनतन्त्र या प्रजातन्त्र मानने के लिए सहमत नहीं हैं, क्योंकि ये पूंजीवाद को प्रोत्साहन देने के स्थान पर उसे समूल ही नष्ट कर देना चाहते हैं।

प्रजातन्त्र शासन प्रणाली की उपादेयता किसी भी देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती है। भारत में लगभग पचहत्तर प्रतिशत व्यक्ति निरक्षर हैं इनमें भी कम-से-कम पचास प्रतिशत व्यक्ति तो ऐसे हैं जो कि अपने हस्ताक्षर भी नहीं बना सकते। वे न अपने कर्त्तव्य को समझते हैं और न अपने मत (Vote) के महत्त्व को। यही कारण है कि हमारे देश में अनेक राजनीतिक दल हैं और वे निर्धन जनता को उल्टा-सीधा समझा कर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। यहाँ जनता में वर्ण, जाति तथा उनके परम्परागत अधिकार के प्रति आदर का भाव बद्धमूल है और राजनीतिक संस्थाएं इस भावना का अनुचित लाभ उठाती हैं। यहां पर जो दल एक बार सत्तारूढ़ हो जाता है, वह इस दुर्बलता से लाभ उठाकर बहुत दिनों तक सत्ता को हथियाये रहना चाहता है। अंग्रेजों ने भी इसी दुर्बलता से लाभ उठाकर दीर्घकाल तक यहां पर शासन किया। अधिक राजनीतिक दलों के होने से एक हानि यह भी है कि कभी-कभी चुनावों में ऐसा होता है कि कोई भी दल बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसी अवस्था में मिली जुली सरकार बनाई जाती है। मिली-जुली सरकार का कार्य ठीक रूप से नहीं चल पाता है यह यहाँ प्रमाणित हो चुका है। कभी-कभी विरोधी दल सत्तारूढ़ संस्था का विरोध, विरोध की भावना से करते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार का कार्य ठीक प्रकार से चलना कठिन हो जाता है। भारतीय प्रजातन्त्र में ऐसा ही बखेड़ा चल रहा है।

नये संविधान के लागू होने के उपरान्त भारत में पाँच सामान्य चुनाव हो चुके हैं। इनके परिणामों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करें तो भारत के भविष्य और प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के सम्बन्ध में आशा भी बंधती है और निराशा भी होती है। प्रथम तीन निर्वाचन भारत के राजनीतिक इतिहास में विशेष महत्ता नहीं रखते। यद्यपि जनता सरकार की नीतियों से सन्तुष्ट न थी किन्तु फिर भी मतदाताओं ने कांग्रेस के ही पक्ष में मत दिए। इसका कारण कुछ तो पं० जवाहरलाल नेहरू का जादू-तुल्य प्रभाव था और कुछ कांग्रेस के अतिरिक्त किसी और सुदृढ़ तथा सुसंगठित राजनैतिक दल का अभाव। चौथे सामान्य निर्वाचन में इस स्थिति में परिवर्तन हुआ तथा विरोधी दलों को राज्यों

तथा केन्द्रों में महत्त्वपूर्ण मत प्राप्त हुए। कई राज्यों में विरोधी दलों ने संयुक्त विधायक दल बनाकर राज्य-सरकारें भी बनाईं। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस दल को बहुत धक्का लगा और इस प्रकार एक ही दल की मनमानी सत्ता समाप्त हुई। इस परिणाम से प्रजातन्त्र के प्रति अगाध विश्वास उत्पन्न हुआ। देश विदेश के विचारकों ने इस शासन प्रणाली को भारत के लिए अत्यन्त उपयोगी बताया तथा मतदाताओं की जागरूकता की प्रशंसा की। लेकिन व्यवहार के स्तर पर फिर वही टाँय-टाँय फिस ही रहा।

किन्तु जनता ने जहाँ अपनी विचारशीलता का परिचय दिया, वहाँ जनता के प्रतिनिधि विधान-सभाओं के सदस्यों ने दल बदल कर तथा सत्ता हथियाने के लोभ में कुछ भी कर-गुजरने की प्रवृत्ति का भद्दा प्रदर्शन कर अपने नैतिक-पतन का परिचय दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक संगठन अस्त-व्यस्त हो गया और कई राज्यों में सरकारों का पतन हुआ। इस स्थिति ने प्रजातन्त्र पर प्रश्न चिह्न लगा दिया और इसकी उपादेयता के सम्बन्ध में फिर से भ्रांति फैली। कई राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। पाँचवीं बार मध्यावधि चुनाव कराने पड़े और फिर राज्यों में एक ही दल की सरकारें बनीं।

इस समस्या पर आज यदि हम विचार करके देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में प्रजातन्त्र की नींव बहुत गहरी है। नए संविधान ने प्रजातन्त्र शासन लागू किया है किन्तु जनता की प्रवृत्ति तो सदा से ही लोक-सत्ता को मानकर चलने में ही रही है। भारतवासी प्रकृति से ही प्रजा-तन्त्रवादी हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण राष्ट्रपति का निर्वाचन है जिसमें आत्मा की आवाज को राजनीतिक संगठन तथा दल के अनुशासन से भी बढ़कर माना गया है।

इस प्रश्न पर दूसरे ढंग से विचार करें तो पूछा जा सकता है कि यदि भारतवर्ष के लिए वर्तमान स्थिति में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली उपयोगी नहीं है, तो फिर यहाँ कौन-सा तन्त्र उपयोगी हो सकता है? उत्तर होगा—एक-तन्त्र। एकतन्त्र के भी अनेक रूप हैं। मध्यकाल में यहाँ पर राजतन्त्र के दर्शन होते हैं, परन्तु प्रजातन्त्र की लहर में ये सभी धीरे धीरे बहते जा रहे हैं। अभी जुलाई १९५८ ई० से ईराक और लेबनान में भी राजतन्त्र की समाप्ति कर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई है। ईरान में भी वैसा ही कुछ हुआ। स्वतन्त्र भारत की कांग्रेसी सरकार ने भारतीय रियासतों का भारत-संघ में विलय कर यहाँ से राजतन्त्र को पूर्णतः समाप्त कर सारे देश को एक जुट प्रजातन्त्र बना दिया।

दूसरा तन्त्र है अधिनायक तन्त्र। यह आधुनिक है और विश्व म कई स्थानो पर यह सफल होता हुआ भी दिखाई दिया है। मिस्र म राष्ट्रपति नासिर और इडोनेशिया मे सुकर्णो के नेतृत्व म अधिनायक तन्त्र की स्थापना हुई और वहाँ पर कुछ सफलता भी मिली। पर आधुनिक युग म अधिनायकवाद की सम्भावना बहुत कम हो गई है। भारतवष म तो अधिनायकवाद की स्थापना असम्भव ही है क्योकि यहाँ कोई भी दल या व्यक्ति इतना शक्तिशाली नही है जो ऐसा कर सके। अधिनायकवाद के माग मे सबसे बडी बाधा यहा की आर्थिक स्थिति का ठीक न होना तो है ही, जन-जागरूकता और इस वाद के प्रति उदासीनता भी है।

भारतवष म एकतन्त्र भी स्थापित नही हो सकता क्योकि एकतन्त्र एक सीमित वग के लिए ही उपयोगी होता है। शेष जनता को तो उससे बहुत हानि होती है। प्राय शासक वग जनता का शोषण करने लगता है। भारतीय जनता अब उसे सहन नही कर सकती और उसके साथ ही विश्व के अन्य देशों में एकतन्त्र के दुष्परिणामो को हम देख चुके हैं। यहाँ पर तो केवल समाजवादी ढग की प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है। हम यदि विश्व के प्रगतिशील राष्ट्रो के सामने डटे रहना चाहते हैं तो हमें इसे अपना लेना चाहिए। कुछ पूजीपतियो के विकास से प्राप्त शक्ति वतमान प्रजातन्त्र शासन प्रणाली के लिए पर्याप्त नही है। चीन का उदाहरण हमारे सामने है। यही कारण है कि कांग्रेस सरकार ने धीरे धीरे समाजवादी व्यवस्था को अपना लक्ष्य बना लिया है और आज भारत इसी लक्ष्य की ओर बढ रहा है।

अन्त मे हम कह सकते हैं कि भारतवष के लिए समाजवादी प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ही सबसे उपयोगी है। अपने मूल स्वभावगत चरित्र से ही भारतवासी प्रजातन्त्रवादी हैं और इसी की तीव्र-गति मे इनका सुनहला भविष्य छिपा है। आवश्यकता है इस प्रणाली के अनुरूप सुदृढ एव ठोस काम करने की। तभी उसकी वास्तविक उपादेयता प्रमाणित हो सकती है।

४३ | भारत : धर्म-निरपेक्ष राज्य

धम मे धारण करने की शक्ति अन्तर्हित मानी गई है। इसी कारण कुछ शताब्दियो पूव तक न केवल भारत म, अपितु समस्त ससार मे धम का

बहुत महत्त्व था। जीवन की कोई भी गतिविधि ऐसी न थी, जिसमे धर्म का हस्तक्षेप न हो। व्यक्ति के जन्म, मरण, विवाह इत्यादि सुख-दुख के सभी प्रसगो पर धार्मिक क्रिया-कलाप आवश्यक थे। न केवल व्यक्तिगत जीवन पर धर्म का शासन था, अपितु राजनीति पर भी धर्म का पूर्ण प्रभुत्व था। धर्म की सहायता से राज्य की वृद्धि की जाती और राज्य की शक्ति द्वारा धर्म का प्रचार किया जाता था। यहाँ तक कि युद्ध करना भी धर्म माना जाता था। प्राचीन भारत के युद्ध इसी कारण 'धर्म-युद्ध' और युद्धभूमि 'धर्म-क्षेत्र' कहलाए। उसके बाद भी भारत मे आक्रमणकारी विदेशी मुसलमानो और यहा के निवासी हिन्दुओ मे धर्म के आधार पर ही बहुत समय तक सघर्ष चलते रहे। आज भी धर्म सघर्ष का कारण बनता रहता है।

यूरोप मे भी कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बियो मे भयकर युद्ध हुए और अवसर पाकर दोनो ही पक्षो ने एक-दूसरे को कुचल डालने का प्रयास किया। कुछ काल तक यूरोप मे पोप सबसे बडी शक्ति बना रहा। वह धार्मिक क्षेत्र मे तो सर्वोच्च था ही, राजनीतिक क्षेत्र मे भी उसकी सत्ता सर्वोपरि हो गई थी। उसकी अनुमति प्राप्त किए बिना किसी भी राजा का राज्याभिषेक नही हो सकता था और उसकी भृकुटि के सकेतमात्र पर किसी भी राजा को अपदस्थ किया जा सकता था। भारत मे भी धर्मगुरु पर्याप्त शक्तिशाली रहे यद्यपि पोप जैसी शक्ति उनके पास कभी नही रही।

विगत काल मे राजनीति मे धर्म का प्रवेश बहुत अधिक था। प्रत्येक राजा किसी न किसी धर्म का अनुयायी होता था और वह धर्म समस्त राज्य का धर्म मान लिया जाता था। जैसे भारत मे जब अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली, तो बौद्ध धर्म राज्य-धर्म बन गया और राज्य की शक्ति का उपयोग बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किया जाने लगा। इसी प्रकार इग्लैड के राजा प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी थे और फ्रास तथा स्पेन कैथोलिक मतावलम्बी। उन राज्यो की प्रजा भी अपने राजा के धर्म को मानने लगती थी और यदि कोई स्वतन्त्र चेता व्यक्ति उस धर्म को अगीकार करने से इन्कार करता था तो उसे न केवल अनेक असुविधाओ का सामना करना पडता था, अपितु उसे तरह तरह की मन्त्रणाए दी जाती थी और अनेक बार उसे अपने प्राणो से भी हाथ धोने पडते थे। जब तक राजाओ, सामन्तो और धर्म-गुरुओ के प्रभुत्व का काल रहा, तब तक लगभग सारे ससार मे राजनीति पर धर्म का ऐसा ही सुदृढ अधिकार रहा।

तत्पश्चात् जब प्रजातन्त्र की लहर ने जोर पकडा, एक-एक करके राज-शक्तियाँ समाप्त होती गई और शासन की सत्ता प्रजा के हाथो मे आती गई,

तब धर्म का प्रभाव क्षीण होने लगा। राजनीति से तो इसका पूर्णतया बहिष्कार सा हो गया। यह माना जाने लगा कि धर्म व्यक्ति की निजी वस्तु है। उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी को न होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह चाहे जिस धर्म का अवलम्बन करे। राज्य का अपना कोई धर्म न हो और राज्य अपनी सीमाओं में रहने वाले सभी मतावलम्बियों की समान रूप से रक्षा करे। यही धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त है। सिद्धान्त रूप में इसे आज सारा विश्व स्वीकारता है।

इस सिद्धान्त को हृदयगम करने में यूरोप के निवासियों को बहुत समय लगा और इससे पहले उन्हें पारस्परिक द्वेष और युद्धों के कारण भयंकर हानि उठानी पड़ी। भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना यहाँ की सांस्कृतिक प्रवृत्ति के रूप में अनादिकाल से मान्य चली आ रही है। अशोक ने जब बौद्ध धर्म स्वीकार किया, तब भी उसने अन्य मतावलम्बियों पर अत्याचार नहीं किए, अपितु प्रजा के समस्त धर्मों का समान रूप से संरक्षण करता रहा। बौद्ध धर्म में अपने विरोधियों पर अत्याचार करने का अवकाश वैसे भी नहीं था, क्योंकि बौद्ध धर्म तो था ही प्रेम, अहिंसा और करुणा पर आधारित। इसलिए यदि वे लोग दूसरे लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न भी करते थे, तो उसका मुख्य उपाय प्रेम ही होता था। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का प्रचार चीन और जापान जैसे सुन्दर देशों तक भी हो गया। वस्तुतः सहिष्णुता और उदारता भारतीय संस्कृति में बहुत अधिक विद्यमान है, बल्कि उसका प्राण-तत्त्व है।

जब भारत में अंग्रेजों का शासन हुआ तब उन्होंने अपनी 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के कारण भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर द्वेष-भावना को बढ़ाने का यत्न किया। १८५७ के विद्रोह का दमन करने के पश्चात् अंग्रेजों की यह नीति सुनिश्चित हो गई कि जैसे भी हो, हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर मिलकर एक न होने दिया जाए। मुसलमान इस देश में अल्पमत में थे। अंग्रेजों ने उनको प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ावा देना शुरू किया। उनके मन में यह बात कूट-कूट भर दी कि भारतवर्ष पर मुसलमानों का हिन्दुओं से अधिक अधिकार है। सेना और पुलिस में मुसलमानों की अधिकाधिक भरती करी गई। कहा गया कि मुसलमानों की भाषा उर्दू है और हिन्दुओं की भाषा हिन्दी है। मुसलमानों की भाषा को अदालतों तथा अन्य राज्य-कार्यों में प्रश्रय दिया गया। यद्यपि देश की अधिकांश जनता हिन्दू थी और हिन्दी को बोलती, समझती और पढ़ती-लिखती थी, फिर भी हिन्दी को अदालतों के क्षेत्र से निकाल बाहर किया गया।

अंग्रेजो की इस फूट डालने की नीति का परिणाम वही हुआ, जो वे चाहते थे। अनुचित प्रश्रय मिलने से मुसलमान यह अनुभव करने लगे कि उनकी पीठ पर एक बड़ी शक्ति का हाथ है और प्रत्येक क्षेत्र में अनुचित पक्षपात होते देखकर हिन्दुओ को यह अनुभव होने लगा कि उनके साथ अन्याय किया जा रहा है। परिणामत दोनो जातियो मे मनोमालिन्य संघर्ष की सीमा तक बढ़ता गया।

पहले समस्त देश में हिन्दू और मुसलमान आपस मे मिलकर भाई-भाई की तरह रहते थे। दोनो के धर्म शरीर को कष्ट देने, उपवास, तीर्थ-यात्रा इत्यादि तपस्याओं, साधनाओं और विधि-विधानो के रूप मे थे, जिनसे भौतिक समृद्धि चाहें कम हो, किन्तु परलोक में सुगति प्राप्त करने की आशा में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही इस लोक की समृद्धि त्यागने को उद्यत रहते थे। एक दूसरे के पर्वों और त्यौहारो में दोनों सोत्साह भाग लेते थे और एक-दूसरे के लिए शुभकामनाएँ प्रकट करते थे। परन्तु अंग्रेजी की कुटिल नीति के फलस्वरूप स्थिति मे शीघ्र परिवर्तन हो गया। प्राय सभी बड़े शहरो मे हिन्दू और मुसलमानो मे साम्प्रदायिक दंगे होने लगे। एक दूसरे की भावनाओ को ठेस पहुंचाना ही उनके धर्म का सर्वप्रथम कर्त्तव्य बन गया। अंग्रेज दोनो को भड़काते थे। एक ओर तो उनके गुर्गे मुसलमानों से कहते थे कि "ईद के दिन गाय की कुर्बानी करनी चाहिए और उस गाय को सजाकर जलूस बनाकर शहर के बाजारो में ले ले जाना तुम्हारा अधिकार है" और दूसरी ओर वही गुर्गे हिन्दुओ को गौ माता की रक्षा के लिए लड़ मरने को उकसाते थे। इसी तरह मस्जिदों के सामने बाजा बजाने का प्रश्न भी अंग्रेजो ने ही खड़ा किया था। हिन्दुओ का आग्रह होता था कि हम बाजा अवश्य बजाएंगे और जरा देर के लिए भी बन्द नही करेंगे। मुसलमान हठ करते थे कि मस्जिद के सामने हम किसी तरह बाजा नहीं बजाने देंगे, क्योंकि इससे हमारी नमाज मे बाधा पड़ती है। अंग्रेजो की इस कुटिल नीति के फलस्वरूप आये दिन दंगे होते थे और हिन्दू और मुसलमानो के बीच की खाई और भी अधिक संघातक सीमा तक गहरी हो जाती थी।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अंग्रेजो की दुष्टतापूर्ण नीति को पहचान लिया। महात्मा गांधी ने अपनी सारी शक्ति हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच एकता स्थापित करने में लगा दी किन्तु अंग्रेजों के मध्य मे उपस्थित रहने के कारण गाँधीजी इस उद्देश्य मे सफल न हो सके। जब अंग्रेजो ने यह अनुभव कर लिया कि भारतीयों के स्वाधीनता आन्दोलन की तीव्रता बढ़ती जा रही है और उन्हे एक-न-एक दिन भारत छोड़कर जाना ही होगा, तो भारत के

दो टुकड़े कर डालने की तैयारी की। उनकी प्रेरणा से हर मुसलमान ने यह माँग की कि यदि देश को स्वाधीनता दी जानी है तो देश के दो भाग कर दिए जाएं। हमें अलग पाकिस्तान दे दिया जाए। देश के दूरदर्शी विवेकशील नेताओं ने इस बात का विरोध किया, किन्तु अंग्रेजों ने अपनी योजना को पूरा करके छोड़ा। दो धर्मों के सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान बनकर रहा।

पाकिस्तान बनने से पहले देश के सभी बड़े-बड़े नगरों में हिंदुओं और मुसलमानों में भयंकर दंगे हुए। हजारों व्यक्ति मारे गए, करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। ऐसी दशा में शांति बनाये रखने के लिए कांग्रेस ने पाकिस्तान बनाना स्वीकार कर लिया। यह आशा की गई थी कि पाकिस्तान बनाने की माँग को स्वीकार कर लेने के पश्चात् हिंदू और मुसलमानों में और अधिक दंगे न होंगे। दोनों देशों में दोनों धर्मों के मतावलम्बी शांतिपूर्वक जीवन-यापन कर सकेंगे। परन्तु यह आशा दुराशा सिद्ध हुई। पाकिस्तान बनते ही पाकिस्तान में मुसलमानों ने हिंदुओं को पाकिस्तान से निकाल बाहर करने के लिए सशस्त्र उत्पात प्रारम्भ कर दिए। इसकी प्रतिक्रिया पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश में हुई। इन प्रदेशों से अधिकांश मुसलमान भागकर पाकिस्तान चले गए और पश्चिमी पंजाब उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत से सब हिंदू हिंदुस्तान आ गये। किन्तु लाखों व्यक्ति इन दिनों उपद्रवों में मारे गए और सम्पत्ति का कल्पनातीत विनाश हुआ।

पाकिस्तान ने यह घोषणा की कि वह इस्लामी राज्य है। इधर कुछ लोगों ने यह माँग की कि भारत को अपने आपको हिन्दू राज्य घोषित कर देना चाहिए। पाकिस्तान मुसलमानों का रहे और भारत हिन्दुओं का। यदि भारत ऐसी घोषणा कर देता तो बड़ी राजनीतिक भूल होती। उस दशा में भारत और पाकिस्तान में स्थायी रूप में शत्रुता हो जाती। किन्तु भारत ने अपने आपको धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया और अपनी सीमाओं में रहने वाले प्रत्येक नागरिक को यह आश्वासन दिया कि वह धर्म के मामले में पूर्णतया स्वतन्त्र है। उसके ऊपर धर्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाएगा और किसी भी सरकारी नौकरी या राजनीतिक मामले में धर्म के आधार पर किसी के पक्ष में अथवा विरुद्ध कोई पक्षपात नहीं किया जाएगा।

४४ भारत-अमेरिका सम्बन्ध

यह एक सुविदित तथ्य है कि राजनीति में सहज मानव अनुभूतियों का विशेष महत्त्व नहीं होता। राजनीति के लिए एक अन्य शब्द है कूटनीति। इसका भी यही अभिप्राय है कि प्राय देश अपने निहित स्वार्थों और लक्ष्य-पूर्ति के लिए कोई भी, कैसा भी साधन अपनाते हैं। चाणक्य और मैकियावली के नाम इस सन्दर्भ में सहज ही स्मरण हो आते हैं। भले ही भाईचारा, सहयोग, मित्रता, सहायता के नारे लगाये जायें तथापि प्रत्येक देश का लक्ष्य होता है अपने हित को सर्वोपरि मानकर कार्य करना।

स्वतन्त्रता-संघर्ष के दिनों में अमेरिका ने भारत का नैतिक समर्थन किया, उसका पक्ष लिया और इस प्रकार स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत शक्तियों को बल प्रदान किया। कदाचित इसका एक कारण तो यह था, कि अमेरिका स्वयं ब्रिटेन का उपनिवेश रह चुका था, ब्रिटिश साम्राज्य की शोषण-नीति का शिकार हो अनेक यातनाएं सह चुका था और उसकी भारत के प्रति सहानुभूति थी। दूसरे भारत स्वतन्त्र देश नहीं था और परतन्त्र देश की अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर न कोई अपनी आवाज होती है और न वह शक्ति शिविरों में किसी एक का पक्ष लेने के लिए स्वतन्त्र होता है। उस समय शीत युद्ध भी जोरों पर न था और न विश्व में शक्ति की होड़ के लिए अमेरिका तथा युद्ध इतने तत्पर थे जितने आज दिखाई देते हैं।

स्वतन्त्रता के बाद भारत अमेरिका के बीच सम्बन्ध घड़ी के पेन्डुलम की तरह अस्थिर रहे हैं—कभी बहुत मैत्रीपूर्ण तो कभी कटु। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? दोनों के बीच समानताएं भी पर्याप्त हैं। अमेरिका, प्रजातन्त्रवादी देश है और वहाँ 'जनता की सरकार, जनता के लिए, जनता द्वारा चलायी जाती है।' भारत भी विश्व की जन संख्या और क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से सबसे बड़ा प्रजातन्त्रीय देश है। वह परिपक्व गणतन्त्र है और पिछले चालीस वर्षों में जब अनेक नव स्वतन्त्रता प्राप्त देशों में उथल-पुथल हुई है, प्रजातन्त्र का स्थान तानाशाही ने ले लिया है, भारत में निरन्तर पांच-छः वर्षों के बाद चुनाव हुए हैं और जनता के द्वारा चुनी हुई सरकार

ने ही शासन भार संभाला है। दोनों देशों की आर्थिक नीतियों में कुछ भेद होते हुए भी समानता है। भारत और अमेरिका दोनों में काफी हद तक पूंजीवाद है, भारत में राष्ट्रीयकरण कुछ ही क्षेत्रों में है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर दोनों बल देते हैं और सरकार व्यक्तियों, व्यक्ति समूहों और समाचार पत्रों की आवाज को दबाने का प्रयत्न नहीं करती। प्रश्न उठता है कि इन समानताओं के होते हुए भी सम्बन्ध स्थायी रूप से स्थिर एवं मैत्रीपूर्ण क्यों नहीं रहे।

भारत की आर्थिक नीति समाजवाद की ओर झुकी हुई है, मिश्रित आर्थिक नीति होते हुए भी वह पूंजीवाद के विरुद्ध है। अमरीका के चिंतन, रहन सहन और दृष्टिकोण पर पूंजीवाद और मध्यकालीन साम ती व्यवस्था की गहरी छाप है, अमेरिका पूर्ण विकसित देश है, धनाढ्य है, शक्ति सम्पन्न है जबकि भारत विकासशील देश है, गरीब है विकास के साधन जुटाने के लिए दूसरों के आगे आंचल फैलाता है। भारत गुट निरपेक्ष देश है, वह किसी शक्ति शिविर से जुड़ा नहीं है उसकी सहानुभूति उत्पीड़ितों, शोषितों और रंग-भेद या जाति भेद की नीति से सताये लोगों के प्रति है। उसमें स्वाभिमान है, उसकी विदेश नीति स्वतन्त्र है, वह किसी के दबाव में आकर समर्थन या विरोध नहीं करता। इसके विपरीत अमेरिका विश्व की दो महान शक्तियों में से एक है। वह अधिकाधिक देशों को अपनी ओर करना चाहता है। वह सहायता तो देता है पर चाहता है कि सहायता प्राप्त करने वाला देश उसकी शर्तें माने भले ही वे न्याय संगत न हों। उसकी राजनीति शक्ति की राजनीति है वह अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना चाहता है और अपनी छत्र छाया में रहने वाले देशों की अन्यायपूर्ण, असंगत नीतियों और कार्यों का भी समर्थन करता रहता है। भारत के प्रति भी अमेरिका का यही रवैया रहा है। वह भारत को दुर्बल, दीन हीन, पिछड़ा हुआ मानता है और चाहता है कि आर्थिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी सहायता के बदले भारत उसकी हर बात माने। अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर उसकी गलत सलत नीतियों, प्रस्तावों और कार्यों का समर्थन करे। वह रूस को अपना परम शत्रु मानता है और चाहता है कि कोई राष्ट्र रूस का समर्थन न करे, भले ही रूस द्वारा ... पक्ष न्यायपूर्ण ही क्यों न हो। शत्रु का सहयोगी भी शत्रु है, इस

बात को मानकर वह अब तब भारत के प्रति भी शत्रुतापूर्ण रुख अपनाता रहा है। भारत ने चू कि यह सब नही किया, अनीति को अनीति और अन्याय को अन्याय कहा, अपनी स्वतन्त्रता और स्वायत्तता का सौदा नही किया, अत अमेरिका से उसके सम्बन्ध आन्तरिक नही हो पाये। कभी कभी तो ऐसा लगा कि दोनो देशो के सम्ब ध इतने तनावपूर्ण हो गये हैं कि एक झटके मे टूट जाएगे।

अमेरिका और भारत के बीच कटुता का एक प्रमुख कारण है अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर अधुनातन युद्ध सामग्री मुफ्त देना। कभी चीन, कभी रूस और कभी अफगानिस्तान के सभावित आक्रमण की आड से वह पाकिस्तान को सघातक शस्त्रास्त्रो स सुसज्जित करता रहा है। इससे भारत की अर्थ व्यवस्था पर भारी दबाव पड़ता है उसकी विकास-योजनाए वाछित गति से पूरी नहीं हो पाती। जो धन विकास कार्यों पर खच होना चाहिए वह पाकिस्तान द्वारा आक्रमण के भय से युद्ध के लिए सन्नद्ध रहने पर व्यय होता है और यह भय सच्चा है क्योकि पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण तो किये ही हैं, सीमा पर झड़प आम बात बन गयी है। भारत को तनिक भी असावधान पाकर वह कभी भी आक्रमण कर सकता है। पहले तो अमेरिका भले ही औपचारिक स्तर पर, भारत को आश्वासन देता रहता था कि अमेरिका द्वारा दिये गये हथियारो का प्रयोग भारत के विरुद्ध नही होगा, पर अब इन औपचारिक आश्वासनों की भी आवश्यकता नही समझी जाती जिससे पाकिस्तान क हौसले और बुलन्द हो गय है। सन् 1965 मे पाकिस्तान ने अमेरिकी युद्ध सामग्री का भारत के विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला प्रयोग किया पर अमेरिका न केवल चुप रहा, उसने पाकिस्तान के पक्ष का ही समथन किया। यद्यपि उसने एक दो बार यह घोषणा भी की कि वह दोनों देशों मे से किसी को भी हथियार न देगा, पर यथार्थ स्थिति यह है कि पाकिस्तान को हथियार मुफ्त मे दिये जा रहे हैं और भारत को नकद पसे देने पर भी नही।

1971 मे जब पाकिस्तान ने पूर्वी बगाल मे चल रहे जन आन्दोलन को दबाने के लिए युद्ध छेड़ा तब भी पूर्वी बगाल से अमरीकियो को निकालने मे

बहाने अणु अस्त्रों से सुसज्जित सातवां बेड़ा भेजा गया ताकि पाकिस्तान की हिम्मत बढ़े और उसके विरोधी भारत तथा बंगला देश की जनता हतोत्साहित हो। भारत चाहता है कि हिन्द महासागर क्षेत्र में शांति बनी रहे। इसके लिए आवश्यक है कि यहां किसी का सैनिक अड्डा न बने परन्तु अमेरिका ने डियागो गार्शिया में अपना सैनिक अड्डा बना रखा है और वह यहां से हटने के लिए तैयार नहीं है। भारत तथा अन्य एशियाई देशों की बात न मानकर अमेरिका हठधर्मी कर सम्बन्धों को तनावपूर्ण ही बना रहा है।

राष्ट्रों के मध्य जो समझौते होते हैं उनके पीछे पावन भावना होती है और प्रायः उनका पालन किया जाता है। परन्तु भारत के साथ किये गये समझौतों को कई बार तोड़ा गया है। तारापुर परमाणु बिजली घर के लिए यूरेनियम देने के समझौते को तोड़ने, टालने और फिर बीच का रास्ता निकालना (फ्रांस द्वारा यूरेनियम की सप्लाई) अमेरिकी इरादों की ओर संकेत करता है। पोखरन में भारत के प्रथम भूमिगत परमाणु विस्फोट की सफलता से अमेरिका न केवल स्तब्ध ही रह गया अपितु उसे आघात भी लगा। उसने भारत के प्रति जो रुख अपनाया उससे भारत के परमाणु शक्ति के शांतिपूर्ण प्रयोग के कार्यक्रम में भी बाधा पड़ी, दूसरी ओर उसने लुके छिपे पाकिस्तान को परमाणु शक्ति के विकास के लिए हर तरह की सहायता दी, परिष्कृत यूरेनियम तक भेजा (बाद में कहा गया कि वह पाकिस्तानियों ने तस्करी के द्वारा अपने देश भेजा है और इस अपराध के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गयी)। अमेरिका की अणु शक्ति सम्बन्धी नीति भी पक्षपातपूर्ण रही है जो भारत के प्रति उसकी बेरुखी का प्रमाण है।

राष्ट्रपति रेगन के कार्य काल के आरम्भ में ऐसा लगा था कि दोनों देशों के सम्बन्ध सुधर जाएंगे हालांकि राष्ट्रपति बनने से पूर्व और कुछ समय बाद दिये गये उनके वक्तव्यों में भारत विरोधी बातें कही गयी थीं। होनोलूलू में हुए राष्ट्रमण्डलाध्यक्षों के सम्मेलन में राष्ट्रपति रेगन से भारत की प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी मिलीं और कुछ समय बाद जब उन्होंने अमरिका की राजकीय
[illegible]ा की तो लगा कि अमेरिका का व्यवहार बदल रहा है परन्तु यह दुराशा

मात्र थी। रेगन की सदभावना चाय मे उबाल की तरह क्षणिक सिद्ध हुई। पाकिस्तान को अरबो डालर मूल्य के हथियार देने की नीति ज्यो की त्यो रही। इतना ही नही, पजाब मे आतकवादियों को शह देने वाले पाकिस्तान को समझाने बुझाने की जगह वह अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की नीति का समथन करता रहा। अफगानिस्तान मे रूस की सेनाओ के जाने और अफगानिस्तान विद्रोहियो के दमन ने तो पाकिस्तान और अमेरिका को और भी बोखला दिया और उन्होने समझा कि भारत भी रूस का साथ दे रहा है। इससे दोनों देशो के सम्ब धो मे सुधार आने की बजाय और तनाव आ गया है।

दोनो देशो की जनता के मन म भी एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सदभाव है और अनेक सस्थाए इस सदभाव को बढाने का प्रयास करती रहती हैं। हाल ही अमेरिका में भारत महोत्सव सम्पन्न हुआ जिससे दोनो की मैत्री बढी है। अमरीका में लगभग छ लाख भारतीय रहते हैं और उनमे से अनेक अमरीका के साथ विभिन्न क्षेत्रो मे काय कर अमरीका की प्रगति में सहायता कर रहे हैं। अमरीका के नागरिको की भारत मे गहरी रुचि है। भारतीय धम, अध्यात्म, कला, सस्कृति सभी के प्रति वे आकृष्ट हैं। अमेरिका से आने वाले पयटको की सख्या इसका प्रमाण है। आशा है कि दोनो देशों के ये नागरिक विश्व के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रजातन्त्रो को निकट लाने मे सहायक होंगे।

उधर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर भी सघष और तनाव के बादल हट गये हैं, नई आशा का सूय उदय हो रहा है। आणविक अस्त्रों और पारस्परिक हथियारो मे कमी की सधि, प्रक्षेपास्त्रो के अड्डो को नष्ट करने का समझौता इस दिशा मे किये गये शुभ कार्य हैं। पाकिस्तान में जिया उल हक की आकस्मिक मृत्यु के बाद वहाँ पुन प्रजातन्त्र की स्थापना हुई है। अत आशा है कि भारत-पाकिस्तान के बीच भी तनाव दूर होगा। कुल मिलाकर लगता है कि भले ही रेगन काल मे भारत अमेरिका के सबधों मे कटुता रही हो, राष्ट्रपति बुश के कार्य काल में मित्रता और सहयोग बढेगा क्योंकि दोनो देश मन ही मन समझते हैं कि दोनों के लिए एक दूसरे की मित्रता मूल्यवान है।

□ □

बहाने अणु अस्त्रों से सुसज्जित सातवां बेड़ा भेजा गया ताकि पाकिस्तान की हिम्मत बढ़े और उसके विरोधी भारत तथा बंगला देश की जनता हतोत्साहित हो। भारत चाहता है कि हिन्द महासागर क्षेत्र में शान्ति बनी रहे। इसके लिए आवश्यक है कि यहां किसी का सैनिक अड्डा न बने परन्तु अमेरिका ने डियागो गार्शिया में अपना सैनिक अड्डा बना रखा है और वह वहां से हटने के लिए तैयार नहीं है। भारत तथा अन्य एशियाई देशों की बात न मानकर अमेरिका हठधर्मी कर सम्बन्धों को तनावपूर्ण ही बना रहा है।

राष्ट्रों के मध्य जो समझौते होते हैं उनके पीछे पावन भावना होती है और प्रायः उनका पालन किया जाता है। परन्तु भारत के साथ किये गये समझौतों को कई बार तोड़ा गया है। तारापुर परमाणु बिजली घर के लिए यूरेनियम देने के समझौते को तोड़ने, टालने और फिर बीच का रास्ता निकालना (फ्रांस द्वारा यूरेनियम की सप्लाई) अमेरिकी इरादों की ओर संकेत करता है। पोखरण में भारत के प्रथम भूमिगत परमाणु विस्फोट की सफलता से अमेरिका न केवल स्तब्ध ही रह गया अपितु उसे आघात भी लगा। उसने भारत के प्रति जो रुख अपनाया उससे भारत के परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग के कार्यक्रम में भी बाधा पड़ी, दूसरी ओर उसने चुपे छिपे पाकिस्तान को परमाणु शक्ति के विकास के लिए हर तरह की सहायता दी, परिष्कृत यूरेनियम तक भेजा (बाद में कहा गया कि वह पाकिस्तानियों ने तस्करी के द्वारा अपने देश भेजा है और इस अपराध के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गयी)। अमेरिका की अणु शक्ति सम्बन्धी नीति भी पक्षपातपूर्ण रही है जो भारत के प्रति उसकी बेरुखी का प्रमाण है।

राष्ट्रपति रेगन के कार्य काल के आरम्भ में ऐसा लगा था कि दोनों देशों के सम्बन्ध सुधर जाएंगे हालांकि राष्ट्रपति बनने से पूर्व और कुछ समय बाद दिये गये उनके वक्तव्यों में भारत विरोधी बातें कही गयी थीं। होनोलूलू में हुए राष्ट्रमंडलाध्यक्षों के सम्मेलन में राष्ट्रपति रेगन से भारत की प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी मिलीं और कुछ समय बाद जब उन्होंने अमेरिका की राजकीय की तो लगा कि अमेरिका का व्यवहार बदल रहा है परन्तु यह दुराशा

४५ भारत-रूस सम्बन्ध

मित्रता, सहयोग, विचारो का आदान प्रदान और जिज्ञासा मानव स्वभाव के मूल तत्व हैं। प्राचीन काल मे भी जब यातायात के साधन बहुत कम थे तथा यात्रा करना खतरों से भरा था, भारत के साहसिक और कमठ पुरुषो ने सुदूर पूर्व के देशो की यात्रा की। कुछ का उद्देश्य था व्यापार वाणिज्य द्वारा सम्पन्न बनना और कुछ केवल धर्म-प्रचार और संस्कृति के प्रसार के लिए विदेश गये। भारत ने कभी साम्राज्य विस्तार की नीति नहीं अपनायी, अत प्राचीन भारत के दूसरे देशो से सम्बन्ध प्राय आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ही रहे।

विज्ञान की उन्नति, वैज्ञानिक आविष्कारो के आविष्कार और विद्युत वाष्प के प्रयोग से जब यातायात के साधनो का विकास हुआ, यात्रा करना सुगम हो गया तो विश्व के विभिन्न देशों मे परस्पर सम्पर्क बढा, समय के साथ-साथ यात्राओ के उद्देश्य भी बदले। व्यापार वाणिज्य द्वारा अपने अपने देश को सम्पन्न बनाना तो प्रमुख उद्देश्य था ही, साम्राज्य विस्तार करना, नए नए उपनिवेश स्थापित करना अपनी अपनी राजनीतिक विचारधारा का प्रचार प्रसार करना, दूसरे देशों को अपने अपने शक्ति गुट मे सम्मिलित कर अपना वचस्व स्थापित करना भी उनके उद्देश्यो मे सम्मिलित हो गये। पिछले कुछ वर्षों से विश्व के अनेक देश परस्पर सहयोग से अपना अपना आर्थिक और औद्योगिक विकास करने की दिशा मे भी प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार अब पहले की तुलना में दुनिया छोटी हो गयी है और विश्व के देश एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं।

प्राचीन काल मे भारत रूस के बीच सम्बन्ध तो थे। वास्तुकला, भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे किये गय अनुसधानो से इसका सकेत मिलता है पर ये सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ नहीं थ।

स्थूल दृष्टि से देखने पर भारत और रूस मे समानता म अधिक असमानताएँ दिखलाई देती हैं। रूस यूरोप का देश है तो भारत एशिया का, भारत के लोग धार्मिक प्रवृत्ति के हैं, ईश्वर से डरते हैं पूजा पाठ में विश्वास

रखते हैं, भारत अपने आध्यात्मिक विचारो के लिए विख्यात है, उसे अध्यात्मवादी देश कहा जा सकता है। इसके विपरीत रूस मे 'धम को अफीम' कहा जाता है, वहाँ के लोग अध्यात्मवाद को कोई महत्त्व नही देते वे अनीश्वरवादी हैं, बहुत कम लोग मस्जिदो गिरजाघरो मे जाते हैं। दोनो देशों का खान पान और रहन-सहन भी भिन्न है। रूस साम्यवादी देश है। वे काल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धा त के अनुयायी है, उसी के आर्थिक सिद्धान्तों को महत्त्व देते हुए अपने देश की भौतिक समद्धि मे जुटे है, वर्गहीन समाज की स्थापना उनका लक्ष्य है, वे व्यक्ति से अधिक राज्य को महत्त्व देते हैं। भारत प्रजातन्त्र मे विश्वास करता है। यह गणराज्य है। यहा जनता सर्वोपरि है और जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि शासन काय करते हैं। यहाँ ससद नियमय विधान बनाती है जबकि रूस मे सत्ता साम्यवादी दल के कुछ प्रमुख पदाधिकारियो के हाथ मे है। साराश यह कि दोनो देशो की राजनीतिक विचारधारा शासन पद्धति और काय पद्धति पर्याप्त भिन्न है। आर्थिक नीतिया भी दोनो की अलग अलग हैं। रूस मे निजी सम्पत्ति का कोई स्थान नही है, वहाँ कृषि उत्पादन, उद्योग वाणिज्य व्यापार सब कुछ राज्य का है जबकि भारत की आर्थिक नीति को मिश्रित नीति कहा जाता है—कुछ उद्योग बडे बडे पू जीपतियो—टाटा, बिडला, डालमिया मोदी किर्लोस्कर आदि के हाथों म हैं और कुछ राष्ट्रीयकृत। इन असमानताओ को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दोनो के बीच मत्री और सहयोग के सम्बन्ध कैसे ?

दोनो देशो के बीच सौहार्द्र और मैत्री के बीज भारत के स्वत त्रता सग्राम के समय रूस की भारत के प्रति सहानुभूति मे तथा स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री और देश के कणधार प० जवाहरलाल नहरू की मास्को यात्रा (1927 ई०) उनके ऊपर पडे समाजवादी विचारो के प्रभाव आदि मे देखे जा सकते हैं। उन्होने तभी भाप लिया कि देश की उन्नति का एकमात्र उपाय है समाजवादी रचना। भारत की आजादी की लडाई के दिनो मे उसे रूस के नेताओ का नैतिक समथन मिला था। स्वत त्रता के बाद भी भारत क नेताओ ने अपनी अनेक समस्याओ—अनेक जातियाँ अनेक भाषाए राष्ट्र आर्थिक विकास से सम्बद्ध पहलियाँ—के समाधान

रूस की ओर देखा। रूस की पचवर्षीय योजनाओं ने उसे आकृष्ट किया और यहाँ भी पचवर्षीय योजनाए बनायी गयीं।

दोनो देशो के बीच मैत्री-सम्बन्धों के बीजारोपण और अधिकाधिक पुष्ट होने का कारण है दोनों का मानवतावादी दृष्टिकोण, विश्व-शान्ति, अन्याय अत्याचार-शोषण को विरोध। भारत की परम्परागत समन्वयवादी सांस्कृतिक चेतना सदा 'सवजनहिताय' 'सवजन सुखाय', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष करती रही है। यहाँ के ऋषियों-मुनियों, अवतारी पुरुषों—बुद्ध और महावीर, स तो—तुलसी, नानक, कबीर और आधुनिक युग के महामानव महात्मा गांधी ने सदा अन्याय अत्याचार का विरोध किया। रूस में महात्मा टालस्टाय न एक प्रकार से तथा लेनिन ने दूसरे प्रकार से यही माग अपनाया। जार के विरुद्ध रूसी जनता का सघष भारत मे अग्रेजी सरकार के विरुद्ध सघष के समान ही था।

ब्रिटिश शासन से मुक्ति के लिए सघष करते समय भी गांधी जी तथा नेहरू ने भारत की स्वतन्त्रता को अंतिम साध्य न मानकर विश्व से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को समूल नष्ट करने का साधन मात्र कहा था। अत स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की वैदेशिक नीति का मुख्य आधार रहा उपनिवेशवाद और जातिभेद दूर करना, अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर विश्व में शान्ति स्थापित करना। भारत ने स्वय को समाजवादी, धम निरपेक्ष राज्य घोषित किया और गुट निरपेक्ष नीति अपनायी।

भारत के स्वतन्त्र होने के समय विश्व मे दो महान शक्तियो—अमेरिका और रूस के बीच होड लगी थी। प्रत्येक शक्ति गुट अधिक से अधिक देशों को अपने शिविर मे और अपने प्रभाव क्षेत्र मे लाने के लिए प्रयत्नशील था। दोनो जानते थे कि भारत के कणधार प० नेहरू किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध नहीं हैं। अत कुछ समय तक प्रतीक्षा करते रहे कि भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति क्या बनती है। जब भारत ने तटस्थता की नीति की घोषणा की तो दोनों महाशक्तियो ने भारत को स देह की दृष्टि से देखा। उन दिनों वस्तुत भारत तटस्थ था, उसे केवल अपना आर्थिक विकास करने की चिंता थी उसके लिए साधन जुटाने मे वह व्यस्त था। अत जहां कहीं से उसे पता मिली उसने उसे कृतज्ञतापूवक स्वीकार किया। इस पर दोनों

शक्तियो ने भारत को ढुलमुल समझ अपने शिविर मे खीचने के प्रयत्न किये क्योंकि दोनों जानते थे कि भारत अपनी विशाल प्राकृतिक सम्पदा और मानव-शक्ति के बल पर विश्व के राजनीति मच पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

प्रारम्भ मे भारत को विशाल पैमाने पर अमरीका से अनाज तथा अन्य आर्थिक सहायता पाते देख रूस को सन्देह हुआ कि भारत अमेरिका की ओर झुक रहा है। पर धीरे धीरे उसका यह भ्रम समाप्त हो गया और उसने अनुभव किया कि भारत वस्तुत गुट-निरपेक्ष देश है और वह अत्याचार-पीड़ितो, शोषितों और सताये हुए लोगों का पक्षधर है।

भारत और रूस ने परस्पर सहयोग और मित्रता का हाथ तो बढ़ाया ही है, जब कभी और जहाँ कहीं दूसरे देशो पर भी कोई अनुचित दबाव डालने या उपनिवेशवाद की जडो को मजबूत करने का या जाति भेद या रग भेद की नीति अपनाकर दुर्बल देश को दबाने की समस्या उठ खड़ी हुई है, भारत तथा रूस ने सयुक्त राष्ट्र सघ के भीतर और बाहर सर्वत्र ऐसे दुर्बल राष्ट्रों की सहायता की है, युद्ध के खतरो को टाला है विश्व शाति और विश्व मानवता पर आये सकट से उसकी रक्षा की है। दक्षिण अफ्रीका की रग भेद की नीति अपनाकर वहाँ के लोगो पर शासन करने वाली अल्प-सख्यक गोरी सरकार हो या फिर कोरिया वियतनाम, कम्पूचिया का प्रश्न हो, मिस्र-इजराईल-सकट हो या फिलस्तीनी समस्या हो सभी प्रश्नो पर दोनो देशों ने सदा न्याय का पक्ष लिया है, बर्बरता का विरोध किया है, स्वतन्त्रता और स्वायत्तता की आवाज को शक्ति प्रदान की है। परिणाम-स्वरूप कई बार विश्व अशाति और युद्ध के सकट से बच गया है।

भारत विकासशील देश है। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद से वह अपनी आर्थिक प्रगति और स्वय को आत्मनिर्भर बनाने के कार्य मे जुटा है। कृ उत्पादन के क्षेत्र मे तो उसने आशातीत सफलता पायी है। औद्योगिक क्षे मे भी उसके चरण आगे बढ रहे हैं। इन निर्माण कार्यों मे उसे रूस से पर्या आर्थिक, तकनीकी और वैज्ञानिक सहायता मिली है। रूस ने अपने इजीनिय भारत भेजे है और रूस मे भारत के युवको को प्रशिक्षण दिया है। बोकारो का स्टील-प्लाट इसका जीवन्त प्रमाण है। उसके निर्माण मे ही नही, विकास

शील तथा उसे अधुनातन बनाकर उसके उत्पादन में वृद्धि के लिए भी रूस लगातार भारत की सहायता कर रहा है। रूस की सहायता से खनिज उत्पादन, विद्युत्-उत्पादन से सम्बद्ध अनेक योजनाएँ पूरी हुई हैं और नई चल रही हैं।

पिछले कुछ वर्षों में भारत और रूस और अधिक निकट आये हैं। संकट के समय परस्पर विचार विमर्श एवं उचित सहयोग-सहायता करने का बीस वर्ष की सन्धि तो ब्रेझनेव के समय पहले ही हो चुकी थी, गोर्बाचोव के सत्ता में आने के बाद तो दोनों देशों का सम्पर्क और बढ़ गया है। 1987-88 में रूस में होने वाले भारतीय सांस्कृतिक मेले और भारत में होने वाले रूसी सांस्कृतिक मेले ने दोनों देशों के निवासियों को एक दूसरे की कला, साहित्य और संस्कृति से ही परिचित नहीं कराया, दोनों को भावनात्मक स्तर पर एक दूसरे के निकट ला दिया है। दोनों देशों के राज्याध्यक्षों, मन्त्रियों, शिष्ट मण्डलों का एक-दूसरे के यहां जाना बढ़ गया है जिससे विचार विनिमय का आधार विस्तृत हुआ है। प्रति वर्ष दिये जाने वाले सोवियत लैंड-नेहरू पुरस्कार, बच्चों का एक-दूसरे के यहाँ जाना और वहाँ कुछ समय तक रहना, शिक्षकों का आदान-प्रदान, फिल्मोत्सव आदि अनेक कार्यक्रम दोनों देशों की मित्रता को प्रगाढ़ बना रहे हैं। भारत और रूस के बीच व्यापार बढ़ रहा है। 1989 में वह 7000 करोड़ रुपये हो जायगा। इन्दिरा गांधी पुरस्कार से सम्मानित करने के लिए भारत के निमन्त्रण को स्वीकार कर सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव जब यहाँ नवम्बर 1989 में आये और तीन दिन ठहरे तो इस यात्रा ने भारत-रूस के बीच की सच्ची मित्रता को एक नया आयाम प्रदान किया। अब दोनों के आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों को एक विस्तृत आधार दिया गया है। श्री गोर्बाचोव का समारोह के समय दिया गया भाषण तथा भारतीय रूसी नेताओं की शिखर-वार्ता के बाद प्रकाशित विज्ञप्ति से स्पष्ट है कि सोवियत नेता चाहते हैं कि भारत एशिया प्रशांत क्षेत्र में शांति स्थापना, परस्पर सहयोग और सुरक्षा के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाये। ऐ[illegible] ने पर विश्व में [illegible] करने में भी मदद मिलेगी। यदि [illegible] न महादेश—[illegible] भारत परस्पर सहयोग और विश[illegible] इस बात के [illegible] ही जायें कि वे एक दूसरे के विरुद्ध [illegible] करेंगे तो

तनाव दूर होगा, विश्व शांति स्थापित होगी। तीनों देशों का रक्षा बजट कम होगा और वे अपने आर्थिक विकास को द्रुत गति दे सकेंगे। यदि भारत चीन संबंध मैत्रीपूर्ण हो जायें तो पाकिस्तान के साथ भी भारत के संबंध सुधर जायेंगे क्योंकि चीन उसे जब-तब सैनिक सहायता देता रहता है। इससे इतिहास का एक नया अध्याय शुरू होगा। अफगानिस्तान समस्या को हल करने के लिए दोनों देश इच्छुक ही नहीं, प्रयत्नशील भी हैं। कम्पूचिया की समस्या भी हल हो जाएगी, डिगो गार्सिया पर मारिशस का पुनः अधिकार हो इस बात पर भी दोनों नेता सहमत थे इससे एशिया प्रशांत क्षेत्र की सभी समस्याएं हल हो जायेंगी और हिन्द महासागर शांति का क्षेत्र बन जाएगा। संयुक्त राष्ट्र संघ में जून 1988 में प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा प्रस्तुत आणविक अस्त्र शस्त्रों और परम्परागत हथियारों में कमी का समयबद्ध कार्यक्रम, 1986 में दोनों नेताओं द्वारा जारी की गयी दिल्ली घोषणा और नवम्बर 1988 में शिखर-वार्ता के उपरान्त जारी की गई विज्ञप्ति—सभी इस बात का संकेत हैं कि भारत और रूस दोनों विश्वशांति चाहते हैं, विश्व को हथियारों की मूर्खतापूर्ण और आत्महता दौड़ से बचाना चाहते हैं और शस्त्र निर्माण में किये अपव्यय से बचकर विकास योजनाओं में धनराशि खर्च करने के पक्ष में हैं ताकि विश्व अधिक स्वस्थ, सुन्दर और मानव सुविधाओं से पूर्ण बन सके। आशा है इन दोनों नेताओं के शांत प्रयत्नों से परस्पर संदेह और अविश्वास के बादल छंट जायेंगे और शांति तथा मैत्री भाव की सुनहरी धूप में स्नान कर विश्व के लोग चैन की सांस लेंगे।

कभी-कभी भारत को दुर्बल राष्ट्र समझ कर उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसका स्वतन्त्र चिंतन और अपनी नीति नहीं है, वह रूस का पिछलग्गू है। पर यह आरोप निराधार है। अनेक प्रश्नों पर जब भारत के विचार रूस के विचारों से मेल नहीं खाते तो भारत अपनी बात कहने में संकोच नहीं करता, वह रूस की आलोचना भी करता है। पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और अफगानिस्तान के मामलों पर उसने रूस से अपनी असहमति प्रकट की है। वस्तुतः पं० नेहरू के जमाने से ही भारत की दृष्टि गुट निरपेक्ष रही है, वह प्रत्येक प्रश्न को गुणावगुण के आधार पर देखता है, उस पर निरपेक्ष दृष्टि से और पूर्वाग्रह-विहीन होकर विचार करता है तथा

अपना मत निस्संकोच और निर्भय होकर प्रस्तुत करता है। प० नेहरू मार्क्स और लेनिन की हर बात को स्वीकार नहीं करते थे। वह समाजवाद में रुचि रखते थे, उससे आक्रान्त नहीं थे। इंदिरा और राजीव गांधी भी उन्हीं के पथ का अनुसरण करते रहे हैं। हां, चूंकि दोनों का लक्ष्य एक है—विश्वशांति और मानव जाति के भविष्य को सुन्दर बनाना और यदि वे उसके लिए निःशस्त्रीकरण को एकमात्र उपाय मानते हैं तो सहमति होना स्वाभाविक है। एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न उनकी उदारता और सहिष्णुता का परिचायक है। भारत को किसी भी देश का पिछलग्गू कहना नासमझी कहा जाएगा या यथार्थ से आंखें मूंदना।

वस्तुत भारत रूस के सम्बन्ध संकुचित राजनीतिक स्वार्थों, तत्कालिक हितों से ऊपर हैं, दोनों की आन्तरिक मित्रता और सच्चाई के प्रतीक है। वे सम्बन्ध इस बात का भी संकेत हैं कि भले ही दो राष्ट्रों की शासन-पद्धति आर्थिक नीति, राजनीतिक विचारधारा विपरीत ध्रुवों पर स्थित थे, यदि उनका लक्ष्य मानव जाति के भविष्य को सुखी, समृद्ध, शांतिपूर्ण और सुरक्षित रखना है तो वे मित्र बनकर विश्व को सुखी बनाने में सहयोग कर सकते हैं। आज के विस्फोटक और तनावपूर्ण वातावरण में, विनाश के कगार पर खड़ी मानव जाति के लिए भारत-रूस के सम्बन्ध अनुकरणीय आदर्श हैं।

४६. भारत-चीनसम्बन्ध

चीन के स्वतन्त्र होने के उपरान्त चीन भारत की तरह विभक्त हो गया—मिंगतांग चीन जिसके अधिपति चांग-काई शेक थे और साम्यवादी चीन। संयुक्त राष्ट्र संघ मे सदस्यता के प्रश्न पर भारत ने साम्यवादी चीन का पक्ष लिया और चीन के नियमित सदस्य होने का श्रेय भारत को है। अन्यत्र भी भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर चीन के हितों की रक्षा की और सदा मैत्री और सहयोग का हाथ बढ़ाया।

दोनो देशों मे समानता भी कम नही रही—दोनों का इतिहास अत्यंत पुराना है, दोनों की संस्कृति अत्यन्त गौरवशाली रही है दोनो भगवान बुद्ध के सिद्धांतों से प्रभावित रहे हैं दोनों तृतीय विश्व या विकासशील देशो के हितो के प्रति संवेदनशील रहकर उनका नेतृत्व करने का दावा करते हैं,

दोनों मानते और कहते रहे हैं कि वे उपनिवेशवाद के शत्रु हैं, एशिया की एकता के पक्षधर हैं, सब देशों को समान मानते हैं।

भारत सन् 1947 में स्वतन्त्र हुआ तो चीन उसके एक वर्ष बाद 1948 में। स्वतन्त्रता के बाद भारत के दो टुकड़े हो गए—भारत और पाकिस्तान, चीन भी दो खण्डों में विभक्त हो गया—कोमितांग चीन और माओत्से तुंग का साम्यवादी चीन। लम्बी गुलामी के बाद स्वतन्त्र होने पर दोनों देशों की जनता उल्लसित थी, अपने अपने देश को समृद्ध बनाने के लिए कृतसंकल्प थी।

हाँ, जहाँ भारत की नीति कभी साम्राज्य विस्तार की नहीं रही, वहाँ चीन सदा से अपने साम्राज्य की सीमाओं के विस्तार की महत्त्वाकांक्षा पालता रहा है और कदाचित इसी कारण वह केवल भारत से ही नहीं, अपने अन्य पड़ोसी देशों—जापान, रूस, कोरिया वियतनाम आदि से भी संघर्षरत रहा है।

दोनों देशों की शासन प्रणालियाँ भी भिन्न हैं। भारत प्राचीन काल से ही जनतन्त्र और गणराज्य व्यवस्था का अनुयायी रहा है अतः उसने प्रजातन्त्र अपनाया और स्वयं को गणराज्य घोषित किया। इसके विपरीत चीन ने माओ के नेतृत्व में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए संघर्ष कर प्राप्त की थी, अतः वहाँ साम्यवादी शासन पद्धति अपनायी गयी। विचार धारा और शासन प्रणाली में इस भेद के बावजूद एशिया के इन दो महान और विश्व के दो सबसे अधिक जनसंख्या वाले देशों ने आरम्भ में यह मान लिया कि दोनों के मैत्री-सम्बन्धों से ही दोनों का विकास हो सकता है तथा एशिया और विश्व में शांति रह सकती है। इसी निश्चय के अन्तर्गत नवोदित चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई भारत की राजकीय यात्रा पर आये हिन्दी चीनी, भाई भाई के जयघोष से वातावरण गूंज उठा और दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों ने पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर चलने की घोषणा की और कहा कि वे स्वयं ही नहीं एशिया के अन्य देशों को भी इन सिद्धान्तों को अपनाने और उन पर चलाने का प्रयास करेंगे ताकि संसार से शोषण, असमानता निर्धनता और संघर्ष समाप्त हो और सह अस्तित्व को मान्यता देकर विश्व के राष्ट्र शान्ति से रह सकें।

भारत तो प० जवाहरलाल नेहरू के मार्गदर्शन में पचशील के मार्ग पर चलता रहा पर महत्वाकांक्षी चीन अपनी विस्तारवादी नीति के कारण बाहर से मित्रता और भीतर-ही भीतर पीठ में छुरा भोंकने का षडयन्त्र रचता रहा। अपनी सीमाओं को बढ़ाने के सम्बन्ध में चीन की नीति प्रारंभ से ही स्पष्ट और सुसंगत रही है, उसमे कहीं भी ढुलमुलपन नहीं रहा है। 1956 में जो नक्शे चीन में प्रकाशित हुए उनमें भारत के बड़े भूभाग (अरुणाचल प्रदेश) को चीनी बताया गया। 1959 में चाऊ-एन-लाई ने प० नेहरू को लिखे पत्र में भी उसी बात का समर्थन किया। यद्यपि अनन्त काल से दोनों देशों की सीमाएं सुनिश्चित रही हैं अंग्रेजों के जमाने से 'मैकमोहन लाइन' को विभाजक रेखा माना जाता रहा है और अनेक बार जब भारत ने चीन दावों का लिखित विरोध किया तो चीन ने यह कहकर भारत को फुसलाया कि नक्शे पहली साम्राज्यवादी सरकार द्वारा बनाए गए थे, वे ठीक कर दिये जाएंगे, कभी भारतीय प्रदेश में घुस पैठ कर छोटी छोटी चौकियां स्थापित कीं और भारत ने विरोध किया तो कहा गया कि स्थानीय कमांडरों की अनभिज्ञता के कारण यह हुआ है चौकियां हटा दी जाएगी, जब चीन के छिटपुट सैनिक दस्ते भारत की सीमाओं में घुसकर सैनिक अभ्यास और हमारी चौकियो पर गोलाबारी करने लगे और भारत ने विरोध किया तो आश्वासन दिया गया कि वह स्थानीय भूल थी और आगे से सावधानी बरती जाएगी। इस प्रकार भारत के कागजी विरोधों का चीन कागजी उत्तर देता रहा, उसने भारत को भ्रम में डाले रखा और एक ओर भारत आश्वस्त हो चुपचाप बेखबर बैठा रहा और दूसरी ओर चीन अपनी सैनिक स्थिति मजबूत करता रहा। परिणाम 1962 मे सामने आया जब चीन ने 20 अक्टूबर को अपनी विशाल अधुनातन शस्त्रो से सुसज्जित सेनाओं द्वारा भारत के असावधान, पुराने अस्त्र शस्त्रो को काम लाने वाले सैनिकों पर आक्रमण किया और हजारो भारतीय वीरों को हताहत कर देश के विशाल भूभाग पर अपना अधिकार जमा लिया। बाद मे रूस द्वारा हस्तक्षेप करने पर चीन के बढ़ते कदम रुक तो गये पर अभी भी वह उस भूमि पर कब्जा किये हुए है जो उसने 1962 मे हथिया ली थी। इस दुर्घटना ने दोनो शों के सम्बन्धों को अत्यन्त कटु बना दिया, दोनो देशो के राजदूत अपने

चीन के बीच-बीच में समझ में न आ सकने वाले कार्यों के कारण यह प्रगति बहुत ही धीमी रही है। उदाहरण के लिए, 1982 में चीन के एक अखबारी वक्तव्य के कारण समस्या-समाधान की प्रक्रिया के सामने प्रश्न चिह्न लगा दिया। 19 नवम्बर से 4 दिसम्बर 1982 तक चलने वाले एशियाई खेल समारोह के समापन अवसर पर जब भारत के अन्य प्रदेशों के लोक नर्तकों के साथ अरुणाचल प्रदेश के लोकनर्तकों ने भी लोक-नृत्य में भाग लिया तो इस अखबार ने टिप्पणी की ऐसा कर भारत ने उत्तर-पूर्वी सीमांचल प्रदेश पर अपनी प्रभुसत्ता दिखाई है। भला सोचिए, जो प्रदेश भारत का अभिन्न अंग रहा है, उस पर अधिकार दिखाने का प्रयत्न कैसा ? भारत पर यह मिथ्या आरोप लगाया भी किस अवसर पर ? एशियाई खेल समारोह के अवसर पर। स्पष्ट है कि चीन के इरादे सद्भावपूर्ण नहीं थे। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। कोटनीस स्मारक उत्सव के अवसर पर भारत का जो सरकारी प्रतिनिधिमंडल चीन जाने वाला था उसकी यात्रा रद्द कर दी गयी।

श्री वाजपेयी की चीन-यात्रा के बाद भारत और चीन के नेताओं में औपचारिक बातचीत हुई है आठ बार उच्च स्तरीय प्रतिनिधिमण्डलों के बीच भी समस्याओं को सुलझाने के लिए वार्तालाप हुआ है पर कोई समाधान निकलता नजर नहीं आया। ऐसा नहीं लगता कि दोनों ने एक-दूसरे को समझने में कुछ प्रगति की है। हर बार 'ढाक के वही तीन पात' वाली कहावत चरितार्थ हुई है। 1986 87 में तो दोनों के बीच तनाव बहुत बढ़ गया था और ऐसा लगता था कि एक बार फिर हिमालय रक्तरंजित हो उठेगा। आज भी चीनी सेनाएं सुमडोरोंग चू घाटी में विद्यमान हैं जिसे भारत अपना प्रदेश बताता है।

हाँ, 1988 के आरम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में परिवर्तन आया। सोवियत नेता गोर्बाचोव के प्रयत्नों और पहल से विश्वशांति का मार्ग कुछ सुगम बना। अस्त्र-शस्त्रों की होड़ कम करने, आणविक अस्त्रों के अड्डे समाप्त करने तथा तनाव दूर करने के लिए अमरीका-रूस के बीच समझौता हुआ। उन्होंने भारत और चीन को भी सुझाव दिया कि एशिया के ये दोनों महान भी आपस में बातचीत कर, अपनी समस्याओं का समाधान खोजने का

प्रयत्न करें, तनाव दूर करें। फलस्वरूप मई 1988 में चीन ने संकेत दिया कि वह अपने पड़ोसी देशों के साथ अपने पुराने झगड़ों को दूर करने के लिए तैयार है, उनसे बातचीत करने को प्रस्तुत है। इसके उत्तर में भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने अपनी हंगरी यात्रा के समय 11 जून 1988 को बुडापेस्ट में कहा, "हम चीन के साथ मैत्री सबंध चाहते हैं। हम अपनी सीमाओं पर शांति चाहते हैं। हम सीमा-विवाद को समाप्त करने के लिए शांतिपूर्ण बातचीत करने के लिए तैयार हैं और ऐसा समझौता कर सकते हैं जो दोनों पक्षों के राष्ट्रीय हित में हो।"

श्री गोर्बाचोव जब इन्दिरा गांधी पुरस्कार ग्रहण करने भारत आये तो स्थिति ने एकदम नाटकीय मोड़ लिया। भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की चीन-यात्रा के लिए पूर्व-तैयारी की गयी और यह निश्चित हुआ कि वह 19 से 23 दिसम्बर 1988 तक चीन की पांच दिन की यात्रा करेंगे और वहां के नेताओं से मिलकर आपसी हितों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर विचार-विमर्श करेंगे।

चीन-यात्रा से पूर्व कुछ निराशावादी थे और कुछ आशावादी। आशावादियों का विचार है कि अब चीन में माओ की पीढ़ी नहीं है नई पीढ़ी के नेता साम्राज्य-विस्तार की जगह अपने देश को आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न और खुशहाल बनाने पर अधिक बल देते हैं और शान्ति चाहते हैं। इधर भारत भी यही चाहता है कि सीमाओं पर तनाव दूर हो, जो धनराशि सैनिक व्यय के नाम पर खर्च होती है उसका सदुपयोग आर्थिक विकास की योजनाओं पर किया जाय। अत चीन भारत के बीच तनाव दूर करने का जो भी अवसर मिले उसका लाभ उठाना चाहिए। उनका विचार है कि दोनों देशों की नई पीढ़ियां अतीत की कटुता को भुलाकर नए सम्बन्ध बनाने के लिए उत्सुक हैं, दोनों इक्कीसवीं शताब्दी का सुखद स्वप्न देख रहे हैं।

अस्तु भारत के प्रधानमन्त्री की चीन यात्रा सम्पन्न हुई और लगता है कि वह बातचीत से प्रसन्न होकर लौटे हैं। पंचशील के सिद्धान्त को फिर से दुहराया गया है, उसके आधार पर आपसी पड़ोसी देशों के मैत्री सम्बन्धों को पुनारम्भ और सुदृढ़ बनाने की घोषणा की गयी है। विज्ञान, तकनीक, सांस्कृतिक आदान प्रदान, नागरिक उड्डयन आदि पर समझौते भी हुए हैं जिनसे निश्चय ही दोनों देशों के निवासी परस्पर एक-दूसरे के निकट •

जाएगे। व्यापार बढ़ाने और सहयोग के नए क्षेत्र खोजने पर भी सहमति हुई है। तिब्बत को चीन का अविभाज्य अंग मान लिया गया है।

वस्तुतः असली समस्या है सीमा विवाद। 1962 तक पूर्वी क्षेत्र में मैकमोहन रेखा तक का क्षेत्र भारत के अधीन था और चीन भी उस पर भारत का आधिपत्य मानता था। अकसाई चीन के अधिकांश भाग पर चीन का अधिकार था। वस्तुतः झगड़े की जड़ है भूटान के पास का एक त्रिकोणीय भूखंड 'थाग ला रिज'। दोनों देश इस पर अपना अधिकार बताते हैं और उसे पाना चाहते हैं। अन्य दावे जैसे चीन का अरुणाचल प्रदेश को अपना कहना या भारत का पूरे अक्साई चीन क्षेत्र पर अपना दावा करना तो केवल बात को तूल देने के लिए है। अतः यदि इस क्षेत्र के सम्बन्ध मे 361 विवाद हल हो जाये तो दोनों देश मित्रता, सहयोग और शांति से रह सकते हैं।

इस समस्या के हल के लिए जो योजना बनायी गयी है वह इस प्रकार है—एक संयुक्त कार्यदल की स्थापना की जाएगी जिसमे भारतीय और चीनी सदस्य होंगे। वे मिलकर काम करेंगे। उनका पहला काम होगा सीमाओं पर शान्ति बनाये रखना और दूसरा काम होगा सीमा रेखा के निर्धारण के लिए सम्बद्ध कागजातों, दस्तावेजों और साक्ष्यों का अध्ययन कर ऐसा समाधान खोजना जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। यह कार्यदल एक निश्चित समयावधि में अपना काम पूर्ण करेगा। समयावधि दो-तीन वर्ष की हो सकती है। □

४७ भारत-पाकिस्तान सम्बन्ध

विभाजन के बाद दोनों देश पड़ोसी मित्रों की तरह रह सकते थे पर ऐसा क्यों नहीं हो पाया। हमारी समझ मे एक कारण रहा है पाकिस्तान में जनतन्त्र के स्थान पर सैनिक शासन का होना। आरम्भ में दोनों देशों ने जनतन्त्र अपनाने की घोषणा की उसी के अनुरूप संविधान बने, चुनाव हुए। पर जब शीघ्र ही पाकिस्तान के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री लियाकत अली खां की हत्या कर दी गयी तो तस्वीर बदलने लगी। इस हत्या के बाद भी कुछ समय तक संसदीय प्रणाली चली, उसके अन्तर्गत प्रधानमंत्री आते जाते रहे।

पर यह स्थिति उस दिन अचानक बदल गयी जब जनरल अयूब खाँ ने सैन्यशक्ति की सहायता से सत्ता हथिया ली। तब से नवम्बर 1988 तक यही नाटक होता रहा है, नाटक के पात्र भले ही बदलते रहे हों। जनरल अयूब के बाद जनरल सिकन्दर मिर्जा फिर जनरल याह्या खाँ और अन्त में जनरल जिया उल हक ने मुख्य भूमिका अदा की। जनरल जिया का शासन-काल सबसे लम्बा (ग्यारह वर्ष का) रहा और यदि 17 अगस्त 1988 को हवाई जहाज की दुर्घटना मे उनकी मृत्यु न होती तो पता नहीं कब तक वहाँ सैनिक शासन ही रहता। बीच में जनरल याह्या खाँ के बाद स्वर्गीय जुल्फिकार अली भुट्टो के प्रधानमन्त्री बनने पर सैनिक शासन अवश्य कुछ दिन के लिए हटा और आशा बंधी कि प्रजातन्त्र के मार्ग पर चलकर पाकिस्तान भारत से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करेगा परन्तु उन्हें उन्हीं के द्वारा नियुक्त जनरल जिया ने अपदस्थ ही नहीं किया, हत्या का झूठ मुकदमा चलाकर उन्हें फांसी के तख्ते पर लटका दिया। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यदि भुट्टो सत्ता मे रहते तो भारत-पाक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बनते ही क्योंकि भुट्टो की नीति भी भारत विरोधी ही थी, तथापि जनतन्त्र की छाया मे ये सम्बन्ध इतने न बिगड़ते जितने जिया उल हक के शासन-काल मे बिगड़े। उनके समय में 'शिमला समझौता' अवश्य हुआ पर पाकिस्तान ने वह समझौता पराजय के दबाव मे किया था, वह उस पर कितना अमल करता, कहना कठिन है। हो सकता है भुट्टो भी आज के पाकिस्तान के कुछ नेताओं की तरह कहने लगते, 'शिमला समझौता कोई स्थायी समझौता नहीं था और न उससे दोनों देशों के बीच समस्या का स्थायी समाधान निकल सका है। वह तो केवल अस्थायी शान्ति और तनाव दूर करने का साधन मात्र था।" पाकिस्तान अधिकृत काश्मीर के सरदार अब्दुल कयूम खाँ का कहना है, 'काश्मीर की समस्या शिमला समझौते के आधार पर हल नहीं हो सकती। हम उस समझौते को मानते ही नही क्योंकि हमने उस समझौते मे भाग ही नही लिया था।"

स्वतन्त्रता के बाद यदि दोनो देशों के रवये पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कारण कुछ भी रहे हों पाकिस्तान ने भारत के सद्भावपूर्ण व्यवहार की अवहेलना ही नहीं की, वह उसे तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखता

रहा है। अस्तित्व में आने के बाद से भारत ने उसे सदा मान्यता दी है, चाहा है कि दोनों सहयोग और शांति के वातावरण में रहते हुए अपना अपना आर्थिक विकास करें, अपने देशवासियों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठायें। दूसरी ओर पाकिस्तान काश्मीर के प्रश्न को लेकर भारत को शत्रु मानता रहा है और 'हँस के लिया है पाकिस्तान, लड़ कर लेंगे हिन्दुस्तान' के नारे लगाते हुए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर भारत को नीचा दिखाने का प्रयास करता रहा है।

पाकिस्तान के नेताओं में हीनता की मानसिकता काम करती रही है। यह एक मनोवैज्ञानिक रोग है। पाकिस्तान की तुलना में भारत भू क्षेत्र की दृष्टि से कहीं विशाल और साधन-सम्पन्नता की दृष्टि से कहीं अधिक समृद्ध देश है। पिछले चालीस वर्षों में उसने जितना औद्योगिक विकास किया है विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में जितनी प्रगति की है, उससे वह विश्व के कुछ ही देशों से पिछड़ा रह गया है। उधर पाकिस्तान अनेक कारणों से भारत जैसी प्रगति नहीं कर सका। उसके नगरों में भले ही समृद्धि सम्पन्नता का जीवन दिखाई दे, ग्रामीण जनता का जीवन-स्तर गरीबी और अभाव के पंक में डूबा हुआ है। फिर भी वह भारत की बराबरी करना चाहता है अपनी जनता को बताना चाहता है कि वह भारत से किसी भी प्रकार (कम से कम सैनिक शक्ति की दृष्टि से) कम नहीं है। इसी महत्त्वाकांक्षा की मरु मरीचिका में फंसा पाकिस्तान चैन से न स्वयं रह पाता है और न भारत को रहने देता है।

दोनों के बीच सबसे जटिल प्रश्न है काश्मीर का। यह दोनों जानते हैं कि जितने भू भाग पर पाकिस्तान ने अधिकार कर लिया है, वह उसे भारत को कदापि न देगा और काश्मीर जो संवैधानिक दृष्टि से भारत का अविभाज्य अंग है, भारत का ही रहेगा। दोनों यह भी जानते हैं कि सैनिक कार्यवाही द्वारा या आक्रमण कर आज किसी भी सीमा विवाद को सुलझाया नहीं जा सकता। फिर इस प्रश्न को लेकर तनाव क्यों जिससे दोनों देशों का आर्थिक विकास रुका हुआ है। एक कारण तो पाकिस्तान के शासकों का सत्ता में बने रहने का प्रयास है। अन्य देशों के समान पाकिस्तान में भी समय समय पर आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ उठती रहती हैं, जातीय, प्रान्तीय

और धार्मिक विवादों के कारण भी आन्तरिक व्यवस्था चरमराने लगती है। जनता का ध्यान आन्तरिक समस्याओं से हटाने के लिए, यह दिखाने के लिए प्रजातन्त्र से देश कमजोर होगा और देश की सुरक्षा के लिए एकमात्र सैनिक शासन ही श्रेयस्कर है, पाकिस्तान के नेता बार-बार काश्मीर का हौवा खड़ा कर देते हैं—कभी कहते हैं कि भारत पाकिस्तान पर आक्रमण करने वाला है। अतः आन्तरिक मतभेद भुलाकर शत्रु से लड़ने के लिए सत्ता का समर्थन करो और कभी स्वयं भारत की चौकियों पर छुट-पुट हमले और गोलाबारी करते रहते हैं। युद्ध का हौवा खड़ा कर वे अपने देशवासियों को शान्त रखने का प्रयत्न करते हैं। काश्मीर को लेकर भारत ने भी गलती की है। यदि पहले आक्रमण के बाद ही आगे बढ़ती हुई भारतीय सेनाएँ पाक-अधिकृत काश्मीर के भू भाग को भी विमुक्त करा लेती तो आज स्थिति ही कुछ और होती। प० नेहरू की अपनी सदाशयता के कारण अदूरदर्शिता सिद्ध हुई। काश्मीर के मामले को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गये जिससे राष्ट्र संघ की बैठकें निहित स्वार्थों वाले राष्ट्रों के लिए अखाड़ा और दांव पेंच दिखाने का मंच बन गया। संयुक्त राष्ट्र संघ में जनमत संग्रह का प्रस्ताव पारित हो गया। उसी प्रस्ताव की बार बार दुहाई देकर पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भारत को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता रहता है वह यह भूल जाता है कि जब वह प्रस्ताव पारित हुआ था तब यह भी कहा गया था कि पाकिस्तान अधिकृत काश्मीर से अपनी सेनायें हटा ले, तब जनमत होगा। पाकिस्तान ने पहली बात तो मानी नहीं, दूसरी के लिए भारत पर दबाव डालता रहता है। यह कहाँ तक न्यायसंगत है ? 40 वर्षों में स्थिति बहुत बदल गयी है और अब संयुक्त राष्ट्र द्वारा पारित प्रस्ताव रद्दी की टोकरी में पड़े कागज से अधिक महत्त्व नहीं रखता।

भारत पाकिस्तान सम्बन्धों के बिगड़ने का कारण अन्तर्राष्ट्रीय गुटबंदी और शक्ति का खेल भी है। अमेरिका रूस को नियन्त्रित रखने के लिए पाकिस्तान को एक महत्त्वपूर्ण मोहरा मानता है। उसने उसे अधुनातन अस्त्र शस्त्रों और युद्ध सामग्री से लैस कर उसके मन में दर्प और झूठे गौरव का भाव पैदा कर दिया है। वह समझता है कि इन अस्त्र शस्त्रों के प्रयोग से भारत को एक न एक दिन परास्त कर सकेगा और पिछली पराजयों का

बदला चुका सकेगा। रूस, चीन या रूस समर्पित अफगानिस्तान से लड़ने की बात तो यह सोच ही नहीं सकता।

भारत के प्रधानमन्त्री की 19 दिसम्बर से 23 दिसम्बर तक होने वाली सफल चीन यात्रा और 29 दिसम्बर को उनकी पाकिस्तान-यात्रा से लोगों को नये सिरे से आशा बधी है कि भारत पाक सम्बन्ध एक नया मोड़ लेंगे, इतिहास का एक नया पन्ना खुलेगा। दोनो देशों के काफी सनिक हताहत हो चुके हैं, दोनो युद्ध के खतरों से अवगत हैं और बेनजीर भुट्टो 'शिमला समझौते' के आधार पर भारत-पाक समस्याओं का हल खोजने की बात कह चुकी हैं। पर श्रीमती भुट्टो की शक्ति सीमित है। अभी भी उन पर एक ओर सेना के कमांडरों का और दूसरी ओर धर्मान्ध, कट्टरपंथी मुल्लाओं का दबाव पड रहा है। पाक-अधिकृत काश्मीर के नेता अब्दुल कयूम खाँ अलग टर-टर्र कर रहे हैं। बेनजीर अनुभवहीन हैं, उन्हें पूरी बात का न पता है और न पूरी ताकत का। ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की इस्लाम-यात्रा के परिणाम बहुत आशाजनक नहीं लगते। भारत को अपने दीर्घ हित मे श्रीमती भुट्टो के हाथ मजबूत करने चाहिएँ। अत ऐसे नाजुक अवसर पर दीर्घकालीन समस्याओ का हल निकल जाएगा, यह सोचना दुराशा मात्र है।

हाँ, दोनों नेता कुछ मुद्दों पर बातचीत शुरू कर सकते ह, बाद में यह बातचीत आगे बढ़े और दोनों के सम्बन्ध सामान्य हो जाएँ। ये मुद्दे हो सकते हैं—

1 दिसम्बर 1985 के मौखिक समझौते को कि एक दूसरे के आणविक प्रतिष्ठानो पर आक्रमण न किये जाय, लिखित रूप दिया जाय।

2 आणविक शक्ति का प्रयोग एक दूसरे के विरुद्ध न किया जाय।

3 रासायनिक अस्त्रो को प्रयोग भी एक दूसरे के विरुद्ध न किया जाय।

4 जिस प्रकार चीन के साथ समझौते में संयुक्त कार्यदल बनाने का प्रस्ताव है जो सीमा पर शान्ति बनाये रखने के लिए उत्तरदायी होगा और दस्तावेजो का अध्ययन कर चीन भारत की सीमाएँ तय करेगा वैसा ही संयुक्त कार्यदल भारत-पाक सीमा विवाद का समाधान खोजने के लिए

बनाया जाय। इसमे शिमला समझौता के समय प्रस्तुत दस्तावेज सहायक होगे।

5 दोनों देश सच्चे हृदय से एक दूसरे के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दें।

6 पजाब के आतकवादियो को पाकिस्तान मे प्रशिक्षण और उनकी शस्त्रास्त्रो से सहायता रोकी जाय।

7 मादक द्रव्यों की तस्करी न होने दी जाय। श्रीमती भुट्टो ने कडे शब्दो मे इन पदार्थों की तस्करी की निंदा की है और उसे रोकने के लिए कडे कदम उठाने की बात भी कही है।

8 शांति और मैत्री का समझौता किया जाय।

यदि इन मसलो पर ईमानदारी और सदभावना से बात शुरू हो और अगले दो तीन वर्षों के भीतर इन्हें कार्यान्वित किया जाय तो निश्चय ही भारत पाक सम्बन्ध सुधरेंगे, प्रजातन्त्र की विजय निश्चित होगी, लोगो का तानाशाही से विश्वास उठ जाएगा।

भय अभी भी है कि एक ओर पाकिस्तान के सेनाधिकारी श्रीमती भुट्टो को भारत के प्रधानमन्त्री से ऐसा वार्तालाप करने से रोकने की चेष्टा करेंगे। दूसरी ओर अमरीका भी कदाचित बाधा डालेगा जैसा कि एक खबर से संकेत मिलता है कि काश्मीर पर भारत विरोधी प्रदर्शन के आयोजन के पीछे पाकिस्तान के सेनाधिकारियो का हाथ है जो अमरीका और उसमे अमेरिका की अभिरुचि भी है। फिर भी दोनो युवा प्रधानमन्त्री यदि दूरदर्शिता, जन साधारण के हित, विश्व शांति और आदान-प्रदान की भावना से काम करें तो उससे न केवल भारत और पाकिस्तान के लोग जो अनेक प्रकार से जुडे हैं हर्षित होंगे, अपितु एशिया और विश्व मे भी शांति स्थापित होगी। अन्य सघर्षरत देशो का मार्ग-दर्शन होगा और दुनिया पहले से कही बेहतर हो जाएगी।

□ □

४८ भ्रष्टाचार उन्मूलन

सभी प्रकार के व्यवहारों में पवित्रता और सहज मानवीय दृष्टिकोण का अभाव भ्रष्टाचार कहलाता है। इस तरह भ्रष्टाचार जनतन्त्रीय सरकार का तो शत्रु है ही सही, मानवता का भी सबसे बड़ा शत्रु है। स्वतन्त्र भारत में भ्रष्टाचार का बोल-बाला सुरसा की तरह बढ़ता ही जा रहा है। स्थिति आज विस्फोटक बिन्दु तक पहुँच चुकी है। केन्द्र और राज्य सरकारें किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो गयी हैं। रोग गहराई तक जड़ें जमा चुका है और आम जन का जीवन सर्वाधिक पीड़ित है।

भ्रष्टाचार की जड़ क्या है? वास्तव में भ्रष्टाचार का जन्म प्रशासन एवं न्याय-पद्धति में विलम्ब के कारण होता है। लोकतन्त्र के विकास में सरकार आर्थिक जीवन के हर पहलू को स्पर्श करती है। अतएव आज भारतीय नागरिक चाहे वह किसान हो या मजदूर, उद्योगपति हो या नौकर, किसी भी जीवन क्षेत्र में हो, सरकारी अधिकारियों के सम्पर्क में आता है। सरकारी कर्मचारियों में नैतिकता के अभाव से ही भ्रष्टाचार की कहानी शुरू होती है।

प्रत्यक्षतः हम भ्रष्टाचार को दो रूपों में देखते हैं। प्रथम अनुचित तथा अनियमित रूप से आर्थिक लाभ प्राप्त कराना, जिसमें प्रत्यक्ष रूप से नकद व भेंट रूप में रिश्वत लेना व देना आता है। यह भी केवल मन्त्री ही नहीं स्थानीय कार्यकर्त्ताओं से लेकर केन्द्रीय नेता भी जन धन की लूट में शामिल हो रहे हैं। भ्रष्टाचार का दूसरा रूप वह है जिसमें समकक्ष व्यक्तियों व संस्थाओं के हितों को भुलाकर व हानि पहुँचाकर स्वयं या अपने ही व्यक्तियों व संस्थाओं को अनुचित अवसर, सहायता व स्थान दिलवाना सम्मिलित है। इसका भयावह रूप भी आज सर्वत्र देखा जा सकता है।

वास्तव में किसी अधिकारी के विरोध में पूर्वाग्रह से उसके भ्रष्ट होने के सम्बन्ध में पूर्व निर्णय करना अनुचित है। दूसरे, आज भ्रष्टाचार के तरीके तथा साधन इतने सूक्ष्म हो गये हैं कि उनकी जाँच का एक ही उपाय है। वह यह कि राज्य की सेवा में न आने से पूर्व, हर राज्य कर्मचारी को अपनी जायदाद 'चल व अचल' लिखित रूप में घोषित करनी चाहिए। जिस प्रकार से राज्य सेवा के पूर्व कई अन्य औपचारिकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं, उसी तरह

यह भी अनिवार्य होना चाहिए। शिकायत होने की अवस्था में इससे अनुचित रूप से प्राप्त आय मे सम्पत्ति का अनुमान लगाना सरल हो सकता है। राजनीतिक नेताओ, सांसदो, विधायको और मत्री जैसे उच्च पदो पर अपने वालों के सम्बन्ध मे भी यही प्रक्रिया अपनानी चाहिए।

लोकतन्त्र मे शासको के भ्रष्ट व ईमानदार होने की कसौटी जनता है। जिस मत्री या नेता मे जनता का विश्वास हिल जाता है, उस नेता का यह नैतिक कत्तव्य है कि वह अपनी अग्नि-परीक्षा जनता के समक्ष दे अथवा सावजनिक जीवन से स्वय निष्कासित हो जाए। जब तक राष्ट्र के शासक, जो राष्ट्र-जीवन के आधार हैं, अनुशासित नही होगे, तब तक करोडो लोग आदश च्युत रहेगे। कांग्रेस सत्ता की 'कामराज-योजना' या इस प्रकार की अन्य योजनाएँ, घोषणाएँ निरथक व प्रभाव रहित होगी, यदि भ्रष्ट नेता व राजनीति स्वाथ के लिए राष्ट्रीय जीवन को खोखला करते रहते हैं। भ्रष्ट सत्ता नागरिक भ्रष्ट होगे तथा उच्छ खलता फैलेगी। जिस प्रकार से सरकार निणयो मे असाधारण विलम्ब होने से न तो काय ही सिद्ध होता है और इससे विकास-काय मे सहयोग मिलता है तथा सहयोग व उत्साह कुठित होता है। उसी तरह विलम्ब से मिला दण्ड भी निरथक है। भ्रष्टाचार विरोधी अभियान के कुछ ऐसे हास्यास्पद परिणाम देखने को मिलते हैं जिनमे उनकी उपयुक्तता पर शका होती है। राजस्थान के किसी सहकारी भण्डार से ऋण देने मे हुए गोलमाल के सम्बन्ध मे भ्रष्टाचार निरोधक विभाग को सूचना दी गई। उक्त भडार की जाँच के लिए कोई दो वष बाद इस विभाग के अधिकारी आए। तब तक भडार और उन लोगो का पता ही न लगा, जिनके विरुद्ध शिकायत की गई थी। स्वतन्त्र भारत मे इस प्रकार अन्य सैकडो घोटाले भी प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

मूलभूत प्रश्न शासन मे विलम्ब को दूर करने का है। हमारे देश मे सरकारी दफ्तरो मे काम करवाने मे विलम्ब को आवश्यक तत्त्व मान लिया गया है। सवप्रथम यह आवश्यक है कि हर विभाग मे काम करने वालो के ऊपर एक काय-अधिकारी नियुक्त किया जाए जिसका काय यह होगा कि वह अपने विभाग के कार्यों को पूरा करने की समय-सारिणी बनाए तथा निरीक्षण करे कि काय उन सारिणियो के अनुसार होता है या नही। यदि काय समय पर पूरा न हो तो दोषी कमचारी को दण्ड मिले। यह दण्ड केवल जुर्माने के रूप मे ही नही बल्कि छुट्टी को कम कर देने के रूप मे भी हो सकता है। दोषी कमचारियो के लिए उसे कोई अतिरिक्त पारिश्रमिक न मिले।

कार्य-अधिकारी के काम के लिए उस विभाग का सचिव जिम्मेदार हो तथा समस्त विभाग के लिए सम्बन्धित मन्त्री या मन्त्रीगण उत्तरदायी हों। सम्बन्धित विभागों की जाँच आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त होनी चाहिए। इसके लिए एक अलग कर्मचारी नियुक्त किया जा सकता है जिसने अपने भाई, भतीजे के लिए पैसा नहीं लिया, उसने भी पार्टी के लिए तो लिया ही है। भ्रष्टता भ्रष्टता ही कही जायेगी, चाहे वह घर-परिवार के हित के लिए की जाए अथवा पार्टी के हित के लिए। इन दोनों रूपों को भ्रष्टाचार का सर्वांगीण स्वरूप नहीं माना जा सकता परन्तु व्यावहारिक अर्थ में इन दोनों में भ्रष्टाचार अपने नग्न रूप में—जिसका उन्मूलन हो सकता है द्रष्टव्य होता है। कोटा-परमिट बाँटना और चन्दे लेना आज सरकारी उच्च स्तर के भ्रष्टाचार का एक अन्य रूप है, जिसके कारण कुछ मुख्य मन्त्रियों का पतन तक हो चुका है।

भ्रष्टाचार की समस्या कोई नवीन नहीं है। यह सामाजिक तथा मनुष्य के चरित्र की समस्या है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से लगातार अब तक इसके उन्मूलन के लिए प्रयत्न जारी हैं। परन्तु इसमें दो राय नहीं होंगी कि इन समस्त प्रयत्नों के बावजूद भी यह बढ़ने से नहीं रुका है और भ्रष्टाचार का भयंकर कीड़ा बृहदकाय होता जा रहा है। भूतपूर्व केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा की दृष्टि में "भ्रष्टाचार एक बड़ा नासूर है अतः इस पर हमें चारों ओर से हमला बोलना होगा। भ्रष्टाचार दूर करने के काम में हमें लाखों अच्छे लोगों का सहयोग प्राप्त करना होता है।" पर ऐसा सहयोग प्राप्त करे कौन ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भ्रष्टाचार उच्च अधिकारियों तथा नीचे के कर्मचारियों दोनों में होता है। इसमें भी इसकी गहराई व व्याप्ति भिन्न भिन्न विभागों में भिन्न भिन्न है। यह कहना मूलतः गलत है कि पहले ऊँचे स्तर से भ्रष्टाचार नष्ट कर दिया जाए तो नीचे वर्ग में स्वतः ही समाप्त हो जायेगा। वस्तुतः स्थिति तो यह है कि दोनों वर्गों का भ्रष्टाचार सह-अस्तित्व से युक्त है। अतः भ्रष्टाचार के सह-अस्तित्व को समाप्त करना इसके समूलोच्छेदन में प्रथम प्रहार है। इसके लिए जिस पवित्र चरित्र और दृढ़ राजनीतिक इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है, आज इसका अभाव अखरने वाली सीमा तक विद्यमान है।

दूसरे इस सम्बन्ध में देश के नेताओं को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि भ्रष्टाचार नौकरशाही व लालफीताशाही के साथ नत्थी है। जब तक

शासन के कार्य-सम्पादन में दीर्घसूत्रता नहीं टूटेगी तब तक भ्रष्टाचार उन्मूलन दिवास्वप्न रहेगा और हम इसको समाप्त करने में किए गए प्रयत्नों में शक्ति व धन को नष्ट करने में करते रहेंगे जैसा कि अब तक करते आए हैं। भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए भ्रष्टाचार विरोधी पुलिस विभाग खोल देने भी उपयुक्त हैं। इस सम्बन्ध में हमारे नेताओं को पहले आत्म निरीक्षण करना चाहिए। यदि वे अपनी आत्मा की ध्वनि से अपने-आप को भ्रष्ट या अनुशासनहीन पाते हैं तो उन्हें पुन 'कामराज योजना' के अन्तर्गत गद्दी व पद त्याग देना चाहिए। राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने का एकमात्र यही उपाय है।

गत ३५ वर्षों से लगातार भूखे और नंगे रह कर जनता ने जिस धैर्य का परिचय दिया, वह धैर्य अब टूटता जा रहा है। यदि शासकों ने आज भी उपेक्षा की तो जन रोष की सुलगती हुई चिन्गारियाँ दावानल का रूप धारण कर लेंगी। यदि हमें अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि हम चारित्रिक विशेषता व ईमानदारी के अर्जन में जुट जायें। समाज में ईमानदारी के व्याप्त होते ही भ्रष्टाचार स्वत नष्ट हो जाएगा और तब हमारा देश दुगनी उन्नति कर पायेगा।

अनेक राज्य अपनी अलग भ्रष्टाचार विरोध-व्यवस्था के पक्ष में हैं। मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल आदि में इसके उन्मूलन के लिए अनेक उपाय हुए और हो रहे हैं। फिर भी अपेक्षित परिणाम सामने नहीं आ पाए। केन्द्रीय सरकार ने सुझाव दिया था कि केन्द्रीय निगरानी आयोग के नमूने के संगठन, राज्यों में भी स्थापित किए जाएँ। गृह मन्त्रालय ने राज्य सरकार को यह भी सलाह दी थी कि वे निगरानी आयोग के सदस्यों के चुनाव में बहुत सावधानी बरतें, क्योंकि ये सदस्य प्रतिष्ठित, ईमानदार और अनुभवी होने चाहिएँ। इस आयोग को पूरी आजादी होनी चाहिए। आयोगों को अपने काम की रिपोर्ट विधानमण्डलों को देने की छूट होनी चाहिए। इस प्रकार यदि प्रत्येक नागरिक ईमानदारी को लक्ष्य कर अपने कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट होगा, राजनीतिज्ञ और शासन में जुड़े व्यक्ति अपने राष्ट्रीय चरित्र एवं कर्तव्य भावना को बनाए रखेंगे तो भ्रष्टाचार के बीज भी भारत में नहीं रहेंगे।

इधर मन्त्रियों, विधान-सभाओं के सदस्यों और राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता की बहुत चर्चा की जा रही है और इस सम्बन्ध में कुछ नियम भी बनाए गए हैं। इस सम्बन्ध में लोक-सभा विधान-सभा आदि के सदन भी सहायक सिद्ध हो रहे हैं। यद्यपि इन सभाओं के सदस्य विरोधी दलों को

पछाड़ने के लिए, उन पर कीचड़ उछालने के लिए ही अधिकतर भ्रष्टाचार के मामलों को सामने लाते हैं। किन्तु इस सार्वजनिक चर्चा से लाभ तभी हो सकता है, जब भ्रष्टाचारियों के मन में ये चर्चाएँ भय का संचार कर पाने में समर्थ हों और यह सामर्थ्य कठोर, निस्पृह दण्डात्मक प्रक्रिया से ही आ सकती है।

इस प्रकार हम भले ही अपने-आपको आश्वस्त करने के लिए यह कहें कि *निकट भविष्य में इस समस्या का हल होगा, किन्तु यह भ्रम ही है।* भ्रष्टाचार की जड़ें बहुत गहरी हैं। इसके पीछे शताब्दियों का इतिहास है, मनमानी करने वाली नौकरशाही है, कभी भी पिंड न छोड़ने वाली गरीबी है, निरक्षरता के कारण उत्पन्न हुई अज्ञानता और असहाय स्थिति है, इस देश की मिट्टी का सहज भोलापन तथा सादगी है, चारों ओर व्याप्त चरित्रहीनता है, सामाजिक दायित्व तथा राष्ट्र हितों का बलिदान कर स्वार्थपरता की संकीर्ण तथा नीच प्रवृत्ति है और अत्याचार तथा शोषण को, अन्याय और मनमानी को सहन करने के लिए सदा तत्पर रहने वाली गुलामी की प्रवृत्ति है। जब तक हम इन दोषों से अपने आचार, विचार और व्यवहार को मुक्त नहीं करते तब तक भ्रष्टाचार जैसे रोग दुःसाध्य ही रहेंगे तब तक हम सच्ची आजादी के सुख से वंचित रहेंगे। आजादी का सुख-लाभ मात्र भ्रष्ट लोगों को ही प्राप्त होता रहेगा। कितनी असमयता है यह समय कहे-समझे जाने वाले मानव की?

४६ अणुबम और भारत (भारत की आणविक नीति)

आज का युग अणु-परमाणु पर विजय से भी आगे बढ़ रहा है। नई-नई चुनौतियाँ दे और उनसे जूझ रहा है। अतः जो भारत सदैव से शांतिप्रिय रहा है, आज की राजनीतिक गतिविधियों ने उसकी नीतियों के सामने अनेक प्रकार के प्रश्नचिह्न लगा दिए हैं। स्वतन्त्रता तो भारत ने सत्य और अहिंसा के मार्ग से ही प्राप्त की थी, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उसकी रक्षा के प्रसंग में हमारे सामने एक जटिल प्रश्न आ गया है। सन् १९६२ में चीन का आक्रमण हमारे लिए एक आकस्मिक और पूरी तरह चौंका देने वाली घटना थी। यों तो हमने सैन्य-शक्ति को बढ़ाने पर कभी बल नहीं दिया, फिर भी तब परिस्थितियों के तकाजे में हमें अपनी सैन्य-शक्ति को बढ़ाने की व्यवस्था करनी

ही पडी। आधुनिक शस्त्रास्त्रो के निर्माण और विदेशो से शस्त्रास्त्र खरीदने के लिए विवश होना पडा।

राष्ट्र की सुरक्षा का साधन उसकी अपनी शक्ति—अपना सैन्य-बल, अपने शस्त्रास्त्र होते हैं। यदि चीन का आक्रमण न होता और उसके बाद सन् १९६५ म एक के बाद एक दो बार पाकिस्तान के आक्रमण न होते तो शायद रक्षा-व्यवस्था पर हम जितना खच कर रहे हैं उतना खच नही करते। हम विवश होकर अपनी रक्षा के लिए भी अत्याधुनिक योजनाएँ बनानी पडी।

चीन के आक्रमण को दो वर्ष भी नही बीते थे कि उसने अक्तूबर १९६४ मे अणुबम का विस्फोट किया। भारत के लिए इसका विशेष महत्त्व था। तब तक चीन हमारा देश था और उसकी सेनाएँ हमारी सीमाओ पर अब भी खडी हुई हैं। यदि चीन के पास अणुबम है तो वह आवश्यकता पडने पर उसका प्रयोग भी कर सकता है। इतना ही नही चीन अपने सिर फिरे और अडियल दोस्त पाकिस्तान को भी अणुबम दे सकता है जबकि आज पाकिस्तान स्वय भी अणुबम बना रहा है। इस प्रकार भारत अणुबम की विभीषिका का शिकार हो जाये, इसकी सम्भावना से इकार नही किया जा सकता।

चीन और पाकिस्तान के इरादे पहले से ही स्पष्ट हैं। स्वर्गीय प्रधान मंत्री प० जवाहरलाल नेहरू एक बार जब पेकिंग गये थे और कम्युनिस्ट चीन के नेता माओत्से-तुग से मिले थे, तो माओ ने यह कहा था कि ससार मे चीन ही एकमात्र ऐसा देश है जो परमाणु युद्ध मे २०-३० करोड व्यक्तियो को मरवा सकता है। ब्रिटिश लेखक और उद्घोषक मॉलकम मगेरिज ने लिखा है कि यदि यह प्रश्न पूछा जाये कि परमाणु युद्ध होने पर क्या चीन को अधिक क्षति पहुँचेगी, तो इसका उत्तर माओ की राय मे होगा—'नहीं'। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चीन को अणुबम का कोई भय नही और पाकिस्तान के सैनिक तानाशाह अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए अणुबम आवश्यक मानते हैं।

अणु शक्ति आज की भीषणतम शक्ति है—ऐसी बात नही। परन्तु उसका महत्त्व आज के युग म निश्चय ही बहुत अधिक है। या तो ससार म अणुबम से भी अधिक घातक अस्त्र मौजूद हैं, परन्तु चीन और पाकिस्तान के द्वारा अणुबम का निर्माण कर लेने पर एक नयी स्थिति उत्पन्न हो गई है। नित नए अस्त्रो का नव निर्माण भी हो रहा है, विशेषकर भारत और दक्षिण पूर्वी एशिया के लिए। चीन का परमाणु बम बना लेने से शक्ति का सन्तुलन बिगड गया है और यदि पाकिस्तान भी बना लेता है तो भारत समेत सभी तटस्थ राष्ट्रो की स्थिति कही अधिक विषम हो जाती है।

इसका कारण यह है कि परमाणु केवल युद्ध का घातक अस्त्र ही नहा है बल्कि जैसा कि राजनीतिक घटनाचक्र से स्पष्ट विदित होता है, परमाणु अस्त्रों का शीत युद्ध जीतने अर्थात् अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने का साधन भी बनाया गया है। उदाहरण के द्वारा इस बात को हम इस प्रकार स्पष्टत समझ सकते हैं कि जब चीन ने परमाणु बम का परीक्षण किया उस समय विश्व के राष्ट्रों में चीन की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई है। सन् १९६४-६५ के काहिरा सम्मेलन इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं और १९७१ मे अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा एव समझौते से भी इसी ओर सकेत करते हैं।

चीन परमाणु बम का परीक्षण कर राजनीतिक क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण बन गया है। पाकिस्तान भी ऐसा करने बनने का प्रयत्न कर रहा है। धीरे धीरे वह अणु शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रो की बिरादरी मे और भी सशक्त बन कर उभरेंगे—इसमे सन्देह नही। ऐसी स्थिति मे कूटनीतिक दृष्टि से चीन तथा पाकिस्तान का अणुबम निर्माण भारत के हित के लिए युद्ध से भी अधिक घातक सिद्ध होगा और हो भी रहा है।

ऊपर की परिस्थितियो के सदर्भ मे भारत सरकार की नीति कुछ विचित्र सी लगती है। पहले प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट कहा था कि भारत किसी भी प्रकार अणुबम नही बनाएगा। इस बात के मूल मे ससार के सामने हमारी शान्ति की नीति है। कुछ समय पश्चात् ससद में प्रधान मन्त्री ने यह कहा कि भारत सरकार परमाणु बम बनाने के पक्ष मे नही है, परन्तु भविष्य मे क्या होगा, यह नही कहा जा सकता। फिर कांग्रेस के दुर्गापुर अधिवेशन मे यह कहा गया कि अणु शक्ति का प्रयोग हम शान्ति के लिए करेंगे और अणुबम बनाने के विषय मे चुप्पी साध ली गई। हाँ, पोखरण मे भूमिगत और शान्ति कार्यों के लिए एक परीक्षण कर भारत ने अपनी सक्रियता का परिचय अवश्य दिया।

हमारी सरकार सुरक्षा की तैयारियाँ कर रही है। यदि शस्त्रास्त्र और शक्ति का सचय व्यर्थ है तो सेनाओ पर इतना अधिक व्यय करने की आवश्यकता ही क्या है? केवल शान्ति की नीति की आड़ लेकर यह कहना कि हम शान्तिप्रिय हैं और अणुबम बनाना शोभा नही देता, कोरी नैतिकता है और इस नैतिकता से सीमाओ की रक्षा नही की जा सकती।

इसमे सन्देह नही कि शान्ति और निरस्त्रीकरण का मार्ग अच्छा है, परन्तु तभी जब सब राष्ट्रों की सुरक्षा गारटी हो और किसी राष्ट्र का यह भय न हो, कि कोई दूसरा राष्ट्र उस पर आक्रमण कर सकता है। जब हमारे

चारो ओर के राष्ट्र अणु शक्ति का संचय कर रहे हो, उस समय हमारा निरस्त्रीकरण हमारी मृत्यु का कारण बन सकता है, रक्षा का कारण नहीं। फिर न तो आज कोई किसी सुरक्षा की गारण्टी ही दे सकता है और न उस पर विश्वास ही किया जा सकता है। राजनीतिक ध्रुव हमेशा बदलते रहते हैं।

यह तो रही सरकार की बात। भारत में ही भारत सरकार के इस निर्णय की कि हम परमाणु बम नहीं बनायेंगे, गम्भीर प्रतिक्रिया हुई है। इस बात की आवश्यकता सभी विरोधी दल समझते हैं कि हमें भी चीन के समान परमाणु बम का निर्माण करना चाहिये। यह विचार वास्तविकता पर आधारित है और दूसरे राष्ट्रों के सामने अपनी शक्ति के बढ़ाने पर बल देता है।

इस प्रकार भारत के सामने यह प्रश्न अपने जटिल रूप में आता है कि हम अणुबम का निर्माण करें या नहीं। पिछले दिनों में विश्व की राजनीतिक परिस्थितियाँ तीव्र गति से परिवर्तित हुई हैं। काहिरा सम्मेलन में चीन की ओर तटस्थ राष्ट्रों का झुकाव रहा है। फ्रांस का स्पष्ट झुकाव चीन की ओर है ही। पश्चिमी राष्ट्रों की गतिविधियाँ बड़ी शीघ्रता से बदल रही हैं। हम तटस्थ नीति पर दृढ़ रहते हुए क्या अपनी रक्षा कर सकेंगे? क्या हम एशिया और अफ्रीका में विरोधी एवं विस्तारवादी शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सकेंगे? ये प्रश्न गम्भीर रूप में हमारे सामने हैं। इनका उत्तर हमारी शक्ति और सुरक्षा-क्षमता ही दे सकती है।

यदि अणुबम न बनायें तो अमरीका या रूस हमारी सुरक्षा की गारंटी दे सकते हैं? और मान लीजिए यदि हमने इन देशों से ऐसी गारंटी प्राप्त भी कर ली, तो क्या हमारी तटस्थता की नीति प्रभावित नहीं होगी? यदि हम गुटों में शामिल नहीं होना चाहते तो हमें अपनी रक्षा का प्रयास स्वयं ही करना पड़ेगा। सहायता या उधार के अस्त्रों से कोई राष्ट्र अपनी सुरक्षा नहीं कर सकता, पाकिस्तान की पराजय और विघटन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो चुकी है। यदि हम चाहते हैं कि विस्तारवादी उन्मादी का मुकाबला कर सकें तो हमें उसी रूप में शक्ति का संचय करना होगा, जिस प्रकार वे देश कर रहे हैं। यदि इसके विपरीत युद्ध के समय आश्रित अस्त्रों की सहायता के लिए हमने दूसरे देशों को अपने देश की भूमि पर सैनिक अड्डे बनाने के लिए निमन्त्रण दिया तो हमारी स्वतन्त्रता और तटस्थता की नीति का क्या होगा? इस प्रकार आज की परिस्थितियों में हम एक विषम

पर खडे हुए है, जहाँ हमे अपनी नीतियो मे निर्णयात्मक परिवर्तन करने होगे ।

जो लोग अणुबम बनाने के पक्ष मे हैं, प्राय दो बातें कहते हैं । एक तो भारत को यह प्रयत्न करना चाहिए कि विश्व के सारे राष्ट्र मिलकर निरस्त्रीकरण समझौता स्वीकार करें । दूसरी बात यह है कि हम रूस और अमेरिका आदि अणु शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रो से इस बात की गारटी लें कि यदि विस्तारवादी नियत वाले किसी राष्ट्र ने हमारे देश पर आक्रमण किया तो वे हमारी सहायता करेंगे । पर अब इस प्रकार की गारटी प्राप्त करने के दिन भी लद गए प्रतीत होते हैं ।

पहली बात के समर्थन मे प्राय इस प्रकार की बातें कही जाती हैं कि केवल अणुबम निर्माण से ही देश की सुरक्षा नही होगी । यदि हमने समस्त आर्थिक योजनाओ को त्यागकर अणुबम निर्माण कर अपनी आर्थिक शक्ति लगा दी तो हमारा सर्वनाश हो जायेगा । आज के वैज्ञानिक युग मे युद्धों को निमत्रण देना विश्व को मिटाना होगा । फिर अणुबमो का निर्माण करना, उनका निरन्तर परीक्षण करते रहना, सग्रह करना, अणु सघ का सदस्य बनना—विपुल धन के विनाश का कारण हो सकता है, रक्षा का नही । क्योकि हमको अपनी ओर से किसी देश पर आक्रमण तो करना नही है । अत हमे न तो अणुबम का स्वय ही निर्माण करना है साथ ही हमे सारे विश्वमत को प्रभावित करना है कि अणु शस्त्रो का त्याग किया जाये । सयुक्त राष्ट्र का कर्त्तव्य भी यही है कि वहा सारे सदस्य मिलकर अणुबम निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दें, जो अणुबम बनाये जा चुके हैं, उन्हे नष्ट कर दें, आदि-आदि ।

इस सम्बन्ध मे यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि बातो के बमगोलों से शत्रु पर विजय नही प्राप्त की जा सकती, न अपनी रक्षा ही की जा सकती है । अणु शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र अपनी चिरकाल से अर्जित अणु शक्ति को नष्ट कर देंगे—यह भारत मे स्वप्नवादी ही सोच सकते हैं, कोई यथार्थवादी व्यक्ति नही । फिर अणु शक्ति-सम्पन्न सगठन एक राष्ट्र की नैतिकता से प्रभावित हो जायेंगे, यह बात भी मानने योग्य नहीं है । प्रतिबन्ध लगाना अपने घर की बात नही है और समझौता पर हस्ताक्षर महत्त्वाकाक्षाओ से अधिक प्रबल नहीं होते । इसका स्पष्ट प्रमाण है—चीन द्वारा मास्को समझौते की उपेक्षा । हमारी समस्या तो चीन से, पाकिस्तान की तानाशाही और युद्धोन्मादी मानसिकता से अपनी रक्षा की है । जब चीन और पाकिस्तान या उसके हमदर्द देश ही उस समझौते को नहीं मानेंगे, तो फिर विश्व-समझौते का हमारे लिए क्या अर्थ होगा ?

दूसरी बात है अपनी सुरक्षा की गारंटी दूसरे देश से लेना। यहा फिर ध्यान मे रखना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ कभी भी बदल सकती हैं और कोई राष्ट्र इस प्रकार की गारटी दे भी दे तो उसका कोई अर्थ नही होता। इस बात की कोई गारंटी हो ही नही सकती कि रूस या अमरीका या कोई दूसरा देश आज वचन देकर दो वर्ष या दो माह बाद उसका पालन अवश्य करेगा। फिर क्या अमरीका और चीन या रूस या चीन कभी मित्र-राष्ट्र नही बन सकते? राजनीतिक परिस्थितिया कितनी शीघ्रता से बदल जाती हैं, यह पिछले दिनो की घटनाएँ बता रही हैं। क्या तटस्थ राष्ट्र चीन की शक्ति के कारण अब उसकी ओर झुके हुए नही? क्या काहिरा सम्मेलन का कोई परिणाम निकला? क्या ख्रुश्चेव का पतन पहले से बताया जा सकता था? एक राजनीतिक नेता के आश्वासनो को पूरा करना किसी दूसरे नेता के लिए अनिवार्य है? क्या जन्मजात रूप से शत्रु माने जाने वाले चीन और अमेरिका निकट नहीं आए? वास्तविकता यह है कि दूसरो पर आश्रित रहना अपनी सुरक्षा को दूसरे के हाथो मे सौंपकर अकर्मण्य बन जाना है।

बाधाएँ तो मार्ग मे आयेंगी ही, तो भी हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम जहाँ तक जितनी शीघ्र हो सके, अणु-शक्ति का विकास करें। शक्ति का विकास करके शान्ति की बात कहना अधिक प्रभावशाली होगा। भारत मे अणु शक्ति दूसरे देशो से कही अधिक मात्रा मे है और सरलतापूर्वक उसका उपयोग भी किया जा सकता है। हमारी सीमाओ की सुरक्षा इसी बात मे है कि हमारे सैनिको के पास आधुनिक अस्त्र हो। अपनी सुरक्षा का एकमात्र साधन यही है कि हम शक्ति-संचय द्वारा अपना प्रभाव बढाने की चेष्टा करें।

इधर कुछ दिनो से सरकार की नीति मे उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। कई प्रकार के नीतिगत राष्ट्रीय स्तर के परिवर्तनो ने सरकार और जनता को एक दूसरे के निकट ला दिया है। आज सरकार ने जनता के बल और आवाज को पहचाना है। यह सरकारी नीतियों मे एक महत्वपूर्ण मोड है। यदि यह सम्बन्ध बना रहा तो देश की प्रगति द्रुतवेग से होगी। जन सत्ता को बढावा मिलेगा और वह दिन दूर नहीं कहा जा सकता कि जब जनता की माग के आगे सरकार को झुकना पडे और शुद्ध राष्ट्र-हितो को ध्यान मे रखते हुए सरकार को ऐसे निर्णय करने पडें। राजनीति चक्र तेजी से चल रहा है और ऐसी स्थिति मे नीतियो मे कोई भी परिवर्तन असम्भव नहीं हुआ करता क्योंकि राष्ट्र हित सदा-सर्वदा सर्वोपरि रहा करता है रहना भी चाहिए। पोखरण का भूमिगत अणु-विस्फोट और उपग्रहो की योजनाएँ नीति-परिवर्तन के स्पष्ट, उचित संकेत कहे जा सकते हैं?

५० | कमरतोड़ महगाई : समस्या और समाधा

हाय महगाई । आम आदमी इसकी मार से कराह रहा है । परिणामस्वरू
आज घर पर, बाजार में दफ्तरों में बसो मे हर जगह महगाई चर्चा का विष
बनी हुई है । कीमतें इतनी तेजी से बढी हैं कि साधारण जनता उन्हें सह
नही कर सकती । उसकी कमर ही टूट गयी है । आज इस सम्बन्ध म स
लोग परेशान हैं । आज भारतीय जन जीवन में सवत्र एक बेचनी और चि
के लक्षण दिखाई दे रहे हैं । साधारण जनता की आय म या आय के साध
मे इतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी अधिक वृद्धि आवश्यक वस्तुओ के भावो म
गई है और रुकने का कही नाम तक नही ले रही ।

विशेष चिन्ता का कारण यह है कि आवश्यक खाद्य पदार्थों की कीमतें
नही बढ रही हैं बल्कि वे दुलभ भी होती जा रही हैं । रुपए हाथ म हैं
चीजें ही नही हैं । इसका कारण यह है कि आज व्यापारियो का वग तो अ
पास उपयोगी पदार्थों का सग्रह करता ही है, समर्थ उपभोक्ता भी स
करने से नही चूकता क्योंकि आज अनिश्चितता की भावना अत्यधिक
गई है । सबमें एक अविश्वास पनप रहा है । हर आदमी इस बात से परेश
दिखाई देता है कि जो खाद्य-पदार्थ आज उपलब्ध हैं, वह कल या पर
मिल भी सकेगा या नहीं ? और अगर मिल भी गया तो क्या इन्हीं दा
पर मिलेगा ? अविश्वास और अस्थिरता की यह स्थिति और अधिक चि
का कारण है । जो लोग अन्न का सग्रह करते हैं शायद वे नही जानते कि
दूसरो के लिए देश के लिए और अपने लिए भी कितनी कितनी समस्याओ
ताना-बाना बुन लेते हैं । यह प्रवृत्ति सर्वथा अहितकर और सघातक ही
जाएगी ।

हमें अच्छी तरह याद है जब पहली बार राजधानी में चीनी का स
आया था तो एक नेता ने अपने मुहल्ले के लोगो को इकट्ठा करके मुहल्ले वा
के हित मे कहा था कि कल के संकट का सामना करने के लिए यह अच
होगा कि मुहल्ले के हर आदमी के घर में चीनी काफी मात्रा म मौजूद
जो सिर्फ अपने उपयोग के लिए हो, व्यापार के लिए नही । हम उन महो
की नीयत मे अविश्वास नही करते, पर सोचने की बात है कि एक मुहल्ले

जमाखोरी का असर कितने मुहल्लो पर पड़ा होगा ? इससे यह होता कि पदार्थ बाजार मे कम से कम मिलने लगता है। अभावग्रस्त लोग चक्कर काटते है। परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार पनपने की पूरी गुंजाइश रहती है।

आँकड़ों के अनुसार १९६२ और १९६३ के बीच थोक कीमतो मे सात प्रतिशत वृद्धि हुई। पिछले साल से अब तक कीमतो मे दस प्रतिशत बढोतरी हुई है। और आज तो यह वृद्धि शत-प्रतिशत से भी अधिक हो गई है। सच्चाई यह है कि कीमतों मे वृद्धि इन आकड़ो से भी अधिक हुई है और बाजार मे माल न मिलने के कारण चोर बाजार मे भी लोगो को चीजें खरीदने के लिए मजबूर होना पड़ता है। आज स्थिति यह है कि हमे हर चीज के लिए ज्यादा कीमत देनी पड़ती है और उसके बदले मे सामान कम मिलता है।

हमारा ख्याल है कि मीट्रिक-बाटो और दशमलव प्रणाली के कारण भी चीजो मे वृद्धि हुई थी। इस प्रणाली के चालू होते ही यह हुआ था कि जो चीज पहले दो आने की एक छटाक आती थी, वही चीज पन्द्रह पैसे की ५० ग्राम आने लगी। स्पष्ट है, एक ओर मूल्य मे वृद्धि हुई और दूसरी ओर चीज की मात्रा कम रह गई। आज तो स्थिति और भी आगे बढ़ गई है कि वही चीज २० या २५ पैसे की ५० ग्राम आती है। सरकार द्वारा वितरित किए जाने वाले दूध की बात यदि छोड़ दी जाए तो दिल्ली मे भैंस का दूध १९६२ मे ६० पैसे किलो था जो १९६३ मे ७५-८० पैसे हो गया और १९६४ से लगातार १०-१० पैसे की बामद मासिक वृद्धि से अब उसका भाव ४ रुपये प्रति किलो हो गया है। कीमतो मे इतनी अधिक वृद्धि असह्य है और इससे हमारी जनता बहुत परेशान है।

पिछले कुछ वर्षों मे तो कीमतो मे बहुत ही अधिक वृद्धि हुई है। यह वृद्धि केवल एक वस्तु मे नही हुई है, बल्कि दैनिक उपयोग की हर चीज महगी हो गयी है। हमे अच्छी तरह याद है कि किसी जमाने मे लाइफबाय साबुन चार आने मे आता था, आज उसका मूल्य सवा डेढ़ रुपये मे भी अधिक है। इससे ऐसा महसूस हो रहा है कि आज तो दामों के बढ़ने से देश की अर्थव्यवस्था के लिए गम्भीर सकट पैदा हो गया है। वैसे तो विकासशील अर्थ-व्यवस्था मे थोड़े बहुत मूल्य बढ़ते ही हैं और एक सीमा के अन्दर विकास की गति बनाए रखने के लिए आवश्यक भी होना है, पर हाल मे इतनी अधिक कीमतें बढ़ी हैं कि वह हमारी बिगड़ती हुई अर्थ-व्यवस्था का सकेत है। पहली दो पचवर्षीय योजनाओं मे हमने कृषि विकास कार्यक्रमों पर लगभग दो हजार करोड़ रुपये खर्च किये। लेकिन अनाज का उत्पादन खास नही बढ़ पाया,

जबकि अनाज के उत्पादन के अनुसार ही देश की समस्त मूल्य-व्यवस्था बदलती है।

तीसरी योजना में खेती की पैदावार ३० प्रतिशत और उद्योगों में ७० प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य था, यानि हर साल यह वृद्धि क्रमश ६ प्रतिशत व १४ प्रतिशत होनी चाहिए थी। योजना के पहले वर्ष १९६१ ६२ में उपज केवल १ २ प्रतिशत बढी। १९६२ ६३ मे खेती की पैदावार पिछले वर्ष की अपेक्षा ३ ३ प्रतिशत गिर गयी। यह एक बुनियादी और अच्छी तरह जानी पहचानी बात है कि कीमतें तभी बढ़ती हैं जब चीजें बहुत थोडी मात्रा म हों और उनके खरीदने के लिये पैसा बहुत ज्यादा हो। पूर्वोक्त स्थिति और सिद्धात के अनुसार चौथी और पाँचवी योजना-काल मे अनाज के भाव काफी बढ गये। एक वर्ष पूर्व की तुलना मे गेहूँ के भाव ७८ प्रतिशत बढे, ज्वार और बाजरे के भाव ८६ ५ प्रतिशत बढे और मक्का के ५४ प्रतिशत बढे, तथा दालो के भाव ३४ ५ प्रतिशत और चने का भाव ४६ प्रतिशत बढा। लेकिन अब तो शत-प्रतिशत से भी अधिक बढोत्तरी हो गई है।

एक ओर चीजो की माग बढ रही है और दूसरी ओर पूर्ति के साधनों में वृद्धि नही हो पा रही है। इस तरह इन दोनो के बीच गहरी खाई है। यह खाई जन-सख्या मे तीव्र वृद्धि से और भी चौडी होती जा रही है। हर साल एक करोड जन-सख्या बढ रही है। इससे इस समस्या की गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है। हमे समस्या के समाधान के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उत्पादन बढाए, पर वह इस अनुपात से बढाएँ कि हर अगले वर्ष की नयी जन-सख्या की पूर्ति भी हो सके। जन-सख्या की अवधि वृद्धि पर नियत्रण भी बहुत आवश्यक है। अन्यथा बढा उत्पादन भी कोई अर्थ नहीं रखता।

सन् १९६२ के चीन आक्रमण, उसके बाद सन् १९६५ के भारत-पाक युद्ध, तत्पश्चात् १९७१ के भारत पाक-युद्ध और बगला-देश की समस्या के कारण महगाई बाढ के पानी तरह निरतर बढती ही गई और बढती ही जा रही है। इसके उतार के आसार कही भी दिखाई नही देते। वितरण की गलत नीतियाँ भी इसका एक प्रमुख कारण मानी जाती हैं।

देश को विभिन्न क्षेत्रो मे बाटने और अनाज लाने, ले जाने पर प्रतिबंध लगाकर भी देख लिया है। इसका भी कोई उचित परिणाम नही निकला। उलटे प्रतिबन्ध लगाने के कारण अभाव की स्थिति म और भी गम्भीरता आ गयी। क्षेत्रीय व्यवस्था के कारण मांग व पूर्ति मे असतुलन आ गया। यदि प्रतिबन्ध न होते तो अनाज अधिकता वाले इलाकों से कमी वाले इलाकों म

स्वाभाविक रूप से पहुच जाता। यह भी सच है कि भाव उन इलाको म अधिक बढे हैं जिनमे अनाज का अभाव है। उदाहरण के लिय पजाब म जिस गेहूँ का भाव ४० ४५ रुपये प्रति मन कभी था वही बम्बई और जयपुर मे ८०-९० रुपये प्रति मन बिकता रहा। अब तो य भाव उससे भी कई गुना बढ गए ह। इससे यह महसूस किया जा रहा है कि हमारी वितरण व्यवस्था दोषपूर्ण ह। इसमे सन्तुलन और पूर्णतया सुधार की आवश्यकता है।

पिछले वर्षों मे चीन और पाकिस्तानी आक्रमणो एव युद्धा के कारण प्रतिरक्षा-व्यय बढ गया है और इसमे कटौती करने के लिये कोई भी समझदार आदमी नही कह सकता। प्रश्न है, क्या विकास कार्यों म कमी की जा सकती है? इस सम्बन्ध मे योजना आयोग के भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री अशोक मेहता का कहना है कि यदि हम यातायात, बिजली, रासायनिक पदार्थों खनिजा धातुआ और मशीनो मे कमी करना चाहगे तो विकास की सम्भावनाओ का ही समाप्त कर देंगे और इससे कीमतो की विकट समस्या का समाधान भी न हो सकेगा। तो फिर समाधान क्या है?

महगाई की समस्या के समाधान के लिये आज हमे बहुत से काम करन हैं। हम अपने खर्च मे भी कुछ कटौती करनी हैं, खाद्यान्नो और उपयोगी वस्तुओ का उत्पादन तीव्रता से बढाना है, हमे किसान को महत्त्व देना है, जनता और सरकार के सहयोग से उत्पादन फार्मों को आगे बढाना है। इस सम्बन्ध में सरकार बहुत से उपयोगी कदम उठा रही है जो परस्पर सम्बद्ध हैं अन्न का और अधिक उत्पादन, जमा अन्न का पता लगाना, उचित मूल्यो की दुकानो द्वारा वितरण, थोक और फुटकर कीमतो का नियमन, राज्य खाद्यान्न निगम की स्थापना और उत्पादको के लिय उचित मूल्या की घोषणा आदि, इस सब पर कडे नियन्त्रण की सबसे बडी आवश्यकता है।

अन्त म, हम एक विचारक की बात को यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं। सरकार को सभी बातो को ध्यान म रखकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण स इस समस्या पर विचार करना है। उपभोक्ताओ किसानो और व्यापारियो के दीर्घकालीन और विस्तृत हितो की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि मूल्य-नीति निर्धारित करते समय बिल्कुल वैज्ञानिक दृष्टिकोण स काम लिया जाए। यह भी ध्यान म रखा जाये कि सब प्रकार की दिशा म वृद्धि हो सके। इसके आर्थिक आधार के बिना हम कुछ समय के लिये नयी योजना तो चला सकते हैं पर उसस व्यापार मे लाभ न होगा। हमे जनता के दीर्घकालीन हितो को ध्यान म रखना होगा, तभी गरीबी हटेगी। नहीं तो लगता है कि यदि यही

जबकि अनाज के उत्पादन के अनुसार ही देश की समस्त मूल्य-व्यवस्था बदलती है।

तीसरी योजना मे खेती की पैदावार ३० प्रतिशत और उद्योगो मे ७० प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य था, यानि हर साल यह वृद्धि क्रमश ६ प्रतिशत व १४ प्रतिशत होनी चाहिए थी। योजना के पहले वर्ष १९६१-६२ मे उपज केवल १ २ प्रतिशत बढी। १९६२ ६३ मे खेती की पैदावार पिछले वर्ष की अपेक्षा ३ ३ प्रतिशत गिर गयी। यह एक बुनियादी और अच्छी तरह जानी पहचानी बात है कि कीमतें तभी बढती हैं जब चीजें बहुत थोडी मात्रा म हो और उनके खरीदने के लिये पैसा बहुत ज्यादा हो। पूर्वोक्त स्थिति और सिद्धात के अनुसार चौथी और पाचवी योजना-काल मे अनाज के भाव काफी बढ गये। एक वर्ष पूर्व की तुलना मे गेहूँ के भाव ७८ प्रतिशत बढे, ज्वार और बाजरे के भाव ८६ ५ प्रतिशत बढे और मक्का के ५४ प्रतिशत बढे, तथा दालो के भाव ३४ ५ प्रतिशत और चने का भाव ४६ प्रतिशत बढा। लेकिन अब तो शत प्रतिशत से भी अधिक बढोत्तरी हो गई है।

एक ओर चीजो की माग बढ रही है और दूसरी ओर पूर्ति के साधनो मे वृद्धि नही हो पा रही है। इस तरह इन दोनो के बीच गहरी खाई है। यह खाई जन-सख्या मे तीव्र वृद्धि से और भी चोडी होती जा रही है। हर साल एक करोड जन-सख्या बढ रही है। इससे इस समस्या की गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है। हम समस्या के समाधान के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उत्पादन बढाए, पर वह इस अनुपात से बढाएँ कि हर अगले वर्ष की नयी जन-सख्या की पूर्ति भी हो सके। जन-सख्या की अबाध वृद्धि पर नियत्रण भी बहुत आवश्यक है। अन्यथा बढा उत्पादन भी कोई अर्थ नही रखता।

सन् १९६२ के चीन आक्रमण, उसके बाद सन १९६५ के भारत पाक युद्ध, तत्पश्चात १९७१ के भारत पाक-युद्ध और बगला-देश की समस्या के कारण महगाई बाढ के पानी तरह निरन्तर बढती ही गई और बढती ही जा रही है। इसके उतार के आसार कही भी दिखाई नही देते। वितरण की गलत नीतियाँ भी इसका एक प्रमुख कारण मानी जाती हैं।

देश को विभिन्न क्षेत्रो मे बाटने और अनाज लाने, ले जाने पर प्रतिबध लगाकर भी देख लिया है। इसका भी कोई उचित परिणाम नहीं निकला। उलटे प्रतिब ध लगाने के कारण अभाव की स्थिति मे और भी गम्भीरता आ गयी। क्षेत्रीय व्यवस्था के कारण माग व पूर्ति मे असतुलन आ गया। यदि प्रतिबन्ध न होते तो अनाज अधिकता वाले इलाको से कमी वाले इलाकों म

स्वाभाविक रूप से पहुच जाता। यह भी सच है कि भाव उन इलाको मे अधिक बढे हैं जिनमे अनाज का अभाव है। उदाहरण के लिय पजाब मे जिस गेहूँ का भाव ४० ४५ रुपये प्रति मन कभी था वही बम्बई और जयपुर मे ८०-९० रुपये प्रति मन बिकता रहा। अब तो ये भाव उससे भी कई गुना बढ गए है। इससे यह महसूस किया जा रहा है कि हमारी वितरण व्यवस्था दोषपूर्ण है। इसमे सन्तुलन और पूर्णतया सुधार की आवश्यकता है।

पिछले वर्षों मे चीन और पाकिस्तानी आक्रमणो एव युद्धो के कारण प्रति रक्षा-व्यय बढ गया है और इसमे कटौती करने के लिये कोई भी समझदार आदमी नही कह सकता। प्रश्न है, क्या विकास कार्यों म कमी की जा सकती है? इस सम्बन्ध मे योजना आयोग के भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री अशोक मेहता का कहना है कि यदि हम यातायात, बिजली, रासायनिक पदार्थों खनिजो धातुओ और मशीनो मे कमी करना चाहगे तो विकास की सम्भावनाओ को ही समाप्त कर देंगे और इससे कीमतो की विकट समस्या का समाधान भी न हो सकेगा। तो फिर समाधान क्या है?

महगाई की समस्या के समाधान के लिये आज हमे बहुत से काम करने हैं। हमे अपने खर्च मे भी कुछ कटौती करनी है, खाद्यान्न और उपयोगी वस्तुओ का उत्पादन तीव्रता से बढाना है, हमे किसान को महत्त्व देना है, जनता और सरकार के सहयोग से उत्पादन-फार्मों को आगे बढाना है। इस सम्बन्ध मे सरकार बहुत से उपयोगी कदम उठा रही है जो परस्पर सम्बद्ध है अन्न का और अधिक उत्पादन, जमा अन्न का पता लगाना, उचित मूल्यो की दुकानो द्वारा वितरण, थोक और फुटकर कीमतो का नियमन, राज्य खाद्यान्न निगम की स्थापना और उत्पादको के लिये उचित मूल्यो की घोषणा आदि, इस सब पर कडे नियत्रण की सबसे बडी आवश्यकता है।

अन्त मे, हम एक विचारक की बात को यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं। सरकार को सभी बातो को ध्यान मे रखकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण स इस समस्या पर विचार करना है। उपभोक्ताओ किसानो और व्यापारियो के दीर्घकालीन और विस्तृत हितो की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि मूल्य-नीति निर्धारित करते समय बिल्कुल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया जाए। यह भी ध्यान म रखा जाये कि सब प्रकार की जिन्सो मे वृद्धि हो सके। ठोस आर्थिक आधार के बिना हम कुछ समय के लिये नयी योजना तो चला सकते हैं पर उससे व्यापार मे लाभ न होगा। हमे जनता के दीर्घकालीन हितो का ध्यान मे रखना होगा, तभी गरीबी हटेगी। नहीं तो लगता है कि यदि यही

गति रही तो गरीब ही हट जाएँगे। अनुशासन और ईमानदारी से किए गए प्रयत्न ही महगाई की मार से जन-जीवन को छुटकारा दिला सकते हैं।

४१ | गरीबी हटाओ : भारतीय अर्थतन्त्र

सुव्यवस्थित, सुनियोजित अर्थतन्त्र ही जनतन्त्र का मूल आधार हुआ करता है। इस तथ्य के आलोक में कहा जा सकता है कि अर्थ-तन्त्र का जो ढाँचा इस देश में अब तक प्रचलित है, इसे देखते हुए आज भी निश्शंक भाव से यह कहा जा सकता है कि अभी तक इस देश की समूची पूँजी पर कुछ उंगलियों पर गिने जा सकने वाले लोगों का ही अधिकार है। मार्क्सवादी ऐतिहासिक दृष्टि विश्लेषण के अनुसार साम्राजी और सामन्ती परम्पराओं का जैसे-जैसे अन्त होता गया, वैसे-वैसे उस परम्परा के पोषकों द्वारा ही एक नई एकाधिकार की परम्परा को जन्म दिया गया। उस परम्परा का नाम है पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और सभी जानते हैं कि यह व्यवस्था केवल इस देश में ही नहीं, बल्कि विश्व के अधिकांश देशों में औद्योगीकरण की प्रवृत्तियों के माध्यम से आई और परिव्याप्त हुई है। इस पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने अर्थपतियों और सामन्तों को तो अपनी जागीरों से प्राप्त धन को उद्योगों में लगा कर पहले के समान ही अपना शिकंजा सामान्य वर्गों पर कसे रखने का रास्ता खोल ही दिया कुछ ऐसे नये वर्ग भी उत्पन्न कर दिए कि जो उपलब्ध पूँजी का बड़ा भाग खुद डकराने लगे। इस वर्ग और इस व्यवस्था को सामान्यतया दलाली या एजेंसी की व्यवस्था कहा जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि यह व्यवस्था भी मूलतः पूँजीवादियों और उनके रिश्ते-नातों के हाथ में ही है। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था और पूँजी के विनियोजन का जो चक्र चला उसका मुख्य लाभ घुमा फिरा कर चन्द लोगों को ही पहुँचने लगा। आज भी जन-तन्त्री या पूँजीवादी व्यवस्था वाले देशों में यही रीति और परम्परा विद्यमान है। इसी को अनेक प्रकार के आर्थिक वैषम्यों और समस्याओं का एक प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक विश्लेषण-दृष्टि से साम्राजी और सामन्तवादी परम्पराओं के बाद ही औद्योगीकरण के माध्यम से पूँजीवादी परम्परा एवं अर्थ व्यवस्था का उदय हुआ है, अतः यहाँ इन दोनों के सामान्य अन्तर और मूल उद्देश्यों को

भी समझ लेना चाहिए। व्यावहारिक एवं प्रगतिवादी दृष्टिकोणों से आधुनिक पूंजीवाद सामंतवाद का ही मुखौटा बदल कर आने वाला रूप है। सामंतवादी परम्परा या अर्थव्यवस्था में और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था या परम्परा में मौलिक अंतर केवल इतना ही है कि पहली व्यवस्था में सामान्य व्यक्ति का समूचा व्यक्तित्व रोटी-कपड़ा और केवल जीवित रहने के लिए बिक जाया करता था। सामान्य शोषित एवं पीड़ित व्यक्ति के शरीर और मान सम्मान पर भी सामंतों एवं सामंतशाही के पुर्जों को अधिकार रहा करता था। इसके विपरीत पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में व्यक्ति का शरीर तो नहीं बिकता, अपने मान सम्मान की रक्षा का अधिकार भी व्यक्ति को प्राप्त है अब बिकता है उसका श्रम। वह कठोर श्रम करके उसके बदले में निर्धारित पैसे प्राप्त करता है। वह श्रम करे या न करे, इसको भी उसे स्वतंत्रता है। सामंती युग के समान आज वह बेगार करने या बलात काम करने के लिए बाधित नहीं है। फिर भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्थिक दबावों और व्यवस्थाओं के चक्र के दबाव के कारण वह अपना श्रम बेचने के लिए बाध्य है। आर्थिक दबाव इस सीमा तक चल रहा है कि पहले वह स्पष्टतः सामंतों के अधीन था और आज वह परोक्षतः पूंजीपतियों के आश्रित है। व्यवस्था के स्वरूप और बाह्य परिप्रेक्ष्य में अंतर आया है, भीतरी परिस्थिति एवं दबाव ज्यों का त्यों बना है। पूंजी, जो कुछ हाथों तक ही सीमित है और वह वर्ग अधिकाधिक लाभ कमाने पर तुला है और अनवरत कमा रहा है। लगभग यही दशा उन सभी देशों की है कि जहाँ समाजवादी या साम्यवादी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ नहीं है।

भारत में जनतंत्र है और जनतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार काम धंधे की स्वतंत्रता रहती है जबकि अन्य लोगों का शोषण करने की स्वतंत्रता बुनियादी तौर पर नहीं रहती और न ही रहनी चाहिए। परन्तु यह एक अत्यधिक दुखद स्थिति है कि यहाँ के पूंजीवादी मनोवृत्तियों वाले उद्योगपतियों ने इस स्वतंत्रता का निरंतर दुरुपयोग किया है और आज भी कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो सामान्य जन, मजदूर और खेतिहर कृषक के साथ-साथ बाबू वर्ग भी अधिकाधिक गरीब होकर लाचारियों की सीमा तक पहुँच चुका है, जबकि दूसरी ओर उद्योगपति और पूंजीपति लोग अधिकाधिक अमीर होते चले गए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उत्पन्न नव धनाढ्य वर्ग इस विषमता के लिए अधिक जिम्मेदार कहा जा सकता है। वह अधिक स्वार्थी, कर-वंचक और अनैतिक है। उसे अधिकारी वर्ग का भी सहयोग प्राप्त है। तभी तो सरकार ने यदि कराधान द्वारा कुछ

सन्तुलन लाने के प्रयत्न भी किए तो भ्रष्टाचारी अधिकारी वर्ग के कारनामों के परिणामस्वरूप धन काले खातों और काले बाजार में जाने लगा। अवैध धन्धे अधिक होने लगे। महगाई का बाजार गर्म होने लगा। बाह्य रूप से समृद्ध दिखाई देने वाला भारत बहुसख्या में और आन्तरिक दृष्टियों से कितना निर्धन, बल्कि दिवालिया हो चुका है, आज इसका अनुमान लगा पाना सामान्यत अत्यधिक कठिन नहीं है। आम जन की दशा से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

भारत क्या, समूचे विश्व में इस व्यवस्था ने एक नये पूजीवादी वर्ग को जन्म दिया है। उसे मध्य पूजीवादी वर्ग कहा जा सकता है। यह वह वर्ग है कि जिसे सरकारी कुर्सियो पर बैठकर बड़े-बड़े पूजीपतियो और उद्योगपतियो से लाइसेन्स, कराधान आदि के माध्यम से पाला पडता रहता है। दूसरी ओर सामान्य जना से भी इनका सीधा सम्पर्क रहता है। सरकारी कुर्सियो पर बैठा यह वर्ग—सामान्य क्लर्क से लेकर मत्री तक पूजीपतियो को चोर दरवाजो से अधिकाधिक सुविधाएँ दिलाने के नाम पर उनसे रिश्वत के रूप मे धन बटोरता है। यह उन्ह सामान्य लोगो से भी रिश्वत लिए बिना उनके सामान्य काय तक करने की प्रेरणा नही देती। परिणामस्वरूप वहाँ भी रिश्वत का बाजार गर्म है। सीधे जन-सम्पर्क मे आने वाले दफ्तरो के चपरासी भी इसी कारण सामान्य जनो से अधिक सुखी तथा समृद्ध हैं। वहाँ के बाबू लोगो और अफसरो के तो ठाठ ही निराले है। बिना रिश्वत लिए किसी का काम करने की उनके पास फुसत ही नही है। इस प्रकार इनके रूप म एक नया पूजीपति वर्ग भारत मे पैदा हो गया है। तभी तो जन-सम्पर्क में आने वाला कोई सामान्य अधिकारी भी कभी कानूनी शिकजे मे आ जाता है तो उसके पास लाखो की नकद सम्पत्ति तो मिलती ही है, अचल सम्पत्ति और विलासिता के साधनो की कमी भी नही रहती। जिस व्यवस्था मे पुलिस के एक सब इन्सपैक्टर या असिस्टैण्ट सब इन्सपैक्टर के घर से चार बोरिया काजू और सकडो की तादाद मे देशी विदेशी कपडे तथा अन्य वस्तुएँ बरामद हो सकती है उसके कई मकान, लाखो रुपये उसके घर से बरामद किए जा सकते हैं वहा यदि सामान्य जना मे गरीबी का विस्तार न हो होगा तो और क्या होगा? इस प्रकार स्पष्ट है कि आज सारी व्यवस्था ही कुछ इस प्रकार से अव्यवस्थित एव रिश्वत, भ्रष्टाचार आदि मे व्यस्त है कि जो मुख्यत गरीबी के लिए दोषी है। इसके साथ साथ कमाने की धुन मे कृत्रिम अभावो की स्थितियाँ उत्पन्न करके व्यापारी वर्ग जनता का खून निचोडता रहता है। सरकार सब कुछ देखते-सुनते हुए भी जनतन्त्री-व्यवस्था के नाम पर या तो

मूक दर्शक मात्र बन कर खड़ी रह जाती है, या फिर कुछ हाथ-पाँव हिलाती भी है तो कानूनी खामियों के कारण कुछ नहीं कर पाती। भ्रष्टाचारी और लुटेरे वर्ग कानूनी खामियों भ्रष्ट राजनीतिक दबावों और पैसे के बल पर भ्रष्टाचार का बाजार गर्म करके साफ बच जाते हैं। फिर गरीबी क्यों न बढ़े, गरीबों की सुनने वाला भी तो कोई नहीं।

गरीबी बढ़ने के कुछ और कारण भी हैं। विश्व-पूँजी-बाजार में निरंतर खींचा-तानी और तनाव, युद्ध और अशांति के सौदागरों द्वारा कहीं-न-कहीं युद्ध की सी स्थिति बनाए रखना, आर्थिक-समृद्धि में मे दूसरों से आगे बढ़ जाने की दौड़ मे पूँजी का अपव्यय, प्राकृतिक जीवन से दूरी और विलासिता अपने आप को दूसरों से उन्नत, सभ्य, सुसंस्कृत, श्रेष्ठ बताने और प्रमाणित करने की ईर्ष्या, दूसरों के अधिकार हड़पने की भावना, वैचारिक या सैद्धांतिक क्रांतियाँ थोपने के प्रयत्न आदि बातों में मानवता की भावना एक खिलवाड़ बनकर रह गई है। जिसका परिणाम यह हुआ कि जो देश कभी सभी प्रकार से और सार्वजनिक रूप से समृद्ध माने जाते थे, आज वहाँ की जनता भी गरीबी, लाचारी और भुखमरी का शिकार हो रही है। चारों ओर आतंक एवं अविश्वास का जोर है। समृद्धि के लिए व्यय किए जाने वाला धन दूसरों को नीचा दिखाने के कार्यों मे खर्च किया जा रहा है। इस प्रकार आज केवल भारत ही नहीं, समूचे विश्व मे गरीबी के विरुद्ध संघर्ष करने और 'गरीबी हटाओ' का नारा प्रभावशाली ढंग से लगाने और क्रियान्वित किए जाने की आवश्यकता है। नारे लगाए जा रहे हैं, प्रस्ताव पास किए जाते हैं, पर परिणाम ?—वही ढाक के तीन पात।

भारत तो सदियों से सामान्यतः एक गरीब देश माना जाता है। गुप्त-काल की सोने की चिड़िया पता नहीं उड़कर कहाँ चली गई है और अतीत की दूध की नदियाँ भी आज मरुस्थल मे परिवर्तित हो चुकी है। पराधीनता और प्राकृतिक प्रकोपों ने तो देश को गरीब बनाया ही, अनतिकता ने भी इस दिशा मे कम योगदान नहीं किया। व्यवस्था और अर्थ चक्र की जिन बातों की ऊपर चर्चा की गई है, वे भी यहाँ की गरीबी के कारण हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक कारण हैं कि जिनके परिणामस्वरूप भारत की प्रगति का रथ-चक्र निरंतर गरीबी की ओर ही अग्रसर हो रहा है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व तक हमारा अपना कुछ वश नहीं था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह आशा बंधने लगी थी कि अब प्रत्येक घर-द्वार तक बासंती सुषमा और मलयज का फेरा हो सकेगा। स्वतंत्रता का सूर्य प्रत्येक घर आंगन मे सुख-समृद्धि का प्रकाश फैला आएगा। पर ऐसा अभी तक कुछ भी नहीं हो सका। यह बात नहीं कि

यहा ये राजनेताओ का ध्यान इस ओर नही गया हो, अवश्य गया है। यहाँ जिस योजना-आयोग की स्थापना की गई थी और जिसका अस्तित्व आज भी विद्यमान है उसका मूल उद्देश्य ऐसा आयोजन करना ही था कि गरीबी दूर हो सके, सभी के लिए आकाश मुक्त हो सके, सभी के यहा स्वतन्त्रता की सुख-समृद्धिया का आलोक पहुँच सके। इस उद्देश्य के लिए अभी तक पाच योजनाएँ पूर्ण की जा चुकी हैं। छठी योजना पर कार्य हो रहा है। बडे-बडे बाध और प्रोजेक्ट बने हैं। कल-कारखाना की स्थापना हुई है। औद्योगीकरण और उसका व्यापक विस्तार हुआ है। चारो ओर व्यापक प्रयत्न हुए हैं। परन्तु परिणाम क्या निकला है? बाधो और डैमो मे दरार—और वही भ्रष्टाचार। योजनाओ के नाम पर खर्च किया गया अधिकाश धन उन्ही परम्परागत पूँजीपतियो की जेबो मे भर गया है। गरीबी कही अधिक बढ गई है। कहा जाता है कि प्रगतिशील अर्थ तन्त्र तथा अन्य स्थितियो वाले देश के निर्माण काल मे महगाई बढती ही है लेकिन वास्तव मे यदि ऐसा होता, तब तो कोई बात नही थी। यहाँ महगाई नही गरीबी बढी है। महगाई ने गरीबी को और भी उजागर कर दिया है। इसका मुख्य कारण यही है कि योजनाओ एव आयोजनो का लाभ सिद्धान्तत और मूलत जिन्हे पहुँचना चाहिए था, उन्हे वह एक प्रतिशत का हजारवाँ भाग भी नही पहुँच सका। सभी कुछ व्यवस्था यन्त्र पर बढे लोग ही हडप गये हैं। वह और अमीर हो गए हैं और गरीब निरन्तर कुचला जा रहा है।

यह तो हुई सरकारी प्रयत्नो के परिणामो की बात। हमारे देश की छिछली राजनीति और उसके कर्णधार राजनेता भी इसके लिए कम दोषी नही हैं। वास्तविकता तो यह है कि आज राजनीति भी धन बटोरने का एक साधन मात्र बनकर रह गई है। इसी कारण तो आज देश के किसी भी राजनीतिक दल का उद्देश्य जन सामान्य की समस्याओ से लडकर गरीबी, महगाई और भ्रष्टाचार को हराना नही है, बल्कि कुर्सी की सत्ता प्राप्त करना है। सभी राजनेता यही सोचते हैं कि कुर्सी हाथ मे आ जायगी तो सारी समस्याओ का हल कर लेंगे। यह सत्य समझने को कोई भी तैयार नही कि जब तक वे लोग जनता की गरीबी जमी समस्याओ से जूझाने का सक्रिय प्रयत्न करके उसे अपने साथ नही लेंगे, तब तक वे कुर्सी तक कभी नही पहुँच पाएँगे। परिणाम-स्वरूप आज देश के नेताओ की राजनीति मे गत्यावरोध ही नही, बल्कि जडता भी आ गई है और जनता गरीबी मे पिस कर मरोण बन जाना चाहती है। आज के विविध राजनीतिक दलो के राजनेता यदि कही कुछ दृश्य मे आते भी हैं, किसी को सरक्षण देने का प्रयत्न भी करते हैं तो केवल

भ्रष्टाचारियो, काले बाजारियों और जनता को लूटने वालो को ही । परिणामस्वरूप, गरीबी हटने के स्थान पर और भी बढ़ती जा रही है। हाँ, लुटेरे और भूखे नेताओ ने घर अवश्य भर रहे हैं।

अविभाजित कांग्रेस और उसकी सरकार ने गरीबी हटाने की कई योजनाए बनाई, किन्तु अपने निहित स्वार्थों, वैधानिक खामियो के कारण वह कुछ न कर सकी। जो कुछ करना चाहते थे, उन्हे परम्परावादी नेता आगे नही बढने देना चाहते थे। परिणामस्वरूप आत्मा की आवाज और राष्ट्रपति के चुनाव के नाम पर उसका विघटन हो गया, विभाजन हो गया। सिण्डीकेट और इण्डिकेट मे से इण्डिकेट को विजय प्राप्त हुई। परन्तु विधान सभा मे उसे इतना भी बहुमत प्राप्त नही था कि वह अपनी गरीबी हटाने की योजना के अनुरूप कोई विधान पास कर सकती। उसने बैंको का राष्ट्रीयकरण गरीबी हटाने के उद्देश्य से करने का प्रयत्न किया, अपने अल्पमत और कानूनी खामियो के कारण उसे राज्य सभा और उच्चतम न्यायालय मे पराजित होना पडा। इसी प्रकार राजाओ को प्रिवी-पर्स देने न देने के मामले मे भी सरकार को पराजित होना पडा। परिणामस्वरूप प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी राष्ट्रपति से विधान सभा भग करने की सिफारिश करके नये चुनाव कराने की घोषणा कर दी। यो तो 'गरीबी' हटाने का नारा पहले से ही लगाया जा रहा था, पर इन चुनावो के चक्र मे ही, वास्तव मे यह नारा सामान्य जनता के सामने इस रूप मे उभर कर आया—"वे कहते हैं इन्दिरा सरकार को हटाओ, इन्दिरा कहती है गरीबी हटाओ।" इस नारे मे इतना आकर्षण था कि इन्दिरा एव उनके दल को भारी बहुमत से विजय हुई। इस विजय ने 'गरीबी हटाओ' के नारे को और भी अधिक उजागर कर लोकप्रिय बना दिया। इतना ही नही, क्योंकि अभी तक जनता के सामने इस नारे की क्रियात्मकता का कोई प्रत्यक्ष फल नही आ सका, अत आज कुछ प्रतिक्रियावादी विरोधी दल इस नारे की आड मे इन्दिरा-सरकार को बदनाम करने की चेष्टा भी कर रहे हैं। खैर, यह कोई बडी बात नही। क्योंकि राजनीति मे विशेषत निष्क्रिय एव कोई ठोस कार्यक्रमो को न रखने वाले राजनीतिक दलो के द्वारा जनता मे मति भ्रम पैदा करने के लिए ऐसा किया ही जाता है परन्तु सवाल यह है कि 'गरीबी हटाओ' के नारे को उपरोक्त स्थितियो वाले अर्थ चक्र और व्यवस्था-दोष मे चरितार्थ कैसे किया जा सकता है ? क्या वह आकर्षक नारो की आड मे सत्ता की कुर्सियों से चिपके रहने से ही चरितार्थ हो सकता है ? नही, कदापि नही वास्तव मे हमारी सरकार या अन्य कोई भी राजनीतिक दल इस नारे को चरितार्थ करने के प्रश्न का उत्तर जिस दिन खोज लेगा, उसी दिन

अर्थतन्त्र में व्यवस्था आ सकेगी और फिर गरीबी भी दूर हो जाएगी। अत आज मुख्य समस्या इस नारे को सक्रिय रूप से चरितार्थ करने के ईमानदार प्रयत्न की ही है। 'बीस सूत्री' कार्यक्रम की योजना भी इसी मुद्दे के लिए बनाई गई। परन्तु परिणाम ?—एक मोटा प्रश्नवाचक चिह्न ?

हमारे विचार मे आज जो विषम स्थितियाँ बनी हुई हैं, उसका कारण जनतन्त्री व्यवस्था की बुनियादी खामियाँ ही हैं। क्योंकि जनतन्त्री व्यवस्था की व्याख्या हमेशा मनमाने ढग से कर ली जाती है। उसकी बुनियादी भावना को समझने का प्रयत्न कभी भी नही किया जाता। इससे भी बडा और मुख्य तथ्य यह है कि अनेक खामियों वाली यह व्यवस्था बुनियादी तौर पर गलत है। इस व्यवस्था से किसी भी युग मे न तो सामान्य जन का कभी भला हुआ है, न गरीबी हटी है और न ही इसके रहते यह सब सम्भव ही हो सकता है। अत मूल आवश्यकता समूचे व्यवस्था चक्र को परिवर्तित करने की है। उस पर कडा कठोर अनुशासन एव नियन्त्रण लगाने की है। यह कठोर अनुशासन ही सत्ता और अपने भूखे भ्रष्टाचारियो के दिमाग को सीधा कर सकता है और तभी गरीबी हटकर जनता को कुछ राहत भी मिल सकती है। अत आज का नारा वास्तव मे व्यवस्था-परिवर्तन का नारा ही होना चाहिए। हमारी वर्तमान सरकार इस दिशा मे कुछ प्रयत्न तो कर रही है पर टटपूँजिये और कार्यक्रम हीन राजनीतिक दल उसे पूर्ण नही होने देना चाहते। देखना यह है कि सरकार अपनी नीतियो को दृढता से लागू करके कहाँ तक अपने कार्यक्रमो को कार्यान्वित कर सकती है। यदि सरकार ने अपनी नीतियो एव कार्यक्रमो को दृढता के साथ चरितार्थ कर लिया तो निश्चय ही भारत के गरीबों का तो भला होगा ही, समस्त ससार के सर्वहारा वर्ग को भी एक नया वाद और रास्ता मिल जायेगा। समय ही बताएगा कि यह वाद और रास्ता कब मिल पाता है ?

---

५२ | राष्ट्रीय एकता दिवस

एकता राष्ट्रीयता की प्रमुख शर्त है और उसके उदात्त लक्ष्यों को आधार भी सफलता की कुंजी भी। भारतवर्ष एक गणराज्य है। इसमें अनेक राज्य सम्मिलित हैं। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका एक संघ है, उसी प्रकार भारत भी। भारत के इन राज्यों की भाषा, धर्म, जाति आदि की दृष्टियों से अपनी विशेषताएँ हैं। यहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी बौद्ध, जैन आदि विविध मतावलम्बी मिलकर समानान्तर और साथ-साथ रहते हैं।

भाषा की दृष्टि से जितनी विभिन्नता भारत में है, प्रायः और देशों में नहीं मिलती। सतरह भाषाएँ तो हमारे संविधान द्वारा स्वीकृत हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सी ग्रामीण बोलियाँ भी हैं, जिनकी संख्या चार सौ के लगभग तो होगी ही। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पश्चिम में सिन्धु से लेकर दक्षिण में गंगा की खाड़ी तक विस्तृत इस देश की विभिन्नताएँ भौगोलिक और प्राकृतिक दृष्टियों से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। फिर भी सारे देश की एक ऐसी व्यापक संस्कृति है जो युगों-युगों से सारे भारत को एक सूत्र में बाँधे हुए है। यही राष्ट्रीय एकता है। अनेक विभिन्नताओं वाले भारत राष्ट्र में एकता की—भावात्मक एकता की कितनी आवश्यकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

दार्शनिक और सांस्कृतिक स्तर पर समन्वय साधना में निरत भारत की विभिन्नता में एकता एक प्रमुख विशेषता रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात राजस्थान और मद्रास, मैसूर, केरल तथा आंध्र आदि विभिन्न प्रान्त मिलकर एक राष्ट्र बने। यह एकता तो युगों की थी परन्तु राजनीति और शासन की दृष्टि से काफ़ी समय के पश्चात भारत एक राष्ट्र बना। विभिन्न प्रान्तों में भावात्मक एकता की आवश्यकता इसलिए थी कि विभिन्न प्रान्तों के लोग भाषा और प्रान्तीयता के संकुचित दायरों में न फँसकर एक राष्ट्र के प्रति भावात्मक एकत्व का अनुभव कर ताकि स्वतन्त्र भारत में कोई दरार न आ सके।

अभी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पन्द्रह वर्ष ही व्यतीत हुए थे कि २० अक्टूबर १९६२ को हमारे साथ ही स्वतन्त्र होने वाले पड़ोसी चीन ने हमारी

सीमाओं पर आक्रमण कर दिया। यह एक बड़ा धोखा था जो पचशील के मित्रो मे से एक ने दूसरे को दिया था। 'हिन्दी चीनी भाई भाई' का नारा व्यथ प्रमाणित हुआ। उस समय जिस भावात्मक एकता की बात हम करते चले आ रहे थे वह स्वयमेव जागृत हो गई। २० अक्तूबर १६६२ का दिन हमारे इतिहास की क्रान्तिकारी घटना है। तब से यह दिन राष्ट्रीय एकता दिवस के रूप मे सम्पन्न होता है। इस दिन हम प्रतिज्ञा करते हैं कि हम तन-मन धन से भारत की एकता के प्रति, भारतीय राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी होंगे, अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये सदैव अपना सवस्व समर्पित करने को प्रस्तुत रहेगे और कोई ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे हमारे राष्ट्र की एकता मे किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न हो। हम राष्ट्र के प्रति सच्चे और ईमानदार रहेंगे। हम किसी प्रकार से, किसी सकुचित भावना मे फसकर अपने राष्ट्र का अहित नही करेंगे। हम कभी प्रान्तवाद या भाषावाद या धम या राजनीतिक दलो के दायरो के आधार पर राष्ट्र के विघटनकारी तत्त्वो को बढावा नही देंगे—किसी दूसरे व्यक्ति को वैसा करने भी नही देंगे और सब मिलकर राष्ट्र की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहेंगे।

धमवाद और जातिवाद के बन्धनो को छोडकर उनमे भावात्मक एकता की भावना उत्पन्न करना हम सब का पवित्र कत्तव्य है। हिन्दू, मुसलमान—ईसाई और पारसी आदि विभिन्न धर्म हमारे देश मे हैं। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, परन्तु इसका यह अर्थ नही लिया जाना चाहिये कि पाकिस्तान-समथक मुसलमानो, राष्ट्र के विघटन उत्पन्न करने वाली ईसाई मिशनरियो या फिर क्रान्ति का आयात करने के इच्छुक साम्यवादियो और अलगाववादी उग्रपथी नागाओ, अकालियो आदि को स्वतन्त्रतापूर्वक जो कुछ भी करने दिया जाये। हमारा कत्तव्य यह है कि हम मुसलमान हैं हिन्दू या ईसाई हैं इन विभेदो को भूलकर राष्ट्र के हित के लिए काय करें। इस प्रकार के तत्त्वो को बढावा नही मिलना चाहिये जो धम के नाम पर देश में परस्पर भेद भाव उत्पन्न करें। आज जब हमारी सीमाओ पर और भीतर भी अनेक प्रकार के अराजक तत्त्वो का खतरा निरन्तर बना हुआ है देश के सभी नागरिको का कत्तव्य है कि वे उनकी चालों से बचे रहकर देश के प्रति निष्ठावान रहे। किसी को भी कोई ऐसी बात नहीं करनी है कि जिससे धार्मिक वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न हो अराजक और अतिवादी तत्त्वो को बढावा मिले।

विभिन्न राजनीतिक दलो को राजनीतिक स्वार्थ छोडकर राष्ट्रहित को सर्वोपरि समझना चाहिये। इस सम्बन्ध में वामपक्षी कम्युनिस्टों का उल्लेख

करना अप्रासंगिक न होगा। यदि कोई राजनीतिक दल प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चीन या पाकिस्तान की राजनीतिक गतिविधियों का समर्थन करता है, अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठावान और ईमानदार न रहकर दूसरे राष्ट्रों की हानि-लाभ की चिन्ता करता है, तो वह राष्ट्रीय एकता के लिए अहितकर है। राजनीतिक दलों को भारत की अखण्डता की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस प्रकार की भावना का जनता में विकास करना चाहिए कि वह भी अपने स्वार्थों के लिए न लड़कर राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखें।

भाषा, धर्म और राजनीति के क्षेत्र में भावात्मक एकता स्थापित करना हमारा सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है। राष्ट्रीय एकता दिवस हमसे यह प्रतिज्ञा कराता है कि हम भाषा, धर्म, सम्प्रदाय या जाति और राजनीतिक दलों के नाम पर कोई भी इस प्रकार की घटना नहीं होने देंगे, जो हमारे देश की स्वतन्त्रता को खतरे में डाल दे। ईसाई धर्म से हमारा कोई विरोध नहीं, परन्तु उसकी आड़ में कोई ऐसा कार्य नहीं होना चाहिए जो देशवासियों को भारत के बजाय किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति वफादार बनाये। इस प्रकार जातिवाद के नाम पर देश की एकता को चुनौती देना ठीक नहीं है। इन सब में एक समरसता रहे, यही बात राष्ट्र के हित में है।

राष्ट्रीय एकता का एक पक्ष है—हमारी आन्तरिक एकता का समन्वयात्मक रूप। सारा भारत मिलकर एक है, उसकी एक अखण्ड प्रभुसत्ता है और कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थ भावना के वशीभूत होकर देश की अखण्डता को चुनौती नहीं दे सकता। इस दृष्टि से राष्ट्र का अहित करने वाले किसी भी तत्त्व को कोई छूट नहीं दी जा सकती। ऐसे तत्त्वों को सख्ती से कुचल देने में ही श्रेय और प्रेय हैं।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाले खतरों से भी हम सावधान रहना है। ये खतरे हैं तोड़-फोड़ करने वाले। आजकल के तत्त्व हैं—नक्सलवादी कम्युनिस्ट, पाकिस्तान-समर्थक मुसलमान, राजनीतिक दलबन्दी प्रान्तीयता और संकीर्ण धार्मिक या प्रान्तीय हितों को प्रश्रय देने वाले उग्रतावादी क्षेत्रीय दल। हम भारत में रहकर बाह्य तत्त्वों का समर्थन करें यह किस स्वीकार्य होगा। हमारी आन्तरिक सुरक्षा के लिए यह परम आवश्यक है कि इस देश में रहने वाले ऐसे देशद्रोही तत्त्वों पर कड़ा प्रतिबन्ध रहे। लोगों का विचार है कि वामपंथी और दक्षिणपंथी का विभेद केवल दूसरों को धोखे में डालने के लिए है। वास्तव में हम दोनों प्रकार के अराजक तत्त्वों से सावधान रहें। राष्ट्रीय एकता दिवस हमें चीन के उस आक्रमण का स्मरण दिलाता है

हमारे ही देश के कुछ कम्युनिस्ट देशद्रोहियो का कम हाथ नही था। चीन के हाथ एजेंट के रूप मे ये कम्युनिस्ट चीन की नीतियो का प्रचार करते और चीन को सहायता पहुँचाते रहे हैं और आज भी पहुँचा रहे हैं। ऐसे तत्व निश्चय ही घातक हैं।

पाकिस्तान-समर्थक तत्वों को भी बढ़ावा नहीं मिलना चाहिये, अपितु उन्हें बडी कठोरता से दबाया जाना चाहिये। कभी-कभी हमारे देश मे हिन्दू-मुसलमान संघर्ष की जो आग भडक उठती है या कहीं-कहीं पाकिस्तान के एजेंट मुसलमानों के पास ट्रांसमीटर पकडे गए हैं, उन पर कडी निगरानी रखी जानी चाहिए। राष्ट्रीय एकता दिवस हमे केवल चीन के प्रति ही नहीं, पाकिस्तान के प्रति भी सावधान रहने का स्मरण दिलाता है। इधर वर्षों से पाकिस्तान की भारतीय क्षेत्र मे घुसपैठ की कार्यवाहियो और अनेक बार के आक्रमण इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। अन्य द्रोही तत्वो से सावधान रहना भी आवश्यक है।

राजनीतिक दलबन्दी का खतरा दो रूपो मे है। एक, देश की अखण्डता को चुनौती देने वाले कुछ विशेष राजनीतिक व्यक्तियो द्वारा, जैसे द्रविड मुनेत्र कषगम और खालिस्तान का नारा लगाने वाले उग्र तत्वो की विघटनकारी क्रियाएँ। वे देश से अपनी पृथक् सत्ता की बात कहते हैं और कई बार पृथक् हो जाने की धमकियाँ भी देते रहते हैं। यह बात भावात्मक एकता की दृष्टियों से अत्यधिक घातक है।

देश के कर्णधारो ने यद्यपि पृथक् रूप से नागालैंड तथा कुछ अन्य मेघालय जैसे पहाडी राज्यो की स्थापना कर दी है और आज नागाओ का भी अपना राज्य है, अपनी विधान-सभा है किन्तु कुछ द्रोही नागाओ ने अभी भी अपनी तोड फोड की कार्यवाहियाँ बन्द नहीं की हैं। विगत दिनो नागालैंड के प्रधान मन्त्री और समय-समय पर सैनिको पर होते रहने वाले घातक आक्रमण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। सीमाओ से चीन और पाकिस्तान भी निरन्तर उन्हें भडका रहे हैं, ये लोग भी भ्रम में पड कर राष्ट्र विरोधी कार्य कर रहे हैं जो किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं कहे जा सकते। नागाओ या इस प्रकार के अन्य विघटनकारी तत्वो की ये गतिविधियाँ राष्ट्र एकता में बाधक हो रही हैं। सरकार को स्थिति को काबू करने के लिए हमेशा विशेष सावधान रहना चाहिए।

दूसरी ओर शासक वर्ग मे ही राजनीतिक संघर्ष का जो रूप कभी-कभी दिखाई देता है, क्या यह राष्ट्रीय एकता के लिए घातक नहीं है? जब हमारे

राष्ट्रीय एकता दिवस

देश की सीमाओ पर चीन और पाकिस्तान की सेनाएँ खडी हो स... किसी प्रदेश मे शासक-दल का पारस्परिक सघर्ष क्या राष्ट्रीय एकता के हित ... कम घातक प्रमाणित हो सकता है ? इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ निश्चय ही विघटनकारी तत्त्वो मे गिनी जानी चाहियें।

प्रान्तीयता की भावना आज के लिए एक बडा खतरा है। उत्तर प्रदेश और राजस्थान, मद्रास और बगाल अलग-अलग प्रात अवश्य हैं, परन्तु वे मिलकर भारत राष्ट्र का अग हैं—यही भावना सर्वोपरि होनी चाहिए। दूसरी ओर काश्मीर प्रात अब भी अनिश्चय की स्थिति मे पडा है। इसमे कोई सन्देह नही कि कश्मीर भारत सघ का अविभाज्य अग है, परन्तु यह भी तो आवश्यक है कि स्थिति दूसरे प्रात के समान हो, ताकि वहाँ के लोगो मे एक राष्ट्रीय भावना का विकास हो। जम्मू-कश्मीर के—जम्मू-श्रीनगर आकाशवाणी केन्द्र अपने को स्पष्टत 'यह आकाशवाणी' का श्रीनगर केन्द्र है, कहे यह भी अपेक्षित है। पजाब मे भी विघटनकारी तत्त्व विशेष सक्रिय हो उठे हैं। इस प्रकार पजाब, नागालैड हो या मद्रास या उत्तर प्रदेश—किसी को किसी भी रूप मे अखण्डता को क्षति पहुँचाने वाले कार्य करने नही दिया जा सकते।

राष्ट्रीय एकता दिवस हमे अपने कर्तव्य का उद्बोधन कराता है। इस हम जो प्रतिज्ञाएँ दोहराते हैं, वे हमारे क्रियाकलापो द्वारा अनुदिन होनी चाहिए। केवल वाणी मे ही नही, भारत का प्रत्येक व्यक्ति मन और कर्म से राष्ट्र की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहे, यह नितात आवश्यक है। इसके साथ ही अपने राष्ट्र के प्रति पूरी तरह से ईमानदार तभी माने जा सकते हैं, जब हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ईमानदार हो। आज कौन व्यक्ति यह स्वीकार नही करेगा कि हमारे जीवन मे नीचे से लेकर ऊपर तक भ्रष्टाचार समा गया है। छोटा और गरीब आदमी भी उसमे फँसा है और बडे से बडा करोडपति, पूजीपति और मत्री भी—यदि राष्ट्रीय चरित्र की यही दशा रही तो राष्ट्रीय एकता दिवस पर की गई प्रतिज्ञाओ का क्या होगा ? यदि राष्ट्रीय सुरक्षा कोष मे भी हमने घोटाला किया, यदि सैनिको को दिए जाने वाले भोजन और दूसरे सामान मे ईमानदारी न बरती, यदि पुलिस कर्मचारी विद्रोह करने लगे और सैनिक कर्मचारियो का चरित्र भी इतना गिर गया कि हथियारो की जगह, पैसा जेबो मे जाने लगा, तो सेना के सिपाही शत्रु के सिपाहियो से कैसे लडेंगे ?

राष्ट्रीय एकता दिवस को प्रतिज्ञायें दोहराते हुए हम अपने चरित्र, नैतिक स्तर और मनोबल पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। प्रतिज्ञायें कर लेने के बाद भी हम घूसखोरी और चोर बाजारी में लिप्त रहे तो उन प्रतिज्ञाओ का मूल्य कागजो पर ही रह जायेगा। आज के युग मे, राष्ट्रीय एकता के लिए

चरित्रबल के विकास की सबसे अधिक आवश्यकता है। हर कर्म और हर वचन को प्रेरित करने वाले मन का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए, इसी में देश का मगल है। अन्यथा जो विषम स्थिति आज बनी हुई है, वह प्यारी स्वतन्त्रता को ही ले डूबेगी।

५३ | राष्ट्र निर्माण और दल-बदल की राजनीति

एक ही सभ्यता-संस्कृति को मानने वाले जन राष्ट्र कहे जाते हैं। अत राष्ट्र समूह का भावात्मक परिचायक है। अनादि काल से इस तथ्य को एक चरम सत्य के रूप मे स्वीकार किया जाता रहा है कि राष्ट्र सर्वोपरि है। हमारे नीति शास्त्रो मे स्पष्ट निर्देश मिलता है कि—"गाँव के लिए व्यक्ति को अपने स्वार्थ का परित्याग कर देना चाहिए। सम्पूर्ण जिले या प्रदेशों के हित-साधन के लिए गाँव के स्वार्थ को छोड देना चाहिए। फिर जब राष्ट्र के हित का प्रश्न आये तो अपने वश, व्यक्ति, गाँव, जिले या प्रान्त आदि के समस्त स्वार्थों या हितो का परित्याग कर देना चाहिए, क्योकि राष्ट्र-हित साधन सर्वोपरि हुआ करता है।" शताब्दियो तक इन नीति-सूत्रो या वाक्यो का इस देश मे पालन किया जाता रहा। राष्ट्र-रक्षा के लिए इस देश के व्यक्तियो ने बडे-से-बडे स्वार्थ और हित का त्याग अथवा बलिदान किया। हम कह सकते हैं कि भारतीय स्वतन्त्रता-सग्राम भी इसी आदर्श के आधार पर लडा गया और उसमे हमे सभी प्रकार की सफलता भी प्राप्त हुई। सन १९४७ के १५ अगस्त के दिन तक, जिस दिन देश खण्डित रूप में स्वतन्त्र हुआ, यह भावना अनवरत बनी रही। बल्कि या कहना चाहिए, कि देश विभाजन-काल के समस्त कष्टो एव उत्पीडनो को भी देशवासियों ने इसी अप्रतिहित राष्ट्रीय भावनाओ से अनुप्राणित होकर ही सहन किया। लेकिन यह एक दु खद आश्चर्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद ही देशवासी क्रमश इस आदर्श को भूलने लगे। आज स्थिति यह बनकर रह गई है भारत मे पजाबी, हरियाणवी, दिल्ली वाले, बगाली, बिहारी मद्रासी तथा इससे भी अधिक सकुचित सीमाओ मे घिरे लोग तो निवास करते हैं, किन्तु विशुद्ध भारतवासी या भारतीय कोई नहीं।

आज हमारी राष्ट्रीयता इस प्रकार विभाजित एव खण्डित होकर क्यों रह गई है, हम सकुचित व्यक्ति या वर्गीय हितो के दायरो में घिर कर क्यो

रह गये हैं ? इन प्रश्नो पर जब हम गहराई मे जाकर विचार कर
इन सबका समूचा दोष यहाँ की राजनीतिक चेतना पर ही जा
व राजनेता ही हैं कि जिन्होंने सकुचित, उधार ली गई और अ
राजनीतियो के चक्कर मे डालकर देश की समूची राष्ट्रीय चेतनाओ
विघटित करके रख दिया है। विगत ३०-३५ वर्षों में एक समग्र रा
चेतना के जागरण एव निर्माण की ओर इस देश के किसी भी राजन
दल के नेता ने ध्यान ही नही दिया, तो फिर उसके विनिर्माण एव नव-जा
का तो प्रश्न ही नही उठता। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय चरित्र की दृष्टिय
आज जितना घटियापन इस देश मे आ गया है, ससार के किसी पिछड़े
पिछड़े देश मे भी कही दिखाई नहीं देता। आज राष्ट्र के व्यापक परिवेश
आपा धापी तो मच ही रही है अनास्था और अविश्वासो का यह गहरा धु
भी उठ रहा है कि राष्ट्रीयता तो क्या, उसमे हमारी सहज मानवीय वृत्तिय
का भी दम घुटा जा रहा है। इस घुटन से छुटकारा पाने के आसार हमे कह
भी दिखाई नही दे रहे हैं। लगता है कि राजनेता हर झलमलाती आशा की
चिगारियो को भी भस्मसात कर देना चाहते हैं। ऐसी अवस्था मे प्रत्येक
सामान्य राष्ट्र प्रेमी-जन का चिन्तित हो उठना स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

यह कितनी दुःखद स्थिति है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के चौतीस-पैंतीस वर्षों
बाद भी हमारी कोई एक राष्ट्र-भाषा नही बन सकी, एक राष्ट्रीय-चेतना नही
बन सकी। सर्वत्र विलगाव की स्थितियाँ दिखाई देती हैं। यों यहाँ का प्रत्येक
राजनीतिक दल अपने-आपको राष्ट्रीय दल कहने का गर्व अनुभव करता है
किन्तु स्पष्टत हम देख रहे हैं कि वे तुच्छ बातों को लेकर विघटनात्मक एव
विध्वसक आन्दोलन खड़े करके जन शक्ति, धन और समय का अपव्यय ही
(न)ही, बल्कि निरन्तर दुरुपयोग करते रहते हैं। वे सरकारी या किसी अन्य
(अ)च्छी बात का भी विरोध करते हैं। हैरानी तो तब होती है जब विरोध
(क)रके भी वे कोई सवमान्य राष्ट्रीय विकल्प नहीं दे पाते। इससे प्रमाणित हो
(जा)ता है कि उनका विरोध मात्र विरोध के लिए ही होता है ताकि जनता का
(ध्या)न उनकी तरफ आकर्षित हो सके। अफसोस तो इस बात का होता है कि
(दि)शा-हीन राजनीतिक दल, आज भी जनता को निद्रित एव मूढ समझते हैं
और मूर्ख बनाने के प्रयत्न करते हैं, जबकि राजनीतिक सजगता की दृष्टि से
आज का सामान्य जन नेताओं से कहीं अधिक शिथिल एव सजग है। उसकी
सजगता और शिक्षा तब व्यर्थ होकर रह जाती है जब उसकी भावनाओ
एव जागरूकताओ को नेतृत्व प्रदान करने वाला कोई दल या राजनेता नही
मिलता। मिले भी कहाँ से ? क्योंकि इस देश के सभी राजनीतिक दलों के

राजनेता तो केवल विरोध की नीति को लेकर चल और दौड रहे हैं। उनका पहला और अन्तिम लक्ष्य है—कुर्सी के रूप में सत्ता प्राप्त करना। इससे आगे पीछे या इधर-उधर वे लोग देख ही नही पाते। अपने व्यक्तित्व और व्यक्ति हित से आगे या बाहर उनके लिए और कुछ, कोई और है ही नहीं। फिर जागरूक और शिक्षित जनता को नेतृत्व प्राप्त भी हो तो कहाँ से? परिणामस्वरूप जनता भटक रही है, पथ भ्रष्ट हो रही है, किसी कबीर, मानक और गांधी की राह देख रही है और कही कोई भी ऐसा नजर नहीं आता। फिर राष्ट्र का निर्माण हो भी तो कैसे?

हमारे देश मे तथाकथित राष्ट्रीय राजनीतिक दलो की एक बाढ-सी आई हुई है। सभी जानते हैं कि बाढ का और बरसाती मेढको का कोई नियम, सिद्धान्त और मान्यताएँ आदि नही हुआ करती। तट-बन्ध से रहित बाढ़ बहती है और रास्ते मे आने वाली प्रत्येक उपयोगी-अनुपयोगी वस्तु को बहा कर लिए जाती है। इस बहाव मे उसे इस बात की चिन्ता भी नही रहती कि कौन कहाँ नष्ट हो गया या हो रहा है, कौन कहाँ पिछड गया है और कौन साथ बहा चला आ रहा है। जो कुछ भी आ जाए, हो जाए, उसको बला से। उसे तो कूल-किनारो और तट-बन्धो की परवाह किए बिना बहना है—बस। यही स्थिति आज यहाँ के अधिकांश राजनीतिक दलो की है। जन और जनता के राष्ट्र निर्माण का कोई भी मौलिक या बुनियादी कार्यक्रम और सिद्धान्त उनके सामने नहीं है। उन्हें तो मात्र अवसर से लाभ उठाना है। उसे अपनी स्थिति को जमाए रखने और सत्ता की कुर्सी तक पहुँचने के लिए प्रत्येक अच्छी-बुरी बात के विरोध में भी राजनीति पर चलना है और तब तक चलते रहना है कि जब तक देश और राष्ट्र का सत्यानाश नहीं हो जाता और वह प्रतिदिन, प्रति पग, अनवरत हो रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टियों से भारत की आधुनिक राजनीतिक गतिविधियों का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले तक इस देश में एक बहुत ही बडा राजनीतिक दल था। वह दल था—भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस। यहाँ समाजवादी और साम्यवादी दलों का अस्तित्व भी था, अग्रगामी दल (फारवर्ड ब्लॉक) का अस्तित्व भी था, पर ये सभी दल राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन की दृष्टियों से अपने मूल कांग्रेस से जोडे गए थे। तब साम्यवादियों की चेतना को रूस से उधार ली गई चेतना माना जाता था, किन्तु अन्य किसी दल की चेतना ओढ़ी हुई या उधार ली गई नहीं थी। सभी मे एक निश्चित राष्ट्रीय चेतना विद्यमान थी। वे सभी एक ही महान लक्ष्य को लेकर संघर्ष कर रहे थे और वह लक्ष्य था देश की स्वतन्त्रता, एक

राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण और विकास, सभी की समान सुख-समृद्धि
की परिकल्पना, सिद्धात या आदर्श। उसके बाद देश स्वतन्त्र हुआ। देश को
स्वतन्त्र कराने में इन सभी दलो ने अपनी-अपनी राष्ट्रीय महत्त्व की भूमिकाएँ
निभाई —इसमे कोई सन्देह नही। यहाँ हम क्रान्तिकारियो का स्मरण भी कर
सकते हैं। उनका भी देश की स्वतन्त्रता का सघर्ष मे असदिग्ध योगदान है।
सभी के समग्र एव सम्मिलित प्रयत्नो से ही यह देश खण्डित रूप से ही सही,
स्वतन्त्र तो हुआ। वास्तव मे, उस युग मे समस्त राजनीतिक दलो का एक
निश्चित राष्ट्रीय चरित्र था। उनमे राष्ट्रीय नैतिकता की गहरी पैठ और
छाप थी। उसके बाद, स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ होना तो यह चाहिए था कि
इस सघर्ष से हमारा राष्ट्रीय चरित्र और भी प्रखर होकर निखरता, किन्तु
उसका विघटन होने लगा। प्रत्येक राजनीतिक दल ही नही, उसका छोटा-
बड़ा प्रत्येक नेता और सामान्य कार्य-कर्ता भी राजसत्ता की प्रतीक कुर्सी का
भूखा हो उठा। उसके पीछे अनवरत भागने लगा। इस आपा धापी की भाग-
दौड मे जनता और उसके हित तो कही पीछे पिछड ही गए, राष्ट्रीय चरित्र
एव नैतिकता भी अतीत की कहानी बन करके रह गए। इस स्वार्थ-लोलुप
भाग-दौड के परिणामस्वरूप ही यहाँ, इस देश मे राजनीतिक दल-बदल का
रोग आरम्भ हुआ और चाहकर भी विधायक, सासद, सत्तारूढ और विरोधी
दल इसे रोक पाने में समर्थ नही हो पा रहे, बल्कि प्रयत्न नही कर रहे।

राजनीतिक दल-बदल के मुख्य दो रूप हमारे देश की राजनीति मे प्रत्यक्ष
रूप से उपलब्ध हैं। एक रूप तो कुछ समझ भी आता है और यदि ईमानदारी
से उस रूप को सवारा तथा सहेजा जाय, तो वह राष्ट्र-निर्माण एव राष्ट्र हित
साधन के लिए उपयोगी भी हो सकता था और आज भी हो सकता है।
किन्तु दुखद स्थिति यह है कि वैचारिक या सैद्धान्तिक दृष्टियो से दल-बदल
करने वाले, या अपने पूर्ववर्ती दल से निकल कर किसी नये दल को अस्तित्व
मे लाने वाले राजनेता भी अन्ततोगत्वा कुर्सी की सत्ता के चक्कर मे पडे ही
सिद्ध हुए। इस प्रकार के दल-बदल का ही यह कारण है कि आज यहाँ
राजनीतिक दलो की एक बाढ़-सी आई है। दल के अन्दर दल बन-बिगड रहे
हैं। एक-एक दल के तीन-तीन और चार-चार दल विनिर्मित हो गये हैं। या
कहना चाहिए कि किसी भी कारण से असन्तुष्ट प्रत्येक छोटे-बडे नेता ने
अपने कुछ हमदर्दों को, यारो को इकट्ठा करके अपना एक दल खड़ा कर
लिया है। उनकी इस दल-दल मे फँस कर राष्ट्रीयता, नैतिकता राष्ट्रीय
चरित्र और जनता घुट रही है किन्तु उन्हे कोई चिन्ता नही। क्योंकि इस
भानमति के कुनबे को भी यदि केन्द्र की नही तो प्रान्त की कुर्सी तो मि।

ही। प्रान्त की भी नही मिलती तो किसी नगर-पालिका की और नगर निगम की ही सही—बस, कुर्सी अवश्य चाहिए। इन्हीं लोगो के कारण आज सामान्य जन किसी भी दल को राष्ट्रीय दल स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। क्योंकि जब इन तथाकथित जन-नेताओं को छोटी-बडी कोई भी कुर्सी प्राप्त नही होती, तब ये लोग तोड-फोड और विरोध का मार्ग मात्र विरोध के लिए अपना कर जनता को नाको चने चबाने लगते है। अब राष्ट्र का निर्माण हो तो कैसे ? राष्ट्रीय-चरित्र बने तो क्यो कर ?

राजनीतिक दल-बदल का दूसरा रूप इससे भी कही अधिक घिनौना और कुरूप है। यह व्यक्तिगत स्तर पर घटित होता रहता है। कोई तथाकथित नेता अपने राजनीतिक दल के माध्यम से अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, या फिर मन्त्री पद या कोई अन्य कुर्सी प्राप्त करना चाहता है, परन्तु दुर्भाग्य से वह सब नही हो पाता, तो अपने ही दल वालो को नीचा दिखाने के लिए दल की नैतिकता और चरित्र की बात तो जाने दीजिए, वह राष्ट्रीय चारित्रिक नैतिकताओ को भी ताक मे रखकर किसी अन्य दल मे मिलकर कुर्सी पर बैठ कर अपनी मूछें ऐंठने लगता है। पाँचवें चुनावो से पहले इस घटिया स्तर के दल-बदल की एक बाढ सी इस देश की राजनीति मे आ गई थी। उनके राजनेताओ का तो नाम ही व्यग्यात्मक शब्दावली म 'आया राम, गया राम' पड गया था। अनेक भ्रष्ट बुद्धि एव अनैतिक नेतागिरी के पुछल्लो ने तो कमाल की भी टाँग तोडकर रख दी थी। एक एक घटे मे उन्होने तीन-तीन और चार-चार बार दल-बदल किया। अनेक मन्त्री मण्डलो को बनाया बिगाडा और भारतीय राजनीतिक चेतनाओ के दिवालिएपन का अनेक बार प्रत्यक्ष प्रमाण दिया। आज भी इस प्रकार का व्यवहार घटित होता रहता है।

इतने तक ही बात समाप्त नही हो जाती, भारतीय राजनीति मे नैतिकता और राष्ट्रीयता का गला घोटने वाला एक अन्य तमाशा भी अनवरत चलता रहता है। राजनेताओ की चोर और साहूकार दोनो से समान रूप से मिली भगत बनी रहती है। परिणामस्वरूप चारो ओर भ्रष्ट तत्वो का बोलबाला हो रहा है। भ्रष्टाचारियो एव भ्रष्ट तत्वो का आज यदि इस देश म कोई सब से बडा रखवाला है तो वह यहाँ का राजनेता ही है। उसने भ्रष्टाचार समाप्त करने का दम भरने वाले अनेक साहसियो को भी भ्रष्ट कर रख दिया है। यदि उन्होने भ्रष्ट होना स्वीकार नही किया, तो उनकी सामाजिक या राजकीय स्थितियो और कई बार तो उनकी जिन्दगियो तक को विनष्ट करके रख दिया। परिणामस्वरूप अन्य जो कुछ करना भी चाहते थे, वे लोग कुढकर और घुटकर रह गए। तभी तो आज चारो ओर यह कहा जाने लगा है कि आज राजनेता

बताने के लिए आम शब्दो मे 'गुण्डा'। (सभ्य शब्दो मे दादा) होना आवश्यक है और राजनीति एक गुण्डागर्दी का ही खेल या तमाशा है। इस देश की राजनीति मे तो यह चारो ओर देखा जा सकता है कि कल जो घोषित अपराधी थे जिन्हे सरकार ने अनेक प्रकार के भ्रष्टाचरणो के कारण नौकरी से अलग कर दिया था, वही चुनाव के टिकट पाकर चुनाव जीतकर आज प्रख्यात राजनेता बने हुए हैं, फिर 'जब सैया भए कोतवाल अब डर काहे का' की कहावत के अनुसार भ्रष्टतत्वो को प्रश्रय क्यो न मिले ? राष्ट्र का निर्माण कैसे हो ? दल-बदल की राजनीति ने भ्रष्टाचरण को चारा और बढावा देकर आज राष्ट्र-निर्माण के प्रश्न को बहुत पीछे धकेल कर रख दिया है। निश्चय ही यह स्थिति अत्यधिक चिन्तनीय है। इसके निराकरण के बिना जनोद्धार या देशोद्धार सभव ही नही।

उपरोक्त विश्लेषणो के सदर्भ मे हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता और नैतिक चारित्रिकता का जनाजा निकालने मे मूल दोष उस व्यवस्था का है जिसमे हमारा देश कई सदियो से चलता-पलता आ रहा है और जिसे बदल की ओर आज तक इस देश के परम यशस्वी नेताओ का कभी ध्यान नही गया व्यवस्था-चक्र को परिवर्तित करने के अब प्रयत्न तो किए जाने लगे हैं पर उधर प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ भी फिर से सक्रिय हो उठी हैं। वे स्वय तो दिशाहीन है ही मात्र विरोध के लिए विरोध की नीति अपना कर वे छोटी छोटी और व्यक्तिगत बातो को उछाल कर राष्ट्र हित के साथ जोड देना चाहती है। स्पष्ट इस प्रकार के आचरणो से देश के धन, समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। आज समस्त राजनीतिक दलो और राजनेताओ को एक-दम ठड मन-मस्तिष्क मे यह बात सोचने तथा समझने की आवश्यकता है कि उनके राजनीतिक आचरण क्या वास्तव मे राष्ट्र के विघटन की दिशा मे गतिशील नही है ? क्या उनके और उनके दलो के मूल आदर्श एव सिद्धान्त राष्ट्रीय चरित्र का दीवाला निकालना ही है। निश्चित रूप से किसी भी दल का आदर्श और सिद्धात यह नही कहता। निश्चय ही राष्ट्र का निर्माण और विकास ही उनके दलो एव जीवन का चरम पावन लक्ष्य है। पर अपने पावन लक्ष्यो को वे तभी प्राप्त कर सकेंगे कि जब वे सत्ता की कुर्सी को पाने की चेष्टा छोडकर जनता के दुख-दर्द को समझ कर उसे दूर करने का ईमानदारी से सक्रिय प्रयत्न करें। पवित्र साध्य तक पहुचने के लिए पवित्र साधनो और क्रिया प्रतिक्रियाओ को अपनाएंगे।

अन्त मे हम फिर कहना चाहते हैं कि राष्ट्र ही सर्वोपरि है। उसकी यह सर्वोपरता और महत्व तभी बने रह सकते हैं जबकि हम और हमारे राजनेता सभी प्रकार के स्वार्थों की संकुचित परिधियो को तोडकर खुले मानवीय

आकाश मे नीचे आकर मुक्त सांस लेने लगे । यदि शीघ्र ही ऐसा करने का अनवरत प्रयत्न न किया गया तो हमारी राष्ट्रीयता तो एक खिलवाड बनकर रह ही जायेगी, हमारी अनेक बलिदानो से प्राप्त स्वतन्त्रता भी व्यर्थ होकर रह जायेगी । दल कोई भी हो, पर आदर्श मुक्त भाव से और सब भाव से राष्ट्र के निर्माण का ही होना चाहिए । यही हमारे परम्परागत एव अतीत के महान गौरव के अनुरूप तो होगा ही, उनका रक्षक भी होगा ।

५४ | राजभाषा समस्या

प्रत्येक राष्ट्र के स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ उसकी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएँ होती हैं, जिनके आधार पर उसकी राष्ट्रीयता का निर्माण होता है । प्रत्येक राष्ट्र का एक राष्ट्रीय ध्वज होता है, एक राष्ट्रीय चिह्न और एक राष्ट्रभाषा । विदेशो मे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को हम तभी गर्व से व्यक्त कर सकते हैं, जब हमारा उपरोक्त सन्दर्भो मे कुछ अपनापन भी हो ।

भारत के सविधान के अनुसार हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा है । इसके साथ ही एक और शब्द 'राजभाषा' व्यवहृत होता रहा है, जिसका अर्थ है—भारत के विभिन्न राज्यों मे सामान्य सम्पर्क की ऐसी भाषा—जो केन्द्र और राज्यो में तथा एक राज्य और दूसरे राज्य मे सम्पर्क का माध्यम बनी रहे । एक ऐसी भाषा की आवश्यकता इसलिए है कि इससे प्रशासनिक कार्यों मे सुविधा होगी और राष्ट्रीय स्तर पर भावनात्मक एकता का निर्माण होगा । राज्यो मे विद्यमान भाषायी अजनबीपन मिट कर एकत्व का प्रावधान सम्भव हो सकेगा ।

भारत, भाषा की दृष्टि से बहुभाषा भाषी राष्ट्र है । इसके विभिन्न राज्यो मे विभिन्न भाषायें बोली जाती है । उत्तर भारत मे—उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली राज्य हिन्दी भाषा भाषी हैं । पजाब में पजाबी और हिन्दी दो भाषायें बोली जाती हैं । इनके अतिरिक्त उत्तर भारत मे असमिया, उडिया और बगाली तथा कश्मीरी प्रधान भाषाएँ हैं । मध्य-दक्षिण मे मराठी और गुजराती तथा दक्षिणी राज्यों मे तमिल, तेलगु कन्नड और मलयालम—ये भाषाएँ बोली जाती हैं । इस प्रकार विभिन्न भाषाओ के प्रयोग म होने से जो विभेद की स्थिति उत्पन्न होती है और राज्यो

के मध्य सम्पर्क मे जो कठिनाई होती है, उसे एक सामान्य-सर्वमान्य राज भाषा द्वारा दूर किया जा सकता है। उस भाषा के सम्पर्क भाषा के रूप मे प्रयोग से विभिन्न राज्यो मे बँटा हुआ भारत एक राष्ट्रीय एकता मे बधा रहेगा। प्रशासनिक कार्यों म केन्द्र और राज्यो को विशेष सुविधा भी रहेगी। यही दृष्टि एक राजभाषा या राष्ट्र भाषा की सरचना के मूल मे रहती है।

भारतीय सविधान के अनुसार बहुसख्यक लोगो की भाषा होने के कारण एकमात्र हिन्दी सारे देश की सम्पर्क भाषा, राजभाषा या राष्ट्रभाषा के रूप मे १९५० से ही प्रतिष्ठित कर दी गई थी, किन्तु हिन्दी के समुचित विकास के लिए १५ वर्षों की अवधि देकर यह निश्चित किया गया था कि २६ जनवरी १९६५ तक सहभाषा के रूप मे अग्रेजी का व्यवहार होता रहेगा। स्पष्ट ही, २६ जनवरी १९६५ को बिना किसी हिचक या सकोच के अग्रेजी के प्रयोग की समाप्ति और हिन्दी का प्रयोग आत्यन्तिक रूप से होना चाहिए था। इधर सरकार की हिन्दी-नीति और हमारे स्वर्गीय प्रधान-मत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की हिन्दी के प्रति उदासीनता के कारण हिन्दी को यह स्थान आज भी नही मिल सका जो कि सविधान-सम्मत है।

अग्रेजी के भक्तो ने, जो सारे देश की जनसख्या का केवल दो प्रतिशत है, चिल्लाना शुरू कर दिया कि अग्रेजी चली गई तो प्रशासनिक काय चल नहीं सकता, राज्यो में सम्पर्क की भाषा बन सकने मे हिन्दी सक्षम नही। अग्रेजी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो भारत के सारे राज्या मे सम्पर्क भाषा के रूप मे काम कर सकती है आदि-आदि। तब हमारी उस सरकार ने जो तेरह वर्षों तक सोती रही और हिन्दी के विकास का जिसने जान-बूझकर कोई प्रयत्न नही किया, १९६३ मे राजभाषा विधेयक पारित करके अनिश्चित काल के लिए अग्रेजी का प्रयोग भी हो सकता है, ऐसी द्विविधा-पूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी जिसका एक दुष्परिणाम हमारे सामने २६ जनवरी १९६५ को आया। यदि सरकार ने १५ वर्षों मे हिन्दी के विकास का प्रयत्न किया होता तो न तो राजभाषा विधेयक बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती, न आज की स्थिति ही उत्पन्न होती। राजनीतिक निहित-स्वार्थियो ने आज तक यह प्रश्न हल नहीं होने दिया। हर बार 'पण्डित नेहरू ने कहा था ' कह कर इसकी उपेक्षा कर दी जाती है, जिसे स्वस्थ परम्परा नही कहा जा सकता।

आज की सवधानिक स्थिति यह है कि हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा और राजभाषा है। अग्रेजी का प्रयोग हो सकता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है, न वाछनीय ही है। इस प्रकार सविधान की मर्यादा के अनुकूल जब हिन्दी राजभाषा हो गई है, विघटनकारी तत्त्वो और अँग्रेजी भक्तो ने फिर अपनी

अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया है। २६ जनवरी १९६५ को मद्रास में दो व्यक्तियों का आत्मघात और उपद्रव इसी अग्रेजी भक्ति विघटनकारी अराष्ट्रीय परम्परा के पोषक कुछ राजनीतिक स्वार्थियों और देश द्रोहियों की कूट चाल थी। हमारी सरकार की भाषा-सम्बन्धी नीति प्रारम्भ से ही शिथिल और लचीली रही है अत इसी अवसर पर भी प्रशासन के वरिष्ठ अधिकारियों ने इन अराजक तत्वों की पुष्टि ही करने के लिए क्या क्या आश्वासन नहीं दिए।

कहा गया कि हिन्दी थोपी नहीं जायेगी, जब तक अहिंदी भाषा राज्य चाहेंगे, अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा और अखिल भारतीय सेवाओं में अंग्रेजी पूर्ववत् बनी रहेगी। कितनी विडम्बना की बात है कि ऐसा तब तक होता रहेगा जब तक दो प्रतिशत अंग्रेजी भक्त स्वयं उसे हटाने की बात नहीं कहेंगे। इस प्रकार के आश्वासनों से विघटनकारी तत्वों को निश्चय ही बल मिला है। स्वतन्त्र राष्ट्र के नेताओं की असमर्थता और अनिश्चयी मानसिकता का भी इससे पता चलता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो सारे भारत में सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त हो सकती है। वह भारत के एक बहुत बड़े भू भाग की बोलचाल की भाषा है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली और पंजाब में हिन्दी बोली जाती है। मराठी और गुजराती हिन्दी के बहुत समीप है। गुजरात और महाराष्ट्र में हिन्दी समझी जा सकती और कहीं-कहीं बोली भी जाती है। शेष प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार अंग्रेजी के प्रयोग से कहीं अधिक है, जबकि उसे राज्य की ओर से कोई विशेष सबल प्राप्त नहीं, दक्षिण के राज्यों में जन-सामान्य की भाषा वहाँ की प्रादेशिक भाषा है। साधारण पढ़े लिखे व्यक्ति हिन्दी भी समझ सकते हैं—वास्तव में उनका हिन्दी से कोई विरोध नहीं है। केवल हिन्दी भाषी राज्यों की संख्या ही इतनी है कि वह सारे देश की जनसंख्या का ४० प्रतिशत से भी अधिक है। शेष में कोई दो—(जैसे अंग्रेजी भाषी) प्रतिशत, तो कोई १६ प्रतिशत तक लोग आते हैं। इस प्रकार जब राष्ट्रीय एकता और प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से एक सामान्य सम्पर्क की भाषा की आवश्यकता निर्विवाद है ही, तो हिन्दी के अतिरिक्त वह कोई दूसरी भाषा नहीं हो सकती। इस हेतु तमिल या बंगला, कन्नड़ या मलयालम आदि भाषा भाषी लोगों को राष्ट्रीय एकता के हित में इतना श्रम तो करना ही चाहिए कि वे हिन्दी जैसी सरल भाषा सीख लें। समझते यद्यपि वे आज भी हैं। वहाँ हिन्दी-फिल्मों का निर्माण और अबाध प्रदर्शन इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। दक्षिण के

विद्वानो की भी यह सर्व-सम्मत राय है कि हिन्दी सरलतापूर्वक सीखी जा सकती हैं। यहाँ विरोध केवल राजनीतिक है, जनीय नही।

हिन्दी का प्रादेशिक भाषाओ से कोई विरोध नही है। भारत के सविधान मे उल्लिखित सोलह-सत्रह भाषाएँ समान रूप मे सम्मान की अधिकारिणी हैं। प्रादेशिक भाषा के रूप मे उनका प्रयोग राज्य के शासन म हो सकता है, परन्तु एक ऐसी भाषा होनी ही चाहिए जो केन्द्र तथा अन्य देशीय राज्यो से पत्र व्यवहार मे प्रयुक्त हो सके। अग्रेजी का समर्थन किसी भी दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता। यदि दो प्रतिशत लोग, जो अग्रेजी बोलते हैं, सारे देश की सम्पर्क भाषा के रूप मे अग्रेजी की वकालत करने की अनाधिकार-चेष्टा कर सकते हैं और वह भी उस भाषा की, जो विदेशी है, भारत की परतन्त्रता की प्रतीक है, तो इससे बढकर अपमान और दासत्वपूर्ण मनोवृत्ति का परिचय और क्या हो सकता है। फिर यदि दूसरी भाषाओ के जानने वाले अपनी भाषा की वकालत करें तो बुरा क्या है? क्या उर्दू, पजाबी, तमिल या मलयालम ने या फिर सस्कृत ने कोई अपराध किया है कि वे उस अधिकार के लिए भी न कहे जो कम से कम अग्रेजी की अपेक्षा उन्हे अधिक होना चाहिए। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि अग्रेजी किसी भी प्रकार भारत की राजभाषा या सहभाषा रहे, यह न तो राष्ट्रीय एकता के हित म है न राष्ट्रीय गौरव के उपयुक्त। मात्र पराजित मानसिकता का ही प्रतीक है।

राष्ट्रीय हित को दृष्टि मे रखते हुए आज की स्थिति मे, सरकार का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह सामान्य सम्पर्क की भाषा के रूप मे, सारे भारत में हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने के लिए अराजक और विघटनकारी अराष्ट्रीय तत्वो के सामने अपनी शिथिलता का परिचय न दे। यदि कुछ व्यक्तियो को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार राष्ट्रीय हितो तथा सविधान की मर्यादा का पालन नही करेगी तो इसके बडे गभीर दुष्परिणाम निकलेंगे। भाषा के नाम पर स्वतत्र राष्ट्रो की पक्ति मे हमारा मस्तक हमेशा झुका रहेगा।

हिन्दी तभी राजभाषा कही जा सकती है जब प्रशासन मे उसका प्रयोग हो। सरकार को राज्यो से पत्र-व्यवहार हिन्दी मे करना चाहिए और इसमे आने वाली कठिनाइयो को बुद्धिमत्तापूर्वक सुलझाना चाहिए। भाषा का व्यापक विकास तभी सम्भव होता है, जब उसका प्रयोग प्रशासन मे होने लगे। अग्रेजी को लोगो ने इसीलिए सीखा कि वह शासन की भाषा बन गई थी। जब आवश्यकता अनुभव होती है, तभी लोग किसी अन्य भाषा को सीखते हैं अन्यथा नही। अहिन्दी भाषी राज्यो मे हिन्दी को प्रशासनिक कार्यों

मे धीरे-धीरे बढ़ावा दिया जाना चाहिए। ऐसा करने पर स्वत ही लोग इसमें पारगत हो जाएँगे।

हिन्दी राजभाषा के पद पर कैसे आसीन हो, इस सम्बन्ध मे सबसे अधिक उत्तरदायित्व हिन्दी भाषी राज्यो का है। उनको प्रशासनिक कार्यों में सर्वथा हिन्दी का प्रयोग करना चाहिए तथा केन्द्र और अन्य राज-सरकारों से अपना पत्र व्यवहार भी हिन्दी म करना चाहिए। सरकार की द्विविधापूर्ण नीति इस कार्य मे सबसे अधिक अहितकर होती है। जब तक कार्यालयों मे हिन्दी का प्रयोग अनिवार्य नही किया जायेगा, तब तक न अधिकारी, न क्लर्क ही, हिन्दी का प्रयोग करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि पहले-पहल अग्रेंजी के प्रयोग के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग करने मे थोड़ी-सी कठिनाई आयेगी, परन्तु क्या अपने राष्ट्रीय गौरव के लिए इतना सा कष्ट भी हम सहन नहीं कर सकते? फिर अब तो कार्यालयो में प्रयोग के लिए सभी प्रकार के सामान्य विशेष शब्दों का निर्माण भी हो चुका है।

शिक्षा-पद्धति मे हिन्दी को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि एक विशेष स्तर तक, जैसे हायर सकेण्ड्री या बारहवी तक हिन्दी सारे भारत में अनिवार्य होनी चाहिए। हिन्दी भाषी राज्यो म ही नहीं, अहिन्दी भाषी राज्यो मे भी विश्वविद्यालय की शिक्षा माध्यम हिन्दी ही होनी चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे हम अधिक निकट आ सकते हैं। जब तक शिक्षा-पद्धति मे, विशेषतया अहिन्दी भाषी राज्यों मे हिन्दी को अनिवार्य नहीं किया जायेगा, तब तक यह काय सम्भव नही होगा। अखिल भारतीय सेवाओं की परीक्षाओ मे भी हिन्दी को माध्यम बनाया जाना चाहिये। यह ध्यान रहे कि भावना का काय मे बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। अखिल भारतीय सेवाओ की परीक्षाओ मे ही नहीं, विश्वविद्यालयो की परीक्षाओ मे भी अग्रेजी माध्यम है, और हिन्दी 'वकल्पिक माध्यम' ऐसा न होकर 'हिन्दी माध्यम है, और अग्रेजी 'वैकल्पिक माध्यम' ऐसा होना चाहिये।

यह बात स्वीकार की जानी चाहिए कि सारे भारत मे शिक्षा का एक रूप हो। एक ही प्रकार के पाठ्यक्रम, एक ही प्रकार की परीक्षाओ और समान शिक्षा प्रणाली—यह क्रम राष्ट्रीय एकता और राजभाषा-समस्या के लिए बड़ा हितकर प्रमाणित होगा। शिक्षा के क्षेत्र मे सेवाओ को भी अखिल भारतीय बनाया जा सकता है। विशेषकर दक्षिण राज्यो के शिक्षक उत्तरी राज्यों म और उत्तरी राज्यो के शिक्षक दक्षिणी मे भेजे जायें, तो पारस्परिक सम्मिलन बढ़ने के साथ भाषा-सम्बन्धी विभेद भी दूर होगा।

दक्षिण में या बंगाल में, जो हिन्दी-विरोधी वातावरण उत्पन्न हो गया है, इसे दूर करने का उत्तरदायित्व राजनीतिक दलों और सरकार पर है, क्योंकि यह विभेद उन्हीं के द्वारा खड़ा किया गया है, अतः मिटाना भी उन्हीं का पावन कर्तव्य हो जाता है। यह भावना दूर हो जानी चाहिये कि हिन्दी किसी पर थोपी जा रही है। वास्तव में हिन्दी का विकास प्रेम और सद्भाव द्वारा ही सुदूर अतीत में हुआ, निकट भूत में हुआ और अब भी किया जाना चाहिये। परन्तु किसी प्रकार के राजनीतिक दबाव में आकर 'धीरे चलो' की नीति अपनाना अब तो कतई ठीक नहीं है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ३५ वर्ष बीत जाने के बाद भी अनिश्चित स्थिति बने रहना स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वतन्त्र-स्वाधीन मानसिकता का परिचायक नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वरूप क्या हो? उसे निरन्तर विकसित करने के लिये विदेशी शब्द भी आवश्यकतानुसार ग्रहण किये जा सकते हैं परन्तु अब केवल उन्हीं पर निर्भर रहना ठीक नहीं है। संस्कृत तथा अन्य स्थानीय बोलियाँ और प्रान्तीय भाषाओं से शब्दों को सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है। कभी-कभी 'सरल हिन्दी' जैसे शब्दों का प्रयोग भी लोग करते हैं और इसकी आवश्यकता पर बल देते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि पंजाब प्रान्त और कश्मीर को छोड़कर शेष सारे प्रान्तों के लिए हिन्दी का संस्कृतनिष्ठ रूप ही अधिक उपयुक्त बैठेगा। बात यह है कि भारतीय भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में सरल हिन्दी के नाम पर उसका उर्दूकरण ठीक नहीं है। पंजाबी वस्तुतः संस्कृत का अपभ्रंश रूप ही है।

भाषा-समस्या आज का जटिल प्रश्न बन गया है। इस सम्बन्ध में सभी को उदारता से काम लेना चाहिये। हिन्दी भाषी राज्यों का कर्तव्य है कि प्रशासनिक कार्यों, केन्द्र से सम्पर्क तथा राज्यों से सम्पर्क में केवल हिन्दी का प्रयोग करें। साथ ही हमें अहिन्दी भाषी भाषियों के प्रति उदारता का व्यवहार करना चाहिए। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब तक अंग्रेजी का मोह न छोड़ा जायेगा, हिन्दी ही क्या तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम, बंगला, उड़िया या गुजराती-मराठी किसी भी भारतीय भाषा का सम्यक विकास नहीं हो सकेगा। इसीलिए हम सबका कर्तव्य है कि हम हिन्दी के विकास के लिए अंग्रेजी का मोह छोड़, अपने गौरव की रक्षा और निर्वाह करें। हिन्दी और उसकी दूसरी बहनें विकसित हों यह देश का सौभाग्य होगा और इसी उद्देश्य के लिए हमें कृत-संकल्प होना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम और हमारी सरकार आवश्यकता से अधिक आँखें मूंद चुकी हैं, अब और अधिक टाल-मटोल देश की एकता तथा प्रगति के लिए घातक सिद्ध

होगी। समय की माँग है कि विदेशियों के भाषा-सम्बन्धी व्यंग्य-वचनों से बचने के लिए हम यथाशीघ्र अपनी राष्ट्र और राजभाषा का प्रयोग आरम्भ कर दें।

५५ | समाजवाद और गाँधीवाद

मानव-समाज की सुख-समृद्धि के लिए आरम्भ से ही अनेकविध प्रयत्न किये जाते रहे हैं। विभिन्न वाद उन्हीं प्रयत्नों का ही परिणाम हैं। आजकल मानव समाज अनेक दोषों से ग्रस्त है। सामाजिक और आर्थिक विषमताओं ने मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया है। इन विषमताओं को समाप्त करने के लिए आगे जो विचारधाराएँ प्रस्तुत की जाती हैं, उनमें समाजवाद और गाँधीवाद दोनों ऐसी ही विचारधाराएँ हैं जिनके द्वारा मानव-समाज को सुखी बनाने का यत्न सम्भव बताया गया है।

समाजवाद का आविर्भाव सामन्ती परम्परा के अवशेष पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। पूँजीवाद में सम्पत्ति संचित करने की स्वाधीनता रहती है। उत्पादन के साधनों पर कुछ ही लोगों का व्यक्तिगत अधिकार रहता है। सम्पत्ति का उत्पादन चार उपकरणों द्वारा होता है—१ भूमि, २ श्रम, ३ पूँजी और ४ नवारम्भकर्ता। इनमें से भूमि एक ऐसा उपकरण है, जिसे कोई व्यक्ति उत्पन्न नहीं करता। यह प्रकृति की ओर से मनुष्य को बिना मूल्य प्राप्त होती है। इसलिए किसी भी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के एक वर्ग का इस उपकरण पर अधिकार अनुचित नहीं। श्रम प्रत्येक व्यक्ति करता है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों के श्रम में साधारणतया बहुत अधिक अन्तर नहीं होता। फिर भी पूँजीवाद के अन्तर्गत दो व्यक्तियों की आय में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। एक व्यक्ति बिना शारीरिक श्रम किये लाखों रुपये उपार्जित कर लेता है जबकि दूसरा सुबह से शाम तक जी-तोड़ परिश्रम करने के बाद भी भर-पेट भोजन उपार्जित नहीं कर पाता। इस विषमता के मूल उत्पादन के अन्तिम दो उपकरण हैं, एक पूँजी दूसरा नवारम्भकर्ता या उद्योगपति।

पूँजी में यह सामर्थ्य विद्यमान है कि वह नई सम्पत्ति को उत्पन्न कर सकती है। इसी प्रकार नवारम्भकर्त्ता किसी नये काम के जोखिम को उठा

सकने के गुण के कारण लाभ का अधिकारी हो जाता है। पूँजी के अभाव में बड़े-बड़े उद्योग व्यवसाय नहीं चल सकते और न उत्पादन ही किया जा सकता है। लगभग विगत दो शताब्दियों से संसार में पूँजीवाद का बोलबाला चला आ रहा है। पूँजीवाद की यह विशेषता रही कि पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन को अधिकाधिक बढाया जा सका। यदि पूँजीवादी व्यवस्था विकसित न होती, तो बड़ी-बड़ी मशीनों और कल-कारखानों का विकास भी न हो पाता।

पूँजीवादी व्यवस्था ने औद्योगिक क्षेत्र में क्रान्ति ला दी। मानव के श्रम का कार्य बड़ी सीमा तक मशीनों ने ले लिया। मनुष्य की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई। परन्तु इस व्यवस्था ने मनुष्य से उसकी मनुष्यता छीन ली। श्रमिक को भी इसने मशीन ही बना दिया। लाभ का बहुत बड़ा भाग नव्यारम्भकर्ता की जेब में जाने लगा, जिसके फलस्वरूप पूँजीपति और श्रमिक ये दो भिन्न भिन्न वर्ग बनते चले गये। ज्यों-ज्यों इस व्यवस्था का अधिकाधिक विकास होता गया, त्यों-त्यों इन वर्गों के बीच खाई और गहरी होती गई। एक ओर सम्पत्ति का ऊँचा ढेर लगता चला गया तथा दूसरी ओर श्रमिक वर्ग अधिक दरिद्र होता गया। उसकी बुनियादी अवश्यकताएँ भी दुर्लभ होती गईं।

इस पूँजीवादी शोषक प्रक्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप ही समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवाद सब मनुष्यों को समान मानकर चलता है। वह आर्थिक क्षेत्र में यथेच्छाचार की नीति का विरोधी है। पूँजीवादी विचारकों का कथन है कि आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को मनमाना कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि पूँजपति श्रमिक के साथ चाहे जो शर्त तय करें उनका मनमाने ढंग से शोषण कर सकें, समाजवाद इस का प्रबल विरोधी है।

समाजवादियों का कथन है कि सम्पत्ति के उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत प्रभुत्व समाप्त कर देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को जीविका उपार्जन के लिए श्रम करना चाहिए और उस श्रम के बदले में उसे अपनी आवश्यकता की सब वस्तुएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। उत्पादन के साधनों पर राज्य का अर्थात् देश के सभी निवासियों का साझा स्वामित्व होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य देना राज्य का कर्त्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी उत्पादन की क्षमता और उसकी पारिवारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर वेतन दिया जाना उचित है। इस प्रकार श्रम और पूँजी का समान विभाजन हो इस नवोदित व्यवस्था का मुख्य सिद्धांत और नारा है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे लाभ कमाना व्यवसाय का लक्ष्य नही रहता। सब वस्तुओ का उत्पादन उतना ही किया जाता है, जितना आवश्यक होता है। इसलिए समाजवादी प्रणाली मे अति-उत्पादन या अति पूँजीकरण नही होने पाता और न बुर्जुआ-वर्ग श्रमिक-वर्ग का शोषण ही कर पाता है। समाजवाद के अतर्गत निठल्ले और परोपजीवी-वर्ग का नितात अभाव होता है। समाजवादियो का कथन है कि पूँजीपति और श्रमिक वर्ग के घोर सघर्ष मे अन्त मे श्रमिक वर्ग की विजय होगी। सामाजिक तथा आर्थिक विकास की प्रक्रिया में अन्त मे जाकर वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायेगी और वर्गो को बनाये रखने वाले पूँजीवाद का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

समाजवाद बहुत व्यापक शब्द है। साम्यवाद, राष्ट्रीय-समाजवाद, अराजकतावाद, सामूहिकतावाद और सहकारितावाद सभी इसके अन्तर्गत आ जाते है। भारतीय समाजवाद की गणना जिसके अतर्गत ही की जा सकती है, उसे हम गाधीवादी सामाजवाद कहते हैं। इन विभिन्न विचारधाराओ मे थोडा थोडा अतर स्पष्ट है। साम्यवाद, जिसे 'कम्यूनिजम' कहा जाता है, श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित करना चाहता हैं। साम्यवाद का परीक्षण रूस, चीन तथा इनके सहयोगी देशो मे किया गया है। वहाँ भूमि, उद्योगो और समस्त जायदाद का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। बेकारी पूर्णतया समाप्त कर दी गई है। सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गतिविधि पर राष्ट्रीय नियत्रण है। इसका परिणाम यह हुआ है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता पूर्णतया समाप्त हो गई है। साम्यवाद व्यक्तिगत स्वाधीनता को महत्त्व नही देता, जिसे कि मानवीय दृष्टि से सर्वोच्च कहा जाता है।

अपनी विचारधारा के प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया मे साम्यवाद पूँजीवादी देशो मे वर्ग-सघर्ष को प्रोत्साहन देता है। साम्यवादियो का विश्वास है कि पूँजीपतियो की शोषण प्रणाली शक्ति के आधार पर बनी हुई है और इस शोषण व्यवस्था को शक्ति के प्रयोग द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। इसलिये साम्यवाद पूँजीवाद के समाप्त करने के निमित्त हिंसा और रक्तपातपूर्ण क्रान्तियो का समर्थन करता है। इसके विपरीत अन्य समाजवादी लोग हडताल इत्यादि कानून-सम्मत उपायो द्वारा ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते है। भारत मे भी प्रमुखता यही प्रवृत्ति कार्यरत है।

इसमे कोई सदेह नही कि समाजवाद और साम्यवाद ने श्रमिक-वर्ग की दशा को बहुत सुधारा है। बेकारी को समाप्त करके प्रत्येक श्रमिक का जीवननिर्वाह के योग्य समुचित वेतन देने की व्यवस्था कर दी है। परन्तु साम्यवाद के अतर्गत उत्पादनो के साधनो का राष्ट्रीयकरण कर दिये जाने का

एक दुष्परिणाम यह है कि श्रमिको मे अधिक काय करने का उत्साह मन्द पड जाता है। ऐसा इसलिए कि वे उस काय मे अपनापन अनुभव नही करते। प्रत्येक श्रमिक यह सोचेगा कि काम तो सरकार का है और मुझे वेतन उतना ही मिलना है, चाहे मैं काम अधिक करूँ या कम। परन्तु यह पूँजीवादियो की थोथी युक्ति है, क्योकि साम्यवाद के अन्तर्गत श्रमिक यह अनुभव करते हैं कि राज्य का काम उनका अपना काम है। उनके श्रम का फल उन्हे ही प्राप्त होगा। जब उन्हे जीवन निर्वाह के पर्याप्त साधन प्राप्त हो जाते हैं, तो उन्हे आलसी पडे रहना अथवा काय की उपेक्षा करना भला प्रतीत नही होता। सामूहिक हित साधन की राष्ट्रीय भावना भी उन आलसी नही बनने देती।

जमनी मे राष्ट्रीय समाजवाद का प्रचार नाजी पार्टी ने किया। राष्ट्रीय समाजवाद के अन्तगत भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीन ली गई और राष्ट्र का हित सर्वोपरि बना दिया गया। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता कि राष्ट्रीय समाजवाद की प्रणाली द्वारा जमनी ने कल्पनातीत उन्नति कर ली थी। उस उन्नति का ही यह परिणाम था कि वह इतने वर्षों तक अकेला ससार की सब सम्मिलित बडी शक्तियो से लोहा लेता रहा। परन्तु जमनी ने शक्ति मद म उन्मत्त होकर अन्य पडोसी राष्ट्रो को हथियाना शुरू कर दिया, जिसके फलस्वरूप दो विश्व युद्ध हुए और जमनी परास्त हो गया। जमनी की उन्नति का श्रेय राष्ट्रीय समाजवाद को दिया जा सकता है, किन्तु जमनी की अवनति या पराजय का दोष राष्ट्रीय समाजवाद के सिर नही मढा जा सकता क्योकि दूसरे राष्ट्रो को हथियाना, उन पर आक्रमण करना राष्ट्रीय समाजवाद का कोई अनिवाय अग नही है। वह तो एक पागल व्यक्ति का उन्माद था, जिसका फल जमनी को पराजय और आतरिक विभाजन के रूप म भोगना पड रहा है।

समाजवाद राज्यो की सीमाओ को मानकर नही चलता। वह तो साय ससार को केवल दो वर्गों म बाँट देता है, एक शोपक-वग और दूसरा शोषित वग। वह समस्त ससार के शोपितो को सगठित करके उनका सामूहिक मोर्चा बनाना चाहता है जिससे ससार मे शोपक-वग की समाप्ति हो जाए और वगहीन समाज की स्थापना की जा सके। यही कारण है कि ससार के पूँजीवादी देश समाजवाद से बहुत आतकित हैं और वहाँ का सत्ताधारी वग, जो शोपक वग ही है, समाजवाद की बढती हुई लहर को रोकने के लिए अत्यन्त सतक और सचेष्ट है। इस समय एक ओर रूस और चीन इत्यादि

साम्यवादी देशों में और दूसरी ओर अमेरिका, इग्लैंड इत्यादि पूँजीवादी देशों में इसी कारण तनाव बना हुआ है, युद्ध का भय छाया हुआ है।

भारत में महात्मा गांधी ने इस समाजवाद को नये रूप में स्वीकार किया। जिस प्रकार समाजवाद सब मनुष्यों को समान मानकर चलता है और सब श्रम करने वाले व्यक्तियों को सुख पहुँचाना चाहता है, उसी प्रकार महात्मा गांधी भी सारी जनता के कल्याण को अपना लक्ष्य मानकर चले। गांधीवाद अर्थशास्त्र और राजनीति दोनों को ही धर्म के साथ मिला देता है। गांधीवाद जीवन के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक पक्षों को साथ लेकर चलता है। समाजवाद प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की मात्र भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर जोर देता है वहाँ गांधीवाद आध्यात्मिक उन्नति के साथ जीवन की आवश्यकताओं को कम करने का आग्रह करता है, क्योंकि आवश्यकताओं को बढ़ाते जाने की कोई सीमा नहीं। यदि हम उत्पादन के सामर्थ्य में वृद्धि के साथ-साथ आवश्यकताओं में भी वृद्धि करते जाएँ तो शांति और सुख सदा कल्पना की ही वस्तु बने रहेंगे। समाजवाद और गांधीवाद में यह एक आधारभूत अंतर है कि समाजवाद जीवन की आवश्यकताओं को कम करने के नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष पर ध्यान नहीं देता बल्कि जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के केवल भौतिक पक्ष पर ध्यान देता है, जबकि गांधीवाद दोनों पक्षों पर समान रूप से ध्यान देता है। गांधीवाद की यह आत्यंतिक विशेषता नितान्त निजी और मात्र भौतिक भारतीय समन्वय भावना के सर्वथा अनुकूल है।

समाजवाद उत्पादन के लिए मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग करने का समर्थक है क्योंकि मशीनों से उत्पादन सरलता से और अधिक हो सकता है। यदि मनुष्य मशीनों द्वारा थोड़े समय में अधिक उत्पादन करके अपनी सारी आवश्यकताओं को पूरा कर सके, तो वह अपने शेष समय का उपयोग ... कला आदि में आनन्द लेने अथवा कला या ज्ञान की साधना में कर सकता है। इसके विपरीत गांधीवाद कुटीर-उद्योग का समर्थक है। गांधीवादियों का कथन है कि मशीनें मनुष्य की आत्मनिर्भरता को छीन लेती हैं। जब मशीनों के द्वारा उत्पादन अधिक होने लगता है तो उस माल को खपाने के लिए बाजार ढूँढने की आवश्यकता होती है और जिस तरह पूँजीवादी व्यवस्था में माल को बेचने के लिये साम्राज्य बनाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में भी हो सकती है। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, मशीनों की बजाय कुटीर-उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। यदि लोग अपनी आवश्यकताओं को घटाने का ध्यान रखें, तो कुटीर-उद्योगों द्वारा

भी उनकी नितान्त आवश्यक आवश्यकता सरलता से पूर्ण हो सकती हैं। परन्तु आज के वैज्ञानिक युग की प्रगति को देखते हुए गांधीवाद का यह दावा ठीक प्रतीत नहीं होता कि मशीनों के बिना काम चल सकता है। मशीनें आज की सभ्यता का अपरिहार्य अंग है।

सत्य और अहिंसा गांधीवाद के मुख्य अंग हैं। यहाँ भी गांधीवाद और साम्यवाद में आधारभूत अंतर है। गांधीवाद अन्याय और शोषण की समाप्ति अवश्य चाहता है, किन्तु इसके वह केवल शांतिपूर्ण, अहिंसात्मक उपायों का ही अवलम्बन करता है जबकि साम्यवादियों के मतानुसार शांतिपूर्ण उपायों द्वारा शोषण-व्यवस्थाओं को नष्ट नहीं किया जा सकता। गांधीवाद मनुष्य के हृदय को जीतने में विश्वास रखता है, इसलिए वह प्रेम और आग्रह द्वारा शोषकों का हृदय परिवर्तन करना चाहता है। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी द्वारा अंग्रेजों से स्वराज्य ले लेने का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इस उदाहरण की सत्यता में संदेह की पर्याप्त गुंजाइश है। दूसरा उदाहरण आचार्य विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन का है, जिसमें वे भूमि के स्वामियों से भूमि माँग-माँग कर भूमिहीन श्रमिकों को दिलवाते रहे हैं। इस आन्दोलन की सफलता के सामने स्पष्ट प्रश्न चिह्न लगा है। सम्भवतः यह निश्चय कभी न किया जा सकेगा कि बिना रक्तपात के जमींदारों से भूमि लेकर भूमिहीनों को दिलवाने में कितना भाग प्रेम और आग्रह का रहा और कितना सरकारी कानूनों का, जिसका उल्लंघन कर पाना जमींदार जैसे शोषक वर्ग के लिए सम्भव नहीं, फिर भी सम्भव हो रहा है।

मुख्य रूप में गांधीवाद और समाजवाद का यह अंतर ध्यान रखने योग्य है कि उनमें से एक तो उत्कृष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधन भी उत्कृष्ट ही रखना चाहता है जबकि दूसरा केवल लक्ष्य की उत्कृष्टता की ओर ध्यान देता है, और अच्छे या बुरे जो भी साधन मिल जाएँ उनसे काम चला लेना उचित समझता है।

समाजवादियों की भाँति गांधीवाद भी श्रम के गौरव का प्रतिपादन करता है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना ही चाहिए। जो व्यक्ति श्रम नहीं करता, उसे सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से गांधीवाद अधिक आदर्शवादी और पूर्ण कहा जा सकता है। परन्तु इस कुटिल और दूषित संसार में शोषितों के कष्टों को कम करने के लिए समाजवाद अधिक और शीघ्र सफल सिद्ध हो सकता है। वैसे यदि गांधीवाद अपने लक्ष्य तक शीघ्र पहुँच पाने में समर्थ हो, तो

गांधीवाद को अधिक श्रेष्ठ कहा जाएगा। साम्यवाद की सफलता तो प्रत्यक्ष हो चुकी है, तथा गांधीवाद की सफलता अभी प्रत्यक्ष होनी शेष है जिसका अवसर आ पाना आज के सिद्धांतहीन अराजक वातावरण में सम्भव प्रतीत नहीं होता।

५६ | राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

अपनी मूलभूत भावगत अवधारणा में राष्ट्रीयता का अर्थ है—देश प्रेम की उत्कट भावना। राष्ट्रीयता एक प्रकार का राजनीतिक आन्दोलन है जो उस समय बल पकड़ता है, जब कोई देश पराधीन हो अथवा उस पर विदेशी आक्रमण का संकट आ पड़ा हो। ऐसे गम्भीर अवसरों पर देश के निवासियों में आत्मगौरव की भावना जगाना अभीष्ट होता है, जिससे वे स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये अथवा स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए जूझ मरने को कटिबद्ध हो जाएँ। उदाहरण के लिए स्वाधीनता प्राप्त करने से पूर्व भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र रूप से जागृत किया गया था। इस कारण लाखों व्यक्तियों ने निर्भयतापूर्वक लाठियों और गोलियों के बर्बर आघात सहन किए। वर्षों तक जेलों की यातनाएँ सही। कितने ही वीर युवक फाँसी के तख्ते पर झूल गये। किन्तु वे स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अपने दृढ़ संकल्प से विचलित नहीं हुए। जब किसी देश में राष्ट्रीयता की भावना इतनी प्रचण्ड हो उठे, तब उसे देर तक दास बनाये रखना सम्भव नहीं होता। विश्व के इतिहास में इस बात के कितने ही प्रमाण मिल चुके हैं।

राष्ट्रीयता की भावना का विकास यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत अधिक हुआ। उस समय बिस्मार्क ने जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना को जगाकर उसे एक सुसंगठित और शक्तिशाली राज्य का रूप दिया। इसी प्रकार इटली भी कई विदेशी राज्यों के चंगुल में जकड़ा हुआ था और उसकी शक्ति बिखरी हुई थी। मेजिनि ने वहाँ राष्ट्रीयता की भावना को उद्दीप्त किया और नवीन इटली की स्थापना की। उसके पश्चात् मुसोलिनी ने राष्ट्रीयता की इस भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि इटली ने अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया और उसे जीत भी लिया।

देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप जब किसी राष्ट्र मे राष्ट्रीयता की भावना को जगाना अभीष्ट होता है, तब जनता को उस देश के सुनहले गौरवमय अतीत का स्मरण कराया जाता है। उस देश की प्राचीन सभ्यता और पुरानी श्रेष्ठ परम्पराएँ सुंदर रूप मे प्रस्तुत की जाती हैं। उस देश मे कब कौन-कौन से तपस्वी कलाकार हुए, कब किन योद्धाओ ने युद्धो मे विजय प्राप्त की और उस देश के मनीषियो ने अपने विचारो द्वारा संसार को भावी की कौन-कौन सी विभूतियाँ प्रदान की, इन सबका मनोहारी आकर्षक वर्णन जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इसका प्रभाव भी अपेक्षित रूप मे पड़ता है और राष्ट्रीयता का भाव प्रायः उद्दीप्त होकर जाग जाया करता है।

जब किसी देश के निवासियो को अपने गौरवमय अतीत का ज्ञान होता है, तब उनमे स्वाभिमान जाग उठता है। वे आत्महीनता के भाव को त्यागकर अपने को महान् अनुभव करने लगते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि कोई उन्हे दबाकर अपने अधीन रखना चाहता है, तो उससे वे मरणात्मक संघर्ष करने को उद्यत हो उठते हैं। राष्ट्रीयता की इस भावना को जागृत करने मे देश के कवियो, संगीतज्ञो, उपन्यासकारो और राजनीतिक नेताओ का बहुत बड़ा हाथ होता है। उदाहरण के लिए इटली मे मैजिनी का तथा जर्मनी मे हेगल और नीत्शे का राष्ट्रीय भावना को दृढ करने मे बहुत गहरा हाथ रहा।

राष्ट्रीय जागरूकता के अनेक लाभ हैं। यह व्यक्ति के संकुचित विचारो को समाप्त करके उसके मन मे स्वार्थ-त्याग की महान् भावनाओ को जागृत करती है। व्यक्ति अपने हित की अपेक्षा राष्ट्र के हित को बड़ा समझने लगता है और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने, यहाँ तक कि प्राण देने को भी उद्यत हो जाता है। राष्ट्रीयता की भावना व्यक्ति मे स्वाभिमान उत्पन्न करती है और उसे दृढ संकल्प बनाती है। इस भावना से प्रेरित होकर अनेक वीर युवको ने वीरत्व और साहस के अनेक ऐसे महान कार्य किए है जिन्हे वे अन्यथा कभी न कर पाते। सुभाषचन्द्र बोस का उदाहरण हमारे सम्मुख है। देश की स्वाधीनता के लिए वे अविराम संघर्ष करते रहे। अन्त मे विदेशी शासको की आँखो मे धूल झोंककर वे देश से भाग निकले। जापान मे पहुँच कर उन्होने 'आजाद हिन्द' फौज का संगठन किया। उनके पास न खाने-पीने की सामग्री थी और न लड़ने के लिए उत्तम शस्त्रास्त्र थे। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना और नेता जी सुभाष के उदाहरण से अनुप्राणित होकर इस फौज ने आसाम के मोर्चे पर अंग्रेजो की सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न सेनाओ से डटकर टक्कर ली। यदि इस बीच मे जर्मनी और जापान न हार जाते तो

अधिक सम्भव यही था कि भारत को स्वाधीन कराने का श्रेय आजाद हिन्द फौज को ही मिल पाता ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दूसरे और तीसरे वर्षों मे अग्रेजो ने भी अपनी राष्ट्रीयता की प्रबल भावना का अच्छा परिचय दिया था। उन दिनो जर्मन वायु सेना इंग्लैण्ड पर धुआंधार बम-वर्षा कर रही थी। इंग्लैण्ड के लिए सचमुच भयानक सकट उपस्थित था किन्तु अग्रेजो की राष्ट्रीय भावना ही उन्हे उस समय बचा पाने मे समर्थ हुई। सारे कष्टो को सहते हुए भी अग्रेजो का नारा यही रहा—'समर्पण हम कभी नही करेंगे।' इस भावनात्मक बल से ही मित्र राष्ट्रो के सहयोग से वह विजय का मुख देख सके।

जिस समय राष्ट्रीयता की यह भावना किसी देश को दासता से छुडाने या आक्रमण से बचाने मे सहायक होती है, उस समय इसे प्रशसनीय कहा जा सकता है। परन्तु जब राष्ट्रीयता के प्रचारक किसी देश या जाति के गुण गा गाकर उसके मन मे गौरव की ऐसी भावना भर देते हैं कि वह देश या जाति अपने आप ससार के अन्य देशो या जातियो की अपेक्षा अधिक उच्च और महान् समझने लगे और यहाँ तक कि दूसरे देशो या जातियो पर शासन करने को अधीर हो उठे तब राष्ट्रीयता का भयावह रूप प्रकट होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पहले जर्मनी मे यही स्थिति थी। जर्मन विचारको, लेखको और सबसे अधिक जर्मनी के नेता हिटलर ने जर्मन लोगो म यह भावना जागृत कर दी थी कि जर्मन जाति ससार म सर्वश्रेष्ठ जाति है। उसने कहा कि सारे ससार मे केवल जर्मनो मे ही शुद्ध आर्य रक्त है। वहाँ राष्ट्रीयता की भावना के आवेश म आकर जर्मनी ने यहूदियो पर भयकर अत्याचार किये। उनका विश्वास था कि प्रथम महायुद्ध मे यहूदियो ने जर्मन राष्ट्र के साथ विश्वासघात किया था। उसी राष्ट्रीयता के आवेश म जर्मनी ने अपनी सीमाओ का विस्तार करने के लिए पोलैण्ड पर आक्रमण किया। इसी प्रकार इटली म राष्ट्रीयता की भावना बढते बढते इतनी अधिक हो गई कि उसने अपना साम्राज्य निर्माण करने के लिए अबीसीनिया पर आक्रमण कर [illegible] और वहाँ के पिछडे निवासियो पर आधुनिक अस्त्रशस्त्रो का अन्धाधुन्ध प्रयोग कर उन्हे अपने अधीन कर लिया। यह उग्रता उचित नहीं कही जा सकती। क्योकि जब राष्ट्रीयता ऐसा उग्र रूप धारण कर लेती है, तो वह विश्व शान्ति के लिए भयानक सकट बन जाता है। जो राष्ट्रीयता शोषित और पराधीन राष्ट्रो को दासता की बेडियो से मुक्त करने मे वरदान सिद्ध होती

है वही औचित्य की सीमा को लाघ जाने के उपरान्त अन्य दुर्बल राष्ट्रो को दासता की बेडियो मे जकडने का साधन बनकर मानवता के लिए अभिशाप बन जाती है। अग्रेज भी इसी नीति पर चले और आज चीन भी इसी भावना से परिचालित होकर बाकी सबको ध्वस्त कर देने के सपने देखने लगा है। पाकिस्तान जैसे कुछ मुस्लिम राष्ट्र भी ऐसे दिवा-स्वप्न देखने मे मस्त हैं और विनाश की राह पर चल रहे हैं।

वस्तुत अब इस प्रकार की राष्ट्रीयता का युग समाप्त होकर विकसित अन्तर्राष्ट्रीयता का युग आ गया है। वैज्ञानिक प्रगति ने ससार के सुदूर स्थानो को भी एक-दूसरे के बहुत निकट ला दिया है। स्वभावत ही राज्यो को एक दूसरे के घनिष्ठ सपर्क मे आना पडता है। दूरस्थ देशो मे भी परस्पर व्यापारिक और सास्कृतिक आदान प्रदान होने लगे हैं। ऐसी दशा मे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बढावा देना अत्यन्त अभीष्ट हो गया है। आज से सौ वर्ष पूर्व किसी भी देश के लिए यह सम्भव था कि वह ससार के अन्य सभी देशो से सम्बन्ध विच्छेद करके अलग पडा रहे और शेष ससार की कोई खोज खबर न रखे। उस दशा मे न तो उस राज्य की गतिविधि का कोई अच्छा या बुरा प्रभाव दूसरे देशो पर पडता था और न दूसरे देशो का कोई प्रभाव उस देश पर पडता था। परन्तु आज स्थिति विभिन्न है। आज यदि चीन मे धान की फसल अच्छी होती है, तो उसका प्रभाव अमरिका तक के बाजारो पर पडता है। यदि रूस मे कोई चादी की खान निकल आती है, तो उसका प्रभाव तुरन्त इग्लैण्ड के बाजार पर दृष्टिगोचर होने लगता है। आज आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सभी देश परस्पर घनिष्ठ और अन्योन्याश्रित होकर सन्निकट आ गये हैं।

ऐसी दशा मे यदि सब राष्ट्र अपनी अपनी राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार करने लगें, प्रत्येक देश या जाति अपने-आपको अन्य देशो और जातियो की अपेक्षा उच्च और महान् समझने लगे तो विभिन्न देशो मे परस्पर मित्रतापूर्ण सम्बन्धो का अस्तित्व नहीं रह सकता। ससार मे सब देश शान्ति से और मित्रतापूर्वक रह सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का अधिकाधिक प्रचार किया जाए सब राष्ट्रो मे सहिष्णुता की भावना जागृत की जाए। सब देश सह अस्तित्व या 'जीयो तथा जीने दो' के सिद्धान्त का पालन करना सीखें, तभी ससार के विभिन्न देशो मे मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं और सारी मानवता का हित साधन भी सम्भव है।

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर 'लीग आफ नेशन्स' (League of Nations) नामक सस्था की स्थापना की गई थी। इस अंतर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत अच्छी थी। ससार के अनेक राष्ट्र इसके सदस्य थे। प्रथम विश्व-युद्ध की विभीषिका से आतंकित होकर राष्ट्रो ने यह निश्चय किया था कि भविष्य म वे अपने विवादो का हल शस्त्रो द्वारा न करके शातिपूर्वक विचार विमश द्वारा किया करेंगे। परतु उस समय तक अतर्राष्ट्रीयता की भावना नई वस्तु थी। राष्ट्रीयता की जडें बहुत गहरी जमी हुई थी। इसका फल हुआ जब जब राष्ट्रीयता के जोश मे आकर किसी भी राष्ट्र ने किसी अन्य दुबल राष्ट्र को दबाना चाहा और 'लीग आफ नेशन्स' ने उस शक्तिशाली राष्ट्र को रोकना की चेष्टा की तो उस शक्तिशाली आक्रमण राष्ट्र ने 'लीग आफ नेशन्स' की सदस्यता छोड दी और दुबल राष्ट्र पर अपना अन्यायपूण आक्रमण जारी रखा। अबीसीनिया के सम्बन्ध मे इटली ने और मचूरिया के सम्बध म जापान ने यही किया। 'लीग आफ नेशन्स' ने इटली और जापान दोनो को ही आक्रमण से विरत करना चाहा, परन्तु इनमे से किसी ने भी उसकी रत्ती भर भी परवाह न की। परिणामत ससार की दृष्टि मे इस सस्था का मान घट गया। फिर जमनी के हिटलर ने तो उसकी धज्जियाँ ही उडा दी और यह सस्था बिखर कर प्राय समाप्त हो गई।

भले ही 'लीग आफ नेशन्स' अपने उद्देश्य को पूण करने मे सफल नही हुई, परन्तु जिस उद्देश्य को लेकर वह चली थी, वह उचित था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात फिर सयुक्त राष्ट्र सघ नाम की एक सस्था बनाई गई है जो बहुत कुछ 'लीग आफ नेशन्स' के ढग पर ही काय कर रही है। इस विश्व क सम्मुख उपस्थित अनेक कठिन समस्याओ को सुलझाने म काफी सफलता भी मिली है।

सयुक्त राष्ट्र सघ की काय विधि मे अनेक त्रुटियाँ भी हैं, जिसके कारण सम्भव है कि किसी दिन सयुक्त राष्ट्र-सघ को भी 'लीग आफ नेशन्स' की तरह असफल होना पडे। यह सत्य है कि कुछ शक्ति सम्पन्न स्वार्थी राष्ट्रो के दबाव के कारण वह आज तक विश्व की कई समस्याएँ नही भी सुलझा सका, फिर भी वह चाहे सफल हो या असफल वतमान ससार का काम अतर्राष्ट्रीयता की भावना का अधिकाधिक विकास किए बिना चल नही सकता। परमाणुशक्ति के आविष्कार ने राष्ट्रीयता के युग को समाप्त कर दिया है। आज वह समय आ गया है जबकि मानव जाति तथा मानवता की रक्षा करने के लिए हम अतर्राष्ट्रीयता की उदार भावना को ही अपनाएँ

चाहिए। यह नय युग की तीव्र लहर है। या तो यह लहर विजयी होगी, या फिर मानवता द्वारा निर्मित शस्त्रो से ही नष्ट हो जायेगी। तब राष्ट्रीयता ही मर जायगी, अ तर्राष्ट्रीयता का तो नाम तक नही रहेगा। विशुद्ध मानवता की भावना ही मानवता का राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की सीमा मे जीवित रख सकती है। अत मुख्यत मानवीयता के विकास की आवश्यकता ही अधिक है।

५७ | सयुक्त राष्ट्र सघ

स्वभाव से मनुष्य शात प्रकृति वाला सामाजिक प्राणी है। फिर भी मनुष्य के अदर विद्यमान आद्य पशु-वृत्ति समय-समय पर अपना हिंस रूप प्रकट करती रहती है। शाति का थोडा सा भी समय नही बीतने पाता कि फिर युद्ध की घटाएँ घुमडने लगती हैं। सब ओर की गडगडाहट सुनाई पडने लगती है। विनाश का महा भयकर ताडव प्रारम्भ हो जाता है। शाति के थोडे से काल म जो कुछ सम्पत्ति और वैभव सचित किया जाता है, वह फिर युद्ध की वेदी पर बलि चढा दिया जाता है। मानव-जाति विकास की कई सीढियाँ नीचे उतर जाती है। सभी साधनाएँ व्यय होकर रह जाती हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध मे जन-धन की इतनी अधिक हानि हुई थी कि जिससे विश्व के सभी विचारशील व्यक्तियो को यह सोचने के लिए विवश होना पडा कि युद्धा से होन वाले इस भयानक विनाश को रोकने की कुछ व्यवस्था की जाए। यदि अनेक दशाब्दियो की सचित समृद्धि इस प्रकार युद्ध म नष्ट होती रही ता मानव जाति चिरकाल तक अभाव और कष्टो से ही ग्रस्त रहगी। ऐसा समय कभी न आयेगा, जब ससार मे सब लोग शातिपूर्वक सुख का जीवन व्यतीत कर सकें। युद्ध मानव का सबसे बडा शत्रु है।

शाति के अभाव तथा युद्ध के कारण होने वाले कष्टा को भी लोग, शायद सह लेते—आखिर पिछले हजारों वर्षों से वे उन्हे सहत ही आ रहे थे—परन्तु पिछली दो शताब्दिया म हुई वैज्ञानिक उन्नति ने एक बिल्कुल नई समस्या खडी कर दी है। विज्ञान का योग रचनात्मक कार्यों म जितना रहा उसस कहीं अधिक विनाशात्मक कार्यों मे होने लगा। विज्ञान की दिना दिन होती हुई उन्नति ने इस बात का वास्तविक सकट उपस्थित कर दिया कि यदि

मनुष्य की उच्छृंखलता और स्वार्थ-भावना को नियंत्रित न किया गया और युद्धों की रोक-थाम की कोई समुचित व्यवस्था न की गई, तो भयानक विध्वंसकारी वैज्ञानिक शस्त्रों के प्रयोग द्वारा मानव-सभ्यता का समूल नाश हो जायेगा। इसलिए प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्र संघ की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया। इस विचार की पृष्ठ भूमि में यह भावना काम कर रही थी कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों को पारस्परिक मतभेदों और विवादों का हल शांतिपूर्वक वार्तालापों और समझौतों-द्वारा करना चाहिए, युद्ध-घोषणा और शस्त्रों के प्रयोग द्वारा नहीं।

संसार के समस्त राष्ट्रों का एक संयुक्त संगठन ऐसा होना चाहिए, जिसमें सब राष्ट्र इकट्ठे बैठकर विचार-विनिमय कर सकें और पारस्परिक विवादों का उचित समाधान ढूंढ सकें। इसका सर्वप्रथम परीक्षण 'लीग आफ नेशंस' में किया गया। यह बात दूसरी है कि कई कारणों से 'लीग आफ नेशंस' असफल रही परंतु उसने अनेक उपयोगी कार्य किये। 'लीग आफ नेशंस' की सबसे बड़ी दुर्बलता यह सिद्ध हुई कि उसके पास अपने निर्णयों को मनवाने के लिए कोई सेना या अन्य शक्ति नहीं थी। इसीलिए जब इटली ने अबीसीनिया पर और जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया, तो 'लीग आफ नेशंस' चाहते हुए भी कुछ न कर सकी। फलस्वरूप उसका प्रभाव दिन प्रतिदिन कम होता गया। १६३६ में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने पर तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

द्वितीय विश्व-युद्ध प्रथम विश्व-युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक संहारकारी प्रमाणित हुआ। इस युद्ध की अंतिम आहुति हिरोशिमा और नागासाकी पर छोड़े गए घातक परमाणु-बमों से हुई। इनमें से प्रत्येक परमाणु-बम तीन लाख निवासियों के समूचे शहर को कुछ मिनटों में विनष्ट कर डालने में सफल सिद्ध हुआ। इससे समस्त विश्व आतंकित हो उठा। सब विवादों का हल वार्तालाप और समझौतों द्वारा करने की आवश्यकता पहले से भी अधिक तीव्र रूप में अनुभव की जाने लगी। सारा विश्व इस दिशा में सक्रिय हो उठा।

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति से कुछ पहले ही अटलांटिक घोषणा पत्र बनाया गया था, जिसमें समस्त मानव-जाति को विचारों और धर्म की स्वाधीनता, निर्भय जीवन व्यतीत करने का अधिकार तथा अभाव से मुक्ति दिलाने की घोषणा की गई थी। इस प्रकार द्वितीय विश्व-युद्ध अत्यधिक विनाशकारी होने पर भी एक तरह से वरदान सिद्ध हुआ, क्योंकि इसमें

हुए विनाश से आतंकित होकर संसार के विभिन्न देशों ने भविष्य में युद्ध को सदा के लिए समाप्त कर देने का संकल्प कर लिया। यदि युद्ध में दोनों पक्षों के पास परमाणु-बम हों, तो युद्ध का अंत निश्चित रूप से यह है कि दोनों पक्षों के साथ-साथ समूची मानव जाति का पूर्ण विनाश, जिसकी कल्पना ही भयावह है।

युद्ध के उपरांत सानफ्रांसिस्को में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसका उद्देश्य मानव-स्वाधीनता के अधिकारों की घोषणा करना था। इस सम्मेलन में पचास से अधिक राष्ट्रों ने भाग लिया और इन सब राष्ट्रों ने एक स्वर से युद्ध-लोलुप शासक-वर्ग की तीव्र निंदा की। सब राष्ट्र इस बात पर सहमत हुए कि संसार के सब भागों में सामाजिक और आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शांतिपूर्ण चर्चाओं द्वारा किया जाना चाहिए। सानफ्रांसिस्को में हुए इस सम्मेलन के घोषणा-पत्र में यह स्वीकार किया गया कि सब मनुष्य समान हैं। उन्हें आत्म विकास के समान अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। लोगों को विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार दिया गया। सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता बरतने का सुझाव प्रस्तुत किया गया और संसार के छोटे-बड़े सब राष्ट्रों को अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करने का अधिकार दिया गया।

पिछले दोनों विश्व-युद्ध अन्ध राष्ट्रीयता के उन्माद से ग्रस्त राष्ट्र-नेताओं की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के परिणाम थे। जर्मनी और इटली में शासन की बागडोर प्रजा के हाथ में न रहकर अधिनायकों के हाथ में आ गई थी। उनके ऊपर किसी का कोई नियंत्रण नहीं था। इसलिए वे युद्ध छेड़ पाने में सफल हुए। यदि इटली और जर्मनी में प्रजातन्त्र शासन होता, तो युद्ध इतनी सरलता से न छिड़ पाता। इसलिए सानफ्रांसिस्को के घोषणा-पत्र में प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना का समर्थन किया गया। इस घोषणा-पत्र के आधार पर ही संयुक्त राष्ट्र-संघ नामक संस्था का निर्माण सम्भव हो सका।

संयुक्त राष्ट्र-संघ 'लीग आफ नेशन्स' के ढंग की ही एक बहुराष्ट्रीय संस्था है। इसके उद्देश्य भी वही हैं, जो लीग आफ नेशन्स के थे। इसका लक्ष्य संसार के विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर सहयोग, सद्भावना, सहिष्णुता और विश्व-बन्धुत्व का प्रचार करना है। संसार के प्रायः सब देश संयुक्त राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र-संघ निष्पक्षता और न्यायपूर्वक कार्य करता रहा, तो आशा है कि यह युद्ध को बहुत समय तक रोक पाने में सफल होगा,

और इसकी छाया में मानव-जाति सुख और शांति की सांस ले सकेगी। अभी तक इस आशा-पूर्ति में उसे सफल ही कहा जाएगा।

संयुक्त राष्ट्र-संघ एक अत्यन्त विशाल संस्था है, जिसके कई महत्त्वपूर्ण अंग हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ की सबसे बड़ी अधिकार-सम्पन्न सभा जनरल असेम्बली है। इस जनरल असेम्बली को ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अन्तिम रूप से निर्णय देने का अधिकार है। जनरल असेम्बली की बैठक साधारणतया वर्ष में एक बार होती है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर वह कभी भी बुलाई जा सकती है। जनरल असेम्बली में कोई भी निर्णय तभी स्वीकृत हुआ समझा जाता है, जब उसके पक्ष में दो तिहाई मत प्राप्त हों।

जनरल असेम्बली के बाद सुरक्षा-परिषद् का स्थान है। सुरक्षा-परिषद जनरल असेम्बली की कार्यकारिणी समिति के रूप में कार्य करती है। सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्य विश्व शांति बनाये रखना है। इसके लिए वह संगठित सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत पर कहीं भी होने वाले आक्रमण का प्रतिरोध करती है। सुरक्षा परिषद् में ग्यारह देशों के प्रतिनिधि होते हैं। अमेरिका, रूस, इंगलैण्ड, चीन और फ्रांस सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य राष्ट्र हैं। सब महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ पहले सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत की जाती हैं बाद में अन्य परिषदों में।

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र-संघ के और भी कई महत्त्वपूर्ण अंग हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक, अन्न एवं कृषि संगठन, विश्व-स्वास्थ्य संगठन, संयुक्त राष्ट्रीय आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन इत्यादि। ये सभी संस्थाएँ विश्व में विभिन्न राष्ट्रों में परस्पर सहयोग को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से पिछड़े हुए देशों को अपना विकास करने के लिए सहायता भी दी जा रही है।

संयुक्त राष्ट्र-संगठन लीग आफ नेशन्स की भाँति एकदम अशक्त और असमर्थ नहीं है। जब कोरिया में कम्युनिस्ट सेनाओं ने ३८ वीं अक्षांश रेखा को पार करके दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया, तब संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद ने उस आक्रमण के प्रतिरोध का निश्चय किया। कई राष्ट्रों की सम्मिलित सेना उस आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए भेजी गयी। परन्तु इस सेना में अधिकांश अमरीकन सेनाएँ ही थीं। कई महीनों की लड़ाई के पश्चात ही आक्रान्ताओं को फिर इस अक्षांश के उत्तर की ओर खदेड़ दिया गया। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र-संघ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह लीग आफ नेशन्स की भाँति केवल आज्ञा देकर ही चुप नहीं रह जाएगा,

बल्कि अपनी आज्ञा का पालन करवाने के लिए अवसर पडने पर शक्ति का प्रयोग भी करेगा। फिलस्तीन मे अरब और यहूदियो के झगडे म काश्मीर मे भारत और पाकिस्तान के विवाद मे भी मध्यस्थता करने के लिए सुरक्षा-परिषद ने अपने निरीक्षक भेजे हुए हैं। इस्राइल-लेबनान के झगडे म भी सयुक्त राष्ट्र सघ के तत्वावधान मे महत्त्वपूर्ण काय सम्पादित हुआ और हो रहा है।

स्वेज समस्या को अपने हाथ म लेकर सयुक्त राष्ट्र-सघ ने मिस्र और ब्रिटेन तथा फ्रास के युद्ध को बन्द करवाकर विश्व शाति को भग होने से बचाया। इसी प्रकार पश्चिमी मध्य एशिया मे इराक मे प्रजातन्त्र शासन की स्थापना पर विश्वशान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अब किसी भी समय विश्व-युद्ध छिड सकता है। परन्तु सयुक्त राष्ट्र-सघ के प्रयत्नों से यह समस्या भी सुलझ सकी। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र-सघ विश्व शान्ति को बनाय रखने मे सफलता प्राप्त करता रहा है।

सयुक्त राष्ट्र-सघ सिद्धान्तत एक उत्तम आदश है। इस सगठन के द्वारा सारे ससार मे एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। किन्तु इस विषय मे सबसे बडी बाधा गुटबन्दी की है। आजकल ससार दो गुटा मे बट गया है, एक कम्युनिस्ट गुट और दूसरा कम्युनिस्ट विरोधी गुट। इन दोनो गुटा मे एक दूसरे के प्रति गहरा अविश्वास है और दोनो एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त सशक हैं। इसका परिणाम यह है कि दोनो ही पक्ष विरोधी पक्ष को आतकित करने के लिए तरह-तरह का प्रचार करते रहते हैं। यह प्रचार-युद्ध ही ससार मे अशान्ति का बडा कारण बन गया है। सयुक्त राष्ट्र-सगठन मे भी यह गुटबन्दी स्पष्ट दिखाई पडती है। सयुक्त राष्ट्र सगठन मे बहुमत अमेरिका के पक्षपाती देशा का है। परन्तु जन सख्या की दृष्टि से इस समय कम्युनिस्ट गुट के देशा का प्रभाव अधिक है। इसलिए यद्यपि वीटो के बल से अमेरिका सयुक्त राष्ट्र-सघ मे अपनी बात मनवा लेता है, किन्तु कम्युनिस्ट गुट की आवाज भी कम जोरदार नही। फिर भी दक्षिण अफीका की रग भेद नीति के बारे मे सयुक्त राष्ट्र-सघ के प्रस्तावा को प्रभावी न हो पाना चिन्ताजक स्थिति कही जाएगी।

गुटबन्दी के कारण कई बार स्पष्ट रूप से अन्याय प्रतीत होने वाली बातें भी सयुक्त राष्ट्र-सगठन म स्वीकृत हो जाती हैं। उदाहरण के लिए सयुक्त राष्ट्र सगठन मे चीन का प्रतिनिधित्व चाग-काई शेक की कुओमिंताग सरकार करती आ रही थी, जबकि केवल फारमोसा को छोडकर सारे चीन पर

को प्राप्त हो गया है। अमेरिका का बहुमत होने के कारण अक्सर वहाँ उन विषयो पर कुछ नही हो पाता जो कि उसकी इच्छा के अनुरूप नहीं होते। बंगिला देश के निर्माण और दक्षिण अफ्रीका के बहिष्कार के समय का अमेरिकी राष्ट्र सघ का रुख इस बात का प्रमाण है। इस प्रकार की अनुदार वृत्तियाँ आगे चलकर सयुक्त राष्ट्र-सगठन के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं।

सयुक्त राष्ट्र-सघ जिन आदर्शों को लेकर स्थापित किया गया है, यदि वह उनको तटस्थ रहकर न्याय और साहस से साथ पूर्ण करने का यत्न करता रहे तो वह सचमुच मानव-जाति की अनुपम सेवा कर सकेगा। अन्यथा वह भी 'लीग आफ नेशन्स' की तरह कुछ ही झटके लगने पर चरमरा कर टूट जायेगा और तब विश्व शान्ति की रही-सही आशा भी जाती रहेगी। अमेरिका मे हठ-धर्मिता के कारण कई बार ऐसे अवसर आकर टल गए हैं। भविष्य को भगवान ही जानता है।

५८ | अहिंसा और विश्व-शान्ति

हिंसा-अहिंसा का प्रश्न चिरकाल से बहस का विषय बनता आ रहा है, आज भी बना हुआ है। इस सन्दर्भ मे कलिंग की पराजय ससार के अन्य अनेक छोटे-बड़े राज्यों की पराजय के समान ही साधारण घटना थी। परन्तु इसका महत्त्व ससार के सास्कृतिक इतिहास में बहुत अधिक है क्योंकि कलिंग-युद्ध मे विजय प्राप्त कर लेने के उपरात अशोक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसे हिंसा की व्यर्थता समझ आ गई। विजय पर प्रसन्न होने के स्थान पर वह यह सोचकर खिन्न हो उठा कि उसके इस विजय-अभियान मे कितने ही व्यक्ति मारे गये कितने ही घर उजड़ गये, कितनी ही स्त्रियाँ विधवा हो गई और कितने ही बालक अनाथ हो गये। उस दिन से अशोक ने शस्त्र त्याग दिये और निश्चय किया कि वह भविष्य म कभी शस्त्र द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयत्न न करेगा। वह प्रेम और शांति, भाईचारे के भाव-युद्ध द्वारा ससार को विजय करेगा।

सीजर सिकन्दर नेपोलियन और हिटलर जैसे वीर सेनापतियों की साधन-सम्पन्न दुर्जेय सेनायें भी उतनी बड़ी विजय प्राप्त नही कर सकीं,

जितनी कि अशोक ने अपने प्रेम द्वारा प्राप्त की थी। भारत के अतिरिक्त सिंहल, जावा, बाली, श्याम, चीन और जापान इत्यादि देशों तक आज बौद्ध धर्म का प्रचार है, यह इस बातका प्रमाण है कि किसी दिन अशोक ने प्रेम-अभियान की विजय ध्वजा यहाँ तक फहराई थी।

अशोक के शस्त्र प्रेम और अहिंसा ही थे। भगवान बुद्ध ने अहिंसा को सब से बड़ा धर्म माना है। किसी भी जीव को मन, वचन या कर्म से कष्ट न देना सच्ची अहिंसा है। अशोक के जो शिलालेख प्राप्त होते हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि उसने जीवमात्र को सुख पहुँचाने के लिए शक्ति भर प्रयास किया था। पिछले दो महायुद्धों के उपरान्त आज संसार फिर लगभग उसी स्थान पर खड़ा है, जिस पर अशोक कलिंग-विजय के उपरान्त खड़ा था। इस युग में फिर बुद्ध भगवान् ने अहिंसा संदेश का प्रचार किया है, जिस तरह अशोक ने किया था।

बहुत समय तक संसार में युद्ध का अत्यन्त आकर्षक और गौरवमय स्वरूप चित्रित किया जाता रहा है। भारतीय शास्त्रों ने भी क्षात्र-धर्म की महिमा के गीत गाये और क्षत्रिय को जीते-जी रणभूमि से मुख न मोड़ने का उपदेश दिया। यह भी कहा गया कि रणभूमि में मरने वाला वीर सीधा स्वर्ग पहुँचता है। परन्तु भारतीय क्षात्र धर्म रक्षा प्रधान धर्म था आक्रमण प्रधान नहीं। यूरोप के हेगल, ट्रीट्स्के, नीत्शे इत्यादि विचारकों ने आक्रमण प्रधान क्षात्र धर्म की प्रशंसा की है। उन्होंने विकासवाद के इस सिद्धान्त को माना है कि जीवन-संघर्ष में अधिकतम उपयुक्त प्राणी ही विजयी होते हैं और अनुपयुक्त प्राणी काल के ग्रास बन जाते हैं। इन विचारकों के कथनानुसार युद्ध न केवल मानव जाति अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के विकास का साधन है। जब तक युद्ध नहीं होता, तब तक समर्थ-असमर्थ, मूर्ख और बुद्धिमान, भले और बुरे सभी प्रकार के प्राणी सुख से जीवित रहते हैं किसी को भी उन्नति करने की प्रेरणा प्राप्त नहीं होती। परन्तु जब एक बार युद्ध आरम्भ हो जाता है, तब असमर्थ और अनुपयुक्त प्राणी समाप्त हो जाते हैं और श्रेष्ठ प्राणियों की संतान ही अपनी वंश-वृद्धि करके उन्नति और विकास कर पाती है।

इसके अतिरिक्त युद्ध अन्याय का उन्मूलन करता है। जो लोग किसी समय सुविधा पाकर अपने अधिकार जमा लेते हैं, वे शांति की आड़ में उन्हें बनाये रखते हैं भले ही वे अधिकार कितने ही अनुचित क्यों न हों। परन्तु जब एक बार युद्ध शुरू हो जाता है, फिर अन्याय देर तक टिकने नहीं पाता। मानव प्राणियों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण नये सिरे से होना

है। इसी प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत कर इन विचारकों ने युद्ध को एक उपयोगी और अभीष्ट वस्तु, जीवन का आवश्यक धर्म बताया है।

परन्तु गत दो महायुद्धों ने युद्ध के सम्बन्ध में लोगों की धारणाओं में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया है। युद्ध मानव-जाति के विकास का साधन न होकर विनाश का साधन प्रतीत होने लगा है। यह ठीक है कि गत दो युद्धों में पर्याप्त वैज्ञानिक प्रगति हुई, परन्तु वह समस्त प्रगति विनाश की ओर ही हुई है। द्वितीय महायुद्ध में जापान के दो प्रमुख नगरों, हिरोशिमा और नागासाकी का विनाश, इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक विज्ञान ने विनाश के क्षेत्र में कितनी अधिक प्रगति कर ली है। और यह विनाश तो परमाणु-बम से ही किया गया था, अब तो रूसी और अमेरिकन वैज्ञानिकों ने उससे भी कई गुना अधिक विनाशक कोबॉल्ट और हाइड्रोजन बमों का निर्माण कर लिया है। इन बमों के आविष्कार के पश्चात् तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि यदि युद्ध का एकदम बहिष्कार न कर दिया तो विजेता और विजित दोनों के साथ-साथ आस-पास के देशों का भी अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

यह बात सम्भवतः किसी समय सत्य रही होगी कि युद्ध में असमर्थ और अशक्त प्राणी मर जाते हैं और समर्थतर प्राणी जीवित बच जाते हैं। परन्तु आजकल के युद्ध में तो समर्थ और बलिष्ठ युवक ही सबसे पहले रणचण्डी की बलि चढ़ते हैं। पुराने बूढ़े, खूसट खुर्राट लोग युद्ध की समाप्ति पर भी ज्यों के त्यों जीवित बच जाते हैं। मानव-जाति का ताजा खून व्यर्थ नष्ट हो जाता है। आधुनिक युद्ध में वे लोग जीवित नहीं बचते हैं, जिन्हें जीवित रहना चाहिए, बल्कि वे लोग बचते हैं, जो कि मरने से बचना जानते हैं। इसे विकास की प्रक्रिया कदापि नहीं कहा जा सकता, यह तो विनाश का ही भाग है।

आज का संसार युद्धों की विभीषिका से त्रस्त हो उठा है। इन युद्धों के कारण सारी मानव-सभ्यता और समाज का विनाश होता दिखाई पड़ने लगा है। इसलिए चारों ओर से यह पुकार उठ रही है कि युद्ध का सदा के लिए बहिष्कार कर दो और प्रत्येक विवाद का समाधान शान्तिपूर्ण उपायों से करो। संयुक्त राष्ट्र-संगठन तथा बांडुग आदि में हुए एशिया तथा अफ्रीका के देशों के सम्मेलन का लक्ष्य भावी युद्ध को रोकना तथा संसार के विभिन्न देशों के मध्य विद्यमान पारस्परिक तनाव को कम करना ही था। चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ

या विभिन्न राष्ट्र ने भी इसे स्वीकार किया और इसे विश्व शान्ति स्थापना के लिए सफल प्रयास माना।

प्रश्न उठता है कि युद्ध को रोकने का उपाय क्या है ? युद्ध के बीज मनुष्य के स्वभाव में ही विद्यमान हैं। यदि हमें युद्ध को सदा के लिए रोकने का यत्न करना है तो हम युद्ध के कारणों की खोज करनी होगी। यदि हम अपनी ही इस शताब्दी में हुए युद्धों के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से सभी युद्धों का मूल साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, राष्ट्रीयता, जातिभेद, वर्णभेद, सैनिक वर्ग का प्रभुत्व और समाज में विद्यमान वर्ग-भेद इत्यादि थे। इन सब के पीछे मनुष्य की स्वार्थलोलुपता और दूसरे का शोषण करने की प्रवृत्ति काम कर रही है। पूंजीवाद का तो अर्थ ही है—उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली जिसमें सम्पत्तिशाली लोग सम्पत्तिहीन श्रमिकों का शोषण करते रहे। इस प्रणाली के अन्तर्गत भूमि पर खेती करने वाले कृषक अन्न के लिए तरसते हैं, जबकि दूसरी ओर भूमि के मालिक अपने कुत्तों को भी अच्छे से अच्छा भोजन खिलाते हैं। इसी प्रकार कारखानों में कपड़ा या दूसरा सामान बनाने वाले श्रमिक उस सामान के लिए तरसते रह जाते हैं और उस सामान की बिक्री से समग्र पूंजीपति गुलछर्रे उड़ाते हैं। पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन तो पर्याप्त बढ़ जाता है, किन्तु उस उत्पादन का वितरण उचित नहीं हो पाता। एक ओर सम्पत्ति का ढेर लगता चला जाता है और दूसरी ओर गरीब और गरीब होता जाता है। इसके परिणाम स्वरूप समाज में शोषक और शोषित दो वर्गों के बीच की खाई अधिक गहरी हो जाती है, जो अन्त में पहले वर्ग संघर्ष और फिर युद्ध का कारण बन जाती है।

इसके साथ ही साथ पूंजीवादी व्यवस्था में जब उत्पादन अधिक हो जाता है, तब अपने माल को बेचने के लिए दूसरे देशों में बाजारों की खोज करनी पड़ती है। उन बाजारों पर अधिकार करने के लिए शस्त्र-बल से साम्राज्य की स्थापना की जाती है। साम्राज्यवाद के अन्तर्गत शासित जातियों को निम्न तथा शासक जातियों को उच्च समझा जाता है और अन्त में फिर शासकों और शासितों में संघर्ष होता है। इस प्रकार जाति-भेद और वर्ग भेद युद्ध के सबसे बड़े कारण रहे हैं और आज भी विद्यमान हैं।

राष्ट्रीयता की उग्र भावना भी कभी-कभी युद्ध का कारण बन जाती है जैसे द्वितीय विश्व-युद्ध के पीछे जर्मनी की उग्र राष्ट्रीयता की भावना ही काम कर रही थी। वे अपने-आपको विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति मानने लगे थे। दशा में युद्धों को सदा के लिए समाप्त कर देने का उपाय यही

है कि राष्ट्रीयता के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को अधिकाधिक प्रश्रय दिया जाये।

शोषको और शासको के क्रूर पजो से छूटने का अब तक एकमात्र उपाय युद्ध ही समझा जाता था। परन्तु महात्मा गाधी ने ससार के सम्मुख एक नया उपाय प्रस्तुत किया। यह था सत्याग्रह और अहिंसा का उपाय। गाधीजी ने कहा कि प्रेम और अहिंसा द्वारा ससार के कठोर हृदय को कोमल बनाया जा सकता है। उन्होंने अपने सिद्धात को परीक्षण द्वारा सत्य भी सिद्ध कर दिखाया। भारत की स्वाधीनता उन्होंने अहिंसक उपायो द्वारा ही प्राप्त की।

द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रचण्ड कोलाहल मे महात्मा गाधी की शान्ति और अहिंसा की आवाज को कम लोगो ने सुना था, परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर जब युद्ध का उन्माद लोगो के मस्तिष्क पर से उतर गया, तब उन्हे लगा कि वस्तुत गांधीजी द्वारा बताया गया मार्ग ही सुख और समृद्धि का मार्ग है। घृणा घृणा को जन्म देती है, हिंसा हिंसा बढाती है, जबकि प्रेम प्रेम को उत्पन्न करता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त राष्ट्रो ने यह अनुभव कर लिया कि विश्व का कल्याण इसी बात मे है कि ससार के सब राष्ट्र परस्पर मित्रता और सहयोग द्वारा एक दूसरे की सहायता करें। एक दूसरे के प्रति द्वेषभाव के स्थान पर अपने हृदय मे प्रेम को जागत करें। विश्व-बन्धुत्व एव अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना मे वृद्धि किये बिना स्थायी शान्ति कदापि सम्भव नही हो सकती, यह तथ्य आज समस्त विश्व मानने लगा है।

इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर सयुक्त-राष्ट्र-सघ का निर्माण किया गया। सयुक्त राष्ट्रसघ सब समस्याओ का हल शान्तिपूर्ण उपायो द्वारा करने का यत्न कर रहा है। कोरिया और मिस्र के युद्ध को रोककर सयुक्त राष्ट्र सघ ने विश्व शान्ति को भग होने से बचाया। इराक मे क्रान्ति हुई है और वहाँ पर प्रजातन्त्र शासन की स्थापना की गई। यदि शान्ति स्थापित करने के अहिंसात्मक प्रयत्न न करते रूस और भारतवर्ष भी हिंसात्मक कदम उठाते तो तृतीय विश्व-युद्ध अवश्य होता और आधे से अधिक ससार नष्ट हो जाता। वियतनाम के योद्धाओ ने भी आज अनुभव किया है कि समस्या का हल युद्ध मे नही शान्तिपूर्वक वार्ता मे है। यही बात परस्पर सघर्ष रत अन्य देशो के बारे मे भी तथ्यपूर्ण है।

वस्तुत शान्ति के अभाव मे मानव-जाति का विकास सम्भव नही। आज तक जितना भी रचनात्मक कार्य हुआ है उत्कृष्ट कला-कौशल और साहित्य का सृजन हुआ है, वह सब शान्ति काल मे ही हुआ है। कालिदास, भवभूति,

तुलसीदास, सूरदास, तानसेन तथा ताजमहल के निर्माता शान्ति-काल मे ही पनप सके थे। भारत ही नही यूरोप मे भी इतिहास के स्वर्णकाल वही कहे जाते हैं जिनमे पर्याप्त लम्बे समय तक शांति रही और इस शान्ति-काल म कला-कौशल और साहित्य इत्यादि का भण्डार भरा जा सका। इसके अतिरिक्त भौतिक दृष्टि से व्यापार और कृषि-समृद्धि भी शान्ति काल मे ही हो पाती है। शान्ति क्षेत्र का विस्तार अहिंसापूर्ण नीतियो पर चलने से ही हो सकता है, यह अकाट्य तथ्य है।

इस सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते कि युद्ध त्याज्य वस्तु है और शांति ससार के लिए आवश्यक और अभीष्ट है। यदि युद्ध का बहिष्कार और शान्ति की स्थापना अभीष्ट है, तो हमे अहिंसा और प्रेम की भावना को ही अपनाना होगा। वस्तुत केवल प्रेम और अहिंसा द्वारा ही शान्ति स्थापित की जा सकती है, समस्त विश्व को एक सुखमय राज्य बनाया जा सकता है। किन्तु इसके लिए हमे भगवान् बुद्ध के बताये हुए उन्ही उपदेशो पर आचरण करना होगा, जिन पर अशोक ने किया था। तभी हम भी सुखमय ससार के निर्माण म योग दे पावेंगे। हम, विश्व के हर मनुष्य को, गांधी बनना होगा। गाधी—सत्य जिसका आधार था, अहिंसा जिसका अस्त्र, प्रेम जिसकी रणनीति थी और इनसे जिसने मानवता के आदर्श राज्य की प्रतिष्ठा की थी। ऐसे गांधी बनकर ही हम भूतल को स्वर्ग बना सकेंगे, विश्व शान्ति का स्वप्न साकार कर सकेंगे, अन्य कोई भी सम्भव उपाय नही।

५९ भारत की विदेश नीति

१५ अगस्त, १९४७ को जब भारत स्वाधीन हुआ उस समय समस्त विश्व दो प्रमुख राजनीतिक गुटो मे बटा हुआ था, एक साम्यवादी गुट और दूसरा पूँजीवादी गुट। इन दोनो गुटो मे परस्पर गहरा और आधारभूत मतभेद है। ऐसा समझा जाता है कि इन दोनो प्रकार की व्यवस्थाओ का ससार में साथ-साथ टिक पाना सम्भव नही। दोनो ही गुट विकास शक्ति की दृष्टि से पर्याप्त शक्तिशाली हैं। दोनो के पास आधुनिक शस्त्रास्त्र हैं। ऐसे समय स्वभावत दोनो पक्षो ने यह आशा की कि भारत उनमे से किसी एक के साथ आ मिलेगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति काल की पैंतीस करोड़ जनता तथा विशाल क्षेत्रफल वाला

यह देश जिस भी गुट से जा मिलता, उसकी शक्ति निश्चित रूप से बहुत बढ जाती। इसी कारण दोनो ओर से खीचातानी होने लगी थी किन्तु भारत के कणधारो ने यह निश्चय किया कि भारत किसी भी एक गुट मे सम्मिलित नही होगा, तटस्थ रहेगा। वह सदा न्याय का समर्थन करेगा और जहाँ तक सम्भव होगा युद्ध का विरोध करेगा। इस प्रकार भारत की विदेश नीति के तीन मुख्य अंग बने—१ शान्तिप्रियता, २ जातीय वर्ग भेद और साम्राज्यवाद का विरोध, और ३ सक्रिय तटस्थता।

शान्तिप्रियता की बात सुनने मे सीधी-सादी प्रतीत होती है। सत्य तो यह है कि संसार का कोई भी देश खुले आम यह घोषणा नही करता कि वह युद्ध चाहता है। सब यही कहते हैं कि वे शान्ति चाहते हैं। ऐसी दशा मे शान्ति प्रियता को किसी देश की विदेश नीति कह पाना कठिन है। परन्तु भारत के सम्बन्ध मे स्थिति कुछ भिन्न है। उसके नेता जो कुछ कहते हैं, उसी के अनुसार आचरण भी करते है। भारत मे फ्रांस और पुर्तगाल की बस्तियो तथा अन्य अनेक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के सम्बन्ध मे भारत द्वारा अपनाई गई नीति भारत की शान्तिप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है।

स्वाधीन होने के बाद भारतवासियो ने यह अनुभव किया कि इस उप महाद्वीप मे कुछ थोडे-से भागो पर विदेशी फ्रांसीसियो और पुर्तगालियों का शासन रहना अन्यायपूर्ण है। सामरिक दृष्टि से भी देश का हित इस बात मे है कि ये बस्तियाँ स्वतन्त्र हो जाएँ और भारत का अंग बन जाएँ। यदि भारत सरकार शान्तिप्रिय न होती, तो संसार के अन्य देशो की भाँति इन बस्तियो पर बहुत थोडे रक्तपात द्वारा अधिकार कर सकती थी। इतनी छोटी बस्तियो के लिए युद्ध करना फ्रांस और पुर्तगाल को अत्यन्त महगा पडा और अन्त मे उन्हे निश्चित रूप से परास्त होना पडता। किन्तु भारत सरकार ने जनता की ओर से माँग होने पर भी इन बस्तियो पर आक्रमण नही किया। फ्रांसीसी लोग अपेक्षाकृत बुद्धिमान थे। उन्होने शान्तिपूर्ण चर्चाओ द्वारा स्वेच्छा से अपनी भारत मे स्थित बस्तियों का शासन भारत सरकार को सौंप दिया। परन्तु पुर्तगाली लोग बौद्धिक दृष्टि से फ्रांसीसियो की अपेक्षा हीन और उद्भ्रान्त थे। उनकी बस्तियाँ फ्रांसीसियो की बस्तियो से कम और छोटी थी। पुर्तगालियों की सामरिक शक्ति और आर्थिक सामर्थ्य फ्रांस की अपेक्षा चौथाई भी नहीं थी, किन्तु अपनी बस्तियो पर जनता की इच्छा के विरुद्ध अन्यायपूर्ण अपना अधिकार बनाए रखने का उसका आग्रह फ्रांसीसियो की अपेक्षा सौ गुना अधिक था। किन्तु भारत सरकार इतने पर भी अपनी शान्तिप्रियता की नीति पर अडिग रही। गोआ को स्वाधीन कराने के लिए जनता की ओर से सत्याग्रह हुए।

निःशस्त्र अहिंसक सत्याग्रही गोआ पहुंचकर सत्याग्रह करते रहे। पुर्तगाली पुलिस उन पर लाठियाँ और गोलियाँ चलाती और तरह-तरह से उन्हें अनेक यन्त्रणाएँ देती रही। अन्त मे विवश होकर भारत सरकार को सैनिक शक्ति का प्रयोग करना पडा और उसे स्वतन्त्र कराया गया। बाद मे पुर्तगाल ने अपनी गलती का अनुभव किया। परिणाम स्वरूप आज भारत के साथ उसके सम्बन्ध अच्छे हो गए है।

हम भारतीयो ने महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे सत्य और अहिंसा के नैतिक शस्त्रो द्वारा स्वाधीनता संग्राम मे अंग्रेजो की महान सैन्य शक्ति को परास्त करके मुक्ति प्राप्त की है। हमारी ऐतिहासिक परम्परा मे सम्राट अशोक ने प्रेम और अहिंसा द्वारा ही दूर-दूर तक के देशो पर विजय प्राप्त की थी। इसीलिए शान्तिप्रियता हमारे लिए केवल मौखिक प्रचार की वस्तु नही, अपितु हमारे जीवन-दर्शन का एक अविच्छेद्य अंग है। कोरिया तथा इंडोचाइना के युद्धो मे मध्यस्थता करके तथा युद्ध विराम के लिए आग्रह द्वारा भारत ने अपनी नीति से अन्य देशो के मन पर भी यह विश्वास जमा लिया कि भारत सचमुच ही शान्ति चाहता है। तभी तो आज सारा विश्व इस नीति की सराहना करता है।

जातीय भेद भाव और साम्राज्यवाद का विरोध भारत की विदेश नीति का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। यूरोप के देशो ने अवसर से लाभ उठाकर किसी समय संसार के अनेक देशो पर अधिकार कर लिया था और शताब्दियो तक वे उनका शोषण करते रहे। भारत ने भी बहुत दिनो तक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के शोषण की यन्त्रणाएँ सही है। इस समय भारत स्वतन्त्रता पराधीनता से मुक्ति पा चुका है किन्तु संसार के अनेक देशो पर अभी तक दूसरे देशो का राज्य है। उन देशो के साथ भारत की पूरी सहानुभूति है और उसके स्वाधीनता संग्रामो को भारत का नैतिक समर्थन प्राप्त होता है। डचो के चंगुल से छूटने के लिए इंडोचाइना को और फ्रांसीसियो की अधीनता से मुक्त होने के लिए इंडोचाइना को भारत की पूर्ण सहानुभूति प्राप्त हुई थी। मिस्र मोरक्को, मलाया अफ्रीका इत्यादि देशो मे जहाँ जनता साम्राज्यवादियो के चंगुल से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष कर रही थी वहाँ भारत ने उन्हें पूरी नैतिक सहायता प्रदान की। परिणामस्वरूप ये सारे देश भी आज मुक्ति की साँस ले रहे हैं। स्वतन्त्रता के लिए संघर्षशील अन्य देशो की जनता के साथ भी भारत की पूर्ण सहानुभूति रही और है। वियतनाम के बारे मे भारत का दृष्टिकोण इस बात का स्पष्ट प्रमाण रहा है। पूर्व बंगाल के पाकिस्तानी तानाशाहो

से मुक्ति-संघर्ष के बाद भारत के निस्वार्थ प्रयत्न से बंगला देश का निर्माण भी इस बात का जीवन्त प्रमाण है।

दक्षिण अफ्रीका मे सरकार ने जातीय भेदभाव की समस्या को अत्यन्त उग्र रूप दे दिया। आज भी यह समस्या अपनी उग्रता मे विद्यमान है। वहाँ गोरे यूरोपियनो तथा काले भारतीयो, पाकिस्तानियो और अफ्रीकनो मे अत्यत भेद भाव किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका मे अल्पसंख्यक गोरे बहु-संख्यक काली जातियो पर शासन और उनका शोषण कर रहे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इतने पर भी वे प्रजातंत्र का दम भरते हैं। भारत सरकार ने दक्षिण अफ्रीका के इस जातीय भेद भाव के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई। भारतीय प्रतिनिधि ने संयुक्त-राष्ट्र संघ मे भी विषय को प्रस्तुत किया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार की जातीय भेद भाव की नीति को निंदनीय ठहराया। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका की सरकार अब भी अपने दुराग्रह पर डटी हुई है परंतु भारत सरकार भी जातीय भेद भाव के विरुद्ध आंदोलन को बढाने मे प्रयत्नशील है। दक्षिण अफ्रीका के साथ सरकारी सम्बन्धों का परित्याग इस बात का प्रमाण है।

भारत की विदेशी नीति का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उसकी तटस्थता है। हमारी तटस्थता का अर्थ यह नही है कि हम संसार के अन्य देशों से दूर अलग पड़े रहे, उनसे अपना कोई सम्बन्ध न बनायें और संसार मे जो कुछ हो रहा है उसे चुपचाप खड़े देखते रहे। इसके विपरीत हमारी तटस्थता का अर्थ केवल इतना ही है कि हम संसार के शक्तिशाली गुटो मे से किसी भी एक गुट के साथ सदा के लिए सुनिश्चित रूप मे नही बंध जाना चाहते। किसी भी एक गुट में सम्मिलित हो जाने पर हम स्वत: दूसरे पक्ष के शत्रु समझे जाएँगे और गुट मे सम्मिलित हो जाने के कारण हमे अनेक ऐसी बातो को भी मानना पड़ेगा, जिन्हें हम अनुचित और अन्याय समझते हैं। इसीलिए हमारे देश की नीति यह है कि किसी भी एक पक्ष मे सम्मिलित न हो जाएँ और प्रत्येक विषय पर उसके औचित्य अथवा अनौचित्य को देखते हुए अपनी सम्मति व्यक्त की जाए। स्वाधीन होने के बाद से भारत सक्रिय तटस्थता की इसी नीति पर आचरण कर रहा है।

तटस्थता की बात इस नीति का पालन बहुत सरल नही, यह कई बार स्पष्ट हो चुका है। इससे लाभ तो हैं, कई प्रकार की हानियाँ भी हैं। पहले पहल हमारी इस नीति के महत्त्व को अन्य देशो ने अनुभव नहीं किया। उन्होंने समझा कि भारत एक अवसरवादी देश है जो मौका देखकर कभी इस पक्ष में

हो जाता है और कभी उस पक्ष में। साम्यवादी और पूंजीवादी दोनों ही गुट यह समझने लगे कि भारत उनका मित्र नहीं है। प्रारम्भ में इस कारण भारत को काफी असुविधा हुई परन्तु धीरे धीरे स्थिति सुधर गई। अनुभव से सभी देशों ने यह समझ लिया कि भारत की तटस्थता केवल दिखावे अथवा अवसरवादिता पर आधारित नहीं है, अपितु न्याय और अन्तरात्मा की आवाज पर आधारित है। इसीलिए सब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भारतीय राजनीतिज्ञों का मान-सम्मान बहुत बढ़ गया।

गुटबन्दी की दृष्टि से तटस्थ होते हुए भी भारत संसार के सब देशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने की नीति पर अनवरत गतिशील है। पाकिस्तान और चीन को छोड़कर अपने शेष सभी पड़ोसी देशों के साथ तो भारत के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर हैं। अब चीन और पाकिस्तान के साथ बिगड़े सम्बन्धों में भी क्रमशः सुधार आ रहा है। इंग्लैंड और अमेरिका के साथ तो भारत के सम्बन्ध पहले से ही पर्याप्त घनिष्ठ थे, रूस के साथ भी हमारे सम्बन्ध इन दशकों से बहुत बढ़कर अत्यन्त मधुर हो गए हैं। इस प्रकार भारत संसार के सभी देशों के साथ अपने सम्बन्ध मित्रतापूर्वक बनाए रखना चाहता है। अब पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध सुधारने की दिशा में भी अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। चीन के प्रति रुख भी अच्छे सम्बन्ध बनाने का है।

भारत की विदेश नीति में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि अन्य देशों के आन्तरिक मामलों में यथासम्भव हस्तक्षेप न किया जाए। अपने देशों की आन्तरिक समस्याओं को सुधारने या उसमें परिवर्तन करने की स्वाधीनता प्रत्येक देश को होनी चाहिए। इसीलिए भारत न तो किसी अन्य देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करता है और न यह चाहता है कि कोई अन्य देश उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे। इन दिनों भारत-अमेरिका के सम्बन्धों में जो दरार पड़ी हुई है उसका कारण अमेरिका सरकार का मानवतावादी दृष्टिकोण से हट जाना और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का प्रयत्न ही है जिसे स्वतन्त्र भारत का स्वाभिमान कभी सहन नहीं कर सकता।

भारत की विदेश नीति हमारे देश के लिए और शेष संसार के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है। भारत को अपने आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए दोनों ही गुटों से बिना किसी शर्त के सहायता प्राप्त हो रही है क्योंकि किसी शर्त में बंधकर सहायता लेना भारत ने स्वीकार नहीं किया। वह अमेरिका या अन्य किसी भी देश का अहसान नहीं ओढ़ना चाहता जबकि अमेरिका परोक्ष रूप से ही सही, सशर्त सहायता करना चाहता है। उसे भारत

ने ठुकरा दिया है। फ्रांस से अणु-ईंधन पाने में सफलता हमारी विदेश नीति की सफलता का एक और प्रमाण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत की वही विदेश नीति सफल कही जा सकती है जिसके पीछे राष्ट्र की सबल अर्थ-नीति हो, निर्द्वन्द्व राजनीतिक स्थिति हो, सुदृढ़ घरेलू व्यवस्था हो और एक शक्तिशाली सैनिक संगठन हो, जिसे आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया गया हो। अब भारत इस स्थिति तक पहुँच गया है। परिणाम विरोधी कहे जाने वाले पड़ोसी देश भी उसकी मित्रता चाहने लगे हैं।

६० | समाचार पत्रों का महत्व

आज का युग अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में जी रहा है। नव युग की चेतनाओं के अनुरूप ही आज समाचार पत्र जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। किसी भी प्रकार के व्यक्ति का निर्वाह समाचार पत्रों के बिना कठिन हो गया है। चाहे कोई व्यापारी हो, राजनीतिज्ञ हो, या कोई सामान्य व्यक्ति, उसे संसार में नित्य प्रति घटने वाली घटनाओं को जानने के लिए समाचार पत्र पढ़ना ही पड़ता है। उसके बिना जीवन का दम घुटने लगता है।

समाचार-पत्रों का विशेष प्रचलन और प्रचार गत शताब्दी से हुआ है। प्रजातन्त्र के उत्थान के साथ-साथ समाचार पत्रों का महत्व भी बढ़ता गया। प्रजातन्त्र में जनता की राजनीति में दिलचस्पी रहती है, अतः लोग ताज़े-से ताज़े समाचारों को जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। इसलिए समाचार-पत्रों की माँग दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। भारत की अपेक्षा अमेरिका और योरपीय देशों में समाचार-पत्रों का प्रचार बहुत अधिक है। भारत में समाचार-पत्रों की दुर्दशा का बहुत बड़ा कारण यह है कि यहाँ कि अधिकांश जनता अशिक्षित है। जैसे-जैसे आम जनों में शिक्षा का प्रसार होगा, त्यों-त्यों समाचार पत्रों का प्रचार भी बढ़ेगा।

समाचार-पत्रों से हमें अनेक लाभ हैं। समाचार-पत्रों द्वारा हम घर बैठे विश्व के किसी भी कोने में हो रही घटना का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। यदि उस घटना का हम पर कोई अनुकूल प्रभाव होने वाला हो, तो हम

उससे लाभ उठा सकते हैं और यदि प्रतिकूल प्रभाव पड़ने वाला हो, तो हम उससे पहले ही सावधान हो सकते हैं। आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो गया है कि उसे नई-से-नई, ताजी घटनाओं की पूरी जानकारी हो, अन्यथा उस व्यक्ति को शिक्षित होने पर भी समय से पिछड़ा हुआ समझा जाता है। व्यावहारिक ज्ञान-वृद्धि में समाचार-पत्र बहुत सहायक होते हैं।

समाचार पत्रों में केवल समाचार ही नहीं होते, अपितु अनेक सामयिक, उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक लेख भी प्रकाशित होते रहते हैं। इन लेखों द्वारा पाठकों को विभिन्न क्षेत्रों में हो रही प्रगति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती रहती है। सम्भवत सभी अच्छे समाचार-पत्र नए-नए आविष्कारों तथा अन्य लोकोपयोगी विषयों के सम्बन्ध में योग्य विद्वानों द्वारा लिखे गए लेख प्रकाशित करते रहते हैं। समाचार-पत्र ज्ञान के कोष और मार्ग-दर्शक होते हैं।

समाचारों की जानकारी के अतिरिक्त समाचार-पत्र पाठक के विचारों को दिशा देते हैं। प्राय सभी पत्रों में सम्पादकीय अग्रलेख रहता है, जिसमें तत्कालीन महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपनी सम्मति व्यक्त की गई होती है। सामान्य व्यक्ति के पास न तो इतना समय होता है और न इतनी सुविधायें ही हैं कि वह प्रत्येक प्रश्न के सम्बन्ध में स्वयं विस्तृत जानकारी प्राप्त करे और उसके आधार पर अपने विचार बनाए। साधारणतया सामान्य व्यक्ति किसी भी विषय में अपने पत्र के सम्पादकीय लेखों को पढ़कर ही अपने विचार बना लेता है और आम लोगों की धारणाओं से परिचित हो पाता है।

समाचार पत्रों में पाठकों का स्तम्भ भी होता है। पाठक जिस विषय में किन्हीं विचारों को व्यक्त करना चाहते हैं उन्हें सम्पादक के नाम पत्र लिख कर भेज देते हैं। सम्पादक उन विचारों को पाठकों के स्तम्भ में प्रकाशित कर देते हैं। इस प्रकार समाचार-पत्र जनता के विचारों को प्रकट करने के लिए माध्यम का काम भी करते हैं। समाचार-पत्र में पाठक केवल दूसरों के विचार ही नहीं पढ़ता, अपितु समय-समय पर अपने विचार भी अन्य पाठकों तक पहुँचा सकता है। विचारों के आदान प्रदान का इससे सुगम माध्यम और कोई भी उपलब्ध नहीं है।

समाचार-पत्र विज्ञापन का अत्यन्त उत्कृष्ट साधन है। इन विज्ञापनों को देख-पढ़ कर पाठक अपने उपयोग में आने वाली लाभदायक वस्तुओं की जानकारी ठीक समय पर प्राप्त कर सकता है और जिस वस्तु को उपयोगी [illegible] उसे खरीद सकता है। इसमें विज्ञापन दाताओं को यह लाभ होता है कि

जो उन्हे खरीद सकते है। इस प्रकार समाचार-पत्र उत्पादक और उपभोक्ता के बीच का माध्यम है। अदान प्रदान के साधन हैं।

समाचार-पत्रो मे रिक्त स्थानो के सम्बन्ध मे भी विज्ञापन प्रकाशित होते हैं। इन विज्ञापनो से बेकार व्यक्तियो को यह मालूम हो जाता है कि कहा कौन सा स्थान रिक्त है। वे उस पद के लिए प्रार्थना-पत्र भेज सकते हैं और उस पद पर नियुक्त होने का प्रयत्न कर सकते हैं। आजकल हमारे देश में बेकारी बहुत अधिक है। इसलिए रिक्त स्थानो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए समाचार पढने वाले लोगो की सख्या कम नही है। इसी प्रकार सस्थानो के मालिक रिक्तयो का विज्ञापन निकाल काय-योग्य व्यक्ति पा लेते हैं।

प्रजातन्त्र मे समाचार-पत्रो का महत्त्व अन्य किसी भी शासन प्रणाली की अपेक्षा कही अधिक आका जाता है। इसीलिए प्रजातन्त्रीय शासन म समाचार पत्रों को एक महत्त्वपूर्ण जायदाद के समान ही माना जाता है। प्रजातन्त्र शासन मे सरकार का चुनाव जनमत के आधार पर ही होता है। समाचार पत्र जनमत को बदलने मे अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। जिस पत्र के पाठकों की सख्या जितनी अधिक हो, जनता पर उसका प्रभाव उतना ही अधिक होता है। उस पत्र की नीति का सरकार को उतना ही अधिक ध्यान रखना पडता है। समाचार-पत्र सरकार के गलत कामो की कठोर आलोचना करके उसे जनता की दृष्टि म गिरा सकते हैं और उसकी प्रशसा करके उसे जनता की दृष्टि मे उठा भी सकते हैं। इस प्रकार प्रजातन्त्र म समाचार-पत्र शक्ति का आधार स्तम्भ हैं।

समाचार पत्र महत्त्वपूर्ण अवसरो पर जनमत को भी प्रगट करते रहते हैं जिससे देश की सरकार यह समझ सके कि उन महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर देश की जनता की सम्मति क्या है। समाचार-पत्रो के प्रतिनिधि देश विदेश सब जगह फैले होते हैं और किसी भी समस्या पर वे अपने क्षेत्र की जनता की सम्मति को भली भाँति जानकर उसे समाचार-पत्रो मे प्रकाशित करवा देते हैं। इससे सरकार बीच-बीच मे जनता के रुख को पहचान सकती है। प्रजातन्त्र में सरकार को जनता की इच्छा के अनुसार ही चलना होता है। यदि सरकार जनता की इच्छाओ का पालन न करे तो आगामी चुनावों में जनता सरकार को बदल सकती है। इस प्रकार समाचार-पत्र देश की जनता और सरकार के मध्य मे भी एक उपयोगी माध्यम का काम करते हैं। दोनों की इच्छा-आकाक्षा क्रिया प्रतिक्रिया से एक-दूसरे को परिचित कराते हैं।

इससे स्पष्ट है कि देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन मे समाचार पत्रों का महत्त्व अधिक है। यदि समाचार-पत्र किसी प्रथा या नियम विधान को जनोपयोगी न समझें तो वे उसके विरुद्ध जोरदार आन्दोलन खड़ा कर सकते हैं। हमारे देश के समाचार-पत्रो ने देश की राजनीतिक स्वाधीनता तथा समाज-सुधार के अनेक आदोलना का उत्साहपूर्वक समर्थन किया था, जिससे उन आदोलना को बहुत बल मिला और वे आदोलन सफल भी हो सके। आज भी अनेकश ऐसा हो रहा है।

समाचार-पत्रो मे इतनी अधिक शक्ति है, इसलिए उनके सिर पर यह उत्तरदायित्व भी आ जाता है कि वे अपनी इस शक्ति का सदुपयोग ही करें, दुरुपयोग नही। दुर्भाग्य से भारत ही नही, ससार के सभी देशो में ऐसे अनेक पत्र हैं जो अपनी शक्ति का सदुपयोग नही करते। ऐसे पत्र हत्या, व्यभिचार तथा अन्य अपराधो के सनसनीपूर्ण समाचार मोटे-मोटे शीर्षकों मे प्रकाशित करते हैं और पाठको की कुत्सित वासनाओं को जगाकर अपनी लोकप्रियता बढाते हैं। बहुत से समाचार-पत्र समाचारो के प्रकाशन म निष्पक्ष नही रहते। वे घटनाओ का विवरण प्रकाशित न करके उस समय अपनी ओर से मनमाना रग चढा देते हैं, जिनके कारण कई बार सामान्य घटना भी अत्यधिक उत्तेजना का कारण बन जाती है। निष्पक्षता समाचार-पत्र की सफलता की कुजी है तो घटनाओ एव समाचार का सदुपयोग उसका धर्म। ऐसा करके ही समाचार-पत्र अपने पवित्र दायित्व का उचित निर्वाह कर सकता है।

बहुत बार कुछ समाचार-पत्र लोगो म केवल सनसनी जगाने के उद्देश्य से ऐसी घटनाओ को तूल दे देते हैं, जो बाद म भारी उपद्रव का मूल बन जाती हैं। यदि समाचार-पत्रो के सम्पादक विवेक से काम लें और जनमत को सदा उचित मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करें, तो अनेक विपत्तिजनक घटनाएँ होने से रोकी जा सकती हैं। किन्तु आजकल प्राय सभी पत्रो का किसी न-किसी राजनीतिक दल से गठबन्धन रहता है, इसीलिए वे सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओ को अपने-अपने दल के दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि को स्वस्थ नही कहा जा सकता।

पत्रकारिता की दृष्टि से उचित यह है कि समाचारो को पूर्णरूपेण निष्पक्ष होकर प्रकाशित किया जाए। सम्पादकों को इतना अधिकार अवश्य है कि वह अपने सम्पादकीय लेख म उन घटनाओ पर अपने चाहे जो भी विचार व्यक्त करें, किन्तु समाचारो को किसी भी दशा मे अतिरंजित नही किया जाना चाहिए।

प्रजातन्त्र शासन में समाचार-पत्रों को यह स्वाधीनता दी जाती है कि व सब सच्चे समाचारों का प्रकाशन कर सकते हैं, और उन समाचारों पर ऐसी चाहे जो टिप्पणियाँ लिख सकते हैं, जो समाज में पारस्परिक विद्वेष फैलाने वाली या किसी एक व्यक्ति अथवा संस्था के लिए अपमानजनक न हो। समाचार-पत्रों की इस स्वाधीनता को नैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व दिया जाता है। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए समाचार-पत्रों को लम्बे समय तक कठोर परिश्रम करना पड़ा है।

समाचार-पत्रों को भी अपने आपको इस स्वतन्त्रता के योग्य बनाना आवश्यक है। यदि समाचार-पत्र अपने उत्तरदायित्वों का पूरी तरह ध्यान रखें, तब यह स्वाधीनता बनी रह सकती है। यदि समाचार-पत्र सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए समाज का हित भूलकर झूठे-सच्चे अपराधों को प्रोत्साहन देने वाले सनसनीपूर्ण समाचार प्रकाशित करें, और उनके ऊपर आपत्तिजनक टिप्पणियाँ प्रकाशित करें, तो किसी भी सरकार के लिए ऐसे पत्रों को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता दे पाना सम्भव नहीं है। वैसे भी युद्ध अथवा अन्य संकट के अवसरों पर समाचार-पत्रों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं। सामान्य काल में दायित्व-निर्वाह करके ही समाचार-पत्र सम्मानपूर्ण ढंग से जीवित रह सकते हैं।

एकतन्त्र या तानाशाही शासन प्रणाली में समाचार-पत्रों को वैसी स्वाधीनता नहीं होती जैसी प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि तानाशाही शासकों को जनमत में चल रही प्रवृत्तियों की सही-सही जानकारी नहीं मिल पाती। इसीलिए ऐसे राज्यों में हिंसात्मक क्रान्तियाँ अधिक होती हैं। प्रजातन्त्रात्मक [illegible] ...मचार पत्रों की अभिव्यक्ति की स्वाधीनता होने के कारण रक्त[illegible] ...का अव[illegible] ही नहीं पाता। इस प्रकार समाचार-पत्रों की [illegible] है। भारत में जब आपात स्थिति घोषित [illegible] प्रतिबंधित हो गए थे। इस कारण होने वाली [illegible] किया गया था।

भारत मे प्रजातन्त्र और शिक्षा का विकास हो रहा है। इसलिए यह निश्चित है कि जनमत को शिक्षित करने के माध्यम के रूप मे अभी यहाँ समाचार-पत्रो का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ेगा। वह दिन दूर नही है, जब भारत मे भी समाचार-पत्रो की लाखो प्रतियाँ प्रतिदिन बिका करेंगी। समाचार-पत्र प्रकाशन महगा हो जाने पर भी उसकी लोकप्रियता और माँग वृद्धि पर है, इसमे कोई शक नही।

६१ | निःशस्त्रीकरण

आत्मरक्षा प्रत्येक प्राणी का अधिकार है। इसीलिए आदि काल से ही मानव ने अपनी रक्षा के लिए शस्त्र बनाकर उनका उपयोग करना सीखा है। जब मानव वन मे रहता था, तब भी वह पत्थर आदि के शस्त्र बनाकर जगली जानवरो से अपनी रक्षा करता था। ज्यो-ज्यो मानव प्रगति करता गया, उसके शस्त्र भी अच्छे भयकर तथा घातक बनते चले गए।

आरम्भ मे तो मनुष्य को जगली जानवरो से अपनी रक्षा करने के लिए ही शस्त्रो की आवश्यकता पड़ती थी, परन्तु जब वह उन्नति करके सगठित होकर ग्राम व नगर बसाकर रहने लगा, तब उसे मनुष्य से भी अपनी रक्षा करने के लिए शस्त्रो का निर्माण करना पड़ा। मनुष्यो मे आपस मे ही युद्ध होने लगे और युद्धो का रूप क्रमश भयकर होता चला गया। रामायण, महाभारत आदि के युद्ध इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आज हम विज्ञान के युग मे रह रहे है। इस बीसवी सदी मे जहाँ विज्ञान ने मानव को वायुयान, जहाज, रेडियो विद्युत आदि अनेक वस्तुये वरदान के रूप मे दी है वहाँ उसको ऐसे भयकर तथा ध्वसकारी शस्त्र भी दिए है जिनसे आज समस्त ससार थर्रा रहा है। अपने द्वारा निर्मित शस्त्रो से मानव अपने सर्वनाश की तैयारी कर रहा है। आज अणु शक्ति के विकास का युग है। वैज्ञानिको ने अणु-बम, हाइड्रोजन-बम, को बाल्ट और नापाम बम आदि ऐसे भयकर बमो का निर्माण किया है जिनसे बड़े-बड़े नगर देखते ही मिट्टी मे मिल सकते है। सारी सृष्टि अतीत की कहानी बन सकती है।

आज विभिन्न राष्ट्र सशस्त्र सेना तथा आधुनिक वैज्ञानिको शस्त्रो पर बहुत बड़ी धन राशि व्यय कर रहे है। समस्त राष्ट्रो का शस्त्रो तथा शक्ति

पर वार्षिक व्यय का अनुमान लगभग एक खरब पौण्ड से भी अधिक का है और विश्व में दो करोड़ से भी अधिक सशस्त्र सैनिक हैं। इनमें साम्यवादी गुट के लगभग नब्बे लाख सशस्त्र सैनिक हैं और पचास-साठ हजार वायुयान हैं। साम्राज्यवादी राष्ट्रों के गुट के पास लगभग उतने ही सैनिक, साठ-सत्तर हजार वायुयान और सहस्रों जहाज हैं। शेष राष्ट्रों के पास इनकी अपेक्षा बहुत ही कम सैनिक शक्ति है। परन्तु विश्व में सोवियत रूस, संयुक्त राष्ट्र-अमेरिका, चीन आदि कुछ ही महान् शक्तियाँ हैं। चीन को तो अब अपार सैन्य-शक्ति का देश कहा जा सकता है। इसके पास सभी नवीनतम शस्त्र मौजूद हैं। परन्तु इनमें भी प्रथम दो की शक्ति बहुत अधिक है। इनके पास ऐसे-ऐसे राकेट भी मौजूद हैं जिनके द्वारा वे सैकड़ों मील दूर तक बम फेंक सकते हैं। चीन भी इस दिशा में निरन्तर प्रगति कर रहा है। फ्रांस के प्रयत्न भी पीछे नहीं हैं। अन्य देश भी इस दिशा में निरन्तर सक्रिय हैं।

आज इन शस्त्रों का भय केवल छोटे छोटे राष्ट्रों को ही नहीं है। यदि तृतीय विश्व युद्ध छिड़ जाता है, तो समस्त योरुप महाद्वीप तहस-नहस हो जायेगा। यह ठीक है कि एशिया तथा अफ्रीका जैसे विशाल महाद्वीपों को बरबादी का सामना करना पड़ेगा, परन्तु योरुप का तो इस भूमण्डल पर अस्तित्व नहीं रहेगा। इस विचार से विश्व के सभी राष्ट्र तथा महान् राजनीतिज्ञ सहमत हैं। रूस के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने एक बार कहा था, अमेरिका योरुप तथा एशिया के विभिन्न देशों में सैनिक अड्डे बना रहा है। ये सभी स्थान मरुस्थल में नहीं हैं। ये घनी आबादी वाले स्थानों पर हैं। यह सही है कि अड्डे हमारे समीप हैं और हमारे विरुद्ध ये मोर्चे अच्छी प्रकार लगाए जा सकते हैं। परन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ये हमारे समीप ही है और हमारे लिए भी जैसे का तैसा उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं आएगी। हमारे ऊपर गिराए जाने वाले बमों को ऐंटी एयर क्राफ्ट फॉयर रॉकेटों से रोका जा सकता है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक वैज्ञानिक शस्त्रों से कोई भी राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता। समूचे विश्व को विनाश का समान भय है।

जब से द्वितीय विश्व-युद्ध में हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणुबम गिराए गए हैं, तब से इन बमों की ध्वंसकारी शक्ति को देखकर समस्त विश्व को भय उत्पन्न हो गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् तो और भयंकर तथा अधिक प्रलयकारी बमों का निर्माण हो चुका है। ऐसी स्थिति में सभी राष्ट्रों के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हो गया है कि किस प्रकार विश्व को

प्रलय के मुख में जाने से बचाया जाए और विश्व शांति को कैसे स्थिर रखा जाए। प्रश्न बडा गम्भीर और उत्तेजक है।

इसी आशय से प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर विश्व के बडे राष्ट्रो ने मिलकर 'लीग आफ नेशन्स' की स्थापना की थी। परन्तु इस विश्व संस्था को सफलता न प्राप्त हो सकी और द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होते ही इस विश्व-संस्था का अंत हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर विश्व म शांति रखने तथा अंतर्राष्ट्रीय झगडो का निर्णय कराने के लिए 'संयुक्त-राष्ट्र संघ' की स्थापना की गई। यह संस्था उसी समय से विश्व मे शांति बनाए रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न कर रही है और अभी तक इसे समस्याओ के हल मे नही तो कम से कम युद्ध रोके रखने मे तो सफलता प्राप्त हो ही रही है।

खेद की बात यह है कि संयुक्त राष्ट्र-संघ मे भी दो गुट बने हुए हैं। सभी राष्ट्र इस बात से तो सहमत हैं कि विश्व शांति के लिए निःशस्त्रीकरण अति आवश्यक है। वर्षों से निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेंस के सम्मुख विभिन्न प्रस्ताव उपस्थित किए जा रहे हैं परन्तु वास्तव म प्रस्ताव रखने वाले गुट का उद्देश्य किसी विशेष निर्णय पर पहुँचना न होकर केवल विश्व म शांतिप्रिय नीति का प्रदर्शन करना मात्र ही होता है। प्रत्येक गुट अपने हित का ही ध्यान म रखकर प्रस्ताव रखता है। अब तक तो प्रत्येक गुट पहले म ही यह विचार करके प्रस्ताव पेश करता आया है कि विपक्षी उसे अवश्य ही अस्वीकार कर देंगे। इसका अर्थ यह नही है कि निःशस्त्रीकरण असम्भव है, परन्तु निःशस्त्रीकरण उसी समय सम्भव है जबकि दोनो पक्षो के राष्ट्र सच्चे हृदय से इसे चाहेंगे। केवल मात्र अपने ही हित का भी ध्यान न रखकर दूसरे के हित का भी ध्यान रखेंगे।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सभी राष्ट्र निःशस्त्रीकरण के लिए सहमत कैसे हो सकते हैं? निःशस्त्रीकरण की इच्छा प्रकट करने मे स्पष्टत सभी का राजनीतिक स्वार्थ है। बडे राष्ट्रों मे एशिया व अफ्रीका के देशो का विश्वास प्राप्त करने की होड लगी हुई है। एशिया व अफ्रीका के ये देश अभी दासता की शृंखला को तोडकर मुक्त हुए हैं और अब इनको दबाया नही जा सकता। इन सभी देशो मे युद्ध के विरुद्ध जो भावना उत्पन्न हो रही है उसको बडे राष्ट्र उपेक्षा नही कर सकते और विशेषकर उन दशा मे जबकि ये बडे राष्ट्र भी विभिन्न गुटो मे विभाजित हैं। इसीलिए प्रत्येक बलशाली राष्ट्र संसार के सम्मुख अपने-आपको शान्तिप्रिय सिद्ध करना चाहता है। इसके

अतिरिक्त इन बडे राष्ट्रो की भी अधिकांश जनता युद्धों से थक चुकी है और वह युद्ध की पूर्ण रूप से विरोधी है। इसलिए ये बडी शक्तियाँ नि शस्त्रीकरण के पक्ष मे हैं। फिर भी कोई विशेष सक्रियता दिखाई नही देती।

केवलमात्र कुछ समय के लिए सेना मे कटौती कर देने तथा अणु-शस्त्रों के उत्पादन को रोकने से नि शस्त्रीकरण सम्भव नही है। सर्वप्रथम हाइड्रोजन तथा अणु-बमो के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। यदि ये प्रलयकारी शस्त्र केवल रूस या अमेरिका के पास ही होते, तब तो इन पर प्रतिबन्ध सरलता से लगाया जा सकता था और कोई भी नि शस्त्रीकरण कान्फ्रेंस किसी विशेष निर्णय पर पहुँच सकती थी। परन्तु आज तो अनेक राष्ट्रों के पास अणु-शस्त्र मौजूद हैं और कोई भी राष्ट्र दूसरे को धमकी दे सकता है। परन्तु यदि विश्व की स्थिति ऐसी ही रही जैसी कि आज है तो अवश्य ही एक-न-एक दिन तृतीय विश्व-युद्ध छिड जाएगा और ससार का एक बडा भाग युद्ध की अग्नि मे जलकर भस्म हो जाएगा। नि शस्त्रीकरण के वर्तमान रवये को एकदम समाप्त कर देना चाहिए। आज अन्तर्राष्ट्रीय वाद विवाद होते हैं, सभाएँ या कान्फ्रेंस होती हैं, परन्तु उनका कोई परिणाम नहीं निकलता है। यह तो उसी समय सम्भव हो सकेगा जबकि सभी राष्ट्र पूर्ण रूप से किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए कटिबद्ध हो जाएँगे। नि शस्त्रीकरण के समझौते के एक प्रारूप पर कुछ देशो ने हस्ताक्षर किए भी हैं—विशेषत अणु शस्त्रो के प्रसार को रोकने के लिए। पर उसका तब तक कोई महत्त्व नहीं है जब तक कि विनिर्मित अणु शस्त्रों को पूर्णतया विनष्ट नही कर दिया जाता। र्धारित शर्तें सभी पर समान स्तर पर लगाई जानी भी आवश्यक हैं।

यदि मानव जाति अपना कल्याण चाहती है, ससार मे निर्धनता तथा झगडो को दूर करना और अपने-आपको सुखी तथा शान्त बनाना चाहती है, तो शीघ्रातिशीघ्र अणु शस्त्रो के निर्माण पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना तथा सेना में कटौती करना आवश्यक है। साथ ही राष्ट्रों के पारस्परिक मन मुटाव उत्पन्न करने वाले कारणो को दूर कर देना चाहिए और हमे अपने देश मे अणु-शक्ति का सुख और शान्तिपूर्ण कार्यों के आविष्कारो मे प्रयुक्त करना चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो निकट भविष्य मे ही एक-न-एक दिन ऐसा भयानक विस्फोट होगा कि समस्त ससार में हाहाकार मच जाएगा और जाने कितने निर्दोष स्त्री बच्चे बूढ़े तथा युवको को काल का ग्रास बनना पडेगा। कितने नगर तथा विशालकाय भवन मिट्टी में [illegible] बात तभी हो सकती है कि जब नि शस्त्रीकरण [illegible] पर स[illegible] किया जाए, अन्यथा और उन पा[illegible] । आज सभी

राजनीतिज्ञों आदि को ठण्डे मन-मस्तिष्क से इस दिशा में सोचकर, तत्काल उचित पग उठाने की आवश्यकता है। ऐसा न हो कि समय का पंछी उड़ जाए और उसकी उड़ान देख पाने वाला भी कोई न रहे।

६२ | प्रदूषण की समस्या

'प्रदूषण' शब्द 'प्र' उपसर्ग और 'दूषण' धातुरूप पद, इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग किसी का प्रकर्ष या आधिक्य बताने के लिए किया जाता है। 'प्रदूषण' शब्द का अर्थ होता है—दोषपूर्ण और इस अर्थ में अस्वास्थ्यकर, अतः त्याज्य हुआ करता है। इस प्रकार 'प्रदूषण' शब्द का अर्थ हुआ—किसी वस्तु विशेष का दोषपूर्ण, अस्वास्थ्यकर और अपवित्र हो जाना। जो अपवित्र और अस्वास्थ्यकर है, वह स्वभावतः त्याज्य भी है। परन्तु आज की मानवता की यह घोर विवशता है कि वह अपने आस-पास के समूचे वातावरण को प्रदूषित जानकर भी उसका त्याग नहीं कर सकती। त्याग तो तभी सम्भव हो सकता है, जब कोई एक-दो वस्तुएँ दूषित हो गई हों। जब सारा वातावरण—अर्थात् वह वायु-मण्डल जिसमें हम साँस लेते हैं, वह जल जिसे जीवन माना गया है, वह प्राकृतिक पर्यावरण जो अपने-आप में निर्मल एवं जीवन प्राण दायक है, वह सभी-कुछ ही प्रदूषित हो गया हो तो जीते जी सभी कुछ का, सारे संसार का ही परित्याग सम्भव कैसे हो सकता है? सम्भव हो या न हो, पर यह एक कठोर सत्य है कि आज हम जिस वायु में साँस ले रहे हैं, जो अन्न-जल ग्रहण कर रहे हैं, जिस प्रकार के परिवेश में रह रहे हैं वह सब इस सीमा तक प्रदूषित होता जा रहा है कि यदि शीघ्र ही इसको रोकने के उचित एवं कारगर उपाय न किए गए तो प्राणिमात्र का जीवन दूभर हो जाएगा।

इस प्रकार 'प्रदूषण' का अर्थ हुआ पर्यावरण का दोषपूर्ण हो जाना। प्रदूषण की इस व्यापक एवं भयावह समस्या से न केवल भारत बल्कि आज का समूचा विश्व प्रपीड़ित है। प्रकृति प्रदत्त वायु और जल ही जब पवित्र निर्दोष नहीं रह गए, तो बाकी वस्तुओं का तो कहना ही क्या। आज जब हम साँस लेते हैं, तो प्रत्येक साँस द्वारा जाने कितने विषाणु हमारे भीतर पहुँच जाते हैं। महानगरों में जो जल पीते हैं, गन्दे-विषैले पानी से उगाई गई सब्जियाँ

खाते हैं तो जाने कितने रोगाणु हमारे भीतर स्वत ही पनप उठते हैं। उस पर मल-कारखानों की चिमनियों से उठने वाला धुआँ, धुआँ-गैस उगलती गाड़ियों से साँसों में घुलने वाला विष, अन्य प्रकार के धूम धड़ाके, चिल्लपों, शोर शोर शोर गड़गड़ाहट और चारों ओर मच रहा हड़कम्प आदि सभी कुछ तो पर्यावरण के प्रदूषण का कारण बन कर रह गया है। इसमें नये-नये रोग और मानवीय असमर्थतायें उजागर होकर जीवन को और भी अधिक खोखला करती जा रही हैं। तभी तो आज के वैज्ञानिक और सजग बौद्धिक इस बात के लिए अत्यधिक चिंतित हैं कि मानवता की इस अंधी दौड़ का भविष्य क्या होगा। उनका सोचना-कहना है कि यदि शीघ्र ही पर्यावरण-सम्बन्धी प्रदूषण को न रोका गया, तो मानवता तड़प-तड़प कर समाप्त हो जाएगी। जीवित रहने पर भी अंधी, बहरी, लूली-लंगड़ी और दीन-हीन बन जाएगी। ऐसी-ऐसी सधात्मक बीमारियाँ सामने आने लगेंगी कि ढूँढने पर भी उनका इलाज संभव नहीं हो सकेगा। साथ ही युग-युगों की अनवरत सचेष्ट साधना के बाद मानवता ने जिस कला-सौन्दर्य का सृजन किया है, वह सब भी कुरूप-कुडौल बन कर रह जाएगा। तात्पर्य यह कि जड़ चेतन जीवन और संसार का कोई भी प्राणी, पदार्थ और भाग इस प्रदूषण के दूषित प्रभाव से बच नहीं पाएगा। अत प्राथमिक स्तर पर इस मारक समस्या के उचित एवं दीर्घकालिक उपाय करने की आज बहुत अधिक आवश्यकता है।

अब तनिक इस चहुमुखी एवं सर्वग्राही प्रदूषण के कारणों पर भी संक्षेप में विचार कर लिया जाए। कारणों को प्रमुखत दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक मानवीय लोभ-लालच और दूसरी विज्ञान एवं वैज्ञानिक उपदानों की अंधी दौड़। पहले कारण के रूप में आज मानव की लालची लालसाओं का विस्तार इस सीमा तक हो चुका है कि वह पर्यावरण को शुद्ध रखने में समर्थ वनों उपवनों और जंगलों को अंधा धुंध काटता जाता है। लालची मनुष्य ने सुरक्षित वन भी सुरक्षित नहीं रहने दिए। अन्य प्राकृतिक उपादानों को भी वह तेजी से समाप्त करता जा रहा है। प्रकृति से जैसे उसका कोई लगाव ही नहीं रह गया। नगरों, महानगरों और गाँवों के आस-पास के वन और चरागाह तो लालची मनुष्य ने समाप्त कर ही दिए हैं, वह खाली भूमि पर निर्माण-कार्य भी इस प्रकार और इस तरह से कर रहा है कि वहाँ रहने वालों के लिए कहीं से शुद्ध एवं ताजी हवा भी गुजर कर भीतर न आ सके। जन-संख्या की अबाध वृद्धि और नगरों की ओर अनियंत्रित दौड़ भी पर्यावरण प्रदूषण का एक कारण माना जा सकता है। कम क्षेत्रफल भूमि पर जब अधिक जनसंख्या का दबाव पड़ेगा, तो स्वभावत उनकी साँस ही हवा को गन्दी कर

दगी—बाकी दैनिक प्रवृत्तियो निवृत्तियो को तो जाने ही दीजिए। इस प्रकार अनेकविध अभाव-अभियोग भी जीवन को प्रदूषित एव दूभर कर रहे हैं।

दूसरे वग के कारणो मे औद्योगीकरण की अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति प्रमुख रूप से वातावरण को दूषित कर रही है। नित नये-नये कल-कारखाने आवादियो के बीचो-बीच खडे किए जा रहे हैं। उनमे तेल गैस, कोयला जलता है। सुलगती और काले कणा-सहित अबाध, घटाघोप धुआँ उगलती भट्टियो मे लोहा, रबर, प्लास्टिक अन्य अनक प्रकार के धातु आदि अन्यान्य रसायनो के मेल से गलाए जाते है। उनकी गन्ध ही वातावरण को विषला बनाने के लिए पर्याप्त हुआ करती है जबकि वहाँ उनके बचे कचरे के ढेर चारो ओर लगे रहते हैं। रसायनो के मिश्रित जल के फालतू घोल उन नदियो मे बहाए जाते हैं, जिनका पानी नगर-जनो को पीने-नहाने के लिए मुहैया किया जाता है। नगर के मल-मूत्र और सडान्ध से भरे गन्दे नाले भी इन्ही नदियो मे आकर गिरते हैं और सभी प्रकार का कचरा-कबाडा भी वातावरण को दूषित बनाए रखता है। पेट्रोल-डीजल या इसी प्रकार के अन्य साधनो से चलने वाले धुआँ उगलते अनगिनत वाहन, मशीनें और भट्टियाँ—किस किस चीज की गिनती की जाए। सभी कुछ तो दमघोटू एव साँसो म विष घोलने वाला है। यहाँ तक कि सुबह से शाम तक हम जो खाते-पीते है कोई नही जानता कि मशीनी या मानवी भूल से उसम क्या मिल गया या मिला दिया गया है। नदियो का प्रदूषित जल जब जलचरो को जीवित नही रहने देता, तो उसका प्रयोग करने वाला मानव भला कैसे स्वस्थ जीवन बिता सकता है। यहाँ तक कि आज हमे जो फल खाने को मिलते हैं, वे भी प्राकृतिक पक्व दशा मे नही, बल्कि मसालो इन्जेक्शनो से पकाए जाकर—इस प्रकार जान-बूझ कर प्रदूषित करके हम तक पहुँचाए जाते हैं।

इन परिचित कारणो के अतिरिक्त कुछ अदृश्य किन्तु स्पृश्य, इनसे भी भयानक अन्य कारण भी हैं, जो वातावरण को सघातक सीमा तक प्राणहारक बना रहे हैं। उनमे प्रमुख हैं अणु-उदजन, कोबोल्ट आदि बमो, भयानकतम मारक गैसो के परीक्षण विस्फोट। जिस एक-एक अणुबम ने नागासाकी और हिरोशिमा का नाम शेष कर दिया था, आज तो उनके बेटे, पोते परपोते उससे भी कही अधिक मारक शक्ति सम्पन्न होकर अपने विषले धुएँ और गैसो को हवा मे इस प्रकार और इस सीमा तक घोल रहे हैं कि एक दिन मानवता के लिए आज की तरह घुटा घुटा साँस ले पाना भी कठिन हो जाएगा। इस प्रकार के निर्माणो पर कही कोई प्रतिबन्ध नही है। एक से-बढकर एक मारक

शस्त्रास्त्र का निर्माण-परिक्षण अनवरत जारी है। फिर पर्यावरण का प्रदूषण दूर हो भी तो कैसे ?

जो हो, आज की मानवता का, सभी देशों के ज्ञानियों-वैज्ञानिकों का ध्यान अब पूरी तरह इस भयानक समस्या की ओर आकर्षित हो चुका है। प्रतिरोध और निवारण के वैज्ञानिक उपाय भी होने लगे हैं। ऐसे प्रतिरोधक उपकरणों को खोजकर उपयोग में लाया जाने लगा है कि जिससे पर्यावरण प्रदूषण-मुक्त हो सके। अन्य देशों के समान भारत में भी इससे मुक्ति के उपाय होने लगे हैं। सरकार ने पहले ऐसे उद्योगपतियों को आयकर में तीस प्रतिशत छूट देने की घोषणा की थी, जो विशेष उपकरणों का आयात कर देश के वातावरण को दूषित होने से बचा सकें। अब उसने शत प्रतिशत करों आदि की राहत देने की घोषणा की है, जिसे मानवीय दृष्टि से उचित ही कहा जाएगा।

प्रदूषण से मुक्ति के लिए परम्परागत वनों-उपवनों की रक्षा और नए वनों का उगाना बहुत ही आवश्यक है। यदि इस प्रकार के प्राकृतिक उपाय ही कर लिए जाएँ, तो बड़े उपयोगी हो सकते हैं। दूसरे यह भी आवश्यक है कि कल-कारखानों और इस प्रकार के उद्योग धंधों को मानव-आबादियों से दूर ले जाकर बसाया जाए। उनसे निकलने वाला प्रदूषित जल नदियों में न मिलने दिया जाए। गन्दे नालों का बहाव भी नदियों की ओर नहीं होना चाहिए। नगरों के भीतर और आस-पास हरे-भरे उपवनों का सानुपातिक विकास किया जाए। आबादी का नियन्त्रण और विकेन्द्रीकरण भी बहुत आवश्यक है। सफाई की उचित व्यवस्था हो। कूड़े-कचरे को भी उचित ढंग से निपटाया जाए। भयानक अस्त्र-शस्त्रों की अन्धी दौड़ पर कठोर नियन्त्रण लगाया जाए। अणु-विस्फोट सदा के लिए समाप्त कर दिया जाए। यह सब तभी सम्भव हो सकता है, जब मानव-लालसाओं का संकोच न होकर सहज मानवीय उदारताओं का विकास हो। संसार के समस्त देश और जन सच्चे मन से इस विकट समस्या के समाधान में जुट जाएँ, तभी बचाव होकर भविष्य सुरक्षित रह सकता है।

अभी समय है। बहुत देर नहीं हुई है। यदि हम सभी अपने ही हित में, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में यथासाध्य प्रयत्न करने लगेंगे, तो निश्चय ही एक दिन प्रदूषण की समस्या का समाधान हो जाएगा। हम और हमारी आने वाली पीढ़ियाँ स्वच्छ-मुक्त वायु मण्डल में साँस ले सकेंगी। अन्यथा सर्वनाश का सामान तो तैयार है ही और वह भी हमारे अपने हाथों, अपने ही कृत्यों से।

६३ कुटीर-उद्योग

भारत गाँव प्रधान देश है। यह बात सामने रखकर ही महात्मा गाधी ने बडे उद्योगो का विरोध कर अपने जीवन काल मे लघु-उद्योगो को बढावा देने की बात कही थी। अत कहा जा सकता है कि कुटीर-उद्योग या लघु उद्योग (Small Scale Indeustirs) भारत जैसे ग्राम कृषि-संस्कृति-प्रधान, विकासोन्मुख देश के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं—यह मान्यता आज की न होकर काफी पुरानी है। आज फिर इस मान्यता को अधिक बल और महत्त्व दिया जाने लगा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले ही राष्ट्रपिता गाधी ने कहा था कि यदि स्वतन्त्र भारत मे बेकारी दूर करनी है, सुदृढ अर्थ-व्यवस्था स्थापित करनी और देश की गरीबी से लाभदायक ढग से लडना है, तो हमें एक तो देश मे छोटे छोटे उद्योग धन्धे स्थापित करने होंगे, दूसरे इस प्रकार के समस्त प्रयासो को ग्रामोन्मुख करना होगा। तभी दूरगामी और स्थायी लाभ प्राप्त किया जा सकेगा। राष्ट्रपिता ने देश को जो चरखा दिया, ग्रामो मे ताल गुड बनाने जसे कार्यों को प्रोत्साहित किया, नमक-सत्याग्रह के नाम पर ऐतिहासिक दाण्डी यात्रा की, प्रतीक रूप मे उन सब का उद्देश्य कुटीर या लघु उद्योगो को बढावा देना—बल्कि इस दिशा मे सक्रिय कदम उठाना ही था। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गाधीजी की उस व्यावहारिकता का दो-तीन दशको तक ध्यान नही रखा गया और बडे बडे उद्योग धन्धो के नाम पर लम्बी छलाँगे लगाने का प्रयत्न किया गया। निश्चय ही भारत मे औद्योगिक क्रान्ति तो हुई, पर लाभ कुछ उँगलियों पर गिने जा सकने वाले पूँजीपति घरानो का ही पहुँच सका। आम आदमी की आर्थिक स्थिति बिगडती गई। पढे लिखे लोगो की कतारें बेकारी के रूप मे लगती गई। उसी आलोक मे ही आज फिर लघु उद्योग धन्धो या कुटीर उद्योगो को बढावा देने की दिशा मे कदम उठाए जा रहे हैं। परिणाम तो भविष्य ही बता सकेगा, पर इसे एक शुभ शुरूआत अवश्य कहा जा सकता है।

विगत वर्षों मे, विविध योजनाओ के माध्यम से अनेक दिशाओ मे अनेकविध प्रगति करने के बावजूद भी भारत अभी तक एक विपन्न देश है। बडे-बडे उद्योग-धन्धे बडे नगरो मे होने के कारण नगरीय सभ्यता-संस्कृति और वातावरण पर अत्यधिक दबाव पडा। यह दबाव अनवरत

बढता ही जा रहा है। उधर ग्रामो मे काम धन्धे या रोजगार के साधन सीमित होने के कारण सामान्य साक्षर तक वहाँ नहीं रहना चाहता, प्रशिक्षित तक्नीशियन के तो रह पाने का प्रश्न ही नही उठता। इन दबावों-दूषणों को रोकने, ग्रामो मे रोजगार की सुविधा सुलभ बनाने, वहाँ रह रहे आम आदमी की बेकारी अध रोजगारी दूर करने, सामूहिक आर्थिक सुधारों की दृष्टि से ग्रामोन्मुख कुटीर उद्योगो की प्रचुर स्थापना की निश्चय ही आज इस देश को बहुत आवश्यकता है। इससे एक तो कम पूँजी वाले लोग भी उद्योग धन्धों के क्षेत्र मे आ सकेंगे, दूसरे ग्रामो मे ही रोजगार सुलभ होने पर, नगरो पर अनावश्यक रूप से पडने वाले जन-सख्या के दूषित-दबाव से भी छुटकारा मिल सकेगा। छोटे-छोटे उद्योग धन्धो का जाल फैल जाने पर अधिक लोगो को अपने आस-पडोस मे ही काम मिल सकेगा। बेकारी दूर होगी और सामान्य स्तर पर भी आर्थिक विकास सम्भव हो सकेगा। इस दिशा मे अब छठी-पचवर्षीय-योजना मे विशेष कदम उठाए जाने लगे हैं। सभी प्रकार की सहायता सुलभ की जा रही है। यदि वह नौकरशाही तले न दबी रह गई तो निश्चय ही भविष्य सुखद होगा।

लोगो का उचित विचार और ध्यातव्य है कि लघु-उद्योगो बडे उद्योग से टक्कर तो क्या ले सकते हैं, उनके दबाव से अपने-आपको कई बार बचा भी नही सकते। इसलिए लघु उद्योग स्थापित करने से पहले बडे और लघु दोनो प्रकार के उद्योगो की कार्यक्षमता एव क्षेत्र-सीमा निर्धारित हो जानी चाहिए। अर्थात् कौन कहाँ किस प्रकार का उत्पादन करेगा, उसकी विपणन-व्यवस्था क्या होगी इत्यादि बातें और लक्ष्य पहले ही से निश्चित निर्धारित हो जाने चाहिएँ, ताकि छोटे-बडे मे अनावश्यक टकराव का अवसर ही न आए। हर्ष का विषय है कि भारत सरकार ने लघु उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए इस प्रकार की सीमा रेखाएँ निर्धारित करने की दिशा मे उचित कदम उठाने प्रारम्भ कर दिए है। लघु-उद्योगो के कराधान मे अनेक प्रकार की छूटों की घोषणा तो की ही गई है विपणन-व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। यह भी ध्यातव्य है कि कुटीर उद्योगो को प्रश्रय देने के लिए पूँजी निवेश और उचित आर्थिक तथा तक्नीकी सहायता की बात भी सरकार की ओर से कही जा रही है। उसे शुभ लक्षण और उचित दिशा मे उठाया गया उचित कदम कहा जा सकता है।

दूरगामी प्रभावो और लक्ष्यो को ध्यान मे रख कर अच्छा तो यह है कि इस प्रकार के उद्योग धन्धे सहकारिता के आधार पर चालू किए जाएँ, पर उचित आचार-सहिता और उसके कठोर अनुशासन मे निजी तथा सार्वजनिक

स्तर पर भी इस प्रकार के लघु उद्योग धधे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। जनता और जनता की सरकार दोनो की आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने मे महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं। जसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है बेकारी जैसी समस्याओ के मोर्चे पर इनके द्वारा सबल संघर्ष अंतिम विजय की सीमा तक किया जा सकता है। चीन, जापान आदि देशो के उदाहरण हमारे सामने हैं कि वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अपनी उँगलियो के बल से उद्योग धधो के क्षेत्र मे विश्व-विजय के सपने देखता है। उनकी सक्रियता ने आज उन सपनो को निश्चय ही साकार कर दिखाया है। प्रत्येक व्यक्ति को काम मिले, इसी आधार पर इस प्रकार के सपने चरितार्थ हुआ करते हैं। लघु-उद्योगो को अनवरत प्रश्रय देना, उनका जाल बिछा देना, उपरोक्त दृष्टि से निश्चय ही एक सही दिशा मे उठाया गया सही कदम है।

भारत आज तकनीकी दृष्टि से काफी समृद्ध हो चुका है। वह अपने विकसित तकनीक का आज न केवल विकासोन्मुख बल्कि विकसित देशो को भी निर्यात कर रहा है। यहाँ तकनीशियनो की कमी नही है। बल्कि स्थिति यह रही और है कि हजारो प्रतिभाशाली तकनीशियनो की बुद्धि और कार्यक्षमता उचित अवसरो के अभाव मे कुण्ठित व्यय हुई जा रही है। कुटीर-उद्योगो मे ऐसे लोगो को सहज ही खपाया जा सकता है। उनकी कार्यक्षमता का उपयोग करके उनकी समस्याओ का समाधान तो किया ही जा सकता है, अन्यो की अनेक समस्याएँ भी सुलझ सकती हैं। यह शर्म की बात ही कही जायेगी कि अपने समृद्ध तकनीक का निर्यात कर सकने मे सक्षम देश अपने लिए उसका उचित प्रयोग न करके, समस्याओ का हल न कर सके, अपनी प्रतिभाओ को कुण्ठित होकर नष्ट हो जाने दे। आवश्यकता है, अवसर सुलभ करने की। ये अवसर निश्चय ही लघु-उद्योगो के अनवरत विकास से सुलभ हो सकते हैं और अब पर्याप्त मात्रा मे सुलभ होने भी लगे हैं।

विगत कुछ वर्षों से भारत के महानगरो मे इस प्रकार की औद्योगिक बस्तियाँ बसाई गई और बसाई जा रही हैं, कि जहाँ लघु उद्योगो के जाल बिछाये जा रहे हैं। पर आवश्यकता इस बात की है कि या तो उनका ग्रामो मे स्थानान्तरण किया जाए, या फिर वहाँ नई बस्तियाँ बसाई जाएँ। आज सर्वाधिक कुण्ठित ग्रामीण तकनीशियन ही हो रहा है। शहरो की देखा-देखी वहाँ का निवासी, शिक्षित युवक भी सुविधा भोगी और बाबूगीरी का शिकार बनता जा रहा है। ग्राम और कृषि-संस्कृति वाले देश भारत के लिए इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। ऐसी स्थिति मे कुटीर-उद्योगो की स्थापना करते और प्रश्रय देते समय ग्रामो की आवश्यकता, ग्रामीण सुशिक्षितो की आवश्यकता का ध्यान रखना

भी बहुत आवश्यक है। ग्रामों की आर्थिक स्थिति के सुधरने का अर्थ, समस्याओं के हल होने का अर्थ सारे देश की दशा सुधरना ही है। उन अनेक बीमारियों कुटेवों से बचना भी है कि जो ग्रामो से शहरो में और शहरो से ग्रामो मे निर्यात होती हैं। यह एक शुभ लक्षण है कि आज इन्हीं सब तथ्यो के आलोक मे ही, कुटीर उद्योगो की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। अत हम एक सुनिश्चित और उज्ज्वल भविष्य की आशा कर सकते हैं।

६४ | *विज्ञान और शिक्षा*

शिक्षा मानव को नेत्र देती है तो विज्ञान देख कर नई नई खोजो की शक्ति। अनवरत सुशिक्षा के कारण ही आज का युग ज्ञान विज्ञान की अनवरत प्रगतियो का युग बन पाया है। प्रातःकाल सोकर उठने से लेकर रात को सोने तक हम जो कुछ भी काम मे लाते हैं, जिस प्रकार के भी काम व्यवहार करते हैं, उन सब कुछ मे ज्ञान विज्ञान का कुछ न कुछ अश रहता ही है। इसी कारण सामान्य व्यवहार का जगत हो, या फिर शिक्षा आदि का विशेष जगत् हो, हम विज्ञान की उपेक्षा नही करते। 'विज्ञान और शिक्षा' या 'शिक्षा और विज्ञान' दोनो आज एक-दूसरे के पूरक बन गए हैं। दोनो का साथ चोली-दामन का साथ माना जाने लगा है। अत हम यहाँ पर उपरोक्त शीर्षक के अन्तर्गत शिक्षा और विज्ञान जैसे विषय पर दो दृष्टियो से मुख्यत विचार कर सकते हैं। एक तो यह कि शिक्षा किसी भी प्रकार की क्यो न हो उसके शिक्षण-प्रशिक्षण मे सभी प्रकार से वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहना चाहिए, ताकि वह शिक्षा सच्चे अर्थों मे सभी प्रकार से जीवन के लिए उपयोगी बन सके। दूसरे, इस दृष्टि मे विचार करना है कि क्या आज शिक्षा के क्षेत्र में अधिकाधिक वैज्ञानिक विषयो का ही शिक्षण प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है? दोनो दृष्टियो से विषय पर अलग अलग और क्रमश विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

पहले हम इस पक्ष को लेंगे कि शिक्षा का ढग कुछ इस प्रकार का बनाया जाना चाहिए कि उसके क्षेत्र मे आने वाले प्रत्येक विषय का शिक्षण वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर दिया जा सके। वास्तव मे सच्ची शिक्षा वही मानी जाती है कि जो मनुष्य को अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित का केवल सद्धान्तिक ही

नहीं, बल्कि व्यावहारिक ज्ञान कराए। व्यवहार के बिना शिक्षा कितनी भी उच्च, उचित, महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी मानी जाए, उसका कोई महत्त्व नहीं हुआ करता। इसके विपरीत सामान्य प्रकार की शिक्षा भी यदि व्यावहारिक दृष्टियों से, व्यावहारिक ढंग से दी जाए, तो वह जीवन तथा समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी प्रमाणित हो सकती है। अतः जब हम सभी विषयों की शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से देने की बात कहते हैं, तो उसका सीधा स्पष्ट अर्थ शिक्षा को वैज्ञानिक बनाना ही होता है। प्रत्येक विषय को यदि वैज्ञानिक ढंग से विद्यार्थियों को समझाया जाए, तो निश्चय ही शिक्षा का महत्त्व एवं उपयोग अत्यधिक बढ़ जाएगा। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि साहित्य कला जैसे ललित विषय, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव के भाव-लोक के साथ रहा करता है जहाँ बुद्धि एवं उसके क्षेत्र शिथिल पड़ जाते हैं, वहाँ विज्ञान की पहुँच कैसे सम्भव हो सकती है? इस बारे में हम मुख्यतः दो ही बातें कहना चाहते हैं। पहली तो यह कि आज साहित्य और कला के क्षेत्र में भी विज्ञान का प्रवेश एक सीमा तक हो चुका है। दूसरी यह कि आज की परिस्थितियों में विज्ञान-ज्ञान का सहारा लेकर यदि हम साहित्य कला की भी व्याख्या-विश्लेषण एवं सजन करेंगे, तो निश्चय ही उसका प्रभाव और अधिक व्यापक तथा स्थायी होगा। उसमें फिर क्यों और कैसे का प्रश्न ही नहीं रह जायेगा। वह विषय व्यवहार-सम्मत बन कर निश्चय ही अधिक सशक्त ढंग से जीवन का उत्प्रेरक और पथप्रदर्शक बन जाएगा। साहित्यकारों को इसी दृष्टि से सोचना लिखना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी काल में बहुत कुछ ऐसा करने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ राम-कृष्ण के जीवन जैसे अनेक प्रकार से विवादास्पद विषयों को नए तथा उपयोगी ढंग से काव्यों में प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर हम शिक्षा के क्षेत्र में आने वाले अन्यान्य सभी विषयों के सम्बन्ध में तर्क और युक्ति संगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना सकते हैं। विषय कोई भी क्यों न हो, आज उसका अध्ययन, पाठन-पठन एवं सृजन मात्र मनोरंजन के लिए तो किया नहीं जाता। निश्चय उस सबका मूल प्रयोजन व्यवहार-जगत के प्रति अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण को व्यापक एवं उपयोगी बनाना हुआ करता है। निश्चय ही आज का प्रबुद्ध लेखक और प्रबुद्ध पाठक दोनों ही शिक्षा को वैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। साहित्य-कला को छोड़कर अन्यान्य शिक्षा के सभी क्षेत्रीय विषय तो हैं ही वैज्ञानिक, अब साहित्य-कला में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण आ रहा है। जहाँ नहीं आया लगता, वहाँ उसे लाने की तात्कालिक आवश्यकता है।

इसके बाद विषय का दूसरा पहलू आता है। वह यह कि आज शिक्षा के नाम पर केवल वैज्ञानिक या फिर विज्ञान-सम्मत विषय ही पढ़ाए जाने चाहिए। यह विचार एक सीमा तक उचित है। जब हम विज्ञान से एक पल के लिए भी पीछा नहीं छुड़ा सकते, तो फिर क्यों न उसी की शिक्षा देकर जीवन को अधिकाधिक गतिशील, स्फूत एवं सचेतन बनाया जाए? हम देखते हैं कि आज विश्व के अन्य देश जो प्रतिपल, प्रतिपग प्रगति की अनवरत सीढ़ियाँ चढ़ते आ रहे हैं, उसका मूल कारण व्यापक रूप से एवं व्यापक स्तर पर ज्ञान विज्ञान के विषयों की शिक्षा ही है। अत हमें भी अपनी वतमान शिक्षा-पद्धति में आमूल चूल परिवतन लाकर उसे विशुद्ध वज्ञानिक बना देना चाहिए। अर्थात अन्य सभी विषयों को छोड़कर केवल वैज्ञानिक विषय ही पढ़ाने आरम्भ कर देने चाहिएँ। यह एक विचार और विचारणीय प्रश्न है।

बात तो ठीक है। पर ऐसा सोच-समझ कर हम केवल वस्तु विषय के एक पक्ष तक ही सीमित होकर के रह जाते हैं। अन्यान्य देशों में विशुद्ध ज्ञान विज्ञान के विषयों की शिक्षा द्वारा निश्चय ही अत्यधिक प्रगति कर ली गई। पर उस मात्र वैज्ञानिक या भौतिक प्रगति के जो अनेक दुष्परिणाम सामने आये अथवा आ रहे है, उसकी तरफ भी तो ध्यान देने की आवश्यकता है। इस प्रकार की शिक्षा और प्रगति ने मानव को कितना मांसल, भौतिकवादी, अविश्वासी हृदयहीन और पलायनवादी बना दिया है कि भावनाएँ मर रही हैं। मानव मानव के जो पारस्परिक सहृदयता भरे सम्बन्ध रहा करते थे, वे समाप्त होते जा रहे हैं। ऐसी प्रगति भी किस काम की कि जो मानव को सहज मानवता के धरातल पर ही न रहने दे। अत कम-से-कम हम तो इस पक्ष में कदापि नहीं हैं कि शिक्षा के नाम पर केवल ज्ञान विज्ञान के विषय ही पढ़ाकर सारी मानवता को हृदयहीन बना दिया जाए। वज्ञानिक विषयों की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए, पर उसी सीमा तक कि जिस सीमा तक वे हमारे दृष्टिकोण को सतुलित, व्यापक और उपयोगी बना सकें। हमारे सामने प्रगति और विकास के नये-नये क्षितिजो का उद्घाटन कर सकें। केवल भौतिक स्तर पर ही नहीं, मानसिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक स्तरों पर भी मानवता के कदमों को गतिशील बना सकें। इसी सब में शिक्षा का वास्तविक महत्त्व, उपयोग और सीमा आदि अन्तर्हित हैं। इसके अभाव में सिर्फ शून्य है।

मानव स्वभाव से ही नव्यान्वेषी और प्रगतिशील प्राणी है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक उसने जो निरन्तर प्रगति की है, उसका कारण । उपरोक्त जन्मजात चेतनाएँ [illegible] । आरम्भ में, जब तक ज्ञान विज्ञान दौर आरम्भ नहीं हुआ, निश्चय ही सूक्ष्म और व्यवहार दोनों क्षेत्रों म उसका

दृष्टिकोण अवैज्ञानिक रहा। पर धीरे धीरे ज्ञान विज्ञान के नये-नये क्षितिजो, नये क्षेत्रो का उद्घाटन होता गया। उसी का परिणाम हमे जीवन के अन्यान्य क्षेत्रो के समान शिक्षा के क्षेत्र मे भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जहाँ तक उचित अनुचित का प्रश्न है, शिक्षा या कोई भी क्षेत्र अन्तिम रूप से उसका निर्णय नही कर सकता, क्योकि प्रत्येक युग मे देश काल के अनुसार उसके अपने-अपने मानदण्ड हुआ करते हैं। मानव का, विशेष करके अपने-आपको शिक्षित कहने वाले मानव का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह किसी भी परिस्थिति को अपने पर हावी न होने दे। समय और स्थिति के अनुसार ही अपने जीवन का क्रम चलाए। उसी मे उसकी सफलता है। उसकी शिक्षा, उसकी व्यावहारिकता आदि की सफलता भी उसी मे है। फिर चाहे हम समग्रत वैज्ञानिक विषयों की ही शिक्षा लें, या सभी प्रकार के विषयों की शिक्षा म व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की बात कहे, कोई अन्तर नही पडता। शिक्षा कैसी भी क्यो न हो, कोई अन्तर नही पडता। बस, आदमी का आदमी बना रहना बहुत आवश्यक है। हृदय और बुद्धि-अर्थात कक्षा और विज्ञान मिलकर ही ऐसा आयाम दे सकते हैं, यह बात अटल तथ्य है।

इस प्रकार, उपरोक्त सारे विवेचन के निष्कर्ष के रूप मे, अन्त मे, हम यह कहना चाहते हैं कि शिक्षा की सार्थकता मानव के मन मस्तिष्क के विकास मे हृदय और बुद्धि के सन्तुलन मे है। इसके लिए ज्ञान विज्ञान, साहित्य-कला सभी प्रकार के विषयो की उचित शिक्षा अनिवार्य है। आवश्यकता इस बात की है कि हम सारी शिक्षा को ही केवल विज्ञान के विषयो की शिक्षा न बना दें बल्कि प्रत्येक विषय के अध्ययन-अध्यापन मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाए—बस। ऐसा दृष्टिकोण जिस मानवता का विकास करेगा, निश्चय ही वह सन्तुलित, स्वस्थ और सद्-व्यवहार सयत होगी।

६५ | शिक्षण के लिए माध्यम

शिक्षा की वास्तविक उपयोगिता ग्राहिक-शक्ति के विकास मे है और वह शक्ति उचित माध्यम से प्राप्त शिक्षा भी दे सकती है। शिक्षा के लिए उचित माध्यम की तलाश भारत विगत कई दशाब्दियों से कर रहा है। इसकी आज बहुत अधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है और निश्चय ही आवश्यकता

है भी बहुत अधिक। कारण कि विगत सौ-सवा-सौ वर्षों से भारत में जिस माध्यम से शिक्षा दी जा रही है, उसकी व्यर्थता सिद्ध होने मे अब कोई भी सन्देह नहीं रह गया है। जहाँ तक विगत सौ-सवा-सौ वर्षों से चले आ रहे शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है, उसका उपयोग केवल साक्षर करने तक ही सीमित है। साक्षर भी तो वह पूणतय नही कर पाता। क्योकि वह एक पूणतया विदेशी भाषा का माध्यम है और यह एक सवमान्य एव निखरा हुआ तथ्य कि विदेशी भाषा को अपने शिक्षण का माध्यम बनाकर कोई भी देश अपने देशवासियो को सच्चे अर्थों मे शिक्षित नही बना सकता। शिक्षा किसी देश के नागरिको के लिए तभी सही मायनों मे उपयोगी बन सकती है कि जब उसका माध्यम वह हो कि जिसे सभी लोग सहज ही ग्रहण कर पाने मे समय हो। जो भाषा या माध्यम लोग नही समझ पाते, या अत्यधिक परिश्रम के बाद भी जिसकी गहराइयों मे उतर पाने मे समय नही हो सकते, वह देर-सवेर व्यथ ही प्रमाणित होता है—हमारे देश की शिक्षा-पद्धति और उसके भयावह परिणामों से यह स्पष्ट है।

इन्ही सब कारणो और तथ्यो के आलोक मे विगत कुछ दशाब्दियो से हमारे देश के बुद्धिजीवी एव शिक्षा-शास्त्री इस बात के लिए चिंतित हैं कि भारत मे शिक्षण-प्रशिक्षण का माध्यम कब और किस भाषा को बनाया जाये। ऐसा किए बिना हम कुछ प्रमाण पत्र और डिग्रियाँ पा लेने के बाद शिक्षित होने का दम तो भर सकते हैं सच्चे अर्थो मे अपने-आपको सुशिक्षित तो क्या मात्र शिक्षित भी नही कह सकते। ऐसी स्थिति मे स्पष्ट प्रश्न उठता है कि भारत में, कम से कम उच्च शिक्षा या शिक्षण का माध्यम क्या होना चाहिए? इसके लिए अभी तक अनेक प्रकार के विकल्प हमारे सामने आय हैं और निरन्तर आ रहे हैं। उन सब पर अलग से विचार कर लेना उपयोगी रहेगा।

एक विकल्प तो यह है कि विगत सौ-सवा-सौ वर्षों से चले आ रहे अंग्रेजी के माध्यम को ही अब भी चलने दिया जाए। पर अनेक विद्वान अनेक कारणों से इस विकल्प या विचार का खुला विरोध करते हैं। एक और प्रमुख कारण तो यह है कि—जैसे कहा जाता है अंग्रेजी अब अन्तर्राष्ट्रीय भाषा नहीं रह गई है। उसका ससार अब बहुत ही सीमित हो चुका है। दूसरे, अंग्रजी भाषा यदि अब भी देश मे शिक्षण का माध्यम बनी रहती है, तो वह हमेशा हमे अपनी दासता के दिनो की याद दिलाती रहा करेगी। कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र दासता के किसी भी अवशेष को हमेशा गले से नहीं लगाए रख सकता। उसको दूर कर देने मे ही किसी सुदूर दृष्टि से राष्ट्र का हित हुआ करता है।

फिर आज इस देश मे अंग्रेजी की वह पहले जैसी स्थिति रह ही नही गई है। लोग अंग्रेजी को ठीक ढग से समझ ही नही सकते। कोई भी विदेशी भाषा हो, उसे दूसरे देश वाले लाख कोशिश करने पर भी समझ नही सकते। ऐसी स्थिति मे यदि हम किसी विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाए रखते हैं तो उसका किसी को कोई विशेष लाभ नही पहुँचता। अत विद्वानो को अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए रखने मे किसी भी प्रकार का हित दिखाई नही देता।

दूसरा विकल्प यह है कि जिसकी जो मातृभाषा है, उसकी शिक्षा का माध्यम वही भाषा होनी चाहिए। अर्थात् जो पजाब के निवासी हैं उनकी शिक्षा का माध्यम पजाबी भाषा ही होनी चाहिए, बगाल निवासियो का बगला भाषा, गुजरातियो का गुजराती भाषा और महाराष्ट्र निवासियो का मराठी भाषा होना चाहिए। यह विचार एक सीमा तक तो उचित प्रतीत होता है। वह यह है कि मातृभाषा का प्रत्येक व्यक्ति को सहज ज्ञान हुआ करता है। अत यदि उसमे शिक्षा दी जाए तो निश्चय ही वह अत्यधिक उपयोगी हो सकती है। पर इससे सबसे बडी हानि यह है कि ऐसा होने पर शिक्षा का और शिक्षितो का क्षेत्र सीमित होकर रह जाता है। वे लोग अन्य किसी क्षेत्र मे जाकर काम कर पाने मे समर्थ नही हो सकते। इससे देश के लिए जिस भावात्मक एकता की आवश्यकता हुआ करती है, वह भी नही बनी रह सकती है। अत यह माध्यम भी बुद्धिजीवियो और विद्वानो को स्वीकार नही हो सका।

तीसरा विकल्प यह है कि सारे देश के कुछ विशेष सभाग (Zones) बना दिये जाएँ। उन सभागो मे जो भाषा प्रमुख हो, उसी को वहाँ की शिक्षा का माध्यम बना दिया जाए। यह ठीक है कि प्रत्येक सभाग मे भी कई भाषाएँ हो सकती हैं। पर यह भी एक सत्य है कि वहाँ विद्यमान प्राय सभी भाषाओं को सामान्यत सभी लोग समझ नही पाते हैं। फिर उनमे से एक भाषा ऐसी अवश्य हुआ करती है कि जिसे सब लोग सामान्यत समझ ही लेते हैं। इन दृष्टियो से सभाग की भाषा को शिक्षा का माध्यम बना देना उचित ही कहा जा सकता है। पर यहाँ भी दिक्कत यह ही है कि प्रात या मातृभाषा के क्षेत्र से निकल कर तब वहाँ के निवासी केवल मात्र एक ही सभाग तक सीमित होकर रह जाएँगे। अन्तर्देशीय या सार्वदेशिक सेवाओ मे उनका कोई महत्त्व नही रह जायगा। यहाँ भी यही प्रश्न उठता है कि लोगो मे राष्ट्रीयता की दृष्टियो से जिस प्रकार की भावात्मक एकता की आवश्यकता होती है, वह बनी नही रह सकती। उसका बना रहना निहायत

जरूरी है। भाषा ही वह माध्यम है कि जो विचारों की अभिव्यक्ति द्वारा लोगों को एक-दूसरे के निकट लाता है। पर यदि यह विकल्प स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर सारा देश एक नहीं हो सकता। सभागों में बट कर ही रह जाएगा। एक सभाग में यदि किसी विशिष्ट प्रतिभा वाले व्यक्ति का उदय होता है, तो दूसरे सभाग उससे भाषायी कठिनाइयों के कारण लाभान्वित नहीं हो सकते।

इसके बाद जो अन्तिम विकल्प या विचार देश के नेताओं, बुद्धिजीवियों और विद्वानों के सामने है, वह यह है कि समूचे देश के लिए एक बुनियादी शिक्षा-पद्धति जारी की जाए और उसका माध्यम भी एक हो, जिसे अपना कर समान रूप से सभी को समान शिक्षा दी जाए। वास्तव में यही वह विकल्प है कि जो व्यवहार के सभी स्तरों पर शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को तो उजागर कर ही सकता है, सारे देश के लिए समान रूप से उपयोगी भी हो सकता है। पर इसके लिए बुनियादी तौर पर एवं आरम्भ से ही तैयारी की आवश्यकता हुआ करती है। सभी जानते हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के चौतीस पैंतीस वर्ष हमने यो ही गवा दिये हैं। यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद ही इस प्रकार का शिक्षा का कोई माध्यम अपना लिया जाता, तो निश्चय ही आज सारा देश भावात्मक एकता में तो बधा ही होता, शिक्षा भी अपने वास्तविक उद्देश्यों में अत्यधिक सफलता प्राप्त कर चुकी होती। अब भी देश का हित इसी प्रकार के किसी शिक्षा के माध्यम में सम्भव हो सकता है। इसके लिए अभी से काम शुरू कर देने की आवश्यकता है।

यहाँ एक बात और भी ध्यातव्य है। वह यह कि प्रान्तीय या सभागीय भाषाओं का भी निश्चय ही अपना-अपना महत्त्व हुआ करता है। मातृभाषा के महत्त्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। सभी लोग मातृभाषा को तो अत्यधिक महत्त्व दिया करते हैं या देना चाहते हैं। अपने प्रान्त की अन्य भाषाओं के बारे में भी लोगों का रुख यही सम्भव हो सकता है। ऐसी अवस्था में आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा ढग अपनाया जाए कि जिससे मातृ और प्रान्तीय भाषाओं के साथ लोगों का जो भावात्मक सम्बन्ध जुड़ा रहा करता है, उसको भी ठेस न पहुँचे और समूचे देश के लिए कोई एक शिक्षा का माध्यम भी अपनाया जा सके, जिसमें व्यापक स्तर पर भावनात्मक एकता तो बनी ही रहे, शिक्षा का अधिकाधिक व्यावहारिक उपयोग भी हो सके। ऐसा करके ही हम राष्ट्रीयता का महत्त्व तो बनाए रख ही सकते हैं, शिक्षा की जो दुर्दशा हो रही है उसे उससे भी बचाया जा सकता है।

इसके लिए शिक्षा-जगत मे निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया जा सकता है। देश के सभी क्षेत्रों मे प्रारम्भिक शिक्षा तो मातृ भाषा मे दी जाए। ऐसा करने का सर्वप्रथम और मुख्य लाभ यह होगा नन्हें-मुन्हें बालको के मन मे शिक्षा के प्रति एक उत्साह और जिज्ञासा का भाव जागृत होगा। शिक्षा क्या होती है, इस जानकारी के साथ-साथ एक रूचि भी उत्पन्न हो जाएगी। इसके बाद शिक्षा के अगले स्तर पर—अर्थात उच्च माध्यमिक (Middle) स्तर पर उसे मातृ भाषा के साथ-साथ सभाग की भाषा भी पढाई जाने लगे। इससे भाषा के साथ साथ उसके ज्ञान क्षेत्रो का विस्तार भी सम्भव हो सकेगा। वह दो भाषाओ का जानकार हो जाएगा। अगले कदम के रूप मे अर्थात् उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे पहुँचकर छात्रो को वह भाषा भी पढाई जानी आरम्भ कर दी जाए, जिसका राष्ट्रीय महत्व हो। यह भाषा इस दृष्टि से पढाई जानी चाहिए कि इसी ने आगे चलकर विद्यालयो एव विश्व विद्यालयो मे उच्च शिक्षा का माध्यम बनना है। इससे एक लाभ तो यह होगा कि जिसे त्रिभाषा फार्मूला कहा जाता है वह भी पूरा हो जाएगा और सारा देश एक ही भाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर सकेगा। तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य एव लाभ प्राप्त हो सकेगा। हमारे विचार मे देश के शिक्षाविदो एव नेताओ को अपना ध्यान इसी व्यवस्था को शिक्षा का माध्यम बनाने की ओर ही केन्द्रित करना चाहिए।

शिक्षा का अर्थ है—सीखना। इस सीमा तक अबोध मति शिक्षार्थियो को बोध देना कि उनकी चेतना के द्वार खुल सकें। वे अधिकाधिक व्यावहारिक बन सकें। शिक्षा का उपयोग केवल साक्षरता तक ही सीमित न रह कर और अधिक व्यापक बन सके। उसका सयोजन रोटी रोजी की समस्या के साथ भी हो सके। चेतना के द्वार खुलकर प्रगति की दौड मे शामिल होने का हम प्रोत्साहन दे सकें। सारा देश एक हो सके। यह तभी सम्भव हो सकेगा कि जब हम शिक्षा का माध्यम सारे देश के लिए एक बनाएँगे। वह एक राष्ट्रीय माध्यम ही हमे व्यावहारिक बना सकेगा। अत अन्त मे हम यह कहना चाहते हैं कि राष्ट्र हित के लिए हो सारे राष्ट्र की शिक्षा का कोई सर्व-स्वीकृत माध्यम होना चाहिए। इसके सिवाय अन्य कोई चारा नहो है। वह सर्वमान्य माध्यम क्या हो, इसे बहुमत एव सर्वसम्मति से सहज ही खोजा जा सकता है। पर तभी, जब राजनीतिक निहित स्वार्थों के चश्मे उतार कर इस दिशा मे कार्य कर पाना सम्भव हो सके।

६६ | विद्यार्थी और राजनीति

समस्याओ के देश मे 'विद्यार्थी और राजनीति' भी एक समस्या है और कुछ समस्याएँ ऐसी भी होती हैं कि जिनका सिद्धात रूप में वसा समाधान कभी भी मान्य नही होता जैसा कि व्यवहार में पाया जाता है। विद्यार्थी और राजनीति के विषय मे यह कथन सर्वथा चरितार्थ होता है। आज कोई भी नेता यह सिद्धात मानने को प्रस्तुत नही कि विद्यार्थी को राजनीति मे भाग लेना चाहिए। किन्तु व्यवहार मे वस्तु स्थिति भिन्न है। सभी राजनेता और इनके दल अपनी राजनीति में विद्यार्थियो का खुला प्रयोग करते हैं। आज का अधिकाश विद्यार्थी भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, राजनीति मे भाग लेता है। असख्य विद्यार्थी ऐसे हैं कि जो राजनीतिक-नेताओ के सम्पर्क मे हैं। राजनीतिक नेता भी इन्हें अपनी शतरज के आवश्यक मोहरे समझते हैं। इस प्रकार राजनीति और विद्यार्थी मे व्यावहारिक दृष्टि से अटूट गठबधन है जिसे कोरे सिद्धान्त कथन से तोडा नही जा सकता। वास्तव में आज स्कूल-कॉलिजो मे बनने वाली यूनियनें भी किसी न किसी विशिष्ट राजनीति से प्रभावित रहती है। उनके चुनावो मे भी विधान-सभाओ के चुनावो के समान रुपया बहाया जाता है। यह स्थिति निश्चय ही स्वस्थ नही कही जा सकती।

आज तो राजनीति का अर्थ ही बदल गया है। राजनीति की सीमाएँ आज विस्तृत और व्यापक हो चुकी हैं। अब वह केवल राज्य और शासन के सचालन की नीति मात्र नही। आज की राजनीति मे, समाज-नीति, अर्थ-नीति आदि का समावेश हो गया है। गाँधीजी तो धर्म को भी राजनीति का ही अग मानते थे। उन्होने कहा था "जो यह कहता है कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही वह धर्म को नही जानता ऐसा कहने मे मुझे सकोच नही।" इस प्रकार प्रजातन्त्र की राजनीति जीवन के हर क्षेत्र को छूकर चलती है। कोई उससे अलग नही रह सकता।

फिर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से इस विषय पर विचार तो उपेक्षित है ही। अतएव हम जब ऐसा सोचते हैं तब हमारे सम्मुख एक ऐसा चेहरा उभर कर आता है जो वय से किशोर है उसकी मसे भीगी नही हैं। उसका भोला रूप स्पष्ट कह रहा है कि अभी यह फूल खिल रहा है। जीवन के निमम काटे अभी

इसे चुभे नही । इसका दर्पण सा स्वच्छ मन है, जिसको अभी जीवन की अनुभव भरी धूली ने छुआ नहीं। मस्तिष्क की रेखायें अभी बन रही हैं, विकास का प्रथम पाठ पढ रहे हैं। ऐसे भोले-भाले किशोर की अधकचरे मस्तिष्क के साथ राजनीति के काटो में घसीटना अन्याय होगा। फूल को खिलने से पूर्व ही तोड लेना अन्याय है। किशोरों को भी तब तक राजनीति मे न घसीटना चाहिए जब तक वे परिपक्व नही हो जाते, जीवन के उतार चढाव से परिचित नही हो जाते। ऐसा करना मानवीय अन्याय है।

विद्यार्थी किसे कहते हैं? उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए? जैसा कि शब्द से स्पष्ट है विद्यार्थी का अर्थ है जो विद्या पढता हो, जो शिक्षा आदि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति का इच्छुक हो। इसके लिए पहले २५ वर्ष की अवधि निश्चित कर दी गई। इस अवस्था मे यह निश्चित कर दिया गया कि विद्यार्थी को सभी प्रकार के व्यसनो से दूर रहकर अध्ययन मे तल्लीन रहना चाहिए। इस प्रकार प्राचीन अर्थों मे सच्चा और आदर्श विद्यार्थी वही माना जा सकता था जिसने मन, वचन और कर्म से सब इद्रियो को सयम मे कर रखा हो और इस प्रकार विकार-रहित होकर अध्ययन और ज्ञान की खोज मे तल्लीन हो।

यद्यपि आज की शिक्षा-पद्धति बदल गई है किन्तु यह तो आज भी आवश्यक समझा जाता है कि २५ वर्ष तक की अवस्था शिक्षा एव ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही है। इस शिक्षा-प्राप्ति के लिए विद्यार्थी का सयमी तथा अनुशासनबद्ध होना आवश्यक है। यदि विद्यार्थी को चलचित्रो, बाल-डासों, हीन साहित्य, टी हाऊसो, कॉफी हाऊसो मे भटकने आदि का व्यसन लग जाए तो इससे उसकी शिक्षा मे बाधा पडेगी। अतएव यह आवश्यक है कि वह इन व्यसनो से दूर रहे। इसके लिए ही सयम की आवश्यकता है। यह आवश्यकता पहले भी थी और आज तो और भी अधिक है, क्योंकि विद्यार्थी की लालसा को जगाने वाले, उसे व्यसनो मे डालकर पथ भ्रष्ट करने वाले साधनो की सख्या, बरसाती राजनीतिक दलो और मेढक नेताओ की सख्या भी आज अनन्त है। सभी उसे आगे कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं।

विद्यार्थी के अध्ययन और शिक्षा-अभ्यास में बाधा डालने वाले कुछ प्रलोभन की चर्चा ऊपर की गई है। राजनीति भी इसी प्रकार का प्रलोभन है। राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनो में तो राजनीति खांडे की धार थी। राजनीति मे वही व्यक्ति भाग ले पाता था जिसमें सच्ची देश भक्ति हो, कष्ट सहन करने की क्षमता हो घर-परिवार के मोह बधन को त्याग सकता हो, जेलो की यत्रणा सहने के लिए तत्पर हो। इस प्रकार स्वतत्रता से पूर्व राजनीति का अर्थ राष्ट्र-सेवा था किन्तु आज यह बात नहीं। आज राजनीति के सामने सत्ता का

आकर्षण है, पद की प्रतिष्ठा का मोह है। अतएव आज की राजनीति भी प्रलोभन का रूप लिए है। आज का विद्यार्थी यदि राजनीति मे भाग लेता है तो वह नेतागिरी के प्रलोभन मे पड जाएगा। इसका फल यह होगा कि वह अध्ययन से भटक जाएगा, इसकी पाठ्य-पुस्तकें रखी रह जायेंगी। मन और मस्तिष्क की सारी शक्ति राजनीति के कुचक्रो मे ही लगने लगेगी। इसके फलस्वरूप उनके मस्तिष्क का विकास रुक जाएगा, ज्ञान मे वृद्धि न होगी। भविष्य अन्धकारमय हो जाएगा।

इस सम्बन्ध मे प्राय कहा जाता है कि आज की राजनीति राष्ट्रसेवा या त्याग का, जनता के नेतृत्व तथा जनता के हित-चिन्तन का मार्ग नही। यह तो युवक का करियर (Career) है भावी जीवन का धधा है। जब आज का युवक भावी जीवन के लिए डाक्टर, इजीनियर, प्रोफेसर वकील आदि का धधा सोचता है उसी प्रकार राजनीतिक नेता बनना भी एक धधा है। अतएव विद्यार्थियो के लिए इसका द्वार बन्द नहीं होना चाहिए। यदि कोई विद्यार्थी वकालत पढ रहा है तो उसे हम वकीलो के सम्पर्क मे देखकर आपत्ति नही उठाते, इसी प्रकार जिस विद्यार्थी ने अपने भावी जीवन के धधे के रूप मे राजनीति को चुन लिया है उसे हम राजनीति मे भाग लेने से क्यो रोकें? इसमे सन्देह नहीं कि इस तर्क म बल है। आज जब देश मे राजनीतिक नियुक्तियो की कमी नही तो इसके लिए व्यक्ति अपने आपको योग्य क्यो न बनाए? आज योग्यता के साथ सम्बन्धो की, सम्पर्क बनाये रखने की भी नितान्त आवश्यकता है। आज का विद्यार्थी इस आवश्यकता को समझता है तथा नेताओ के साथ सम्पर्क बनाता है, राजनीतिक दलो से सम्बन्ध जोडता है और इस प्रकार अपना भविष्य को सुरक्षित करता है। इसमें अनुचित क्या है? क्या वह इजीनियरो की भाँति सिर भी फोडे, कठोर परिश्रम भी करे, धन का भी व्यय करे, समय भी लगाए और अन्त म यह सब करने के उपरान्त बेकारी का मुह देखे। इस प्रकार यदि कुछ उत्साही युवक जिन्हे अपनी योग्यता पर विश्वास है अपनी भाषण शक्ति पर गर्व है, यदि राजनीति मे प्रवेश करने का प्रयास करते हैं तो इसमे आपत्ति न होनी चाहिए। निश्चय है इन तर्कों मे बल है।

वास्तव मे जब हम विद्यार्थी और राजनीति की बात करते है तब एक विद्यार्थी या कुछ गिने-चुने विद्यार्थियो से अभिप्राय नही होता। ऐसे कथन का अभिप्राय समूचे विद्यार्थी वर्ग से है। सामूहिक रूप से विद्यार्थियो को राजनीति मे और वह भी दलगत राजनीति मे सक्रिय भाग नही लेना चाहिए। इसमे तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक यह कि व्यक्तिगत रूप से भले ही विद्यार्थी किसी राजनीतिक दल का सदस्य हो, उसमे सक्रिय भाग लेता हो, किन्तु

विद्यार्थी सगठन अर्थात् विद्यार्थियो के सघ, परिषद् यूनियन आदि को किसी दल का होकर उसके प्रचार का हथकडा नही होना चाहिए, किसी दल या भोपू बनकर उसके सकेत पर नही नाचना चाहिए। विद्यार्थियो के सगठन इस दलगत राजनीति से स्वतत्र रहकर ही विद्यार्थियो का हित साधन कर सकते हैं। दल की दलदल मे फँस कर ये कालेजो और विश्वविद्यालयो के वातावरण को दूषित और विषम बना देंगे, अपने सगठन को दुर्बल बना देंगे तथा साथ ही विद्यार्थियो का स्वतत्र चितन जाता रहेगा। आज विद्यार्थी वर्ग मे जो इतना विक्षोभ पाया जाता है उसका प्रमुख कारण इस प्रकार की दिशा हीन राजनीति ही है। आज की राजनीति मे अस्थिरता है, अनुशासनहीनता है, भ्रष्टाचार है, नैतिक मूल्य का पतन है। विद्यार्थियो मे भी आज इसी की झलक मिलती है। राजनीति का अग बनकर वे अपने को इस प्रकार के दूषणो से बचा भी कैसे सकते है?

दूसरी बात दलगत राजनीति की है। प्रजातत्र की दलगत राजनीति विरोधात्मक और विध्वसात्मक अधिक होती है तथा सहयोगात्मक और रचनात्मक कम। दलगत राजनीति के सामने दल प्रमुख रहता है और राष्ट्रहित गौण। दल को अपनी विजय की, अपनी प्रतिष्ठा की अधिक चिन्ता रहती है, जनता के हित साधन की कम। कई बार बार दलो को दलगत भावना के कारण ऐसी नीतियाँ अपनानी पडती हैं, ऐसे कदम उठाने पडते है जिनका देश की दृष्टि से महत्त्व न होकर केवल प्रचारात्मक महत्त्व होता है। इस प्रकार दलगत राजनीति बडी अस्वस्थ और निकृष्ट कोटि की राजनीति समझी जाती है। ऐसी राजनीति एक युवक विद्यार्थी के विकास मे बाधक ही हो सकती है साधक नही। इन दलगत नीतियो के कारण विद्यार्थियो की प्रवृत्तियो मे भी सकीर्णता और अनुदारता ही आएगी। दलगत सघर्ष विद्यार्थी को भी विध्वसात्मक मार्ग पर आगे बढायेगा तथा इस प्रकार उसका रचनात्मक दृष्टिकोण सदा के लिए जाता रहेगा। आज की सस्था-सस्थाओ मे इसके दुष्परिणाम स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

तीसरी बात राजनीति मे सक्रिय भाग लेने की है। यह कदम सबसे घातक है। राजनीति मे सक्रियता का अभिप्राय है शिक्षा का अन्त, अध्ययन का ठप हो जाना। विद्यार्थी को इस दृष्टि से छूट देने का अर्थ होगा उसके विद्यार्थी रूप की हत्या जो एक युवक के लिए नितात घातक है। आज के राजनीतिक नेता को हर विषय का पारगत विद्वान, जीवन का गभीर आलोचक, देश विदेश की नवीनतम गतिविधियो से परिचित एक अत्यत कमठ, सुयोग्य व्यक्ति होना चाहिए। स्पष्ट है ये सब योग्यताए जीवन के ठोस

ही प्राप्त हो सकती हैं। समय की प्रयोगशाला मे ही इनकी सुविधा सुलभ हो सकती है। जो विद्यार्थी अपनी नियमित शिक्षा मे ही अधूरा है, वह ऐसी राजनीति मे कैसे टिक सकता है। राजनीतिज्ञ तो सामान्य आचार सयम भी प्रदान कर पाने मे असमर्थ हैं, वे व्यापक दृष्टिकोण कहाँ से दे सकते हैं ?

गाँधी जी ने राजनीतिक चितन की छूट देते हुए विद्यार्थियो को सक्रिय राजनीति से दूर रहने का ही परामर्श दिया था। इसी प्रकार दलगत राजनीति की चर्चा करते हुए गाँधी जी ने कहा—"विद्यार्थियों का दलगत राजनीति म पडने से काम नही चल सकता। जैसे वे सब प्रकार की पुस्तकें पढते हैं वैसे सब दलो की बात सुन सकते हैं। परन्तु उनका काम यह है कि सबकी सचाई को हजम करें और बाकी को फेंक दें।" आज के विद्यार्थी के लिए भी मात्र उतना ही उचित है।

राजनीतिक सत्ता का प्रलोभन एक विद्यार्थी के लिए कितना घातक सिद्ध हो सकता है और उसे कितना अयोग्य बना देता है, इसी की चर्चा करते हुए गाँधी जी ने कहा—"सत्ता की राजनीति विद्यार्थी-ससार के लिए अपरिचित होनी चाहिए। वे ज्यो ही इस तरह के काम मे पडेंगे, त्यो ही विद्यार्थी के पद से च्युत हो जायेंगे और इसलिए देश के सकट-काल मे उसकी सेवा करने में असफल होंगे।"

इस प्रकार कोई भी विचारक, जिसे युवा जगत से तनिक भी लगाव है, वह उन्हें उन्नत तथा प्रगति करते देखना चाहता है, विद्यार्थी को राजनीति से अलग रहने का ही परामर्श देगा। भ्रष्ट और सत्ता लोलुप नेताओ को छोडिये, आदर्श राजनीतिज्ञ भी यही चाहते हैं और ऐसा प्रयास भी करते हैं। किन्तु इधर की गतिविधियाँ बताती हैं कि विश्व का विद्यार्थी वग एक क्षुब्ध बाढ की भाँति बढा आ रहा है जिसके सामने राजनीति का जजर ढाँचा एक क्षण के लिए भी न टिक सकेगा। ऐसी स्थिति मे स्वय विद्यार्थियो ने सोचना है कि क्या राजनीति उनके सुखद भविष्य के लिए लाभदायक हो सकती है ? सक्रिय और दलगत राजनीति कदापि विद्यार्थी-वग का हित-साधन नही कर सकती। यह तथ्य उसे अच्छी प्रकार समझ, राजनीति के क्षेत्र मे मात्र जिज्ञासु विद्यार्थी ही रहना चाहिए। इसी मे सब का हित है।

६७ काला धन

काला धन की समस्या विश्वव्यापी समस्या है। भारत मे इस समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया है। यद्यपि वान्चू कमेटी ने सन १९७१ मे ही अपनी रिपोर्ट मे इस समस्या को कैंसर की तरह भयानक बताया था और कहा था कि यदि उपचार नही किया गया तो यह राष्ट्र के स्वास्थ्य और जीवन के लिए घातक सिद्ध होगी पर तु यह बीमारी कम होने की बजाय बढ़ी ही है और इसने हमारे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन को इतना प्रभावित किया है कि आश्चर्य होता है कि हम जीवित कैसे हैं। काले धन का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे बोलबाला है। देश की जितनी राष्ट्रीय पू जी है, उसर कोष मे जितनी मुद्रा और सोना है उतने ही परिमाण मे काला धन विद्यमान है। हर व्यवसाय व्यापार उद्योग मे जितना सफेद धन लगा दिखाया जाता है, उतना ही काला धन लगा है और उसका कोई हिसाब किताब बही खातो मे और बैंक के खातों में नही दिखाया जाता। इसीलिए दो प्रकार के बही खाते रखे जाते हैं—एक वे जो सरकार को, कर अधिकारियो को दिखाए जाते हैं और जिनके आधार पर कर दिया जाता है और दूसरे वे जिनमे कारोबार का सही हिसाब किताब होता है और जिसमे की आधी राशि काले धन के रूप मे होती है। यही समाना तर अर्थव्यवस्था को ज म देता है अर्थात् जितना धन सरकारी खजानों में होता है उतना ही काले धन के रूप म।

यह काला धन है क्या ? अर्थशास्त्रियो ने उसकी विभिन्न परि[illegible] दीं पर कोई पूर्ण नहीं है अत उन्होंने स्वय हार मान कर कहा कि काले धन को परिभाषित करने का प्रयास कठिन है निराशा ही हाथ लगेगी। फिर भी मोटे रूप मे हम काले धन को दो भागो में बांट कर [illegible] का प्रयास कर सकते हैं। (१) वह धन जो अनैतिक और गैर कानूनी तरीकों से कमाया जाता है जैसे वेश्या वृत्ति द्वारा, जुए-सट्टे के द्वारा अथवा तस्कर-व्यापार के माध्यम से। (२) वह धन जिस पर सरकार को कर न दिया जाए जिसे कर अधिकारियो स छिपा कर रखा जाय। ऐसा धन अर्जित [illegible] उपाय भी अनैतिक और गैर कानूनी ही होते हैं। कोई मकान [illegible] बेचता है एक लाख रुपय म पर रजिस्ट्री होती है 50000 रुपये [illegible] पचास हजार रुपया बचा, वही काला धन है क्योंकि उस पर [illegible]

नहीं दिया जाता और उसको व्यापार आदि में छिपाकर लगाया जाता है। इसी प्रकार सरकार से लाइसेंस, परमिट परवाने विदेशों से आयात या उन्हें निर्यात करने की अनुमति प्राप्त करने के लिए जो धनराशि सरकारी कार्यालयों के लिपिकों या अधिकारियों को रिश्वत रूप मे हो दी जाती है और जिसे वे लोग नकद पाने के कारण बैंक खातों मे नहीं दिखाते, जिस पर कर देते, वह भी काला धन है। सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए या तबादलों के लिए दी गयी रकम काले बाजार में अधिक मूल्य पर चीजों को बेचकर पाया धन, बड़े बड़े उद्योगों म उत्पादन कम दिखाकर, और छिपाये उत्पादन को बेचकर कमायी गई राशि, व्यापारियो द्वारा छिपाकर बेचे गए माल से प्राप्त धन सभी काला धन है। चीनी मिल का मालिक अपनी मिल मे उत्पादन करता है १०००० टन चीनी का, पर दिखाता है ५००० टन उत्पादन। शेष ५००० टन चीनी बेचकर जो धन वह प्राप्त करता है, वह काला धन है। जिन व्यापारियों को वह यह चीनी बेचता है वे भी चोरी छिपे, औने पौने मूल्य पर उसे बेचकर जो धन कमाते हैं, वह भी काला धन है। इसी प्रकार मकान मालिक या दुकान किराये पर उठाने वाले लोग किरायेदार से लेते १०० रुपये है पर उसे रसीद देते हैं ५० रुपये की। उन्हे चूं कि ५० रुपये ही कर देना पड़ता है, अत ५० रुपये काला धन हो जाता है। बिक्री कर आदि बचाकर एकत्र की गई धनराशि भी काला धन होती है।

काले धन के कारण हमारा राजनैतिक जीवन भी दूषित हो उठा है। हमारा देश प्रजातन्त्र है। यहां हर पांच वर्ष बाद चुनाव होते हैं। चुनाव के समय चुनाव की खर्च सीमा निर्धारित है पर सबको पता है कि प्रत्याशी को उस सीमा से अधिक धन खर्च करना पड़ता है। यह धन कहां से आये, प्रत्याशी धन के लिए पूंजीपतियों उद्योगपतियों, बड़े बड़े उद्योग घरानों का मुंह ताकता है। उनकी झोली तो खुलती है पर कुछ शर्तों के साथ। वे अपने काले धन का कुछ भाग उस राजनैतिक दल के प्रत्याशियों को देता है जिसकी चुनाव मे जीत कर सत्ता मे आने की संभावना होती है। बदले मे वह पूंजीपति उद्योगपति कुछ रियायतें चाहता है लाइसेंस परमिट' आयात निर्यात की सुविधाएं मांगता है और वे उसे दी जाती हैं। इससे भ्रष्टाचार फलता है, काला धन बढ़ता है और मर्ज लाइलाज होता जाता है।

काले धन का सबसे अधिक घातक प्रभाव पड़ता है देश की अर्थ व्यवस्था

पर। काले धन के कारण ही अवैध व्यापार, तस्कर व्यापार फलते फूलते हैं, अनेक अनैतिक और गैर कानूनी धंधो को प्रोत्साहन मिलता है। काला धन तभी कमाया जा सकता है। जब बाजार मे चीजो की कमी हो, आवश्यक वस्तुए—अनाज, कपडा, भोज्य पदार्थ या दैनिक आवश्यकता की वस्तुयें मांग की तुलना मे कम उपलब्ध हो। यह कमी पैदा की जाती है—उत्पादन कम कर के या उस वस्तु का भंडारण करके। इस कमी के कारण ही मूल्य बढ़ते हैं और साधारण जनता महगाई की चक्की मे पिसती हुई कराह उठती है।

काले धन का एक अनिष्टकारी परिणाम यह होता है कि देश का अधिकांश कारोबार सरकार की आंख से छिपकर होता है सरकार का नियत्रण बहुत सकुचित क्षेत्र पर रह जाता है। आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण होने पर राजनीतिक सत्ता भी कुछ लोगो के हाथो मे सिमट जाती है। सरकार को देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता नही चलता क्योंकि उसके पास सही आकडे सही नहीं होते। राष्ट्रपति आय, पूजी निवेश आदि का सही सही पता न रहने से सरकार की नीतिया या तो गलत होती हैं। या लक्ष्य की पूर्ति मे असफल। काले धन का सम्बन्ध है करों की चोरी से। पूरी पूरी कर राशि न मिलने से राज कोष खाली होता चलता है, अत या तो नए नए कर लगाये जाते हैं जो असतोष को जन्म देते हैं या नोट छाप कर कमी पूरी की जाती है। घाटे के बजट होते हैं मुद्रा स्फीति बढती है। महंगाई आसमान को छूने लगती है और एक नया दुष्चक्र चलने लगता है।

सारांश यह कि काले धन मे दुष्परिणाम बडे गभीर हैं और उसको समाप्त करने के लिए सभी चिंतत हैं। पर उसके लिए क्या कदम उठाए जायें, सरकार की क्या नीति हो, जन सामान्य का योगदान क्या हो? प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व काले धन के एकत्र होने के कारणो को जानना आवश्यक होगा।

पहला कारण है लोगो की काले धन की प्रति आसक्ति। अर्थ शास्त्र का नियम है कि अधिक उत्पादन से आय बढती है पर उत्पादन के लिए पहले तो परिश्रम और अध्यावसाय आवश्यक हैं और परिश्रम से सब बचना चाहते हैं विपरीत अब जब बिना परिश्रम के ही आय हो सके। दूसरे परिश्रम से कमाया धन सफेद होता है उसका सही सही हिसाब किताब रखना पडता है। इसके विपरीत काला धन कमाने के लिए न पसीना बहाना पडता है। और न उस पर सरकार को कर दिया जाता है। और अगुआ ऐसा होगा जो सरल

५ ईमानदार आयकर-अधिकारियों को संरक्षण प्रदान करने के साथ साथ उन्हें उनकी कर्त्तव्य निष्ठा और ईमानदारी के लिए पुरस्कृत किया जाय।

६ कर वसूल करने का तंत्र सुदृढ़ बनाकर कर वसूली की जाय ताकि कर की चोरी न हो सके।

७ समाज कल्याण की योजनाओं जैसे गंदी बस्तियों, झुग्गी झोंपड़ियों के स्थान पर स्वच्छ बस्तियाँ बनाने-बसाने के कार्यों में काला धन निवेश करने के लिए लोगों प्रोत्साहित किया जाय।

(ख) दूसरी दिशा है निवारक। इसके अंतर्गत निम्नलिखित कदम उठाए जा सकते हैं—

१ अपराधियों को कड़ा दण्ड देने के लिए कानूनों को कड़ा किया जाय। जुर्माने की सजा के बदले कारावास की सजा का प्रावधान हो और कारावास की अवधि लम्बी हो।

२ तलाशी, सम्पत्ति को अधिकृत करने के लिए अधिकारियों के अधिकार आज की तुलना मे अधिक हो और व्यापक हों ताकि वे मनमानी न करते हुए भी अपराधी पर उचित दवाव डाला जा सके और अपराधी उनसे भयभीत रहें।

३ ऐसे अपराधो के निर्णय के लिए विशेष अदालतें हों उन्हें विशेष अधिकार प्राप्त हो।

४ न्याय कम से कम समय मे होना चाहिए। अपराधी को ज्ञात होना चाहिए कि वकीलों की खाल की खाल निकालने की युक्ति तथा मुकदमे को टालने की तिकड़म से कुछ लाभ न होगा।

५ अपराधी को ऐसा कड़ा दण्ड दिया जाय जिससे दूसरे अपराध करने को लालायित लोग डरें और उनकी हिम्मत अपराध करने की न हो। एक बार से अधिक अपराध करने पर प्राण दण्ड या आजीवन कारावास के दण्ड का प्रावधान हो।

६ ऐसे लोगो का सामाजिक बहिष्कार हो। पर सबसे बड़ा प्रश्न है चरित्र का, नैतिक मूल्यो को अपनाने का। जब तक नैतिक मूल्यो मे आस्था नही होगी, पाप का भय न होगा मनुष्य का हृदय निष्पाप न होगा, वह भ्रष्टाचार से न डरेगा तब तक ऊपर से आप लाख कानून बनाइए। वह उन्हें

सुधार तब तक बेकार और बेमानी है जब तक मनुष्य का आतरिक सुधार नहीं होता और इसके लिए बचपन से ही नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है।

जब तक जनता विशेषत काला धन कमाने वाले यह नहीं सोचेंगे कि अ तत वे जिस जीवन नौका पर चढे हैं उसमे काला धन का सूराख है और उसके कारण यह नौका अ ततः डूबेगी ही, अत उस सूराख को ब द करना चाहिए। काला धन समाप्त होना चाहिए। तब तक यह रोग असाध्य ही बना रहेगा।



६८ | सकट मे हम एक है

राष्ट्र को प्रत्येक ह... मे सर्वोपरि माना गया है। क्योकि वास्तव म राष्ट्र कोई मिट्टी का टुकडा नही होता, वह तो जीती-जागती सचेतन भावना होती है। राष्ट्र कोई दूर आकाश मे चमकता तारा नही होता कि रात बीतते ही आँखो से ओझल हो जाए, राष्ट्र तो अटूट स्वप्नो का सजक है, अमर आसो का आकाश पु ज है। राष्ट्र कोई आकाश को छूने वाला पहाड नही होता अपितु उस पवत मे जो गौरव निहित है, जो महानता छिपी है, जो सुदढता समाई है, जो करुणा प्रवाहित हो रही है, वह उन सबको अपने शरीर पर धारण किये रहता है, प्राणो मे अवस्थित किए रहता है। इस प्रकार राष्ट्र जड इकाई नही चेतनशील प्राण है, गतिहीन पाषाण नही, गतिमान् शक्ति है, निस्प द वस्तु नही, स्प दनशील चेतना है। जितना गोचर है, मूर्त है, वही केवल राष्ट्र नही। यह तो राष्ट्र का बहुत स्थूल रूप है। वास्तव मे राष्ट्र तो वह है जो भावना बनकर, सूक्ष्म प्राण-सत्ता बनकर कण-कण मे अगोचर तथा अमूर्त रूप से समाया है। इसलिए राष्ट्र के किसी एक अग की शक्ति क्षीण हो सकती है कि तु समूचे राष्ट्र की शक्ति अथाह है अजस्र है, वह मिट कर भी नही मिटता, वह मरकर भी नही मरता। अपनी सूक्ष्मता में हमेशा बना रहता है।

राष्ट्र का यह भावमय स्वरूप ही वास्तव मे उसे अमरत्व प्रदान करता है और यह भावना उस समय विशेष रूप से मूर्तिमान हो उठती है जब उसे या उसके किसी अग को सकट का तूफान घेर लेता है। सकट के क्षण ही तो अग्नि परीक्षा के क्षण होते हैं। सकट की भयकर प्रलयकारी घडियो मे जो राष्ट्र अपने प्राणो मे उत्साह का सचार कर, भुजाओ मे शक्ति भर, पाँवो मे वेग भर अगारा

सा धधक सकता है, आग उगल सकता है, शकर का अग्नि-नेत्र बन सकता है, ताडवी नृत्य कर सकता है, विनाश की लीला रच सकता है, रक्त की होली खेल सकता है, वही राष्ट्र इस धरती पर जीने योग्य है, उसे ही जीने का अधिकार है, वही राष्ट्र कहलाने योग्य है। सकट की विकट वेला मे ही किसी सबल राष्ट्र की शक्ति मूर्तिमान होकर अपने अजेय अस्तित्व का परिचय दिया करती है। अतएव जिस राष्ट्र पर सकट के बादल जितने अधिक घिरते रहते हैं, उतनी ही उसकी शक्ति की यशोपताका उन्नत होती रहती है, उसके इतिहास मे विजय की सुनहली गाथायें जुडती रहती हैं। सोना आग मे तपकर कुन्दन बनता है, राष्ट्र सकट मे पड कर उन्नत होता है। शक्तिशाली बनता है, इतिहास के पृष्ठ पर, *विश्व के हृदय-पट पर अपनी कीर्ति के अमिट चित्र अकित कर* जाता है।

हमारा देश भारत एक विशाल राष्ट्र है। इसकी प्राचीन सस्कृति विश्व के इतिहास का उज्ज्वल पृष्ठ है, मानवता के गौरव की अमर गाथा है। आप इसे टुकडो मे विभाजित कीजिए खडो मे बाट दीजिए किन्तु यह फिर भी एक है। क्योकि आप इसकी गगा नही बाँट सकते, इसकी यमुना को विभाजित नही कर सकते, इसके हिमालय को खडित नही कर सकते। इसकी गगा न केवल नदी है और इसका हिमालय न केवल पहाड, बल्कि इन दोनो मे समूचे राष्ट्र के प्राण हैं, चेतना है। ये दोनो देश की भावना के सजीव प्रतीक हैं। इन्ही और इन जैसे ही असख्य प्रतीको से एक ऐसा भाव-सूत्र तयार होता है जिसे हर भारतवासी अपने हृदय मे धारण कर राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हो उठता है। इस प्रकार भारतभूमि, अपनी सास्कृतिक परम्पराओं मे, धार्मिक भावनाओ मे, सामाजिक व्यवस्था मे, नैतिक मूल्यो मे एक ऐसी सामान्य आचार-पद्धति लिए है कि जिसे सर्वत्र अपनाया जाता है। आज दक्षिण मे चले जायें या उत्तर मे, पूर्व मे चले जायें या पश्चिम मे, सब कही अतिथि का आदर है स्त्रियो का विशेष सम्मान है धर्म हर सामाजिक कर्म की मूल शक्ति है, भौतिक सुखो को हेय और ससार को नश्वर तथा मोह माया का घर समझा जाता है। यह एकता क्या है, कैसी है? उत्तर उसकी राष्ट्रीय चेतना मे ही खोजा जा सकता है।

भारत न जाने कब से क्षेत्रीय भावनाओ मे सोचता आया है। यद्यपि राज्यो का यह विभाजन आज की बात है किन्तु न जाने कब से पजाबी पजाब को, गुजराती गुजरात को, बगाली बगाल को बिहारी बिहार को अपनी भावना अर्पित करता आया है। तो फिर क्या कहना होगा कि भारत [illegible] नहीं राष्ट्रो का समूह है। पजाब, बगाल, गुजरात आदि का पृथक्-पृथक्

अस्तित्व है, सत्ता है, स्वरूप है। पंजाब, पंजाब है और बंगाल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, गुजरात गुजरात है और महाराष्ट्र से उसका कोई नाता नहीं। वास्तव में तथ्य कुछ और है। भारत की एकता जड़ एकता नहीं, यह एकता बड़ी भावपूर्ण और लचकीली है। इसके अनेकत्व में एकत्व है, भिन्नत्व में अभिन्नत्व है, दूरत्व में भी सामीप्य अन्तर्हित है।

यदि हम प्रतिदिन के समाचारों पर दृष्टिपात करें, नित्य प्रति सामने आने वाली समस्याओं पर ध्यान दें तो हमें बड़ी निराशा होती है। हर राज्य अपनी-अपनी ढपली बजा रहा है। राज्यों को अपने स्वार्थों की चिन्ता है, अपने हित-साधन का ध्यान है, सम्पूर्ण भारत का नहीं। राज्यों में सीमाओं के झगड़े हैं, औद्योगिक होड़ है। एक दूसरे में कई कारणों से तनाव रहता है और कभी कभी तो यह आंदोलन का भी रूप धारण कर लेता है। अनशन तक किये जाते हैं। ऐसी विषम स्थिति ही हमें चिंतित कर देती है। यही हमारी राष्ट्रीयता का दुर्बल पक्ष है। इसी का आक्रांता लाभ उठाते रहे हैं और हम में फूट डालकर इस देश के शासक बन-बैठते रहे हैं। मुसलमानों के इतिहास और अंग्रेजों के शासन की कहानी के पीछे यही तथ्य प्रकट हो रहा है। हमारे गुलाम होने का यही कारण था। हम शक्तिशाली होकर भी एकता के सूत्र में गुथे नहीं रह सके। हम राष्ट्रीय उतने नहीं रहे जितने कि जातीय या प्रांतीय। इसके दुष्परिणाम कई बार हमारे सामने आए, किन्तु इतना होकर भी हम मिटे नहीं। कारण ?

कारण यह है कि एक ओर जहाँ हमारी प्रांतीयता या क्षेत्रीय प्रवृत्ति दुर्गुण है वहाँ यही हमारी शक्ति भी है। हम क्षेत्रीय भावना से प्रेरित होकर अपने राज्य को आगे बढ़ाने के लिए प्रयास करते हैं। हमारे ये प्रयास राज्यों में प्रगति की एक स्पर्धा उत्पन्न कर देते हैं। हर राज्य चाहता है कि राष्ट्र के पुनर्निर्माण में उसका योगदान सबसे अधिक हो। इसका परिणाम स्वस्थ होड़ होता है। यह होड़ देश की प्रगति को वेग देती है। इस प्रकार भारत की राष्ट्र भावना का यह ढीला लचकीला रूप ही इसका बल बन जाता है। इसी ने हमारी हर संकट में रक्षा की है और भविष्य में भी जब जब संकट के बादल घिरेंगे, यही खंडित राष्ट्रीयता एक हो जायेगी और हम बलिदानों की होड़ लगा देंगे। इस प्रकार के प्रमाण कई बार सुलभ हो चुके हैं।

प्राचीन इतिहास भी इसका साक्षी है, यद्यपि उस समय इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना का विकास न हुआ था। हमारे प्राचीन इतिहास में ऐसे असंख्य उदाहरण मिल जायेंगे कि जब दिल्ली के प्रवेश द्वार की रक्षा करने के

समस्त देश से सेनायें एकत्रित हुई हैं। पर सदेह नहीं कि मध्य काल तक हममे जातीय भावना का ही प्रभुत्व रहा और हम छोटी छोटी जातियो के रूप मे ही देश और राष्ट्र की कल्पना करते रहे। इसी सकीर्ण राष्ट्रीय भावना के कारण हम पराजित भी हुए और सदियो तक दासता की शृंखलाओ मे बध रहे। किन्तु इतना होते हुए भी यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि सकट की बेला मे हम एक होकर शत्रु का सामना करते रहे हैं। इतना ही क्यो ? ऐसे युग का इतिहास हमारे वीरो ने खून से लिखा है। यदि हम वीर न होते, हम मे राष्ट्र या जाति के प्रति प्रेम न होता तो हम रणबाकुरे, क्यो बन जाते, केसरिया बाना ग्रहण कर युद्ध भूमि मे क्यो कूद पडते। वास्तव में यह इस देशवासियो का धर्म रहा है। राज्य या राजा पर आया सकट सबका सकट ही नही अपितु वीरता दिखाने का शुभ अवसर समझा गया है। सकट की बेला हो तो ऐसी बेला है कि जिसकी प्रतीक्षा मे भारतीय क्षत्रिय जीता था। अतएव सकट की सूचना का यहां सदा उत्साह से स्वागत हुआ है। उसने एकत्व की प्रेरणा और बल दिया है।

आज के युग का इतिहास तो इस तथ्य को और भी स्पष्ट करता है। भारत पर सन् १९६२ मे चीन का आक्रमण हुआ। हम उस समय सोए थे, पारस्परिक झगडो मे उलझे थे। स्वतन्त्रता का उत्साह समाप्त हो चुका था। आर्थिक अभाव, नैतिक पतन तथा राजनीतिक स्वार्थपरता से देश का इतिहास लिखा जा रहा था। ऐसी स्थिति मे एक मित्र ने, जिसके लिए हम समस्त विश्व से लडते थे, पीठ मे छुरा घोपा था। अतएव हमारी भावनाओ को गहरा धक्का लगा। बेसुधी जाती रही। देश भक्ति की भावनाओ मे तूफान आ गया। साहस और उमग का सागर उद्वेलित हो उठा। सारा राष्ट्र हुकार कर जाग उठा। परस्पर के वैर-विरोध न जाने कहां जा छिपे। अब कोई भ्रष्टाचारी न था, स्वार्थी न था दरिद्र न था। सबको राष्ट्रीय भावना की अद्भुत शक्ति ने कुन्दन बना दिया था। हम सब स्वार्थ भूल गये थे, आलस्य छोड बैठे थे। सबको एक ही लग्न थी, एक ही अभिलाषा थी। सब देश के लिए कुछ न कुछ करना चाहते थे। न कोई पंजाबी रहा न बगाली, न कोई सिख रहा न हिन्दू, न कोई जाट रहा न बनिया, न कोई ब्राह्मण रहा न शूद्र। सब एकता के सूत्र मे ग्रथित हो गए। सबका अनेकत्व एकत्व मे बदल गया। पाकिस्तानी आक्रमणों के समय भी यही सब हुआ और हमने अद्भुत एकत्व का परिचय देकर विजय प्राप्त की।

सकट ने यह सिद्ध कर दिया था कि हम एक हैं, हमारी सस्कृति एक है—भारतीय सस्कृति। हमारा धर्म एक है—राष्ट्र धर्म। हमारा देश एक है—

भारत। हम पजाबी बगाली पीछे हैं पहले हैं—भारतवासी। इसी एकता की अनुभति हम सन् १९६५ मे फिर हुई जब पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया। इस सकट ने भी यह सिद्ध कर दिया कि हम राज्यो मे सगठित गण-पद्धति को अपना कर भी एक हैं और देश के किसी भी भाग पर आन वाला सकट सब राष्ट्र का सकट है और उसका सामना करने के लिए देश का हर प्राणी प्रस्तुत है। सन् १९७१ के 'भारत-पाक युद्ध' ने जिस राष्ट्रीय एकता का परिचय दिया है, वह वास्तव मे अजोड है। उसने विदेशियो की भी आँखें खोल दी हैं कि यो ऊपर से खण्डित दिखाई देने वाला भारत भीतर से कितनी अदम्य एव अखण्डय एकता मे निबद्ध है। तभी तो आज भारत एक नवीन शक्ति रूप म विश्व-रगमच पर उभर सका है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सुख समृद्धि भले ही राष्ट्र की चेतना को प्रकट न कर सकें, न यह बात कह सके कि देश कितना सुसगठित है, उसकी भुजाओ मे कितना बल है, किन्तु सकट की बेला मे इन सबकी थाह मिल जाती है। यदि कोई राष्ट्र ऐसी स्थिति म एक होकर हुँकार भर सकता है, एकाएक जाग कर शत्रु के दाँत खट्टे कर सकता है, तो उस राष्ट्र की वह नीद भी स्पृहणीय है, महनीय एव अनुकरण-योग्य है।

अतएव हम कह सकते हैं कि हम एक हैं, हमारी एकता अखड्य है। यह एक कठोर सत्य है जिसे हमारे शत्रुओ ने जाना है, जिसे विश्व समझता है। सकट की विकट घडियो मे यह, अमृत एकता मूर्तिमान हो जाती है और देश की सहज ही सुरक्षा हो जाती है। विगत चार-पाँच विदेशी के आक्रमणा ने इस तथ्य को विशेष रूप से प्रगट किया है कि भारत एक है और सकट मे तो उसकी यह एकता और भी प्रखर हो उठती है। काश! यह एकता हर आन्तरिक समस्याओ के सुलझाने म भी प्रदर्शित कर पाते! यदि ऐसा हो जाए तो सन्देह नही कि कुछ ही वर्षों मे भारत सभी दृष्टियों से ससार का समृद्धतम राष्ट्र बन जाएगा।

निहित स्वार्थों और कई बार आर्थिक लाभ के लिए विदेशियो से प्रेरित होकर कुछ सिर फिरे उग्रवादी आज भी राष्ट्र की एकता को खण्डित करने का भ्रष्ट प्रयत्न करते दिखाई दे जाते हैं—अवश्य। किन्तु उन्हे याद रखना चाहिए कि अधिसख्य देशवासियो की रगो मे गगा का जो पवित्र अमृत प्रवहित हो रहा है, वह उनके दुष्प्रयासो को कभी भी सफल नही होने दे सकता। कोई भी सच्चा भारतीय माँ का दूध नहीं लजा सकता।

६६ | लोकतन्त्र और चुनाव

लोकतन्त्री शासन-व्यवस्था को जनतन्त्री-शासन-व्यवस्था भी कहा जाता है। इस राजनीतिक-पद्धति या शासन-व्यवस्था में 'लोक' अथवा 'जन' का ही सर्वाधिक महत्त्व हुआ करता है, यह इस प्रकार के नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है। लोक या जन द्वारा न केवल निर्वाचित बल्कि नियन्त्रित शासन-तन्त्र हो लोकतन्त्र या जनतन्त्र हुआ करता है। दूसरे शब्दों में, इस राजनीतिक शासन व्यवस्था में जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि, जनता की सुख-सुविधा, उन्नति एवं विकास के लिए सीधे उत्तरदायी होते हैं। जन भावनाओं, आवश्यकता आकांक्षाओं आदि को देश काल के सन्दर्भों में ध्यान रखकर ही निर्वाचित जन प्रतिनिधियों की संसद सब प्रकार के नियम और विधान बनाती है। उसी विधान के अनुसार ही सरकारी न्यायपालिका और कार्यपालिका को सारा काम काज करना पड़ता है। इस प्रकार लोकतन्त्र या जनतन्त्र में संसद, उसके द्वारा निर्वाचित मन्त्री मण्डल और कार्य-सम्पादनार्थ नियुक्त समूचे सरकारी तन्त्र का सभी प्रकार का सीधा सम्बन्ध जन या जनता के साथ रहा करता है। वह अपनी सफलता-असफलता के लिए प्रकारान्तर से जनता के सामने ही जवाब देह है। इस विवेचन से लोकतन्त्र में लोक या जन का महत्त्व तो स्पष्ट हो ही जाता रहा है, इस बात का सांकेतिक महत्व भी प्रकट हो जाता है कि इस व्यवस्था में निर्वाचन या चुनाव का क्या और कितना महत्त्व होता अथवा हो सकता है।

जनतंत्री-शासन-व्यवस्था में एक बार चुने गए सांसदों, उनमें बहुमत रखने वाले दल के सांसदों द्वारा अपने निर्वाचित नेता के नेतृत्व में गठित मन्त्री-मण्डल का कार्य-काल लगभग पाँच वर्ष का रहा करता है। पाँच वर्षों बाद सामान्यतया दुबारा चुनाव लड़ना, चुनाव-आयोग द्वारा चुनाव की व्यवस्था करना प्रायः आवश्यक हुआ करता है। विशेष एवं अपरिहार्य परिस्थितियों में ही जन अधिकार के इस उपयोग के अवसर-अर्थात् नए चुनाव कराने की परम्परा को टाला या स्थगित किया जा सकता है। लोकतन्त्र में व्यस्क-मताधिकार के द्वारा विधान सभाओं के सदस्यों (विधायकों) और संसद के सदस्यों (सांसदों) का चुनाव होता है। फिर ये विधायक और सदस्य अपनी-अपनी विधान सभा तथा सर्वोच्च सत्ता में केन्द्रीय संसद के अध्यक्षों का चुनाव करते हैं। विधान-सभा या

संसद में बहुमत वाली पार्टी अपने दल-नेता का चुनाव करती है। वह दल नेता ही राज्यों (प्रान्तों) और केन्द्र में निर्वाचित सदस्यों में से मंत्री मण्डल का चुनाव एवं गठन करता है। विधान सभाओं और संसद के अध्यक्षों का चुनाव भी ये सभी प्रकार के निर्वाचित सदस्य करते ही हैं, जनतंत्री-व्यवस्था में सर्वोच्च सत्ता-राष्ट्रपति के पद पर अधिष्ठित होने वाले व्यक्ति का चुनाव भी इन्हीं विधायकों और सांसदों द्वारा ही किया जाता है। विधान-सभाओं के उपाध्यक्षों एवं उपराष्ट्रपति आदि का भी निर्वाचन ही किया जाता है। इसी प्रकार लोकतंत्री व्यवस्था में शासन प्रशासन की मध्य, निम्न से निम्नस्तर तक की सभी इकाइयों का गठन मुख्यतः जन-मत से चुनाव द्वारा ही सम्भव हुआ करता है। महानगर परिषद् (मैट्रोपोलिटन), नगर परिषद या नगर निगम (म्युनिसिपल कारपोरेशन), नगरपालिका (म्युनिसिपल कमेटी), जिला-परिषद, ग्राम पंचायत आदि सभी संगठन इसी प्रकार के हैं। इन सबका बुनियादी ढांचा आम जनता द्वारा मत-दान करके निर्वाचित सदस्यों के आधार पर ही खड़ा किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकतन्त्र या जनतन्त्र में जनता से बाहर कुछ नहीं और यह भी स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था रहने के कारण चुनाव अर्थात् आमजनों के मतदान का महत्त्व कितना अधिक बढ़ जाता है।

लोकतन्त्र में अपने मत (Vote) का प्रयोग करने का जो अधिकार वयस्कों को प्राप्त होता है, शासन पर नियंत्रण रखने, उसका रुख मोड़ सकने की जनता के पास वही सबसे बड़ी एवं सबल शक्ति हुआ करती है। पर इस शक्ति का उचित प्रयोग हो, तभी लोकतन्त्र अपने वास्तविक लक्ष्यों—अर्थात् जन हित में सफल हो पाता है। उचित प्रयोग एवं उपयोग के अभाव में सारी कार्य-व्यवस्था, शासन-सूत्र एवं उससे सम्बद्ध पूरा तन्त्र अव्यवस्थित तथा भ्रष्ट होकर रह जाया करता है। मत का सदुपयोग हो, अर्थात् चुनावों के अवसर पर सच्चे जनवादी, जन-हितैषी और जन-सेवक सांसदों, विधायकों का चुनाव हो सके, इसके लिए मताधिकार-प्राप्त व्यस्कों को विशेष सावधान रहना पड़ता है। यह सावधानी लोकतन्त्र और उसमें मतदान के महत्त्व की वास्तविक शिक्षा, विशेष राजनीतिक जागरुकता आदि से ही आ पाया करती है। यह जागरूकता ही लोकतन्त्र या जनतन्त्र की जड़ों को मजबूत कर सकती है। जिस देश में जनता जितनी अधिक जागरुक, प्रत्युत्पन्न मति, अपने कर्त्तव्य एवं अधिकारों के प्रति सजग तथा जन-नेताओं के व्यापक चरित्र को पहचान पाने में सक्षम हुआ करती है, वहाँ यह व्यवस्था उतनी ही अपने फलितार्थ में सार्थक मानी जाती है। इन सब तत्त्वों, गुणों एवं जागरूकता के अभाव में इस व्यवस्था और इसके अन्तर्गत होने वाले पंचवर्षीय, सावधि या फिर मध्यावधि आदि चुनावों का कोई महत्त्व

नही रह जाता । इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि लोकतन्त्री शासन-व्यवस्था की मूल अवधारणा जनता की विशेष जागरूकता और जन-नेताओ की निस्वार्थता के सन्दर्भों मे ही सार्थक हुआ करती है, अन्यथा व्यर्थ होकर रह जाती है ।

हमारा देश भारत अपनी राजनीतिक अवधारणा एव शासन-व्यवस्था की दृष्टि से विश्व का सबसे बडा लोकतन्त्र या जनतन्त्र माना जाता है । यो आधुनिक काल मे सवप्रथम अमेरिका मे इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का प्रयोग आरम्भ हुआ था । वहाँ काफी सीमा तक इसे सफलता भी मिली और पूजीवादी-साम्राज्य-या प्रभाव-क्षेत्र-विस्तारवादी मनोवत्तियो को क्रमश अधिकाधिक प्रश्रय मिलते जाने के बाद भी अमेरिका मे अभी तक इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था चल रही है । सन् १९४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारत ने भी लोकतन्त्र की इस मान्यता—"जनता द्वारा, जनता के लिए जनता का शासन" (Govt of the people, Govt for the people Govt by the people) के आधार पर ही यहाँ लोकतन्त्री शासन व्यवस्था को अपनाया और विगत चौबीस-पैंतीस वर्षों से यही व्यवस्था यहाँ चल रही है । यहाँ वयस्क मताधिकार का चुनावो के अवसर पर कई बार उपयोग हो चुका है । वयस्को के मत मे कितनी शक्ति है, यह कई बार देखा जा चुका है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद से सन् १९७७ तक लगातार शासन करने वाली काँग्रेस की सत्ता को इस वर्ष मे होने वाले मध्यावधि चुनावो मे जनता ने बदल डाला एक अन्य दल ने जनता पार्टी को शासन-व्यवस्था चलाने का अवसर प्रदान किया । परन्तु जब देश की जागरूक जनता ने देखा कि इस दल के शासको ने चुनावो के अवसर पर जो आश्वासन दिए थे, उनके अनुसार जन हित के कार्यों की ओर ध्यान न दे, शासक-वग एक-दूसरे की टाँग खीचने मे ही व्यस्त है, तो सन् १९८० मे होने वाले चुनावो,ने जनता पार्टी का शासन बदल कर सत्ता पुन काँग्रेस के हाथो मे सौप दी । बहुत सम्भव है कि भविष्य मे होने वाले चुनावो के अवसर पर प्रबल जनमत वतमान शासन व्यवस्था को भी बदल डाले । तात्पय यह है कि लोकतन्त्र मे चुनावो का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ जाता है कि जागरूक जनता अपने प्रबल जन मत से किसी भी दल की निकम्मी सरकार और उसकी अव्यवस्थित व्यवस्था को यदि जल्दी नही, तो पाच वर्षों के बाद तो अवश्य ही बदल सकती है ।

लोकतन्त्री शासन-व्यवस्था के अन्तगत कोई भी व्यक्ति चुनाव लड सकता है । चुनाव प्रक्रिया मे छोटे-बडे विभिन्न दल तो अपने प्रत्याशी खडे करते ही

हैं, स्वतन्त्र व्यक्ति भी चुनाव-नियमो के अन्तर्गत अपने को प्रत्याशी बना सकते है। सभी दल या स्वतन्त्र प्रत्याशियो को अपनी नीतियो, योजनाओ को जनता के सामने रखने के लिए छोटी-बड़ी सभाएँ आयोजित करने का अधिकार रहता है और ऐसा खुले-आम भी किया जाता है। मतदान के बाद सर्वाधिक मत (Vote) प्राप्त करने वाले को चुनाव आयोग सफल घोषित करता है। इस घोषणा के बाद विजयी प्रत्याशी को पाँच वर्ष के लिए ससद या विधान-सभाओ मे अपने इलाके का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उसे विधान सम्मत अनेक प्रकार की सुविधाएं भी पाँच वर्षों के कार्य काल तक प्राप्त हो जाती हैं। जिस दल के प्रत्याशियो को बहुमत प्राप्त होता है, उसकी सरकारें बनती हैं, अल्प प्रत्याशियो वाले दल ससद और विधान सभाओ मे प्रतिपक्षी या विरोधी गुट बनकर सरकार के कार्यों की आलोचना तो करते ही हैं, दिशा निर्देशक एव नियत्रक भी प्रमाणित होते हैं। यह ध्यातव्य है कि लोकतन्त्र मे प्रतिपक्ष दल जब उचित एव स्वस्थ दृष्टि से अपनी भूमिका निभाता है, तभी लोकतन्त्र सार्थक बन पाता है। केवल विरोध के लिए विरोध का कोई अर्थ एव महत्त्व नही होता।

लोकतन्त्र की अपनी यह भी एक चरित्रगत विशेषता है कि यहाँ प्रान्तो या राज्यो मे केन्द्र में शासन करने वाले दल से भिन्न दलों की सरकारें भी चुनाव जीतकर बन सकती हैं। भारत में लोकतन्त्र की यह विशेषता केरल, त्रिपुरा और बगाल मे आज भी देखी जा सकती है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि मे भी विरोधी दलों की सविद सरकारें रही हैं इस प्रकार की व्यवस्था अधिनायक-वाद, साम्यवाद आदि में सम्भव नही हुआ करती। रूस, चीन, पाकिस्तान आदि देशो में अधिनायकवादी एव साम्यवादी शासन व्यवस्था मे जनमत और चुनाव आदि का कोई महत्त्व नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकतन्त्र या जनतन्त्र एव चुनाव का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। यदि अपनी मूल अवधारणा के अनुरूप कार्य सम्भव हो सके, तो लोकतन्त्र विश्व की सर्वाधिक स्वस्थ एव काम्य शासन-व्यवस्था कही जा सकती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आयोजित होने वाले चुनाव जन शक्ति और उसके बहुमत की विजय के परिचायक हुआ करते हैं। जनता द्वारा चुने गए शासक और विरोधी दलो के लोग पारस्परिक सहयोग एव स्वस्थ आलोचना-प्रत्यालोचना से सक्रिय कार्य करते हुए जन एव देश-हित का साधन-समाधान कर सकते हैं। यदि दृष्टिकोण स्वस्थ एव जनाभिमुख नहीं है तो फिर लोकतन्त्र और चुनावो का कोई भी महत्त्व नही रह जाता—यह बात आद्यन्त ध्यातव्य है।

तृतीय खण्ड

सामाजिक एव विविध

अस्पृश्यता का सामान्य अर्थ है छुआ छूत और उच्चता-नीचता का भेद-भाव। अनादि काल से और आज भी हमारा समाज जिन अनेक कुरीतियों में ग्रस्त है, उनमें से एक अस्पृश्यता या छुआ-छूत भी है। हिंदू समाज प्रमुखत: दो भागों में बटा हुआ है, एक सवर्ण हिंदू और दूसरे असवर्ण या अस्पृश्य समझे जाने वाले जातियों के लोग। पता नहीं कब सुदूर अतीत में वर्णों का विभाजन किया गया था ? उस समय वर्ण-व्यवस्था के सम्भवत अनेक लाभ रहे हों, किन्तु इस समय वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप हमारे समाज में प्रचलित है, वह अत्यन्त चिन्ताजनक है। सवर्ण हिंदू हरिजनों के स्पर्श से बचते हैं। भंगी, चमार, डोम, जुलाहे इत्यादि अन्य कई वर्गों के लोग अछूत माने जाते हैं। दो शताब्दी पहले तक समाज में उनकी दशा ऐसी थी कि मानो वे मनुष्य ही न हों। यह अस्पृश्यता सचमुच समूचे मानवीय समाज के लिए कलंक है। हमारे देश में छ: सात करोड़ से अधिक ऐसे अस्पृश्य कहे जाने वाले लोग विद्यमान हैं जिन्हें सहज मानवीय व्यवहारों से भी वंचित रखा जाता है।

अब तो गाँधीवादी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अछूत समझे जाने वाले लोगों की दशा समाज में काफी सुधर गई है, परन्तु अब से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व अछूतों को समाज में अनगिनत असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। वे यद्यपि हिन्दू हैं हिन्दुओं के देवता राम, कृष्ण, विष्णु और शिव की उपासना करते हैं, किन्तु उन्हें हिंदुओं के देव मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों में जाने का अधिकार नहीं था जिस कुएँ से सवर्ण हिंदू पानी भरते थे उस कुएँ से अछूत हिंदू पानी तक ले सकते थे। इन भेद भावों के परिणामस्वरूप ही इन अस्पृश्य या हरिजन कहे जाने वाले लोगों द्वारा सामूहिक धर्म परिवर्तन कर लेने के समाचार आज भी मिलते रहते हैं। इसे हिंदू-समाज और भारत राष्ट्र के लिए शुभ लक्षण नहीं कहा जा सकता।

दक्षिण भारत में अछूतों की समस्या अन्य सब प्रान्तों की अपेक्षा अधिक उग्र थी और आज भी है। अछूतों को बस्ती से बाहर बहुत दूर रहना पड़ता था। यदि किसी की छाया भी सवर्ण हिन्दू पर पड़ जाए, तो समझा जाता था कि सवर्ण हिंदू अपवित्र हो गया है। बाद में तो यह स्थिति यहाँ तक बिगड़ी

कि हरिजनो का उन सडको पर चलना ही रोक दिया गया, जिन पर सवर्ण हिन्दू चलते थे। इस प्रकार मानव के नाते जो अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्राप्त होने चाहिएँ वे सभी भी इन अछूत या अस्पृश्य समझे-कहे जाने वाले लोगों से छीन लिए गए। उनकी दुर्दशा सब सीमाओ को लांघ गई थी।

अंग्रेजो के शासन-काल मे अछूतों की दशा मध्यकाल के दासो की अपेक्षा कुछ भी अच्छी न थी। इनके साथ अत्यन्त अपमानजनक मनुष्यता रहित व्यवहार किया जाता था और ये उसके विरोध में एक भी शब्द कहे बिना चुपचाप सह लेते थे। गन्दे और नीच समझे जाने वाले सब काम इन्हें अपने हाथों से करने पडते थे। अनेक स्थानो पर आज भी करने पड रहे हैं। चिरकाल तक शोषित पीडित और अपमानित रहने के कारण उनका मनोबल पूर्णतया कुण्ठित हो गया था। वे यह कल्पना भी न कर सकते थे कि किसी दिन वे सवर्ण हिन्दुओं के समान ऊंचे या महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच सकते हैं। उनके इस मनोबल की क्षीणता की हानि सारे समाज को उठानी पडी। जिस समाज मे छ सात करोड व्यक्ति मानसिक दृष्टि से पगु और असहाय हो, वह उन्नति कैसे कर सकता है?

अछूता की यह दुर्दशा पश्चिमी देशो की तुलना मे भारत मे और भी अधिक वह जान पडती है पश्चिमी देशो मे जाति को ऐसा महत्त्व कभी नही दिया गया वहा प्रतिभा और योग्यता का सदा सम्मान किया गया है। नेपोलियन, हिटलर मुसोलिनी, स्टालिन इत्यादि विश्व प्रसिद्ध नेताओ ने मामूली परिवारो में ही जन्म लिया था और वे केवल अपनी योग्यता के कारण उच्चतम पदो पर पहुँच पाने मे सफल हुए। इसी प्रकार पश्चिमी देशो के अनेक प्रसिद्ध कलाकारो का जन्म भी अत्यन्त निर्धन परिवारो मे हुआ था। किन्तु वहाँ उनकी निर्धनता या अकुलीनता उनकी उन्नति मे बाधा न बन सकी। वे केवल अपने प्रतिभा की सामर्थ्य के कारण कीर्ति के उच्चतम शिखर तक चढ पाने मे सफल हुए। किन्तु भारत मे अछूत समझी जानी वाली जातियो के लिए ऐसी कोई सम्भावना नही रही। हमारी समाज की व्यवस्था ने उन्हें ऐसी सुदृढ शृखलाओ मे बाँध रखा है कि उनकी महत्त्वाकाक्षा कभी सिर ही नहीं उठा पाती थी। पहले तो इन अछूत जातियो मे से किसी व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर ही नही मिल पाता था और यदि कोई असाधारण मेधावी या प्रतिभाशाली व्यक्ति इन दुर्जेय बाधाओ को पार करके कुछ विलक्षण कार्य कर दिखाने मे सफल भी हो जाता तो उनका उचित मूल्याकन नही किया जाता था। अछूत होने के कारण उस बेचारे की सफलता को भी अत्यन्त हीन दृष्टि से ही देखा-समझा जाता था। यही कारण है कि हमारे देश मे चित्रकारो, कला शिल्पिया

बढइयो और लुहारो का आदर कभी नही हुआ और हम लोग भौतिक क्षेत्र मे पिछड़े ही रहे।

हिंदू समाज ने जिन अछूतो की इतनी उपेक्षा की थी कि उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार करना भी ठीक नही समझा। परिणामस्वरूप उनमे ईसाई और मुसलमान प्रचारको को अपना प्रभाव जमा पाना बहुत सरल प्रतीत हुआ। हिन्दू समाज मे रहकर अछूतो को जितनी लाछना और कष्ट सहने पडते थे, उससे बच पाने का एक ही उपाय था कि वे ईसाई या इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लें। उन के हिंदू रहते सवर्ण हिंदू उनके साथ आजीवन सद्व्यवहार न करते, किन्तु ईसाई या मुसलमान बन जाने के बाद उनके साथ अपमानजनक व्यवहार करने का अधिकार किसी सवर्ण हिंदू को नही रह जाता। अछूत रहते हुए व्यक्ति सवर्ण हिंदुओ के कुएँ से पानी नही भर सकता, किन्तु मुसलमान बन जाने पर वह धडल्ले से सवर्ण-हिंदुओ के कुए पर जा सकता था। इसलिए अछूत बडी तेजी से ईसाई और मुसलमान बनने लगे। आज भी बन रहे हैं। बहुत समय तक हिंदू समाज इस विषम स्थिति को किकर्तव्य विमूढ की भाँति देखता रहा और इसकी रोकथाम का कोई उपाय न कर सका। आज भी उपाय कर सकने में असमर्थ ही है।

सर्वप्रथम आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द की दृष्टि इस ओर गई। उन्होने अनुभव किया कि यदि अछूतो के साथ हिन्दू ऐसा ही दुर्व्यवहार करते रहे, तो बहुत शीघ्र ही अछूत ईसाई या मुसलमान बन जाएंगे। आर्यसमाज ने न केवल अछूतोद्धार का आन्दोलन प्रारम्भ किया, अपितु साथ ही दूसरे धर्मों मे जा चुके अछूतो को फिर शुद्ध करने की भी व्यवस्था की। किन्तु अछूतो को मुसलमान होने से रोकने तथा मुसलमान बने हुए अछूतो को फिर शुद्ध करने के लिए पहले यह आवश्यक था कि उन्हे यह आश्वासन दिया जाए कि हिन्दू जाति का अंग बने रहने पर उनके साथ उचित समानता का व्यवहार किया जाएगा। इसके लिए जोर शोर से प्रचार प्रारम्भ किया गया।

अंग्रेजो ने जिस प्रकार मुसलमानो को भडका कर उन्हे हिंदुओ का शत्रु बना दिया था इसी प्रकार उन्होने अछूतो को भी हिंदुओ से पृथक करने की चेष्टा की। उन्होंने विधान सभा के चुनावो मे अछूतो के लिए पृथक स्थान नियत किए। इस समय महात्मा गांधी ने इस समस्या की गम्भीरता को अनुभव किया और उन्होने कांग्रेस को प्रेरणा दी कि वह अछूतोद्धार के काम मे पूरी शक्ति से जुट जाए। अछूतो को हिंदू जाति का अंग बनाये रखने के लिए गांधीजी ने भरसक प्रयत्न किया और इसके लिए अछूतो को वे सब अधिकार वापस दिलाए जो छिन चुके थे। अछूतो को गांधीजी ने 'हरिजन' नाम दिया।

'परन्तु, अछूतोद्धार की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य भारत की स्वाधीनता के पश्चात् हुआ। पहले जो काम केवल प्रचार द्वारा किया जा रहा था, वह अब कानून द्वारा किया गया। भारत के नए संविधान में हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं के समान अधिकार प्रदान किए गए और संविधान की सत्रहवीं धारा के अनुसार छूआ-छूत का प्रदर्शन दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया और पच्चीसवीं धारा के अनुसार सब हिन्दू देवस्थान हरिजनों के लिए खोल दिए गये। सरकारी नौकरियों तथा उन्नति के अन्य अवसरों के लिए जाति, लिंग अथवा धर्म का कोई भेद भाव नहीं किया गया। इसलिए स्वतन्त्र भारत के नागरिक होने के नाते हरिजनों को भी समानाधिकार प्राप्त हो गये। हरिजनोद्धार के लिए विशेष आरक्षण की नीति भी अपनाई गई। यद्यपि संविधान में सब नागरिकों को समान माना गया है और किसी के साथ रियायत नहीं की गई, परन्तु हरिजनों को दस वर्ष के लिए विशेष रियायतें दी गई हैं, जिससे इन दस वर्षों में वे यत्न करके सवर्ण हिन्दुओं के स्तर तक पहुँच सकें। अब यह अवधि और आगे बढ़ा दी गई है, जबकि इसका विरोध भी हुआ है। सम्पूर्णतया न सही, काफी सीमा तक इन प्रयत्नों के सत्परिणाम सामने आए हैं। आज यह स्थिति है कि प्रत्यक्षतः कम से कम नगरों में तो स्पृश्यता अस्पृश्यता की कोई स्थिति नहीं रह गई है। हाँ, ग्रामों में अब भी इसके विकट उदाहरण मिलते रहते हैं।

अस्पृश्यता हमारे समाज के माथे पर कलंक तो है ही, साथ ही यह हमारी उन्नति में बाधक भी है। हम अपनी इतनी विशाल जन शक्ति का पूरा सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं। अस्पृश्यता की समाप्ति हो जाने पर अब छः-सात करोड़ हरिजन देश की सर्वांगीण उन्नति में पूरा भाग ले सकते हैं और हमारा देश न्याय, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित आदर्श समाज बन जाएगा इसमें कोई सन्देह नहीं। इस दिशा में अब जो नए प्रयत्न किए जा रहे हैं, उन्हें सारे देश का समर्थन प्राप्त है।

७१ | विज्ञान वरदान है या अभिशाप ?

मानव-सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। अब से चार हजार वर्ष पूर्व की मानव-सभ्यताओं के जो ध्वंसावशेष खुदाइयों में प्राप्त हुए हैं इनसे ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग बहुत कुछ सभ्य और सुसंस्कृत जीवन व्यतीत

उन्होंने कहा कि यद्यपि सवर्ण हिन्दू इन अछूतों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं किन्तु भगवान को यही लोग प्यारे हैं। हरि के प्रियजन होने के कारण इन्हें 'हरिजन' कहा जाने लगा।

गांधीजी ने छुआछूत को मिटाने, हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिलाने और उनके हाथ का भोजन उनके साथ बैठकर खाने इत्यादि के रूप में आन्दोलन को आगे बढ़ाया। एक बार 'साम्प्रदायिक निर्णय' के विरुद्ध उन्होंने अनशन भी किया। इस अनशन का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो अंग्रेजी सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि हरिजन हिन्दू समाज के ही एक अंग हैं और दूसरी ओर हिन्दू जाति का भी इस समस्या की ओर ध्यान गया। अछूतोद्धार का काम तेजी से होने लगा। 'हरिजन सेवक संघ' ने इस क्षेत्र में उपयोगी काम किया और आज भी कर रहा है।

जब प्रजातन्त्र के आधार पर भारत में चुनाव होने लगे, तो हरिजनों को भी अपने वोट की शक्ति का ज्ञान हो गया। उन्होंने अनुभव किया कि वोट की दृष्टि से हम सवर्ण हिन्दुओं के बराबर हैं और उनके चुनाव पर प्रभाव डाल सकते हैं। उनमें आत्म-गौरव का भाव जागृत हुआ, और उन्होंने स्वयं भी अपनी राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के लिए माँग करनी प्रारम्भ की। डाक्टर अम्बेदकर ने हरिजनों का पृथक् ही संगठन प्रारम्भ कर दिया, इसलिए कुछ स्वेच्छा से और कुछ दबाव में आकर सवर्ण हिन्दुओं का हरिजनों की माँगें स्वीकार करनी ही पड़ी। जब १९३७ में प्रान्तों में पहली बार कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने तब यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक प्रान्त में एक-एक हरिजन मन्त्री भी नियुक्त किया जाए। हरिजनों की शिक्षा के लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की गईं और यह यत्न किया कि जैसे भी हो, हरिजनों को यथाशीघ्र सवर्ण हिन्दुओं के समान स्तर पर ले आया जाए। हरिजन विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की गईं।

इस सब प्रगति के बावजूद अछूतोद्धार के काम में बहुत-सी बाधाएँ भी थीं। जो आत्महीनता की भावना हरिजनों के मन में शताब्दियों से घर किए हुए थी, वह सहसा टूट नहीं सकती थी। यद्यपि सब हिन्दुओं, आर्यसमाज, कांग्रेस, हरिजन सेवक संघ तथा सरकार की ओर से हरिजनों की उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया जा रहा था किन्तु हरिजन अपनी उन्नति के लिए स्वयं उतने प्रयत्नशील न थे। वे अपने बालकों को विद्यालयों में पढ़ने न भेजते थे और ग्रामों में तो समानता का अधिकार दिए जाने पर भी वे उस अधिकार का उपयोग करने को तैयार नहीं थे। वे अपने आपको स्वयं ही हीन बनाये रखना चाहते थे।

'परन्तु अछूतोद्धार की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य भारत की स्वाधीनता के पश्चात् हुआ। पहले जो काम केवल प्रचार द्वारा किया जा रहा था, वह अब कानून द्वारा किया गया। भारत के नए संविधान में हरिजनों को सवर्ण हिन्दुओं के समान अधिकार प्रदान किए गए और संविधान की सत्रहवीं धारा के अनुसार छूआ-छूत का प्रदर्शन दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया और पच्चीसवीं धारा के अनुसार सब हिन्दू देवस्थान हरिजनों के लिए खोल दिए गये। सरकारी नौकरियों तथा उन्नति के अन्य अवसरों के लिए जाति, लिंग अथवा धर्म का कोई भेद भाव नहीं किया गया। इसलिए स्वतन्त्र भारत के नागरिक होने के नाते हरिजनों को भी समानाधिकार प्राप्त हो गये। हरिजनोद्धार के लिए विशेष आरक्षण की नीति भी अपनाई गई। यद्यपि संविधान में सब नागरिकों को समान माना गया है और किसी के साथ रियायत नहीं की गई, परन्तु हरिजनों को दस वर्ष के लिए विशेष रियायतें दी गई हैं, जिससे इन दस वर्षों में वे यत्न करके सवर्ण हिन्दुओं के स्तर तक पहुँच सकें। अब यह अवधि और आगे बढ़ा दी गई है, जबकि इसका विरोध भी हुआ है। सम्पूर्णतया न सही, काफी सीमा तक इन प्रयत्नों के सत्परिणाम सामने आए हैं। आज यह स्थिति है कि प्रत्यक्षतः कम से कम नगरों में तो स्पृश्यता अस्पृश्यता की कोई स्थिति नहीं रह गई है। हाँ, ग्रामों में अब भी इसके विकट उदाहरण मिलते रहते हैं।

अस्पृश्यता हमारे समाज के माथे पर कलंक तो है ही, साथ ही यह हमारी उन्नति में बाधक भी है। हम अपनी इतनी विशाल जन शक्ति का पूरा सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं। अस्पृश्यता की समाप्ति हो जाने पर अब छः-सात करोड़ हरिजन देश की सर्वांगीण उन्नति में पूरा भाग ले सकते हैं और हमारा देश न्याय, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित आदर्श समाज बन जाएगा इसमें कोई सन्देह नहीं। इस दिशा में अब जो नए प्रयत्न किए जा रहे हैं, उन्हें सारे देश का समर्थन प्राप्त है।

७१ | विज्ञान वरदान है या अभिशाप ?

मानव-सभ्यता का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। अब से चार हजार वर्ष पूर्व की मानव-सभ्यताओं के जो ध्वंसावशेष खुदाइयों में प्राप्त हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग बहुत कुछ सभ्य और सुसंस्कृत जीवन व्यतीत

करते थे। परन्तु इन खुदाइयों में कहीं भी कोई ऐसा चिन्ह नहीं मिला, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि गत दो सौ वर्षों से पूर्व के काल में भी वैज्ञानिक उन्नति उस सीमा तक पहुँची थी जिस सीमा तक आजकल पहुंची हुई है। यों तो रामायण में समुद्र के ऊपर पुल बाँधने वानरों के अन्तरिक्ष में उड़ने और रावण के पुष्पक विमान का वर्णन प्राप्त होता है, रामायण के समान महाभारत में भी विकसित युद्ध विद्या और दूरदर्शन की प्रविधि का उल्लेख मिलता है जिसे यदि सत्य मान लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि उस समय भी वैज्ञानिक उन्नति पर्याप्त थी। महाभारत में जिन विविध दिव्य अस्त्रों का उल्लेख है जिनमें आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र, ब्रह्मास्त्र और पाशुपत अस्त्र इत्यादि प्रमुख तथा अत्यन्त विनाशकारी अस्त्र थे। यदि इन वर्णनों को भी सत्य मान लिया जाए, तो मानना होगा कि महाभारत काल में वैज्ञानिक उन्नति पर्याप्त थी। परन्तु कठिनाई यह है कि न तो रामायण काल के और न महाभारत काल के ही किसी भी अद्भुत आविष्कार का कोई चिन्ह अब तक मिल सका है। तो क्या यह सम्भव है कि उस काल के समस्त आविष्कार एक एक ऐसे लुप्त हो गए हों कि उनका कोई टूटा कल-पुर्जा या अन्य किसी प्रकार का चिह्न भी शेष नहीं बचा हो जबकि अन्य अनेकविध अवशेष आज भी प्राप्त हो रहे हैं।

आधुनिक काल की-सी भौतिक एवं वैज्ञानिक उन्नति न कर पाने पर भी प्राचीन काल के भारतवासियों और मिस्रवासियों ने नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में बहुत उन्नति की थी। उस काल का काव्य-साहित्य, दर्शन शास्त्र और नीति-शास्त्र इसके परिचायक हैं। सम्भवतः वे लोग प्रकृति की शक्तियों को वश में करके औद्योगिक क्षेत्र में प्रयुक्त नहीं कर सके थे और न वे संहार के लिए ही उनका उपयोग कर पाए थे। परन्तु सुन्दर और सुविधाजनक भवनों का निर्माण तथा अन्य कई प्रकार के कला-कौशल उन लोगों ने विकसित कर लिये थे। यहाँ तक कि मृत शवों को सुरक्षित करने की विधि भी उन्हें ज्ञात थी। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे लोग विज्ञान से अपरिचित थे, किन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि आधुनिक रूप में विज्ञान उस समय विकसित नहीं हुआ था। या इस ओर तब ध्यान ही नहीं दिया गया, यद्यपि अनेक वैज्ञानिक प्रविधियाँ उन्हें ज्ञात थीं। उनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में आज भी देखा-पढ़ा जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान असीम बलवती शक्ति है। इसने मानव जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। भाप, बिजली और अणु शक्ति को वश में करके मनुष्य ने मानव-समाज की समृद्धि को कई गुना बढ़ा दिया है। आज से पाँच

सौ वर्ष पूर्व जैसे सुन्दर वस्त्र बड़े-बड़े राजाओं और सम्राटों को प्राप्त नहीं होते थे, वैसे शानदार वस्त्र आजकल दो चार सौ रुपये नौकरी करने वाले बाबू को सुलभ हैं। जिस प्रकार के सुखद और तीव्रगामी वाहन उस काल में बड़े से बड़े नरेशों के पास नहीं थे वैसे आज सामान्य व्यक्तियों को प्राप्त हैं। भयंकर तूफानों में भी निःशंक भाव से समुद्र के वक्षस्थल को रौंद जाने वाले जहाज और असीम आकाश में वायुवेग से उड़ने वाले विमान प्रकृति पर मानव की विजय के उज्ज्वल उदाहरण हैं। तार, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन और कूलर इत्यादि ने हमारे जीवन में ऐसी सुविधाएँ ला दी हैं, जिनकी कल्पना भी पुराने लोगों के लिए कठिन होती। आज ऋतुओं का कोप मनुष्य को कष्ट नहीं दे सकता। वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा शीतकाल में मकानों को गर्म और ग्रीष्म में शीतल रखा जा सकता है। जहाँगीर के समय जो बर्फ पहाड़ों से खच्चरों पर लादकर दिल्ली मंगाई जाती थी, आज वह हर गली के कोने-कोने पर बहुत सस्ते भाव पर सुलभ है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे जीवन को कितना सुविधामय बना दिया है, इसे विस्तार से बतलाने की आवश्यकता नहीं। विज्ञान ने मानवीय श्रम की आवश्यकता को कम कर दिया है। पहले जो काम मनुष्य सिर तोड़ मेहनत करने के बाद सारे दिन भर में नहीं कर पाता था, अब मशीनों की सहायता से उसी काम को वह बहुत सरलता से कुछ ही घंटों में, बल्कि कई बार तो कुछ ही मिनटों में पूरा कर लेता है। आज मशीनें मनुष्य के लिए अन्न उगाती हैं वस्त्र तैयार करती हैं। मशीनें जादू की कहानियों के राक्षसों और देवों की भाँति मनुष्य की सेवा के लिए उद्यत रहती हैं। वे उसे चाहे जहाँ ले जाती हैं, और उसकी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करती हैं।

पहले मनुष्य का सारा समय अन्न और वस्त्र उपार्जन करते-करते बीत जाता था। दिन भर कठोर श्रम करने के बाद भी उसकी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो पाती थीं। परन्तु अब मशीनों की सहायता से वह अपनी इन आवश्यकताओं को बहुत थोड़े समय काम करके प्राप्त कर सकता है, और शेष समय घूमने फिरने, पढ़ने लिखने या अन्य किसी भी प्रकार का आनन्द लेने में बिता सकता है। यह चाहे तो इस समय का उपयोग अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी कर सकता है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान एक अद्भुत वरदान के रूप में मनुष्य को प्राप्त हुआ है।

परन्तु विज्ञान अपने साथ केवल सुख-ही-सुख लेकर नहीं आया। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इसने एक ओर सुखों का पहाड़ खड़ा कर दिया है, उसी तरह दूसरी ओर दुःखों की गहरी खाई भी खोद दी है। प्रत्येक वैज्ञानिक

आविष्कार का उपयोग मानव हित के लिए उतना नहीं प्रमाणित हुआ, जितना मानव जाति के अहित के लिए। वैज्ञानिक उन्नति से पूर्व भी मनुष्य परस्पर लड़ा करते थे, परन्तु उस समय के युद्ध आजकल युद्धों की तुलना में बच्चों के खिलवाड़ जैसे प्रतीत होते हैं। लोग तीर, तलवार, भाले, बर्छे इत्यादि लेकर एक दूसरे को मारने के लिए चलते थे। बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में भी मुश्किल से दो-चार हज़ार व्यक्ति मरते या घायल होते थे। परन्तु प्रत्येक नए वैज्ञानिक आविष्कार के साथ युद्धों की भयंकरता बढ़ती गई और उसकी चरम सीमा हिरोशिमा और नागासाकी में प्रकट हुई, जहाँ एक-एक अणु-बम के विस्फोट के कारण तीन-तीन लाख व्यक्ति हताहत हुए। मानव-जाति विज्ञान के इस नए रूप को देखकर आतंक से सहम-सी गई। किन्तु विज्ञान का दस्य जैसे अब भी ठठाकर हँस रहा है और कह रहा है, "अन्त यहीं नहीं है। मैं इससे भी अधिक विनाश एक क्षण में करके दिखा सकता है।" यही सब करने के लिए आजकल उद्जन-बम और नत्रजन-बम के परीक्षण किये जा रहे हैं। यदि भविष्य में युद्ध हुआ तो इन परीक्षित शस्त्रों का यथा सम्भव भयंकरतम उपयोग भी किया जाएगा। तब सभी प्रकार से उन्नत आज की मानव-सभ्यता अतीत की कहानी बन जाएगी, इसमें सन्देह नहीं।

रेल, तार, रेडियो, राडार, भयंकर विस्फोटक बारूद, विद्युत और अणु शक्ति इन सब वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग मानव-जाति को समृद्ध बनाने के लिए उतना नहीं किया जा रहा, जितना चिरकाल के परिश्रम द्वारा संचित समृद्धि को विनष्ट करने के लिए। प्रथम विश्व-युद्ध और द्वितीय विश्व-युद्ध में जन और धन का जितना विनाश हुआ, उतना सम्भवतः विज्ञान हमें सौ वर्ष में न दे सकेगा, और यह विनाश केवल विज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सका है। यदि भयंकर बारूद, विमान और विद्युत के आविष्कार न होते, तो इतना विनाश करने में मनुष्य को कई शताब्दियाँ लग जातीं। अनुमान लगाया गया है कि जितनी क्षति इन दो युद्धों में हुई, यदि उतनी सामग्री और श्रम का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया जाता, तो संसार के प्रत्येक परिवार के पास रहने को सुन्दर कोठी, पहनने को बढ़िया वस्त्र और खान को पर्याप्त अन्न हो सकता था। परन्तु वह सब नष्ट हो गया ... । विज्ञान की कृपा से। विज्ञान की कृपा ... ही आज ... समस्या मानवता के प्रत्येक साँस ... चीज को ... बना देना चाहती है।

विज्ञान की विनाशक ... रही ...
जाति त्रस्त होकर पुकार

मुक्ति प्राप्त हो सके तो अच्छा है। अणु-बमों के परीक्षणों पर रोक लगाने की माँग की जा रही है। मानव-समाज विज्ञान का यह राक्षसी रूप देखकर त्रस्त हो उठा है। इससे यथासम्भव शीघ्र छुटकारा चाहता है।

विज्ञान ने जितनी सुख-सुविधाएँ मनुष्य को प्रदान की थी, यदि वे वास्तविक होतीं तो उनसे मनुष्य का सुख बढ़ना चाहिए था। परन्तु कहाँ ? जितनी ही अधिक वैज्ञानिक सुविधाएँ बढ़ती जा रही हैं, मनुष्य उतना ही अधिक असन्तुष्ट और दुःखी होता जा रहा है। यातायात के साधनों की सुलभता ने उसकी शारीरिक शक्ति को क्षीण कर दिया। मशीनों ने उसे अक्षम, पंगु और पराश्रित बना दिया। विज्ञान ने जीवन को सुखी बनाने के लिए और जो अन्य सुविधाएँ प्रस्तुत कीं, उनके कारण वह विलासी और इतना सुकुमार बन गया कि प्रकृति के साधारण उत्पात भी उसके लिए असह्य हो उठे हैं। विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मशीनों की शक्ति में वृद्धि और मनुष्य की शक्ति में ह्रास होता जा रहा है, जिसे शुभ नहीं कहा जा सकता।

विज्ञान ने मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रकार के साधन जुटा दिए हैं। परन्तु इन साधनों के कारण मनुष्य की आवश्यकताएँ उतनी पूर्ण नहीं हुईं, जितनी कि और अधिक बढ़ गई हैं। अधिक साधन-सम्पन्न होने पर भी आज का मनुष्य वैज्ञानिक उन्नति से पूर्व के मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक असंतुष्ट और अभावग्रस्त है। पहले मनुष्य को जो अभाव प्रतीत नहीं था वह अब असह्य अभाव प्रतीत होता है। विज्ञान से मनुष्य की सामर्थ्य उतनी नहीं बढ़ी जितनी लालसा बढ़ी है। आवश्यकताओं और लालसा के बढ़ने का परिणाम यह हुआ कि नैतिक धारणाएँ शिथिल हो गई हैं। समाज के वे नियम, जिनके कारण पहले लोगों में सहानुभूति संवेदना, सत्य और न्याय की भावनाएँ विद्यमान रहती थीं, धीरे धीरे समाप्त होते जा रहे हैं और असंतोष और अशांति का दावानल सब ओर भड़क सा उठा है। परिणाम-स्वरूप मानवता अपनी मानवीयता का संतोष पाने में भी असमर्थ होती जा रही है।

इस प्रकार विज्ञान का एक पक्ष तो अत्यन्त उज्ज्वल है और दूसरा पक्ष अत्यन्त कलुषित और भयंकर। फिर विज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है ? सच बात तो यह है विज्ञान से जितना विनाश हुआ है, उसका दोष विज्ञान के सिर नहीं थोपा जा सकता। जिस दिन मनुष्य ने पहले पहले आग जलाना सीखा था उस दिन यह निश्चय नहीं किया गया था, कि वह इससे अपना भोजन पकाएगा या पड़ोसी का घर फूंकेगा। तब से लेकर आज तक आग के दोनों ही उपयोग किये जाते रहे हैं, भोजन भी पकाया जाता रहा है और घर

भी फूंके जाते रहे हैं। परन्तु यदि आज एकाएक अग्नि मनुष्य-जाति से छीन ली जाए, तो मनुष्य-जाति प्रसन्न नहीं होगी। इसका कारण यह है कि हजारों वर्षों के अनुभव से मनुष्य ने यह समझ लिया है कि अग्नि का उपयोग भोजन पकाने के लिए अधिक अच्छा है। सारे मनुष्य-समाज ने एकमत होकर फूंकने के लिए अग्नि के प्रयोग को निषिद्ध घोषित किया है। मोटे तौर पर विज्ञान की भी यही दशा है। विनाश के आगे सामूहिक प्रश्न चिह्न और विरोध की दीवार ही मानवता की रक्षा कर सकती है।

यदि विज्ञान का उपयोग विनाश के लिए किया जाता है, तो वह दोष विज्ञान का नहीं, बल्कि मनुष्य के स्वभाव का है। इसके लिए विज्ञान पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता नहीं, मनुष्य की प्रकृति को सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने की आवश्यकता है। यदि संसार के सब देश मिलकर यह निर्णय कर लें कि भविष्य में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किसी भी दशा में विनाश के लिए नहीं किया जाएगा, तो विज्ञान द्वारा मानव-जाति का वह हित-साधन हो सकता है जिसकी सहसा कल्पना भी नहीं की जा सकती। अणु-शक्ति का प्रयोग अब औद्योगिक तथा अन्य शान्तिमय रचनात्मक कार्यों में कर पाना सम्भव हो गया है। भारत विकास की इसी दिशा में अग्रसर हो रहा है। जिस दिन अणु शक्ति सम्पन्न प्रत्येक देश इसी दिशा में चलने लगेगा, उस दिन से निश्चय ही विज्ञान भी वरदान प्रमाणित होने लगेगा।

७२ | *धर्म और विज्ञान*

धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक भावनाओं और विज्ञान का बुद्धि के साथ होता है। दोनों का समन्वय चिरन्तन है। यह मान्य तथ्य है कि मानव संस्कृति और सभ्यता के विकास में धर्म और विज्ञान दोनों का ही महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। आज मानव जाति हमें जिस रूप में दिखाई पड़ती है, वह रूप अंशतः धर्म द्वारा और अंशतः विज्ञान द्वारा संवारा गया है। धर्म ने मनुष्य के मन को सुसंस्कृत किया है और विज्ञान ने प्रकृति पर विजय करके मनुष्य के भौतिक सामर्थ्य में वृद्धि की है। कई कारणों से लोगों की ऐसी धारणा बन गई है कि विज्ञान और धर्म परस्पर दो विरोधी वस्तुएँ हैं और इनमें से एक दूसरी का अस्तित्व मिटाने पर तुली हुई हैं। यह धारणा क्यों बनी है। क्या यह धारणा सच है? इसके उत्तर के लिए हमें पहले धर्म और विज्ञान के स्वरूप को समझना होगा।

धर्म मनुष्य की उच्च मनोभावना है। जितने भी सद्गुण सम्भव हो सकते हैं, उन सबका परिगणन धर्म के अन्तर्गत किया गया है। सत्य अहिंसा का पालन तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि की विजय, इन्द्रियों का संयम सेवा और क्षमा इन सभी गुणों का अभ्यास धर्म के लिए आवश्यक माना गया है। संसार के सभी गुणों में सभी कालों में धार्मिक वृत्ति के अनेकानेक सन्त महात्मा होते रहे हैं, जिन्होंने अपने इन सद्गुणों द्वारा लोगों की सेवा की और उनका हृदय जीत लिया। इस प्रकार के सन्त-महात्माओं ने दूसरों के हित के लिये अपने जीवन का बलिदान कर देने में ही अपने कर्तव्य की पूर्णता समझी। इस तरह के सन्त-महात्माओं ने समस्त संसार का नियन्त्रण करने वाली सर्वशक्तिमान और मंगलमयी सत्ता ईश्वर में अखंड विश्वास रखते हुए दीनों और दुखियों की सहायता और सेवा की है। इस प्रकार समस्त मानवीय सद्वृत्तियाँ ही वास्तव में धर्म हैं।

किसी भी देश में धार्मिक वृत्तियों वाले सन्त-महात्माओं का आदर भी कम नहीं हुआ। भक्ति से विह्वल होकर जनसाधारण ने नित उनकी देवताओं के समान पूजा की। उनकी सुविधा की सामग्रियाँ जुटाने के लिए लोगों ने अपरिमित धनराशियाँ प्रदान कीं। संसार के सभी भागों में इस प्रकार के धर्मप्राण सन्त महात्माओं की सेवाओं के फलस्वरूप बड़े-बड़े मन्दिर और मठ बनाए गए जहाँ रह कर ये धार्मिक लोग अपनी लोक-सेवा की गति विधियों को सरलतापूर्वक जारी रख सकें, लोक का अधिक-से अधिक कल्याण कर सकें। इन मठों और मन्दिरों में पहुँचकर सांसारिक लोगों ने उन महात्माओं के उपदेश प्रवचन सुने, जिनसे उनके अशान्त चित्त को शान्ति प्राप्त हो सकी। यह स्थिति भारत में ही नहीं बल्कि संसार के सभी देशों में थी और आज भी है। श्रद्धा और भक्ति ने जनसाधारण के चित्त को समुद्र की महातरंग की भाँति उठाकर सब ओर भक्ति से आप्लावित कर दिया था, आज भी कर रहा है।

संसार का विचित्र नियम है कि काल के प्रवाह में पड़कर अच्छी अच्छी संस्थायें भी विकृत हो जाती हैं। धार्मिक संस्थाओं का भी यही हाल हुआ। जो मठ और मन्दिर जनता में श्रद्धा और विश्वास की ज्योति जगाने के लिए बने थे, वे धीरे धीरे पाखंड का गढ़ बन चले। सन्तों और महात्माओं के सच्चरित्र सेवा और परोपकार की भावना के कारण जनता ने इन मठों और मन्दिरों को विपुल धन-राशि प्रदान करना प्रारम्भ किया था। धीरे धीरे मठों का ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके सन्तों के अनु-

वादी उतने धर्म-परायण न निकले। उनमें से बहुत से विलास के कीचड़ में फंस गये और अपना विवेक खो बैठे। अपनी दुर्बलताओं पर आवरण डालने के लिए उन्होंने पाखण्ड फैलाना प्रारम्भ किया। जनता की श्रद्धा पाखण्डों के कारण बनी रही। इन नये कुटिल पाखण्डी लोगों ने जनता को ज्ञान का संदेश देने के बजाय उसे अज्ञान के अंधकार में रखना ही अपने लिए हितकारी समझा। परिणाम यह हुआ कि जो धार्मिक संस्थायें एक दिन समाज के लिए कल्याणकारी थीं वही समय बदलने पर समाज के लिए अमंगलकारी हो गई। धर्म उन्नति के बजाय अवनति का माध्यम बन गया। भारत में यज्ञ और दान द्वारा यजमान को स्वर्ग भेजने की व्यवस्था की जाने लगी, तो यूरोप में पोप और उनके शिष्य नकद पैसा लेकर लोगों के पापों का प्रायश्चित्त करवाने के लिए उन्हें क्षमा-पत्र देने लगे और उनके लिए स्वर्ग में महल और मकान सुरक्षित कराने लगे। धन के आधार पर कब्र गाहें तक आरक्षित होने लगीं।

लगभग इसी समय आधुनिक विज्ञान का उदय हुआ। धर्म श्रद्धा और विश्वास पर इतना जोर दे रहा था कि वह अंध-श्रद्धा और अंध विश्वास का समर्थक हो गया था। वैज्ञानिकों ने श्रद्धा और विश्वास की आड़ में चल रहे इस उत्पात के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया। उन्होंने सत्य की खोज के लिए तर्क और प्रत्यक्ष प्रमाण को एक मात्र साधन माना। इन वैज्ञानिकों की दृष्टि में सत्य वही था, जो आंख से दिखाई पड़ जाए, गणित से नापा-तोला और गिना जा सके, तर्क की कसौटी पर खरा उतरे। उनके विचार से सत्य के विषय में इस प्रकार का कोई समझौता नहीं किया जा सकता था, जिसमें कुछ अंश केवल श्रद्धा के कारण ही स्वीकार किया जा सके। विज्ञान की इस तलवार से धर्मध्वजियों के गढ़ों की नींवें कांप उठीं। यह उनके मरने और जीने का प्रश्न था। यदि ये लोग सच्चे संत और सेवापरायण महात्मा होते, तो इन्हें विज्ञान से किसी प्रकार का भय नहीं था। पर ये तो पाखंडी थे धर्म की आड़ में स्वार्थ साधन कर रहे थे। परोपकार का नाम लेकर विलास में डूबे हुए थे, मेहनत से कमाई करने वाले श्रद्धालु लोगों के दान पर गुलछर्रे उड़ा रहे थे। इन्हें विज्ञान से हानि होनी अनिवार्य ही थी। अतः आतंकित हो उठे।

धर्म की आड़ में पाखण्ड रचने वाले लोगों ने विज्ञान की प्रगति को रोकने का बड़ा यत्न किया। वैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन करने वालों को कठोर दंड दिए गए। गेलीलियो को इसलिए कारावास में डाल दिया गया, क्योंकि उसका कथन था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं घूमता बल्कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। यह बात धर्म-पुस्तकों के विरुद्ध थी। जर्मनी के वैज्ञानिक राबर्ट मेयर तथा अन्य अनेक वैज्ञानिकों को धर्म के ठेकेदारों के हाथों

असह्य यन्त्रणाएँ सहनी पड़ी और उनमें से कुछ को प्राणों से भी हाथ धोने पड़े। अन्य अनेक भी स्वेच्छाचारी धार्मिकों के हाथों पीड़ित हुए।

मुश्किल से सौ साल बीते कि पासा बिल्कुल पलट गया। धर्म की आड़ में पाखण्ड रचने वाले लोग मूर्ख और प्रतिगामी समझे जाने लगे। वैज्ञानिक प्रगति ने पृथ्वी पर ही स्वर्ग ला खड़ा किया। जल, वायु विद्युत वाष्प इत्यादि की शक्तियों को वशीभूत करने के लिए मानव को सैंकड़ों प्रकार की सुविधाएं जुटाई गई। मनुष्य सातों समुद्रों का स्वामी बन गया। वह कल्पित देवताओं की भाँति विमान पर बैठकर आकाश में विहार करने लगा। विद्युत की बदौलत उसने सुविधा के हजारों उपकरण जुटा लिए। ऐसी सच्ची और वास्तविक प्रगति के सम्मुख धर्म का आडम्बर कितनी देर टिक सकता था? पाखण्डवाद पर आधारित धर्म उपेक्षित हो गया और उसके साथ ही वास्तविक धर्मप्राण सन्तों द्वारा दी गई सद् शिक्षाएँ भी उपेक्षित होकर रह गईं।

धर्म का जन्म हृदय में होता है, और विज्ञान मस्तिष्क और शुष्क तर्क वृत्ति से प्रेरित रहता है। जब मनुष्य हृदयहीन होकर तर्क से प्रेरणा प्राप्त करके आगे बढ़ता है तब उसके सामने सबसे बड़ा लक्ष्य स्वार्थ हो उठता है। जैसे भी हो, अपना हित साधन ही उसका उद्देश्य रहता है। यही कारण था कि जो विज्ञान एक देवदूत के रूप में आविर्भूत हुआ था, वह शीघ्र ही विनाशकारी महादैत्य के रूप में हुँकारने लगा। वैज्ञानिक उन्नति ने राजनीतिक उत्कर्ष के लिए किए जाने वाले युद्धों को एक ऐसा स्वरूप दे दिया, जिसकी पहले कभी कल्पना भी नहीं की गई थी। मानव हृदयहीन होता गया।

विज्ञान की उन्नति से पहले मनुष्य तीर-कमान और तलवारों से लड़ाइयां लड़ते थे। ये लड़ाइयां भयकर-से-भयकर होने पर भी बहुत कम विनाशकारी होती थीं, परन्तु विज्ञान के पदार्पण के पश्चात् युद्धों में होने वाला विनाश कई हजार गुना हो उठा। दो विश्व-युद्ध अब तक हो चुके हैं। उनमें हुई क्षति के आकड़े गिनने में गणित शास्त्रियों का मस्तिष्क चकराने लगता है। परन्तु अन्त अभी भी नहीं है। नए युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ती जा रही हैं। और यदि युद्ध हुआ तो उसमें विज्ञान के नवीनतम उपहार अणु-बम और उद्जन बम कितना सहार करेंगे, यह कुछ कहा नहीं जा सकता।

ऐसा लगता है कि जिस प्रकार धार्मिक संस्थाओं का पतन हुआ और वे विकृत होकर पाखण्ड और बाह्याडम्बरों में परिवर्तित हो गईं, उसी प्रकार विज्ञान का भी पतन आरम्भ हो गया है। वह रचनात्मक न रहकर विनाशात्मक हो उठा है। विज्ञान की यह विनाश-शक्ति इतनी भयावह है कि इसकी तुलना में विज्ञान की रचनात्मक देन तुच्छ मालूम होने लगती है। यदि

परमाणु-बम द्वारा सारी मानव-जाति के विनष्ट हो जाने की सम्भावना हो तो इस बात का क्या महत्व है कि लोग विमान पर चढते हैं और आधुनिक यंत्रानिक उपकरणो द्वारा सैकड़ो प्रकार की सुख-सुविधाओ का उपभोग करते हैं। सभी-कुछ व्यर्थ है।

यह एक वस्तु और व्यावहारिक सत्य है कि धर्म और विज्ञान दो परस्पर विरोधी वस्तुएँ नहीं, बल्कि एक दूसरे की पूरक और सहायक वस्तुएँ हैं। मानव-जाति का हित इस में है कि धर्म तो रहे, धर्म के सिद्धात जनता मे अधिकाधिक प्रचारित हों, किन्तु वे तर्क-सम्मत हो, अन्धविश्वास और पाखड पर आधारित न हो। इस प्रकार वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि धर्म को पूर्णता प्रदान कर सकती है। पाखण्ड के दलदल मे फसकर धर्म जनता का आदर खो बैठा, उससे विज्ञान उसे बचा सकता है। इसी तरह धर्म विज्ञान का पूरक हो सकता है। विज्ञान ने प्रकृति की दुर्दान्त शक्तियो को अपने वश मे किया किन्तु मनुष्य को यह न सिखाया वह अपने मन को कैसे वश मे करे ? विज्ञान ने मनुष्य को स्वार्थ की शिक्षा दी, सेवा और परोपकार की नही। यदि हमारा मानव-समाज विज्ञान से प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीख ले और धर्म से यह शिक्षा ग्रहण करे कि स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार से अधिक मानसिक शांति और सुख मिलता है, सहिष्णुता और क्षमा का जीवन मे विशेष महत्त्व है क्योकि इनसे समाज का कल्याण होता है तो हमारा मानव-समाज ऐसा स्पृहणीय स्थिति मे पहुच सकता है जैसी आज तक कभी प्राप्त नही हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि अकेला धर्म मनुष्य-समाज को भौतिक उन्नति के उतने साधन प्रदान नही कर सकता जितने विज्ञान प्रदान कर सकता है और अकेला विज्ञान उस भौतिक उन्नति को स्थायी नही बना सकता जो उसने मनुष्य को प्रदान की है। विज्ञान उन्नति के शिखर पर पहुँच कर विनाश के गर्त मे कूदने के लिए आतुर प्रतीत होता है। ऐसे अपथ में रक्षा धर्म के सहयोग से ही हो सकती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विज्ञान और धर्म मे कोई पारस्परिक विरोध नही है। ये दोनो मनुष्य की उन्नति मे सहायक रहे हैं और एक दूसरे के पूरक बनकर अब मनुष्य की भौतिक और मानसिक उन्नति को चिरस्थायी बना सकते हैं। वैज्ञानिको और धार्मिको को अब इसी दिशा मे प्रयत्नशील होना चाहिए।

७३. कम्प्यूटर

आज जिधर देखो उधर कम्प्यूटर कम्प्यूटर युग और कम्प्यूटर की सहायता से इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ने की चर्चा है। है भी कम्प्यूटर विज्ञान का एक अद्भुत करिश्मा जिसकी चर्चा और प्रचार प्रसार रेडियो, टी० वी० सिनेमा, समाचार-पत्रों मे सबत्र हो रहा है। आखिर यह कम्प्यूटर है क्या ? साधारण व्यक्ति की भाषा में कहें तो उसे मानव मस्तिष्क का पर्याय कहा जा सकता है। जिस प्रकार मानव मस्तिष्क गणना करता है, वैसे ही कम्प्यूटर भी गणना करता है पर तु वह मानव मस्तिष्क की तुलना मे कई गुना तेजी से काय करता है। इसकी गणना सही होती है और उसकी सहायता से मनुष्य लम्बे, कठिन काय स भी बचता है और वह अपना कार्य बहुत ही शीघ्र कर डालता है।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। ज्यो ज्यो व्यवसाय, व्यापार विज्ञान की प्रगति होती गयी सही और थोडे समय म गणना की आवश्यकता महसूस की गयी, अकगणित को आधुनिक बनाने की दिशा मे वैज्ञानिको ने काम करना शुरू किया और परिणाम निकला कम्प्यूटर। सन् 1812 मे अग्रज गणितज्ञ श्री चाल्स बावेज नामक व्यक्ति ने उसकी आधारशिला रखी। उसका बनाया य त्र एक अविकसित शिशु कम्प्यूटर था। बाद मे अमेरिका के वैज्ञानिको ने उसका विकास किया। आज जापान, रूस और यूरोप के कई देश कम्प्यूटर निर्माण के क्षेत्र मे चरम उत्कर्ष को पहुच गये हैं। इन देशो मे कम्प्यूटर ने अनेक क्षेत्रो मे क्रांति ला दी है। उसकी महान उपयोगिता को देखकर भारत का भी उधर ध्यान गया और आज यहाँ भी इसके प्रशिक्षण, उपयोग और तकनीकी विकास की ओर ध्यान जा रहा है। भारत म कम्प्यूटर नीति की घोषणा के बाद अनेक सस्थानों मे इसका निर्माण तथा विकास करने की दिशा मे काय हो रहा है। टाटा मूलभूत शोध सस्थान, भाभा परमाणु अनुसधान केन्द्र हैदराबाद स्थित इलेक्ट्रिक कारपोरेशन आफ इण्डिया के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत मे कम्प्यूटर-प्रशिक्षण का काय भी आरम्भ हो गया है। भारत सरकार ने कम्प्यूटर व्यावहारिक बनाने के लिए 'कम्प्यूटर साक्षरता एव स्कूल अध्ययन' नामक योजना शुरू की है। इसके अन्तगत 250 माध्यमिक शालाओ मे कम्प्यूटर की शिक्षा दी जा रही है। नई शिक्षा नीति के अन्तगत

भी इसका जिक्र है और आशा है कि 1990 ई० तक लगभग ढाई लाख विद्यालयों में इसकी शिक्षा सुलभ हो सकेगी। 'पायलट परियोजना' के अन्तर्गत कक्षा नौ से कक्षा ग्यारह तक कम्प्यूटर शिक्षा का प्रावधान है। सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त गैर सरकारी संस्थाओं में भी कम्प्यूटर प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा रही है। इस प्रकार भारत में कम्प्यूटर का विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है।

कम्प्यूटर मशीन के मुख्य पाँच भाग होते हैं—

1 मैमोरी या स्मरण यंत्र—जिसमे सभी प्रकार की सूचनाएं या आँकड़े भरे जाते हैं। इन्ही के आधार पर कम्प्यूटर गणना करता है।

2 कंट्रोल या नियंत्रण कक्ष—इससे पता चलता है कि मशीन गणना सही कर रही है या कहीं उसमे गल्ती हो गयी है।

3 अंकगणित भाग—मशीन का यह अंग गणना करता है।

4 इनपुट यंत्र या आंतरिक यंत्र—यहाँ सब प्रकार की जानकारी या उससे सम्बद्ध निर्देश संकलित होते हैं।

5 आउटपुट यंत्र या बाह्य यंत्र—उपयुक्त चारों भागों की प्रक्रिया द्वारा जो सूचनाएं संकलित होती हैं, यह यन्त्र उनका विश्लेषण और परिणाम बताकर उसे छापकर घोषित करता है।

कम्प्यूटर की अपनी भाषा होती है जो तकनीक की दृष्टि से 'प्रार्थ मान' 'शून्य' तथा 'एक' है। इनको द्विचर संख्या कहते हैं। इन 'बिट्स' के द्वारा ही भाषा को अंकों में बदलते हैं। कम्प्यूटर प्रणाली में 6 बिट्स को 64 विधियों से प्रयुक्त कर सकते हैं। कम्प्यूटर के बोर्ड या कुंजीपटल पर अंग्रेजी के 26 वर्णों, 10 अंकों तथा आवश्यक विराम चिह्नों का गणित सम्बन्धी कुछ संकेतों से प्रकट करते हैं। यह जानकारी बिट्स में बदल जाती है। अन्त में नियंत्रण उपकरण की सहायता से विश्लेषण तैयार होता है और अन्तिम परिणाम कम्प्यूटर टर्मिनल पर छपकर बाहर आ जाता है। यह यंत्र जोड़ने घटाने गुणा करने तथा भाग करने—सभी का काम करता है। अतः गणना करने, लेखा जोखा रखने, वर्गीकरण करने का यदि विशाल पैमाने पर काम करना हो तो कम्प्यूटर बड़ा सहायक होता है।

युद्ध के समय बम वर्षक विमान, टैंक, अधिक रेंजवाली बन्दूकें शत्रु के ... को कैसे निशाना बनायें, या उनके आक्रमण से कैसा बचा सकता है

इसमें कम्प्यूटर युद्ध सचालकों को सही निर्देश दे सकते हैं। मारक शास्त्रो की गति को नियन्त्रित करने मे भी इनसे सहायता ली जाती है। जटिल से जटिल और विस्तृत से विस्तृत गणना करने मे यह यन्त्र बहुत कम समय लेता है। इसकी गणना भी प्राय त्रुटिहीन होती है।

बड़े व्यवसायिक प्रतिष्ठानो, तकनीकी सस्थानो आदि मे जहाँ उत्पादनो का लेखा जोखा, भावी उत्पादन का अनुमान बडा महत्व रखते हैं कम्प्यूटरो की उपयोगिता असंदिग्ध है।

चुनावों के समय भी इनके उपयोग से चुनाव परिणाम कम समय मे घोषित किये जा सकते हैं। 1984 के लोकसभा तथा 1985 के विधान सभाओ के चुनावों में कम्प्यूटरो के प्रयोग से चुनाव परिणाम जल्दी ही घोषित किये जा सके।

विमान के ब्लैक-बाक्स तथा फ्लाइट-रिकार्डर दोनो मे कम्प्यूटर काय करता है। उनसे दुघटना के कारणो का सही पता लग सकता है। 1985 ' कनिष्क विमान की दुघटना के कारणो की जाँच मे इन्ही की सहायता ली गयी थी।

परीक्षा परिणामो की घोषणा सही हो तथा जल्दी हो इसके लिए भी कम्प्यूटरो का प्रयोग होने लगा है। देश मे इलाहाबाद स्थित हाई स्कूल एण्ड इन्टरमीडिएट बोर्ड विश्व की सबसे बड़ी परीक्षा लेने वाली सस्था है। इसकी परीक्षाओ मे 10 से 12 लाख तक छात्र छात्राएं परीक्षा देते हैं। इनका परीक्षा फलक म्प्यूटर की सहायता से ही तैयार होता है। दिल्ली विश्व-विद्यालय के परीक्षा-परिणाम भी कम्प्यूटर की सहायता से तैयार किये जाते हैं।

बैंकों मे कम्प्यूटरो के प्रयोग से चैको का भुगतान काय जल्दी हो जाता है। बैंक के अन्य कार्यों मे भी वह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसीलिए भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा गठित एक समिति ने सिफारिश की थी कि बैंको में कम्प्यूटर का प्रयोग अत्यंत आवश्यक है। इसी को ध्यान में रखकर सभी राष्ट्रीयकृत बैंक अपनी प्रमुख शाखाओं मे कम्प्यूटर लगा रहे हैं।

सूचना एव प्रसारण के क्षेत्र में भी कम्प्यूटर का उपयोग होने लगा है। आकाशवाणी और दूरदर्शन का विकास कम्प्यूटर-टक्नालॉजी द्वारा हो रहा है। नई दिल्ली स्थित 'राष्ट्रीय सूचना केन्द्र में कम्प्यूटर साइबर 630' लगाया गया है इससे राजधानी के मत्रालयों मे स्थित 24 कम्प्यूटर सचालित

होते हैं। शीघ्र ही राज्यो और केन्द्रशासित प्रदेशों की राजधानियो मे भी कम्प्यूटर लगाए जाएगे तथा उन्हें राष्ट्रीय सूचना केन्द्र से जोड़ा जाएगा।

यातायात को सरल और बेहतर बनाने में भी कम्प्यूटरो का उपयोग किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय हवाई-अड्डों, बडे बडे रेल-स्टेशनों पर कम्प्यूटरो से आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। इससे काम भी शीघ्र होता है और घोटाले की गुंजाइश भी कम होती है। कुछ प्रदेशों में 'राज्य परिवहन निगम' भी अपने मुख्यालयो मे कम्प्यूटर प्रणाली की व्यवस्था कर रहे हैं।

चिकित्सा के क्षेत्र में रोगो का निदान करने के लिए कम्प्यूटरों का प्रयोग हो रहा है—ई सी जी, रक्त की जाँच, चश्मो के बनाने के लिए कम्प्यूटर का प्रयोग आम बात होती जा रही है।

एक ओर अपराधियो को अगुलियो की छाप की जानकारी क्षण भर मे उपलब्ध कराकर कम्प्यूटर पुलिस-अधिकारियो की सहायता कर सकते हैं तो दूसरी ओर न्याय व्यवस्था मे इनके उपयोग से न्याय शीघ्र प्राप्त हो सकेगा। यातायात नियत्रण मे भी यातायात पुलिस कम्प्यूटरो की सहायता ले रही है। डाक और तार सेवा को बेहतर बनाने के लिए इस विभाग में कम्प्यूटरों का प्रयोग होने लगा है। फिलहाल बगलूर के डाक तार विभाग मे कम्प्यूटर लगाया गया है।

कार्यालयो मे फाइलो के ढेर लगे रहते हैं, मामले को निपटाने में वर्षों लग जाते हैं, कभी कभी तो पेंशन का मामला पेंशन पाने वाले के मरने के बाद तय होता देखा गया है। इससे निपटने का एक मात्र उपाय है कम्प्यूटर। विभिन्न कार्यालयों मे कम्प्यूटर लगाने का काम आरम्भ हो चुका है। मध्यप्रदेश में भूमि के हिसाब किताब के लिए, तमिलनाडु मे प्रशासनिक कार्यों के लिए कम्प्यूटर खरीदे गए हैं। जीवन बीमा निगम भी इनका प्रबध कर रहा है। विश्वविद्यालयो में विज्ञान के कई पाठ्यक्रमों में कम्प्यूटर प्रयोग मे लाए जा रहे हैं। जनगणना के काय मे तो इनकी भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण होगी।

साराँश यह कि आज भारत मे भी अधिकाश क्षेत्रो मे कम्प्यूटर की सहायता से विविध कार्यों को वैज्ञानिक तरीके से और कम समय मे पूरा किया जाता है। व्यय तो अधिक होता है, पर काय जल्दी होता है और

गलतियों की सभावना भी बहुत कम होती है। इसीलिए कहा जाता है कि कम्प्यूटर ने मानव जीवन मे क्राति ला दी है, नये युग का सूत्रपात किया है।

भारत विकासशील देश है। विकासशील देश को विकसित देश बनने के लिए हर क्षेत्र म योजनाबद्ध काम करना होता है आर्थिक उन्नति के लिए, औद्योगिक प्रगति के लिए कृषि उत्पादन बढाने के लिए ऊर्जा के क्षेत्र मे आत्म निर्भर होने के लिए योजनाएँ बनानी होती हैं। भारत अपनी पचवर्षीय योजनाओ द्वारा यही काय कर रहा है। योजना बनाने वालों को अतीत की उपलब्धियो वतमान स्थिति भविष्य की सभावनाओ से सम्बधित आँकड़े चाहिएँ। अब इन आँकड़ो को सही सही वैज्ञानिक ढग से तथा शीघ्रातिशीघ्र कौन उपलब्ध कराए ? उत्तर एक ही है—कम्प्यूटर। सामान्य मानव मस्तिष्क जो काय 10 घटो में करता है कम्प्यूटर द्वारा वह काय 15 मिनट मे हो सकता है। आज मनुष्य इतना व्यस्त है जितना पहले कभी नही था उसकी आकांक्षाए और आवश्यकताएँ वामन के चरणो की तरह सम्पूण ब्रह्माड को तीन पग मे नापना चाहती हैं, विज्ञान की प्रगति से ज्ञान का विस्फोट हो रहा है ऐसी स्थिति म बिना कम्प्यूटर की सहायता के वाछित प्रगति नहीं हो सकती। आधुनिक कम्प्यूटर एक सकण्ड मे दस लाख तक की गणना सरलता से कर देता है। बिना थके बिना एकाग्रता खोये और बिना गल्ती किये वह शुद्ध गणना कर सकता है।

यह सच है कि मानव मस्तिष्क के सारे काय कम्प्यूटर नही कर सकता क्योंकि वह एक यत्र मात्र है जबकि मस्तिष्क मानव शरीर का एक सवेदनशील अग। फिर इसे भी कम्प्यूटर का निर्माण भी तो मानव मस्तिष्क ने ही किया है। दोनो का सबध जनक जय का सम्बध है और जनक को सतान से अधिक सम्मान दिया जाता है। मस्तिष्क चेतना सम्पन्न है कम्प्यूटर जड। मस्तिष्क सोचता है कल्पना करता है उसम अनुभूति की क्षमता है, वह सवेदनशील है कम्प्यूटर म ये सारे गुण कहाँ। वह तो भावना शून्य होता है मानव की निणय शक्ति सकल्प शक्ति उसमे नही है। हाँ वह मानव की सहायता करता है, हम उसे मानव मस्तिष्क का पूरक कह सकते हैं।

निष्कर्ष यह कि जीवन क सभी क्षेत्रो म कम्प्यूटर का प्रयोग बढता जा रहा है। इससे प्रत्येक क्षेत्र मे क्राति होगी विकास और प्रगति की चाल चौगुनी होगी और आज के युग का नाम कम्प्यटर युग' सार्थक होगा।

७४. भारत मे जनसख्या वृद्धि

विश्व का इतिहास जनसख्या वृद्धि का इतिहास है। सौ वष पूव विश्व की जनसख्या आज की तुलना मे आधी थी। प्रो० साण्डस का मत है कि ससार की जनसख्या मे एक प्रतिशत प्रति वष की वृद्धि हो रही है और यदि इसी गति से वृद्धि होती रही तो कुछ ही समय बाद मनुष्य के रहने के लिए तो दूर खडे होने तक की जगह नही रहेगी। वस्तुत जनसख्या ज्योमेट्रिकल प्रोग्रेशन की गति से बढ़ती है अर्थात् आज की पीढी के दो कल चार होंगे, उन चार के आठ होंगे और फिर अगली पीढी मे आठ के सोलह हो जाएँगे।

जनसांख्यिकीय सिद्धा त के अनुसार जनसंख्या की तीन स्थितियाँ होती हैं। प्रथम स्थिति मे मृत्यु दर ऊची होती है क्योकि लोगो को पौष्टिक भोजन नही मिलता, उनके जीवन मे स्वच्छता नहीं होती और बीमारियाँ पनपती हैं, चिकित्सा के साधनों और औषधियो का अभाव होता है। इस स्थिति मे ज म दर भी ऊँची होती है, कारण होते हैं—अशिक्षा, परिवार नियोजन के सम्ब ध मे अज्ञान, विवाह जल्दी आयु मे होना, पुरातन अध विश्वास और सोच के तरीके, रीति-रिवाज, परिवार के बड़े होने पर गव की भावना—

> रहिमन यों सुख होत है, बढत देखि निज गोत।
> ज्यो बडरी अखिया निरखि, आँखनि को सुख होत॥

देश की परिस्थितियाँ भी इस मानसिकता के लिए उत्तरदायी होती है। जनशक्ति एक बडी शक्ति है अत अधिक सन्तान होना सुख और समृद्धि का सूचक माना जाता था। भारत मे ऋग्वेद-काल में ऋषि ग्यारह पुत्रों क कामना करते थे और उ हें पाने के लिए देवताओ से प्राथना, यज्ञ अनुष्ठान आदि करते थे। रूस में आज भी सर्वाधिक स तान पैदा करने वाली माँ को सम्मानित किया जाता है और कुँवारे मातत्व तक को मा यता दी जाती है।

दूसरी स्थिति मे आय बढने से जीवन स्तर सुधरता है, पौष्टिक भोजन उपलब्ध होता है चिकित्सा की सुविधाएँ बढती हैं अत ज मदर बन्ती है और मृत्यु दर घटती है। इससे जनसख्या मे वद्धि होती है।

तीसरी स्थिति मे औद्योगीकरण के विस्तार के साथ ग्रामीण लोग नगरों की ओर प्रयाण करते हैं। नगरो की जनसख्या बढती है। नगरो के लोग

छोटे परिवार चाहते हैं क्योंकि छोटा परिवार ही सुखी परिवार होता है। मत तीसरी स्थिति मे जन्म दर और मृत्यु दर दोनों कम होती हैं, परिवार छोटे होते हैं और जनसख्या की वद्धि दर कम हो जाती है।

भारत दूसरी स्थिति से गुजर रहा है। यहाँ मत्यु दर तो पहले की तुलना मे कम हो गयी है, औसत आयु भी बढ गयी है पर जन्म दर कम होने या पूववत रहने की बजाय बढ़ रही है। परिणाम है जनसख्या मे तीव्र वृद्धि और यह 'जनसख्या विस्फोट' विकासशील अथव्यवस्था के लिए बहुत खतरनाक है।

निम्नलिखित आरेख स भारत मे जनसम्या वद्धि की दर का पता लग जाएगा।—

जनगणना वष	जनसख्या	वृद्धि	वद्धि प्रतिशत	वार्षिक वद्धि प्रतिशत
1951	36 1 करोड	—	—	—
1961	43 9 करोड	7 8 करोड	21 5%	2 1%
1971	54 8 ,,	10 9 ,,	24 8%	2 5%
1981	68 5 ,,	13 7 ,,	24 8%	2 5%

यदि इसी गति से जनसख्या बढती रही तो 1991 मे भारत की जनसख्या 85 करोड और सन् 2000 तक 1 अरब हो जाएगी। भारत की जनसख्या का विश्व मे चीन के बाद दूसरा स्थान है। विश्व का प्रत्येक सातवाँ व्यक्ति भारत का है। विश्व की कुल जनसख्या का लगभग 15 प्रतिशत भारत मे रहता है जब कि यहाँ का क्षेत्रफल विश्व के कुल क्षेत्रफल का 2 4 प्रतिशत है। इस प्रकार क्षेत्रफल के अनुपात मे यहाँ रहने वालो की सख्या बहुत अधिक है। नतीजा है जमीन पर भार और ससाधनो की उपलब्धि की तुलना मे कही ज्यादा माग।

इस भयावह स्थिति से बचने के उपायों पर विचार करने से पहले जनसख्या वद्धि के कारणो पर दष्टिपात करना युक्तिसगत होगा क्योंकि उन कारणो की पहचान ही सम्यक उपाय सुझा सकती है। जनसख्या वद्धि के कारण मनोवज्ञानिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनो हैं। भारत की अधिकाश जनता विशेषत स्त्रियाँ अशिक्षित अधशिक्षित और परम्परागत अधविश्वासो से ग्रस्त हैं। शिक्षा के अभाव मे तथा धर्मा ध होने के कारण वे सन्तान को ईश्वर का वरदान मानते हैं जन्म मरण को ईश्वराधीन

समझते हैं और उसके विधान में हस्तक्षेप करना पाप मानते हैं। अत सन्तानोत्पत्ति में व्यवधान उनके लिए पाप है। भारत के हिन्दू मुसलमान दोनों इसी अन्धविश्वास के कारण परिवार नियोजन पर ध्यान नहीं देते। हिन्दू पिण्डदान के लिए पुत्र आवश्यक मानता है क्योंकि बिना पिण्डदान के उसका विश्वास है मुक्ति नहीं मिलेगी और पुत्र की आशा में छ सात पुत्रियाँ हो जाती हैं। इस्लाम मे चार चार विवाह करने की मान्यता है और जब चार पत्नियाँ होंगी तो चौगुने बच्चे भी होंगे। कुछ मुल्ले मौलवी परिवार नियोजनको पाप बताते हैं ईश्वर के विधान मे हस्तक्षेप कहते हैं और इस प्रकार जनसंख्या मे वृद्धि होती है। राजनीतिक कारण भी इसके पीछे हैं। भारत मे प्रजातन्त्र है। हर पाँचवें वर्ष चुनाव होते हैं। मताधिकार का बड़ा महत्व है। जिसके पास और जिसके प्रभाव मे जितने मत होंगे, वह उतनी ही चाँदी काटेगा। यह विश्वास कि वोटों के बल पर विशेष माँगें, उचित अनुचित, मनवायी जा सकती हैं लोगों को, विशेषत नेताओं को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वे लोगो से अधिकाधिक सन्तान उत्पन्न करने की सलाह दें। ईसाई लोग भी मुसलमानो की तरह कुछ धार्मिक तथा कुछ राजनीतिक कारणो से परिवार नियोजन के कार्यक्रमों मे बाधा डालते हैं।

हमारे देश की बहुसंख्यक जनता गरीब है, दिन भर पसीना बहाकर दो जून की रोटी पाती है। पर मनोरंजन तो इन निर्धन लोगो को भी चाहिए। धनाभाव मे उनके पास मनोरंजन का एक ही सुलभ साधन होता है—स्त्री ससर्ग। यही कारण है कि जितने बच्चे गरीब परिवारो मे होते हैं, उतने सम्पन्न गृहस्थो के यहाँ नहीं। इसका दुष्परिणाम होता है जनसंख्या और गरीबी दोनो मे वृद्धि।

जनसंख्या वृद्धि की समस्या एशिया के देशो—चीन, भारत, पाकिस्तान, नेपाल, लंका आदि मे विकराल है। इन देशों के शासक और चिन्तक भी इस समस्या से अवगत हैं और इससे निपटने के लिए चिन्तित और प्रयत्नशील हैं। दिसम्बर 1984 मे इस्लामाबाद में हुए सात एशियाई देशो के शासनाध्यक्षो के सम्मेलन मे सभी ने इस बात पर बल दिया कि वे अपने अपने देशो की जनता के जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा गरीबी, भुखमरी, रोग, निरक्षरता, बेरोजगारी और पर्यावरण के प्रदूषण को समाप्त करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। पर यह कैसे हो सकेगा ? नेपाल के महाराजाधिराज बीरेन्द्र विक्रम शाह ने बढती जनसंख्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि यह समस्या युद्ध या आतंकवाद की समस्या से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

कठिन हो गया है। सभी विकास-योजनाओं की सफलता और उनके वांछित सुपरिणामों के आगे प्रश्नचिह्न लग गया है।

आज मानव 'सरल जीवन उच्च विचार' के आदर्श में विश्वास नहीं करता। वह अधिकाधिक भौतिक सुख सुविधाएँ पाना चाहता है। लोगों की आवश्यकताएँ बढ रही हैं, उनकी अपेक्षाओं का विस्तार हो रहा है। यह सच है कि भारत की भूमि विशाल ही नही, अपरिमित प्राकृतिक साधनो का भडार है, नये नये प्रयोग और अनुसधान कर उसके वैज्ञानिको एव अनुसधानकर्ताओ ने उत्पादन वद्धि के नये तरीके खोज निकाले हैं और यहाँ किसान, मजदूर तथा अन्य लोग अपने श्रम से उत्पादन बढा रहे हैं तथापि जनसख्या के अनुपात मे उत्पादन अब भी कम है गरीबी बढती जाती है। गरीबी मे अधिक बच्चे ज म लेते है। इस प्रकार हम एक दूषित दुदम्य चक्र मे फस गये हैं। भोजन, आवास, स्वास्थ्य सुविधाएँ, शिक्षा रोजगार, यातायात परिवहन सभी क्षेत्रो म अभाव की स्थिति है। अभाव असतोष को ज म देगा और असतोष हिंसा उपद्रवो और परस्पर विद्वेष को। अत यदि बढती जनसख्या को न रोका गया तो ऐसा भयकर विस्फोट होगा कि सब-कुछ उसमे नष्ट हो जाएगा। प० नेहरू ने बहुत पहले कहा था 'यदि जनसख्या बराबर बढती रही तो पचवर्षीय योजना का कोई अर्थ नहीं है। जब तक बढती हुई जनसख्या रोकी न जाएगी तब तक देश की उ नति के प्रयत्नों का कोई लाभ नही होगा।"

भारत म इस सम्बन्ध मे जागरूकता तो आयी है। नगरो मे रहनेवाले मध्यम वग के लोग सीमित परिवार के लाभ समझ कर दो या तीन बच्चो से सतोष करने लगे हैं। पुत्र के प्रति मोह भी कम हो रहा है अत पुत्र की प्रतीक्षा मे बेटियो को ज म देते रहने की प्रवत्ति भी कुछ कम हुई है। जीवन-स्तर को ऊचा उठाने की ललक और उसमे अधिक सतान को बाधक देखकर भी ये लोग परिवार नियोजन कर रहे हैं। पर तु अशिक्षित लोगों में अभी भी जागरूकता नहीं आ पायी है और उनमे किए परिवार नियोजन उपाय के परिणाम उत्साहवधक नहीं है। इस दिशा मे सरकार और स्वयसेवी सस्थाओं को अधिक तत्परता और निष्ठा से काम करना होगा।

७५ नई शिक्षा नीति

मानव जीवन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में शिक्षा ही मानव को सच्चा मानव बनाती है। सच्ची शिक्षा उसे सुसंस्कृत और अनुशासन युक्त बनाती है और वह ज्ञानार्जन कर अपना बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करता है। परन्तु वर्तमान युग में शिक्षा और इन महत् उद्देश्यों का सम्बन्ध लुप्त हो गया है। आज तो उसका ध्येय हो गया है भौतिक उन्नति, सुख सुविधा के साधन जुटाना और इसके लिए नौकरी पाना आवश्यक है।

भारत में वर्तमान शिक्षा प्रणाली बहुत कुछ अंग्रेजों की देन है। मकाले ने जिस शिक्षा पद्धति का प्रचलन किया, उसके दो उद्देश्य थे अंग्रेजी शासन चलाने मे सहायता देने के लिए अंग्रेजी पढ़े लिखे बाबू वर्ग को तैयार करना भारतीयों के मन में हीनता-भाव उत्पन्न करना, उन्हें अपनी गौरव मंडित संस्कृति और उच्च जीवन मूल्यों से काट कर उन्हें पश्चिम के रहन सहन के प्रति आकृष्ट करना। और इस उद्देश्य में वह सफल भी रहा। जब भारतीयों को इस कूटनीति का पता चला तो उन्होंने इस शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन के लिए आवाज भी उठाई पर 1947 तक परतन्त्र देश कुछ न कर सका।

स्वतन्त्रता के बाद 1948 मे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता मे एक आयोग गठित किया और उसने 1949 में कुछ सुझाव दिये—शान्ति निकेतन के समान ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना, अधिक छात्र वाले कालेजो में सीमित छात्र संख्या उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहे, उच्च माध्यमिक और महाविद्यालय स्तर पर सह शिक्षा अध्यापकों का स्तर ऊंचा उठाया जाए। इन सिफारिशों पर बहुत कम काम हुआ। उसके बाद 1964 में कोठारी आयोग बनाया गया। उसकी सिफारिशो के आधार पर 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनी जिसके प्रमुख उद्देश्य थे —14 वर्ष तक की आयु के बच्चो को निःशुल्क शिक्षा, अध्यापकों को बेहतर वेतन तथा सुविधायें, त्रिभाषा सूत्र कृषि एवं उद्योग सम्बन्धी शिक्षा का विकास पाठ्य पुस्तकों का स्तर सुधारा जाय तथा उनका मूल्य कम हो राष्ट्रीय आय का 6% शिक्षा पर व्यय हो। पर ये सिफारिशें भी कागज पर ही धरी रह गयीं। यदि इन सिफारिशो-सुझावों का सही रूप में क्रियान्वयन होता तो निश्चय ही उसके

सुपरिणाम होते परन्तु साधनों के अभाव और क्रियान्वयन की तत्परता के अभाव में सारी आशाओं पर तुषारापात हो गया।

श्री राजीव गांधी के सत्ता में आते ही प्रत्येक क्षेत्र में पुरानी लीक से हटकर नए प्रयोग करने की प्रवृत्ति जागी, 21वीं शताब्दी में प्रवेश करने के उद्देश्य से राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा-नीति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव की गयी। तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री पन्त से 'नई शिक्षा-नीति' का प्रारूप तैयार करने को कहा गया। उन्होंने 'शिक्षा की चुनौती' नामक दस्तावेज चर्चा बहस, गोष्ठियों में विचार विनिमय के लिए प्रस्तुत किया। पूरे एक वर्ष तक नई शिक्षा नीति पर विद्वानों शिक्षाविदों अधिकारियों विशेषज्ञों के बीच चर्चा हुई। अनेक सुझाव भी आए और अन्त में मई 1986 में यह नीति संसद द्वारा स्वीकार कर ली गयी। इस नीति के अधीन जो कार्यक्रम तैयार किया गया वह भी अगस्त 1986 में स्वीकार कर लिया गया। 1987 में इस नए कार्यक्रम को लागू किया गया।

नई शिक्षा नीति का निर्माण करते समय सरकार के दो लक्ष्य थे—भारतीय समाज में व्याप्त विभिन्न विसंगतियों को दूर करना तथा देश को विश्व के अन्य विकसित देशों की पंक्ति में बिठाने तथा 21वीं शताब्दी में प्रवेश करने के लिए तैयार करना। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने नई शिक्षा-नीति के निम्नलिखित उद्देश्य रखे—शिक्षा का विस्तार शिक्षा का स्तर ऊपर उठाना, शिक्षा को वर्तमान जीवन से जोड़कर उसे व्यावहारिक बनाना, देशवासियों में एकता, अखण्डता और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना, देश की आवश्यकता को देखते हुए और विश्व की प्रगति की दौड़ में उसे न पिछड़ने देने के लिए वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा का विस्तार और उसके स्तर में सुधार, महिलाओं, पिछड़ी जातियों और विकलांगों को समाज में उचित स्थान दिलाने के उद्देश्य से उनको अधिक शिक्षा सुविधाएं प्रदान करना तथा शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्ध में सुधार करना ताकि वे सुचारू रूप से काम कर सकें।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नई शिक्षा-नीति को तैयार किया गया। उसके महत्वपूर्ण बिन्दु निम्नलिखित हैं—1 विद्यालयों के स्तर पर राष्ट्रीय पाठ्यक्रम का निर्माण करना। इस पाठ्यक्रम में कुछ बातें तो समान होंगी जैसे भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास, नागरिकों के संवैधानिक दायित्व और कर्तव्य राष्ट्रीय एकता और अस्मिता को बढ़ावा देने वाला अध्ययन और कुछ बातें विभिन्न प्रदेश अपनी स्थिति परिस्थिति को देखते हुए जोड़ेंगे।

2 उच्चतर शिक्षा में सामान्यत और तकनीकी शिक्षा में विशेषतः विभिन्न संस्थाओं में तालमेल रखना इस शिक्षा की प्राप्ति के इच्छुक छात्रों को बिना किसी भेदभाव के केवल योग्यता के आधार पर प्रवेश की सुविधा प्रदान करना। अनुसंधान और विकास के क्षेत्रों में विभिन्न संस्थानों को इस प्रकार कार्य करने की प्रेरणा देना ताकि उनके संसाधनों का अधिकतम उपयोग हो सके और वे मिलकर राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं में मिलकर योगदान कर सकें।

3 भारत में अभी भी स्त्रियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति दयनीय है। इस स्थिति से उन्हें उबारने तथा राष्ट्र की आधी जनसंख्या को उपयोगी कार्यों मे लगाने के लिए आवश्यक है कि महिलाओं की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाय, पाठ्यक्रमों पुस्तकों आदि मे इस प्रकार सुधार किया जाय कि पुरुषों का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण बदले और वे समाज मे पुन सम्मान प्राप्त कर सकें। व्यावसायिक और प्राविधिक पाठ्यक्रमो के अध्ययन के लिए उन्हें रोकने की बजाय प्रोत्साहन दिया जाय ताकि बाद में वे डाक्टर, इन्जीनियर, उद्यमी बन सकें, व्यापार-व्यवसाय में सक्रिय भाग लेकर देश का औद्योगिक आर्थिक विकास कर सकें।

4 अनुसूचित जातियो तथा जन जातियो के साथ हमारा व्यवहार बबरतापूर्ण रहा है। अत वे आज भी जगली या अर्धसभ्य जीवन बिता रहे हैं। उनकी स्थिति सुधारने के लिए नई शिक्षा नीति में सुझाव दिये गये हैं— (क) गरीब माता पिताओ को अतिरिक्त सुविधा और प्रलोभन देकर उन्हें अपने बच्चो को शिक्षालयो म भेजने के लिए इस तरह प्रोत्साहित किया जाय कि वे 14 वर्ष की आयु तक पढ़ते रहें, बीच मे ही पाठशाला न छोड़ बैठें। (ख) नालियों शौचालयो आदि की सफाई करने वाले, अछूत कहे जाने वाले माता पिता के बच्चों को मैट्रिक तक छात्रवृत्ति दी जाय। (ग) उनके लिए स्कूलो के बाहर अनौपचारिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो। (घ) अनुसूचित जातियों से अध्यापको का चयन हो। (ङ) उन्हें छात्रावासो मे रहने की सुविधा प्रदान की जाय। (च) ऐसे स्थानों पर विद्यालय खोले जायें ताकि अनुसूचित जातियो जनजातियों के छात्र छात्राएं आसानी से वहाँ पढ़ सकें। (छ) जनजातियो की अपनी संस्कृति है। अत उनके लिए ऐसा पाठ्यक्रम जाय कि उनकी संस्कृति को ठेस न लगे, वह और अधिक समृद्ध हो।

उनकी अपनी पहचान बनी रहे। उन्हें उन्हीं की मातृभाषा में शिक्षा दी जाय। (छ) अच्छे और समर्पित अध्यापकों को ऐसे स्कूलों में नियुक्त की जाय। (ज) उच्च शिक्षा के लिए छात्र-वृत्तियाँ प्रदान की जाएँ। (झ) जहाँ आवश्यकता हो वहाँ इनके लिए उपचार पाठ्यक्रम (remedial courses) का प्रबन्ध किया जाय। (ञ) प्रगनवाडी, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र इन क्षेत्रों में प्राथमिकता के आधार पर खोले जायें।

5 शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांगों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि वे स्वय को उपेक्षित समाज से कटा अनुभव न करें, जीवन से निराश न हों। जहाँ तक हो सके उन्हें स्वस्थ बच्चों के साथ पढ़ाया जाय। जो अधिक विकलांग हैं उनके लिए छात्रावास युक्त विद्यालय खोले जायें। उन्हें व्यावसायिक शिक्षा दी जाय ताकि बाद में वे अपनी आजीविका कमा सकें। उनके शिक्षकों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाय ताकि वे विकलांगों के सहयोगी मित्र और मार्गदर्शक बन सकें। स्वयसेवी संस्थाओं को विकलांगों के लिए शिक्षा-संस्थाएं खोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

6 भारत में ऐसे प्रौढ़ पुरुषों और विशेषत स्त्रियों की संख्या लाखों में है जो निरक्षर हैं, जो अंगूठा-टेक हैं और जो केवल नाम लिख सकते हैं या दस्तखत कर सकते हैं। इनको साक्षर और शिक्षित करने के लिए नई शिक्षा-नीति में जो सुझाव दिये गये हैं। वे हैं—(क) ग्रामीण क्षेत्रों में अनुवर्ती शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना, (ख) मिलों आदि में काम करने वालों के लिए उनके मालिकों द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध, (ग) ऐसे लोगों के लिए अधिकाधिक पुस्तकालयों तथा वाचनालयों की स्थापना, (घ) उनकी शिक्षा के लिए रेडियो, टेलीविजन, फिल्मों आदि का उपयोग, (ङ) स्वाध्याय के लिए अवसर एवं सुविधाएं प्रदान करना, (च) ओपन स्कूल जैसी संस्थायें खोलना, (छ) आवश्यकता एवं रुचि के अनुरूप व्यावसायिक शिक्षा केन्द्रों की स्थापना।

7 ऐसी प्राथमिक शिक्षा जिससे बच्चों का उचित शारीरिक और मानसिक विकास हो सके। इसमें दो बातों पर बल दिया जाएगा—(क), सब बच्चों का विद्यालय में नाम निवेश और उन्हें 14 वर्ष तक की आयु तक पढ़ाते रहना, (ख) शिक्षा के स्तर का सुधारना। इनके लिए 'आपरेशन बोर्ड' नाम से योजना का प्रस्ताव है। इसके अन्तर्गत मुख्य बातें होंगी

दो कमरों की व्यवस्था, ब्लैक बोर्ड, डस्टर, मानचित्र, चार्ट आदि का प्रबन्ध खिलौने और खेल, कम से कम एक महिला अध्यापक और दो अध्यापक हों।

8 यह सम्भव नहीं है कि सभी शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्सुक और इच्छुक लड़के-लड़कियों को नियमित विद्यालयों में प्रवेश मिल सके। अतः नई शिक्षा-नीति में व्यापक स्तर पर अनौपचारिक शिक्षा के लिए प्रावधान है। इसके लिए ओपन स्कूल और ओपन विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव है। विदेशों में ब्रिटेन तथा भारत में आन्ध्र प्रदेश में स्थापित ओपन विश्व विद्यालयों का अनुभव बड़ा उत्साहवर्धक रहा है। दिल्ली में स्थापित ओपन स्कूल और इन्दिरा गांधी ओपन विश्वविद्यालय का कार्य भी सुचारु रूप से चलता देख आशा होती है कि यह प्रयोग सफल होगा। ऐसी संस्थाओं में उन लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सकेगा जो किन्हीं कारणों से शिक्षा प्राप्त करने की वय में शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके, अथवा जिन्हें बीच में ही शिक्षा छोड़नी पड़ी अथवा जो ज्ञान पिपासु हैं और अब अनुकूल अवसर पाकर अपना भविष्य सुधारना चाहते हैं। ऐसी संस्थाओं में प्रवेश के मार्ग में आने वाली अनेक बाधाएँ—न्यूनतम अर्हता, आयु, पाठ्यक्रम का चुनाव, परीक्षा सम्बन्धी कठिनाइयां आदि दूर हो जायेंगी।

9 आज हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या है, बेरोजगारी क्योंकि सामान्य शिक्षा विद्यार्थी को डिग्री तो देती है पर डिग्री प्राप्त करने के बाद वह दफ्तरों में नौकरी करने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं कर सकता और नौकरियाँ सीमित हैं। इस समस्या का समाधान है व्यावसायिक शिक्षा। नई शिक्षा-नीति ने इसके लिए पर्याप्त सुविधायें जुटाने का सुझाव दिया है। प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक विद्यार्थी स्वास्थ्य विज्ञान, स्वच्छता, प्राथमिक सहायता, परिवार नियोजन आदि की शिक्षा पाएगा और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के बाद वह अपनी रुचि के अनुरूप कृषि, बागवानी, लुहार, बढ़ई बिजली इंजीनियरिंग, समाज-सेवा, विपणन आदि का एक वर्ष से तीन वर्ष तक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेगा। इसके परिणामस्वरूप या तो वह किसी औद्योगिक संस्थान में लग जाएगा अथवा अपना निजी रोजगार चला कर आजीविका कमा सकेगा।

10 शिक्षा के प्रबन्ध के सम्बन्ध में भी अनेक सुझाव दिए गए हैं जिनमें हैं—विकेन्द्रीकरण, स्वायत्तता जनता तथा स्वयंसेवी संस्थाओं का सहयोग

शिक्षा-योजना तथा प्रबन्ध में महिलाओं की अधिक भागीदारी। अन्य अखिल भारतीय सेवाओं के समान अखिल भारतीय शिक्षा-सेवा आरम्भ करने का भी विचार है। शिक्षा संस्थाओं की प्रबन्ध व्यवस्था में भी परिवर्तन करने का विचार है ताकि इनकी प्रबन्ध-समितियां मनमानी न कर सकें और उनमें अध्यापक भी अपनी बात कह सकें।

पर नई शिक्षा-नीति के पूर्णतः सफल होने में बाधाएं भी अनेक हैं—बढ़ती जनसंख्या, ससाधनों की कमी क्रियान्वयन के लिए अपेक्षित मानसिकता का अभाव, छात्रों अध्यापकों के लिए आचार-संहिता के निर्माण और उसके पालन करने के प्रति शिथिलता का भाव, विश्वविद्यालयों में बढ़ती राजनीतिक गतिविधियां जो अध्ययन शोध का वातावरण विकृत करती रहती हैं। भय है कि कहीं नई शिक्षा नीति भी केवल नारेबाजी और रद्दी की टोकरी में डाला जाने वाला दस्तावेज बनकर न रह जाय। कुछ लोगों का तो कहना है कि नई नीति पुरानी नीतियों की तरह ही अव्यावहारिक है, उसमें नया कुछ नहीं है, वह केवल ऊंचे सिद्धान्तों और आदर्शों की दुहाई देने वाला एक और घोषणा-पत्र है जो बहलाने-फुसलाने का साधन मात्र है। नवोदय स्कूल, स्वायत्त कालेज, उच्चतम शिक्षा शोध के लिए बनाये गये केन्द्र शिक्षा को पुनः केवल कुछ विशिष्ट सपन्न लोगों तक सीमित करेंगे। सबको शिक्षा देने का हमारा स्वप्न कभी साकार न होगा। साधनों के अभाव में व्यावसायिक शिक्षा के कार्यक्रम भी पूरे न हो पायेंगे। अतः बेरोजगारी की समस्या और बढ़ेगी। बरसाती मेढकों की तरह नित्य नए पोलिटेक्निक और डाक्टरी शिक्षा के संस्थानों का प्रशिक्षण स्तर इतना नीचा है कि इनसे निकले युवक-युवतियों के कारण देश के विकास में सहायता की बजाय बाधा ही पड़ेगी। महत्त्वपूर्ण मसौदा बनाना नहीं, उसमें दिये गये प्रस्तावों और कार्यक्रमों का कार्यान्वयन है। देखना यह है कि कार्यान्वयन होता है या नहीं और किस गति से होता है।

७ | प्रौढ़-शिक्षा

शिक्षा का महत्त्व सर्व विदित है। यह ठीक है कि शिक्षा ग्रहण करने के लिये आयु का उचित भाग प्रारम्भिक वय अर्थात् चार-पाँच वय की आयु से लेकर चौबीस-पच्चीस वय तक का काल ही स्वीकार किया जाता है फिर भी अन्य आयु वर्गों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। कहा जाता है कि ज्ञान अनन्त है और उसे प्राप्त करने के लिए अनन्त जन्मों की ही आवश्यकता हुआ करती है। एक जन्म में तो मनुष्य उसका सहस्रांश भी अर्जित कर पाने में समर्थ नहीं हुआ करता। यह भी एक अनुभव सिद्ध बात है कि सुशिक्षित एवं ज्ञानवान व्यक्ति ही जीवन जीने की कला में पारंगत हो सकता है। इसी कारण मानव जीवन के प्रत्येक काल में शिक्षा-दीक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है। अतीत भारत में भी शिक्षा का अनन्त प्रचार और विस्तार था। स्त्री पुरुष सभी के लिये शिक्षा अनिवार्य समझी जाती थी। ज्ञान और शिक्षा का प्रसार इस सीमा तक था कि पण्डित मण्डन मिश्र के घर के पशु-पक्षी भी संस्कृत के शिक्षाप्रद श्लोकों का स्पष्ट उच्चारण किया करते थे। रंगरेजन शेख ने कवि आलम के समस्यात्मक पद की पूर्ति कर दी थी और भी छोटे-बड़े सभी जन सुशिक्षित हुआ करते थे। फिर बीच में एक काल ऐसा आया कि परिस्थितिजन्य विवशताओं के कारण भारतीय आम जनों का नाता शिक्षा से टूटता गया। अधिकाधिक निरक्षर एवं अशिक्षित होते गये। इस कारण जीवन और समाज का ढांचा भी अनेक प्रकार की कुरीतियों कुनीतियों एवं अन्ध परम्पराओं से ग्रस्त होकर बिखरता गया। नवयुग की चेतना और स्वतन्त्रता प्राप्ति ने एक बार फिर शिक्षा का महत्त्व सभी के सामने उजागर कर दिया है। इसी कारण स्वतन्त्र भारत में आज सभी आयु वर्गों की शिक्षा पर योजनाबद्ध रूप से विशेष ध्यान दिया जा रहा है। प्रौढ़ शिक्षा भी पूरे देश के सभी आयु वर्गों को साक्षर एवं शिक्षित बनाने की उसी योजना का ही अंग है।

सामान्य सन्दर्भों और अर्थों में प्रौढ़ शिक्षा का अभिप्राय एवं प्रयोजन ऐसे व्यक्तियों को साक्षर बनाना है जो किन्हीं भी कारणों से अपनी उचित आयु में शिक्षा-साक्षरता से वंचित रह गये हैं। साक्षर शिक्षित व्यक्ति जिनासु बनकर

जीवन के वास्तविक स्वरूप को देख, पहचान उसे परिस्थितियों के अनुरूप उपयुक्त साँचे मे ढाल पाने मे समथ हो सकता है। आज ज्ञान विज्ञान के विभिन्न और विविध क्षेत्रो मे जो अनेकविध अन्वेषण और प्रगतियाँ हो रही है उनकी सही समय पर सही ढग से जानकारी भी पढा लिखा व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है। स्वय साक्षर एव शिक्षित माता पिता ही अपने बच्चो के लिये शिक्षा की उचित व्यवस्था करने की बात सोच कर उचित एव सक्रिय कदम उठा सकते हैं। हमारे देश मे अनेक बच्चे इसी कारण शिक्षा न लेकर आवारा घमते रहते हैं कि उनके माता पिता स्वय शिक्षित या साक्षर नही होते, अत उनमे बच्चो को स्कूल भेजने का उत्साह ही नही होता। प्रौढ-शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यह भी है कि आयु के परिपक्व (प्रौढ) हो जाने पर भी माता पिता शिक्षा का लाभ उससे प्राप्त सुविधाओ एव आनन्द से परिचित हो जाएँ। ऐसा होने पर ही वे लोग अपने बच्चो को साक्षर-शिक्षित बनाने की दिशा मे विशेष उत्साह से अग्रसर हो सकेंगे। जब माता-पिता साक्षर होगे, तो निश्चय ही उनके बच्चे शिक्षा पाएँगे। इस प्रकार धीरे-धीरे सारा समाज साक्षर एव सुशिक्षित होकर उचित अनुचित, हानि-लाभ का निणय कर पाने मे समर्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर उसका अपना लाभ तो होगा ही देश जाति का वातावरण भी समृद्ध एव प्रगतिशील बनेगा।

प्रौढ शिक्षा के और भी कई प्रयोजन एव लाभ गिनाए जा सकते हैं। शिक्षा को मनुष्य और मनुष्यता की आँख भी कहा गया है। ऐसा कहने का अभिप्राय यही है कि शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही प्रत्येक स्थिति को सही सन्दर्भो मे देख परख विवेक से काम ले सकता है। आज जीवन और समाज मे जो अनेक प्रकार के अन्धविश्वास कुरीतियाँ अनीतियाँ आदि विद्यमान हैं अनेकविध हानिकारक रूढियाँ प्रचलित हैं, उन सब का कारण अज्ञान और अशिक्षा ही है। प्रौढ शिक्षा इन सबके विरुद्ध सघर्ष की आग ऊपर से नीचे अर्थात पुरानी पीढी स नई पीढी तक पहुचाने की एक महत्त्वपूर्ण योजना सिद्ध हो सकती है। रूढियाँ एव अन्धविश्वासो से विरहित समाज ही उन्नत समाज कहा जा सकता है। इसी प्रकार आज कृषि काय उद्योग धन्धा तथा अन्यान्य जीवनाधार काय कलापो के लिये नई-नई वैज्ञानिक पद्धतियाँ सामने आ रही हैं। शिक्षित व्यक्ति ही उनका सीधा लाभ उठाकर अपने घर परिवार और आस पास के समाज को भी उस ओर प्रेरित कर सकता है। विश्व मे प्रतिपल प्रतिक्षण जो नया घटित होता रहता है और अन्तर्राष्ट्रीयता का युग होने के कारण जिसका प्रभाव विश्व के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सामान्य विशेष सभी पर समान रूप से पडता है उस सब का परिचय भी मात्र शिक्षित साक्षर

व्यक्ति ही तत्काल प्राप्त कर सकता है। ऐसा करके वह सहज ही अपने आपको अनवरत गति प्रगतिशील विश्व के साथ जोड़े रख सकता है। अपनी तथा सभी की सुख समृद्धि का कारण भी बन सकता है। इसी प्रकार के व्यक्त अव्यक्त लाभो से समूचे जन-जीवन को अनुप्राणित करने की दृष्टि से ही भारत मे सरकारी और निजी स्तर पर प्रौढ शिक्षा पर बल दिया जा रहा है।

भारत मे प्रौढ शिक्षा साक्षरता प्रचार के विश्वव्यापी और विशुद्ध देशीय अभियान का ही एक महत्त्वपूर्ण अग है। सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्तर्गत कार्यरत यूनेस्को जैसी विश्व सस्थाओ का समर्थन और सहायता भी इस महत्त्वपूर्ण योजना को प्राप्त है। इसी कारण आज व्यापक स्तर पर यह अभियान चलाया जा सकना सम्भव हो सका है। साक्षरता अभियान के अन्तर्गत ही प्राय सारे भारत मे अनेक स्वशासी या समाजशासी सस्थाएँ तो इस दिशा मे सक्रिय हैं ही, सरकार का शिक्षा और समाज कल्याण विभाग भी सक्रिय है। नगर, कस्बा और ग्राम-स्तर पर जहाँ बाल शिक्षा के लिये बालवाड़ियो प्राथमिक शालाओं) का जाल बिछाया गया और बिछाया जा रहा है, वहाँ स्थान स्थान पर प्रौढ शिक्षा केन्द्र भी स्थापित किये गये हैं। ये प्रौढ शिक्षा केन्द्र सामान्य कार्य-काल के अतिरिक्त समय मे अर्थात दोपहर या रात्रि के समय चलाए जा रहे हैं। ऐसा इसलिये कि अपने आवश्यक दैनिक कार्यों को पूरा करने के बाद ही प्रौढ जन शिक्षा या साक्षरता पाने का लाभ उठा सकें। प्रौढ औरतो के लिये दोपहर का समय उपयुक्त रहता है कि जब वे घर के काम काज समेट शिक्षा पा सकती हैं। इसी प्रकार प्रौढ पुरुषो के लिये सामान्यतया सायंकाल के तत्काल बाद का समय उपयुक्त रहता है कि जब वे लोग खाली बैठ कर गप्पें लड़ाने या चुगली-चकारी करने के स्थान पर साक्षरता या शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। अभी तक के इस अभियान को काफी सफल एव सार्थक रेखांकित किया जा सकता है।

नगरो मे प्रौढ शिक्षा के लिये प्राय कम्युनिटी हाल या खाली पडे स्कूलो के भवनो आदि का प्रयोग किया जाता है। सायंकाल के बाद इन या इस प्रकार के स्थानों पर प्रशिक्षित अध्यापको द्वारा प्रौढो को शिक्षा दी जाती है। इसके लिये आवश्यक सामग्री—अर्थात पुस्तक कापी, पसिल आदि की व्यवस्था भी प्राय सरकार या सचालन करने वाली सस्थाओ की ओर से ही की जाती है। ग्रामो मे पचायत भवन चौपाल [illegible] । इस कार्य के लिये किया जाता है और सारी [illegible] । प्राय नि[illegible] [illegible] । प्रौढ नारियो की साक्षरता शिक्षा के [illegible] की [illegible] योजनाएँ कार्य कर रही हैं। मुहल्ले [illegible] सभी इच्छुक

महिलाएँ एकत्रित हो सकें। वहाँ आकर कोई शिक्षित प्रशिक्षित महिला शिक्षण का काय करती है। या फिर नियुक्त शिक्षिका के घर पर मुहल्लों की औरत स्वय दोपहर के समय पढने आ जाया करती है। ग्रामो मे यह काय ग्राम-सेविकाओ द्वारा भी सम्पादित होता है और शिक्षित-प्रशिक्षित ग्रामीण महिलाओ द्वारा भी। पढने के इच्छुक लोगो की समय-सुविधा का हर प्रकार से ध्यान रखा जाता है। कुछ अवस्थाओ मे सामान्य स्तर पर कुछ परीक्षाएँ भी ली जाती है परन्तु अधिकतर ऐसा नही भी होता। वस्तुत महत्व परीक्षा का नही उस प्रबल एव आन्तरिक इच्छा का होता है कि जो लोगो को स्वत प्रेरित कर उन केन्द्रो तक ले आती है। शिक्षा पाने के बाद कई प्रौढा को हमने समाचार पत्र पढ कर उनमे छपे देशी विदेशी समाचारा पर सभी दृष्टियों से साथक सम्वाद करते देखा है। इसे इस योजना की पूण साथकता एव सफलता ही कहा जायेगा।

अपने आकार प्रकार और प्रकृति मे भारत एक बहुत बडा देश ह। इसकी जनसख्या भी विशाल है। अभी तक भारत इतना समथ नही हो पाया कि प्रत्येक बालक के लिये मुफ्त उचित शिक्षा की व्यवस्था कर सके। आर्थिक एव कई अन्याय कारणो से भी कई बालक शिक्षा से वचित रह जाते हैं। बडे होने पर जब उन्हे जीवन के यथाथ से दो चार होना पडता है, तब पश्चाताप जाना करना है कि काश, उस समय पढ लिख लिया होता। ऐसे लोगो के लिये प्रौढ शिक्षा केन्द्र पश्चाताप से मुक्ति पाने का उचित अवसर प्रदान करते हैं। यह भी ठीक है कि आज भी ऐसे लोगा की कमी नही, जो जीवन मे सफलता के लिये शिक्षा को आवश्यक मानते हो। कई बार तो स्वय पढे-लिखे लोगो को भी ऐसा कहते सुना-देखा जा सकता है। यह भी सत्य है कि अभी तक यह योजना सभी प्रौढो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नही कर पाई। सभी जगह देश के दूर दराज के भाग अभी इससे वचित ह। फिर भी एक तो सभी के समक्ष इसका महत्व उजागर होता जा रहा है और दूसरे इस योजना का काय क्षेत्र भी निरतर विस्तार पा रहा है इम सबको शुभ लक्षण ही कहा जायेगा।

हमारा देश अभी विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है। ऐसी अवस्था म उसका ध्यान और उपलब्ध साधन दोना ही बिखरे हुए हैं। ऐसी अवस्था म प्रौढ शिक्षा की ओर भी ध्यान और साधन की सम्पूण प्राप्ति सम्भव नही। इस कमी को एक तो प्रौढो की ज्ञान शिक्षाजन की अपनी प्रबल इच्छा दूर कर सकती है और समाज-सेवी, स्वयसेवी सस्थाएँ दूर कर सकती हैं। चाह हो तो फिर राह खोज ही ली जाती है। मजिल तक पहुँचने का पक्का इरादा रखने

वाले लोग साधनो की प्रतीक्षा मे बैठे नही रहा करते। हमारा देश सुख समृद्धि के लक्ष्यो तक पहुँचने के लिये जिन विकासमान दिशाओ मे अग्रसर है उन्हें सफल-साधक बनाने के लिये देश के सभी आयु वर्गों का शिक्षित होना बहुत आवश्यक है। साक्षरता अभियान के अन्तगत प्रौढ शिक्षा योजना इसी दिशा मे अग्रसर हो रही है। हम सभी का, शिक्षितो अशिक्षितो दोनो वर्गों का यह कर्तव्य हो जाता है कि हम जहाँ जिस रूप मे भी हो, इस राष्ट्र एव मानवीय हित की योजना को सफल-साधक बनाने मे अपना यथासाध्य सहयोग प्रदान करते रहे। देश के भावी नागरिको को उज्ज्वल और विकसित भविष्य देना प्रौढ शिक्षा का अन्यतम या चरम लक्ष्य है। अत इस पर उत्साहपूर्ण ढग से हमारे कदम निरन्तर आगे ही आगे बढते जाने चाहिएँ।

७७ दहेज प्रथा : एक अभिशाप

भारतीय समाज आरम्भ से ही अनेक प्रकार की रूढिवादी परम्पराओ से ग्रस्त चला आ रहा है। समय के साथ आने वाले नव जागरण और वैज्ञानिक उपलब्धियो के फलस्वरूप अनेक अनावश्यक-अवांछित रूढियाँ एव परम्पराएँ आज समाप्त हो गई या हो रही हैं, लेकिन कुछ ऐसी रूढ परम्पराएँ भी हैं जो अपनी व्यर्थता एव अमानवीयता प्रमाणित हो जाने के बाद भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निरन्तर बढ कर सघातक रोग का सा रूप धारण करती जा रही हैं। दहेज की प्रथा भी हमारे देश मे एक इसी प्रकार का सघातक रोग एव अभिशाप है। प्रत्येक व्यक्ति दहेज प्रथा को अभिशाप मानकर मौखिक स्तर पर इसके विरोध मे विचार प्रगट करता है, इस प्रथा के कारण नव वधुओ पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करता है फिर भी व्यवहार के स्तर पर सक्रिय होकर व्यक्ति इस रोग से छुटकारा पा सकने मे समर्थ नही हो पा सकता—यह कितनी बडी विडम्बना एव असमर्थता है।

आजकल कोई भी दिन ऐसा नही जाता, जहाँ दहेज के अभिशाप के कारण कहीं न कहीं किसी नव वधू के प्राण जाने का समाचार अखबारो मे न छपता हो। जीते जागते कोमल कान्त और माखन जैसे व्यक्तित्वो को जला डालना—उफ! लालच ने व्यक्ति को कितना क्रूर कितना हृदयहीन और राक्षस बना दिया है। कहीं किसी वधू पर तेल छिडक कर जलाया जा रहा है, कहीं विषपान कराया जाता है, कहीं कुए-नदी मे ढकेला जाता है और कहीं छत से

ढकेल कर एक फूल को पूर्ण विकसित होने से पहले ही मसल कर, कुचल कर समाप्त कर दिया जाता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वही रही दहेज के लोभियों द्वारा वधुओं को अनेक प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ दी जाती हैं। उनका जीवन जीते जी नरक बना दिया जाता है। यह बात नहीं कि ऐसे अनाचार और वधू हत्याएँ केवल सामान्य या आर्थिक तंगी वाले परिवारों में ही होती हैं कई बार तो सभी प्रकार से सम्पन्न परिवारों में भी होने वाली इस प्रकार की जघन्य हत्याओं के समाचार पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाया करते हैं। फिर दहेज के कारण होने वाली हत्याओं के मूल में एक और चौंका देने वाला तथ्य भी सामने आया है। यह देखने में आया है कि इस प्रकार के उत्पीड़न एवं हत्याएँ करने के मूल में औरतों—यानि बहुओं की सासों-ननदों का हाथ अधिक रहता है। इस प्रकार नारी ही नारी का शोषण और हत्या करती है या हत्या का प्रमुख कारण बनती है। सास यह भूल जाती है कि कभी वह भी किसी की बेटी और बहू थी। यह भी कि उसकी अपनी बेटी ने भी बहू बनकर पराए घर जाना है और उसके साथ भी ऐसा दुर्भाग्य घटित हो सकता है। ननद यह भूल जाती है कि वह भी पराये घर में बहू बनकर जाने वाली है और खुदा न करे कि कहीं उसके साथ भी ऐसा ही कुछ घटित हो जाए। नहीं ऐसी सोच किये बिना ही आज अधिकांशतः नारी ही नारी की शत्रु साबित हो रही है।

लालची स्वार्थी और हीन भावनाओं से ग्रस्त कई लोग अपने बेटों का विवाह इस आशा से करते हैं कि उसका जो दहेज आएगा उससे अपनी बेटी का विवाह करेंगे। ऐसा सोचते समय इस प्रवृत्ति एवं दुष्मानसिकता वाले लोग यह क्या भूल जाते हैं कि जिस प्रकार अपनी बेटी के लिए स्वयं दहेज जुटाने में वे लोग असमर्थ हैं, उसी प्रकार आने वाली बहू के माँ-बाप भी असमर्थ हो सकते हैं। नहीं, ऐसा सोचना उनके लिए गुनाह है। उनके मन में तो यह भूल समाई है कि हमें कुछ भी अपनी ओर से अपनी बेटी के लिए न जुटाना पड़े जो कुछ भी है वह दूसरे घर से आने वाली बेटी (बहू) ही लेकर आए। यह भावना और सोच नवागता वधू के प्रति ससुराल वालों को नितान्त असहिष्णु बना देती है और वह एक बहू से पिण्ड छुड़ाकर बेटा का पुनर्विवाह कर अधिकाधिक दहेज सामान पाने की लालसा से बहुओं की येन केन प्रकारेण हत्या कर डालते हैं। हवस का शिकार आदमी कितना कितना हृदयहीन हो जाया करता है यह रोंगटे खड़े कर देने वाला ब्यौरा हम लोग समाचार पत्रों में अक्सर पढ़ते रहते हैं। स्पष्ट है कि जब तक न केवल कानूनी बल्कि व्यावहारिक सामाजिक और मानसिक स्तर पर दहेज की कुप्रथा को समाप्त नहीं कर दिया जाता वधुओं की हत्या का क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा।

प्रथा या परम्परा का अर्थ तो मानवीय सहज, सदभाव-सम्मत रूचियाँ हुआ करता है। पर पता नही सभी प्रकार से कुरूचियो से भरी होने पर भी दहेज देने लेने की बात या चाल को 'प्रथा' क्यो कहा जाता है। इसे तो वास्तव मे कुप्रथा और मानवीयता के मस्तक का एक घोर कलक कहा जाना चाहिए। वस्तुत दूसरो का उगाल खाने वाले परोपजीवियों ने ही इस कुप्रथा का नाम 'प्रथा' रख दिया है। पता नही कब और किस रूप मे इस कुप्रथा का आरम्भ हुआ होगा। अपने आरम्भ काल मे सम्भव है इस कुप्रथा की कुछ उपयोगिता भी रही हो। पर जब से मानव समाज का इतिहास और उसम दहेज-दान की प्रथा का वणन मिलने लगा है, हम सभी जानते हैं कि आरम्भ से ही यह कन्या पक्ष के शोषण का एक बहुत बडा अस्त्र बनकर प्रयुक्त होता रहा है। प्राचीन साहित्य मे दहेज के कारण होने वाली बरबादियो की अनेक कहानियाँ हम आज भी पढते हैं, जबकि अपने आस पास इसके निर्मम दुष्परिणाम रोज ही दो चार होते रहते हैं। दहेज जुटाने के लिए बडे बडे समर्थों ने अपनी जमीन जायदाद, अपने घर-मकान तक गिरवी रखे या बेच दिए, ऋणग्रस्त होकर चुकाते चुकाते ही समाप्त हो गए माता पिता को दहेज दे पाने मे असमर्थ पाकर कन्याओ ने आत्महत्या कर ली, लोग कगाल होकर दर-दर ठोकरें खाने लगे, बहुएँ परित्यक्तता होकर नारकीय जीवन बिताने, वेश्या तक बन जाने को विवश हुईं—उफ! कितनी कितनी यातनाएँ नहीं सही और सहन करनी पड रही निरीह मानवता को दहेज के भूखे मनुष्यो के कारण? फिर भी हमारा समाज कहाँ चेत पाया है और कहाँ हम महामारी को जड मूल से उखाड फेंकने की दिशा मे सन्नद्ध हो सका है?

कहावत है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रग बदलता है। ठीक इसी प्रकार देखा देखी आज सामान्य विशेष सभी जन इस मारक लानत से पीडित होने को विवश हैं या कर दिये जाते है। कुछ बेटे वाले तो बेटे के जन्म से लेकर मरण तक का सारा लेखा जोखा लडकी ... वसूलने को कटिबद्ध रहते हैं। कई बार कुछ धनी एव समर्थ लोग ... अशिक्षित या अन्य प्रकार से दूषित कन्याओ के लिए ऊँची से ऊँ... ...र खरीदते देखे जाते हैं। झूठी और थोथी सामाजिक ... भी नव धु... वर्ग के विवाह पर अधिक दहेज के प्रदशन ... वस्तुत जो इस कुप्रथा ने इतना मारक रूप धारण ... धन लिप्सा इसका ... बडा ... का समाज मे अनै... पडता है। ... है। नेता दहेज के ... हैं सादगी ... सरकार दहेज ... है,

उच्च अवसर वैवाहिक प्रदर्शनो, तमाशो के अवसरो पर स्वय उपस्थित होकर उनकी शोभा तो बढाते ही हैं, इस प्रकार के अनैतिक, असामाजिक कार्य करने वालो, काला बाजारियो को परोक्ष रूप से सरक्षण भी देते हैं। ऐसे समाचार अक्सर पढने को मिलते रहते है कि अमुक नेता या मत्री ने अपने लडके-लडकी के विवाह पर लाख दस लाख नही,-करोड़ दो करोड रुपया खर्च किया। हजारो की दावत की गई। इस रूप मे जब रक्षक ही भक्षक बन रहे हो तो इस कुप्रथा का अन्त सम्भव हो ही कैसे सकता है।

सारा समाज दहेज की कुप्रथा से पीडित है, चिन्तित है, इससे छुटकारा भी चाहता है। कानून भी बनते हैं, सामाजिक दबाव भी है, फिर भी यह प्रथा फलती फूलती जा रही है, समाप्त नही हो पा रही—क्यो ? क्या उपाय है इस अभिशाप से मुक्त होने का ? कोई इसका उपाय अन्तर्जातीय विवाह को बढावा देने को बताता है कोई प्रेम विवाह की चर्चा करता है और कोई दण्डात्मक कठोर कानून बनाने का। ये सभी बातें एक सीमा तक ही ठीक हैं। क्या गारण्टी है कि अन्तर्जातीय प्रेम विवाह के लिए तैयार होने वालो के दहेज-लोभी माँ-बाप उस स्थिति मे भी दहेज-सम्बन्धी सौदेबाजी नही करेंगे ? या फिर समाज भी उन्हे स्वीकार कर ही लेगा ? कानून उन्ही का साथ देगा न कि धन-बल से कानून की धज्जियाँ उडाने मे- समर्थ लोगो का ? हमारे विचार मे पुरानी पीढी के दकियानूसी लोग किसी भी बात से डरने या पसीजने वाले नही। फिर सभी युवक-युवतियो का प्रेम-सम्बन्ध और इस प्रकार के विवाहो के लिए वातावरण भी सुलभ-सम्भव नही। ऐसी स्थिति मे मात्र एक उपाय ही इस सर्वभक्षी 'दहेज की कुप्रथा' के विरुद्ध कारगर हो सकता है। वह है युवको का विद्रोह। युवक युवतियाँ दोनो ऐसे परिवारो मे विवाह करने से साफ-स्पष्ट और आन्तरिक दढता से इन्कार कर दें जहाँ किसी भी रूप मे दहेज दिया लिया जाना हो। युवतियो से भी बढकर देश के जागरूक नवयुवको पर अधिक दायित्व जाता है। जिस दिन युवक अपने माता पिताओ से साफ कह देंगे कि वह दहेज लेकर कतई विवाह नही करेगा, उस दिन एक ही क्षण मे समस्त दहज विरोधियो की अक्ल ठिकाने लग जाएगी और एक ही दिन मे इस कुप्रथा का अन्त हो जाएगा।

प्रथा या परम्परा का अर्थ तो मानवीय सहज सदभाव-सम्मत रूचियां हुआ करता है। पर पता नही सभी प्रकार से कुरूचियो से भरी होने पर भी दहेज देने लेने की बात या चाल को 'प्रथा' क्यो कहा जाता है। इसे तो वास्तव मे कुप्रथा और मानवीयता के मस्तक का एक घोर कलक कहा जाना चाहिए। वस्तुत दूसरो का उगाल खाने वाले परोपजीवियों ने ही इस कुप्रथा का नाम 'प्रथा' रख दिया है। पता नही कब और किस रूप मे इस कुप्रथा का आरम्भ हुआ होगा। अपने आरम्भ काल मे सम्भव है इस कुप्रथा की कुछ उपयोगिता भी रही हो। पर जब से मानव समाज का इतिहास और उसम दहज दान का प्रथा का वणन मिलने लगा है, हम सभी जानते हैं कि आरम्भ से ही यह कन्या पक्ष के शोषण का एक बहुत बडा अस्त्र बनकर प्रयुक्त होता रहा है। प्राचीन साहित्य मे दहेज के कारण होने वाली बरबादियो की अनेक कहानिया हम आज भी पढते हैं, जबकि अपने आस पास इसके निर्मम दुष्परिणाम रोज ही दो चार होते रहते हैं। दहेज जुटाने के लिए बडे बडे समर्थों ने अपनी जमीन जायदाद, अपने घर-मकान तक गिरवी रखे या बेच दिए, ऋणग्रस्त होकर चुकाते-चुकाते ही समाप्त हो गए, माता पिता को दहेज दे पाने मे असमर्थ पाकर कन्याओ ने आत्महत्या कर ली, लोग कगाल होकर दर-दर ठोकरें खाने लगे, बहुएँ परित्यक्तता होकर नारकीय जीवन बिताने, वेश्या तक बन जान को विवश हुईं—उफ! कितनी कितनी यातनाएँ नही सही और सहन करनी पड रही निरीह मानवता को दहेज के भूखे मनुष्यों के कारण? फिर भी हमारा समाज कहाँ चेत पाया है और कहाँ हम महामारी को जड मूल से उखाड फेंकने की दिशा मे सन्नद्ध हो सका है?

कहावत है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रग बदलता है। ठीक इसी प्रकार देखा देखी आज सामान्य विशेष सभी जन इस मारक लानत से पीडित होने को विवश हैं या कर दिये जाते है। कुछ बेटे वाले तो बेटे के जन्म से लेकर मरण तक का सारा लेखा जोखा लडकी वालो से वसूलने को कटिबद्ध रहते हैं। कई बार कुछ धनी एव समथ लोग अपनी कुरूप, अशिक्षित या अन्य प्रकार से दूषित कन्याओ के लिए ऊँची से ऊँची बोली देकर वर खरीदते भी देखे जाते हैं। झूठी और थोथी सामाजिक प्रतिष्ठा का मोह भी नव धनाढय वग के विवाह पर अधिक दहेज के प्रदशन को बाध्य करता है। वस्तुत आज जो इस कुप्रथा ने इतना मारक रूप धारण कर लिया है, नव धनाढय वग की धन लिप्सा इसका एक बहुत बडा कारण है। उनके प्रदर्शन का प्रभाव समाज के अन्य वर्गों पर भी पडता है। यह भी एक दुखद स्थिति है कि जो नेता दहेज के खिलाफ भाषण देते हैं सादगी अपनाने की बात कहते हैं, जो सरकार दहेज विरोधी कानून बनाती है, वही सब और उसी के मत्री और

उच्च अवसर वैवाहिक प्रदर्शनों, तमाशों के अवसरों पर स्वयं उपस्थित होकर उनकी शोभा तो बढ़ाते ही हैं, इस प्रकार वे अनैतिक, असामाजिक ाय करने वालों, काला बाजारियों को परोक्ष रूप से संरक्षण भी देते हैं। ऐसे समाचार अवसर पढ़ने को मिलते रहते हैं कि अमुक नेता या मंत्री ने अपने लड़के-लड़की के विवाह पर लाख दस लाख नहीं, करोड़ दो करोड़ रुपया खर्च किया। हजारों की दावत की गई। इस रूप में जब रक्षक ही भक्षक बन रहे हों तो इस कुप्रथा का अन्त सम्भव हो ही कैसे सकता है।

सारा समाज दहेज की कुप्रथा से पीड़ित है, चिन्तित है, इससे छुटकारा भी चाहता है। कानून भी बनते हैं, सामाजिक दबाव भी है, फिर भी यह प्रथा फलती फूलती जा रही है, समाप्त नहीं हो पा रही—क्यों ? क्या उपाय है इस अभिशाप से मुक्त होने का ? कोई इसका उपाय अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा देने को बताता है कोई प्रेम विवाह की चर्चा करता है और कोई दण्डात्मक कठोर कानून बनाने का। ये सभी बातें एक सीमा तक ही ठीक हैं। क्या गारण्टी है कि अन्तर्जातीय प्रेम विवाह के लिए तैयार होने वालों के दहेज-लोभी माँ-बाप उस स्थिति में भी दहेज-सम्बन्धी सौदेबाजी नहीं करेंगे ? या फिर समाज भी उन्हें स्वीकार कर ही लेगा ? कानून उन्हीं का साथ देगा न कि धन-बल से कानून की धज्जियाँ उड़ाने में समर्थ लोगों का ? हमारे विचार में पुरानी पीढ़ी के दकियानूसी लोग किसी भी बात से डरने या पसीजने वाले नहीं। फिर सभी युवक-युवतियों को प्रेम-सम्बन्ध और इस प्रकार के विवाहों के लिए वातावरण भी सुलभ सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में मात्र एक उपाय ही इस सर्वभक्षी दहेज की कुप्रथा के विरुद्ध कारगर हो सकता है। वह है युवकों का विद्रोह। युवक-युवतियाँ दोनों ऐसे परिवारों में विवाह करने से साफ-स्पष्ट और आन्तरिक दृढ़ता से इन्कार कर दें जहाँ किसी भी रूप में दहेज दिया लिया जाता हो। युवतियों से भी बढ़कर देश के जागरूक नवयुवकों पर अधिक दायित्व जाता है। जिस दिन युवक अपने माता पिताओं से साफ कह देंगे कि वह दहेज लेकर कतई विवाह नहीं करेगा, उस दिन एक ही क्षण में समस्त दहेज विरोधियों की अकल ठिकाने लग जाएगी और एक ही दिन में इस कुप्रथा का अन्त हो जाएगा।

७८ भारत इक्कीसवीं सदी की ओर

विभिन्न देशों में काल गणना के विभिन्न आधार हैं। भारत में काल गणना के आधार हैं—शक संवत् विक्रमी संवत, हिजरी संवत और ईस्वी सन् ईस्वी सन् भारत का नहीं विश्व भर में काल गणना का सर्वप्रमुख आधार है। अतः जब हम 21 वीं सदी में प्रवेश की बात करते हैं तो इसका अभिप्राय है ईसा के जन्म के 2000 वर्ष बाद का समय अर्थात् आज से लगभग 12 वर्ष बाद का समय।

आजकल हमारे देश में 21 वीं सदी में प्रवेश की बहुत चर्चा है। जब से भारत के वर्तमान प्रधानमन्त्री ने 21 वीं सदी की चर्चा शुरू की है तब से वह विद्वानों, वैज्ञानिकों देश के कर्णधारों के बीच चर्चा का प्रमुख विषय बन गया है। श्री राजीव गांधी के इस विचार के पीछे उनका राजनैतिक चिन्तन भी हो सकता है, आर्थिक और औद्योगिक नीतियां भी हो सकती हैं, भविष्य के सुनहरे सपने और उन्हें पूरा करने की दिशा में प्रयत्नों की बात भी हो सकती है और भारतीय जनता में क्रान्तिकारी प्रगति के लिए उत्साह, उमंग और लगन पैदा करने की भावना भी हो सकती है।

भाव कुछ भी हो, सत्य यह है कि यह प्रगति की चाल तेज करना चाहते हैं उन बंधनों को तोडना और बाधाओं को दूर करना चाहते हैं जिनके कारण प्रगति कछुए की चाल से चल रही है, उन समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो सुरक्षा की तरह मुंह बाये खडी हैं और योजना बनाने वालों से उनका आग्रह है कि वे इस प्रकार समयबद्ध योजनाएं बनाएं जो केवल कागज पर न रहकर कार्यान्वित हो सकें जिनका फल गरीब से गरीब तक पहुंचे और फलस्वरूप निकट भविष्य में भारत विश्व में विकसित देशों की बराबरी करने लगे।

स्पष्ट है कि हम उन समस्याओं पर विचार करें उन बाधाओं को पहचानें, उन कारणों से अवगत हों जो हमारी प्रगति के मार्ग में बाधक हैं या जिनके कारण प्रगति की गति धीमी है।

आज का युग विज्ञान और तकनीक का युग है। इस क्षेत्र में जो प्रगति कर , वही विश्व मंच पर सम्मानित स्थान प्राप्त कर सकेगा। भारत के पास

प्राकृतिक समाधान तो पर्याप्त हैं पर उनका पता लगाने और फिर उनका उपयोग करने के लिए जो साधन चाहिए, जितने और जिस कोटि के वैज्ञानिक चाहिए, जिस प्रकार की प्रयोगशालाएं और सयन्त्र चाहिए वे नहीं हैं। सीमित साधनों के होते हुए भी हमने विश्व में अपनी पहचान बनायी तो है। हम अन्तरिक्ष युग में प्रवेश कर चुके हैं। राकेश शर्मा ने भारतीय अन्तरिक्ष युग के रूप में अपनी पहचान बना ली है, रोहिणी आदि उपग्रह भी आकाश में चक्कर लगा रहे हैं, अन्य उपग्रहों से भी हमें जलवायु, भूमि के गर्भ में छिपे खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में समय समय पर सूचनाएं प्राप्त होती रहती हैं। अणुशक्ति के क्षेत्र में हमने पोखरन में अणु विस्फोट करके कई वर्ष पहले यह प्रमाणित कर दिया कि हम अणुशक्ति का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों की दिशा में काफी आगे बढ़ आये हैं। देश में पहले से ही आणविक ऊर्जा सयन्त्र काम कर रहे हैं, कुछ और ताप बिजली घर बनाने की दिशा में भी तेजी से काम चल रहा है। अतः भारत की गणना विश्व की आणविक शक्ति सम्पन्न देशों में होने लगी है। भारत ने कम्प्यूटर युग में भी प्रवेश कर लिया है। बैंकों, चिकित्सा के क्षेत्र कार्यालयों तथा वैज्ञानिक अनुसंधान केन्द्रों में सयन्त्र कम्प्यूटर का प्रयोग हो रहा है और उसके लाभ प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहे हैं।

औद्योगीकरण, यातायात परिवहन आदि के क्षेत्रों में द्रुत गति से विकास के कारण ऊर्जा का महत्त्व स्वयं स्पष्ट है। ऊर्जा के विभिन्न स्रोत हैं—कोयला, बिजली पेट्रोल, डीजल, मिट्टी का तेल गैस, बायो गैस और सूर्य। बिजली के प्रकार हैं—ताप बिजली आणविक बिजली पन बिजली और सौर बिजली। भारत में सर्वाधिक बिजली ताप विद्युत गृहों (थर्मल पावर स्टेशनों) से प्राप्त होती है। ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों के विकास का कार्यक्रम भारत में 1900 ई० में प्रारम्भ हुआ था। भारत में पहले पनबिजली ही अस्तित्व में आई। पहला पन बिजली स्टेशन शिवसमुद्र में स्थापित किया गया। तब से विशेषतः स्वतन्त्रता के बाद से ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों का विकास कर दिन प्रतिदिन अधिक से अधिक ऊर्जा प्राप्त करने के प्रयास हो रहे हैं। 1947 तक ऊर्जा की उत्पादन-क्षमता केवल 1= लाख किलोवाट थी आज वह 466 लाख किलोवाट है। बिजली का उत्पादन बढ़ाने के लिए सरकार ने दो निगम स्थापित किये नेशनल थर्मल पावर कारपोरेशन तथा नेशनल हाइड्रो इलेक्ट्रिक पावर कारपोरेशन इनसे भी पूर्व दामोदर घाटी निगम की स्थापना की गयी

थी। इधर की ओर ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की स्थापना हुई है। ये चारों निगम अधिकाधिक ऊर्जा उत्पन्न करने की दिशा मे सतत् काय कर रहे हैं। पेट्रोल, मिट्टी का तेल, गैस आदि का उत्पाद बढ़ाने के लिए आइल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन की स्थापना 1956 ई० मे की गयी जिसका मुख्य कार्यालय उत्तर प्रदेश मे है। दक्षिण भारत मे ऊर्जा की कमी को पूरा करने के लिए नेवेली लिगनाइट निगम स्थापित किया गया। दूसरा ताप सयन्त्र बनने के बाद इसकी क्षमता 600 मेगावाट से 2 00 मेगावाट हो जाएगी। ओ एन जी सी ने देश के अनेक भागो मे अनुसंधान सस्थान खोले है और आशा है उनमे किये गये कार्यों से इस दिशा में और प्रगति होगी। बिजली के वितरण के लिए पिछले तीन दशकों में बड़े पैमाने पर ट्रांसमिशन लाइनो का विस्तार किया गया है। जहां 1950 में वह 10,00० (सर्किट) किलोमीटर था, 1980 मे वह 1 15,000 कि मी हो गया है इसी प्रकार तेल पेट्रोल और गैस पहुंचाने के लिए पाइप-लाइनों का जाल बिछाया गया है जिनमे प्रमुख हैं (क) कोयली से महमदाबाद तक (ख) नहोरकटिया से गोहाटी और बरौनी तक (ग) बरौनी से कानपुर तक तथा, (घ) सलाया से वरियगाव होती हुई मथुरा तक कच्चे तेल के उत्पाद मे वृद्धि होने के साथ साथ प्राकृतिक गैस का उत्पादन भी बढ़ा है। अब वह प्रति वर्ष 450 करोड़ क्यूबिक मीटर से अधिक पहुंच गया है। अनेक तेल शोधक कारखाने खुलने, समुद्र तट से तेल निकाले जाने के कारण भी तेल और गैस की मात्रा बढ़ी है। छठी योजना के पहले वर्ष में कच्चे तेल का उत्पादन 1 करोड़ टन था, उसके पाचवे वर्ष के अन्त मे वह तिगुना हो गया है। इस वर्ष सबसे अधिक तेल उत्पादन का श्रेय कोयाली तेल शोधक कारखाने को है।

कोयला खानो मे उत्पादन बढ़ाने तथा कोयला मजदूरों की सुरक्षा के लिए विविध प्रयत्न किये जा रहे हैं। भारत की सबसे बड़ी भूमिगत कोयला खान जिसको अद्यतन उपकरणों और मशीनों से सुसज्जित किया गया है वह है मुनिदिह कोयला खान। 1774 ई० से जब कोयला खानों से कोयला निकालने का काम शुरू हुआ, तब से आज कोयले का उत्पादन कई सौ गुना बढ़ गया है।

ऊर्जा के नवीनतम प्रकार हैं बायो गैस तथा सौर ऊर्जा। बायो गैस गांवों के लिए बड़ी उपयोगी है क्योंकि पशु-पालन से जो गोबर प्राप्त होता है उसका ही लाभकर उपयोग किया जाता है। उससे आसानी से खाना पकाया

जाता है घरों और सड़कों पर बिजली का प्रकाश होता है, उससे बढ़िया खाद मिलता है। सौर ऊर्जा भारत के लिए वरदान सिद्ध होगी क्योंकि देश के अधिकांश भागों में और वर्ष के ४ महीने सूर्य यहां खूब चमकता है। हां, इस दिशा में अनुसंधान कर उसे सस्ती बनाने की आवश्यकता है और यदि यह कार्य हो गया तो निश्चय ही हम 21 शताब्दी में पहुंच जाएंगे।

देश के उद्योग उसकी आर्थिक व्यवस्था की रीढ़ होते हैं। आधुनिक युग में जिस देश के उद्योग जितने अधिक उन्नत होंगे, उनका उत्पादन जितना अधिक होगा उतनी ही उनकी वित्तीय स्थिति सुदृढ़ होगी और उसके कारण विश्व में उनका उतना ही अधिक वर्चस्व होगा। भारत में औद्योगीकरण का शुभारम्भ अंग्रेजों के आगमन के बाद हुआ। यहां सबसे पहले सन् 1818 में बड़े पैमाने पर सूती कपड़ा मिल खोली गयी और 1859 में कलकत्ते के पास जूट मिल स्थापित की गयी। जो भारत पहले सुई तक विदेशों से आयात करता था अब तरह-तरह की चीजों का स्वयं निर्माण करता है, कुछ का निर्यात भी पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशों की सहायता से भारी उद्योग स्थापित करने के बाद से देश द्रुत गति से औद्योगिक विकास के पथ पर चल रहा है। उद्योगों के लिए सबसे अधिक आवश्यक होता है लोहा और इस्पात। प० जवाहरलाल नेहरू ने यही सोचकर सबसे पहले इन्हीं के उत्पादन पर बल दिया। यद्यपि इस क्षेत्र में पहला कारखाना 1870 ई० में कुल्टी में खोला गया था पर वस्तुतः बड़े पैमाने पर लोहा इस्पात का उत्पादन पहले टाटा कम्पनी ने और स्वतन्त्रता के बाद विदेशी सहायता से स्थापित भिलाई, राउरकेला, दुर्गापुर, भद्रावती, बोकारो की फैक्ट्रियों के चलने से हुआ। लोहा-इस्पात के उत्पादन, वितरण आदि का कार्य स्टील अथॉरिटी आफ इंडिया देखती है जिसकी पूंजी 4000 करोड़ रुपये से अधिक है, यद्यपि इस समय राष्ट्रीय कृत मिलें घाटे पर चल रही हैं पर शीघ्र ही स्थिति सुधर जायेगी। चौथी पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में तीन इस्पात संयत्र कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में लगाये गये। रांची स्थित हैवी इंजीनियरी कार्पोरेशन लोहे और इस्पात की विभिन्न भारी मशीनें और संयत्र बना रहा है जिनमें बिजली के उपकरण रेल के डिब्बे, जहाज, मछली पकड़ने की नौकाएं मुख्य हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र में देश ने पर्याप्त प्रगति की है और इसके आधार पर ही देश इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने का स्वप्न साकार कर सकेगा।

खेती में अधिक उत्पादन के लिए अब रासायनिक खाद अनिवार्य है। इस दिशा में भी 1951 में बिहार में सिंदरी में पहला सार्वजनिक क्षेत्र में खोला गया कारखाना तो कार्य कर ही रहा है अन्य स्थानों पर भी कारखाने खोले गये हैं जिसके फलस्वरूप आज नाइट्रोजन जो रासायनिक खाद बनाने के लिए महत्वपूर्ण तत्व है, का उत्पादन 19 1-52 में 80,000 टन से बढ़कर 67 लाख टन से अधिक हो गया है सीमेंट का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र में सीमेंट कार्पोरेशन की देख-रेख में हो रहा है। उत्तर प्रदेश को छोड़कर सभी प्रदेशों में इसने सीमेंट फैक्ट्री खोली हैं और उनका उत्पादन प्रति वर्ष बढ़ रहा है।

आज पेट्रो-रसायन उद्योग का महत्व भी कम नहीं है क्योंकि उसमें निर्मित वस्तुएं प्लास्टिक आदि परम्परागत काम में लायी जाने वाली वस्तुओं—लकड़ी धातुओं शीशा आदि का स्थानापन्न होती जा रही हैं। प्लास्टिक के प्रयोग ने विभिन्न क्षेत्रों में क्रांति ला दी है। उसके अनगिनत लाभ और प्रयोग के तरीके हैं। 1978 में इंडियन पेट्रो कैमिकल्स लिमिटेड की स्थापना के बाद से इस उद्योग ने पर्याप्त विकास किया है।

कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए जिस प्रकार रासायनिक खाद उपयोगी हैं उसी प्रकार कीट-नाशक दवाइयां भी क्योंकि फसल में लगी विभिन्न बीमारियों से उपज कम होती है और उन बीमारियों का कारण होते हैं विभिन्न प्रकार के कीड़े। कीट-नाशक दवाइयों के प्रयोग से सजग रहते ही इन बीमारियों से बचा जा सकता है उपज को कम होने से बचाया जा सकता है। हिंदुस्तान इन्सेक्टीसाइड लिमिटेड ने, जिसकी स्थापना 1954 में हुई थी, डी डी टी मैलाथियॉन, बी एच सी आदि का उत्पादन कर किसानों की सहायता कर रहा है।

स्टेनलेस स्टील का उपयोग उद्योगों तथा घरेलू जीवन दोनों में होता है। उसके प्रयोग से सुख-सुविधायें बढ़ती हैं और वातावरण अधिक स्वच्छ हो जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित सलेम स्टील संयत्र इस दिशा में उपयोगी काम कर रहा है—स्टेनलेस स्टील की चादरें तथा तार दोनों का उत्पादन बढ़ रहा है। इसी प्रकार चीनी उद्योग में अभूतपूर्व विकास हुआ है स्वतन्त्रता के बाद से तीन प्रकार की चीनी मिलें चीनी के उत्पादन में सहयोग

दे रही हैं - सहयोगी क्षेत्र की कम्पनियाँ निजी क्षेत्र की मिलें तथा सार्वजनिक क्षेत्र की मिलें। इन सबमें पुरानी मशीनों और तकनीक के स्थान पर नयी मशीनें लगाकर तथा नयी तकनीक का प्रयोग कर उत्पादन बढ़ रहा है जिसके परिणामस्वरूप किसानों तथा उपभोक्ताओं दोनों को लाभ हो रहा है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देश ने पिछले 40 41 वर्षों में अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति तो की है और वह अविकसित देश से विकासशील देश बन गया है। हमारा स्वप्न है कि वह 21वीं सदी में प्रवेश करते समय विकसित देशों की श्रेणी में आ जाय पर यह स्वप्न तभी साकार हो सकता है जब देश में शान्ति रहे, राजनीतिक स्थिरता हो, भ्रष्टाचार समाप्त हो जिसके कारण योजनायें अधूरी रह जाती हैं या काम निराशाजनक होता है (भवन बनते ही दरारों के कारण निवास-योग्य नहीं रहते पुल दो चार वर्ष बाद टूटने लगते हैं, सड़कें केवल कागज पर बनती हैं या बनकर शीघ्र ही टूट जाती हैं), धन राशि योजना पर खर्च हो, प्रबन्ध, कार्यालयीय कार्यवाही आदि पर कम से कम खर्च किया जाय और सबसे बड़ी बाधा है जनसंख्या विस्फोट। 1981 में देश की जनसंख्या 70 करोड़ थी। यदि जनसंख्या इसी अनुपात से बढ़ती रही तो वर्ष 2000 ई० में वह 105 करोड़ हो जायगी। अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में देश में क्या होगा—भुखमरी, बेरोजगारी, सभी आवश्यक वस्तुओं का अभाव और उससे उत्पन्न असन्तोष के कारण अराजकता अव्यवस्था हिंसा और रक्तपात। वह 21वीं शताब्दी का सुनहरा दिन न होकर, प्राचीन बर्बरता की ओर लौटने की बेला होगी। भगवान रक्षा करे।



७९ पंजाब समस्या और आतंकवाद

भारत की सुरक्षा और अखण्डता की दृष्टि से पंजाब का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भौगोलिक दृष्टि से यह आक्रान्ताओं के लिए भारत का प्रवेशद्वार है। कृषि उत्पादन की दृष्टि से यह भारत का अनाज भंडार कहलाता है। अतः आवश्यक है कि यहां शान्ति और सुव्यवस्था बनी रहे, आर्थिक और औद्योगिक प्रगति की गति सुचारु रहे। कुछ समय पूर्व तक पंजाब एक अत्यन्त समृद्ध, सम्पन्न और प्रगतिशील प्रदेश था। यहाँ पूर्ण भाईचारा सौहार्द और शान्ति पूर्ण वातावरण था। स्वतन्त्रता और देश विभाजन के समय जब हजारों-लाखों की संख्या में पाकिस्तान के मुसलमानों द्वारा संत्रस्त हिन्दू सिक्ख शरणार्थी यहाँ आये तो समान रूप से पीड़ित, सताये गये और अभावग्रस्त दोनों जातियों के लोगों के बीच मित्रता और सहयोग के भाव होना स्वाभाविक था। वैसे भी दोनों के रीति रिवाज, रहन सहन त्योहार, खान-पान, वेशभूषा संस्कृति एक रही है। धार्मिक क्षेत्र में भी दोनों में बहुत समानता है। सिक्खों के धर्मग्रन्थ 'गुरुग्रन्थ साहब' में अनेक हिन्दू सन्तों की वाणी संकलित है।

आतंकवाद अलगाववाद से जुड़ा है और पंजाब में अलगाववाद की प्रवृत्ति के विष-बीज बोने का दायित्व अंग्रेज शासन पर है। ब्रिटिश शासकों ने 'फूट डालो और राज करो' की कूटनीति अपनाते हुए हिन्दुओं और सिक्खों में बहुत पहले फूट डालने का प्रयत्न किया था। कभी केशधारी हिन्दुओं को सहजधारी हिन्दुओं से अलग करने की चेष्टा की गयी कभी सेना में एक अलग रेजिमेंट 'सिक्ख रेजिमेंट' की स्थापना की गयी, भाई कान्ह सिंह जैसे लोगों से 'हम हिन्दू नहीं हैं' जैसी पुस्तकें लिखवा कर दोनों जातियों के बीच भेदभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया, सिंह सभा जैसे संगठनों ने विष वमन कर हिन्दुओं के मन में वैमनस्य जगाया। पर्व और त्योहार मनाने की भिन्न पद्धति, विवाह-पद्धति, आनन्द मैरिज एक्ट जैसे कार्यों द्वारा यह वैमनस्य बढ़ाया गया। गुरुद्वारों से हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियाँ हटायी गयीं। इस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में दोनों को अलग करने के अनेक प्रयत्न किये गये पर बहुत सफल नहीं हुए। स्वतन्त्रता के समय दोनों का रक्त एक साथ बहा एक दूसरे के और अधिक निकट आ गयीं।

1983 से पूर्व वहाँ राजनीतिक सुस्थिरता थी, चाहे अकाली दल सत्ता में रहा हो चाहे कांग्रेस, चाहे मिली जुली सरकार बनी हो पंजाब शांत था, प्रगति के मार्ग पर चल रहा था, विभिन्न वर्गों के बीच सौमनस्य था। 1983 के बाद वहाँ की राजनीति में मोड़ आया। स्थिति बिगड़ने के कारण तो कई थे परन्तु मुख्य कारण थे—(क) अकाली दल में फूट और उग्रवादियों का बढ़ता प्रभाव, (ख) कांग्रेस की सत्ता हथियाने की नीति और एक गुट को दूसरे गुट से भिड़ाने की चाल, (ग) हरियाणा और पंजाब के बीच चंडीगढ़, हिन्दी भाषी क्षेत्रों—अबोहर और फाजिल्का आदि को लेकर विवाद, जल-बटवारा आदि। पंजाबी और हिन्दी का संघर्ष तथा गुरमुखी लिपि भी समस्या को उलझाने के लिए उत्तरदायी रही।

अकाली दल में फूट भी पंजाब समस्या के समाधान में बाधा रही है। सत्ता के लोभी नेता अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए दोनों दलों में मेल नहीं होने देते और भारत सरकार के लिए कठिनाई होती है कि वह किस दल को सिक्खों का प्रवक्ता माने और किससे बातचीत कर समझौते का मार्ग खोजे। नरम पन्थी चाहते हैं कि समस्या का समाधान हो जाय तो उनके नेतृत्व में सरकार बने, उग्रवादी अपनी शर्तें मनवाकर सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हीं के कारण आनन्द साहब प्रस्ताव पारित हुआ जिसे भारत सरकार राष्ट्र विरोधी मानती है। कालान्तर में खालिस्तान का नारा लगाया गया और खालिस्तान की मांग ने जोर पकड़ा।

अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर सिक्खों का पावन पूजा स्थल और तीर्थ स्थान है। सभी वहाँ पूजा अर्चना अरदास करने मत्था टेकने और पवित्र सरोवर में स्नान करने का पुण्य लूटने आते हैं। परन्तु भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और उग्र आतंकवादियों ने उसे मन्दिर की जगह अपराधियों हत्यारों और नृशंस क्रूर काम करने वालों के लिए सुरक्षित मठ और शस्त्रागार बना दिया। अन्य गुरुद्वारों में भी यही स्थिति पैदा कर दी गयी। वे अपराधियों के शरण स्थल बन गये, हत्यारे हत्या करने या डाका डालने के बाद वहाँ शरण पाते और पुन अवसर मिलने पर जघन्य कार्य करने निकल पड़ते। इस स्थिति को कब तक सहन किया जा सकता था। जब पानी सिर से ऊपर चढ़ने लगा तो तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 1984 में आपरेशन ब्लू स्टार का आदेश दिया। इस अभियान ने सिद्ध कर दिया कि पूजा-स्थल को

सुदृढ़ किला बना दिया गया था, युद्ध के लिए पूरी तैयारियाँ की गयी थीं और उसके कमरे तथा तहखाने भ्रष्टाचार के अड्डे बन गए थे। खैर, अभियान सफल हुआ, भिंडरवाले और उसके साथी मौत के घाट उतार दिये गये और लगा कि अब आतंकवाद का सिर कुचल दिया गया है, अब भविष्य में आतंकवादी गतिविधियाँ न होंगी।

परन्तु इस आशा पर शीघ्र ही तुषारपात हो गया। अक्टूबर 1984 में प्रधानमन्त्री के रक्षकों ने ही उनकी उनके निवास स्थान पर नृशंस हत्या कर दी। इसकी प्रतिक्रिया में क्रोध और प्रतिहिंसा की आग में जलते विवेकहीन हिन्दुओं ने दिल्ली कानपुर आदि विभिन्न स्थलों पर सिक्खों की निमम हत्या की उनकी सम्पत्ति को लूटा और जो भीषण घटनाएं घटीं उन्होंने पुन एक बार विभाजन के समय का लोमहर्षक दृश्य उपस्थित कर दिया। इससे अलगाववाद और बढ़ा। देश के विभिन्न भागों से विस्थापित सिक्ख जब पंजाब पहुंचे और उन्होंने अपनी दारुण कष्ट-कथा सुनाई तो स्थिति और बिगड़ गई, प्रतिहिंसा की आग और भड़की।

वर्तमान प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने सत्ता सम्भालने के तुरन्त बाद इस समस्या को सुलझाने के प्रयास किये जिसके परिणामस्वरूप श्री हरिचन्द्र लोंगोवाल के साथ समझौता हुआ और लगा कि गतिरोध समाप्त हो गया है, पंजाब में पुन शान्ति लौटेगी इस समझौते में निश्चय किया गया कि चंडीगढ़ पंजाब को दिया जायगा, पंजाब के हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा को दिए जाएंगे। आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव सरकारिया आयोग को विचारार्थ सुपुर्द कर दिया जायगा और पंजाब के हिन्दी भाषी क्षेत्रों का निर्धारण गांव को इकाई मानकर भाषा के आधार पर किया जाएगा। जल के बटवारे का समाधान भी एक न्यायाधिकरण करेगा।

मई 1987 में राष्ट्रपति शासन स्थापित होने के बाद भी आतंकवाद कम नहीं हुआ। सरकार ने कड़े उपाय अपनाए, अनेक आतंकवादी गिरफ्तार किये गये कुछ मारे भी गये पर निरपराध लोगों की हत्यायें जारी रहीं, बसों को रोककर हिन्दुओं को चुन चुन कर गोली का शिकार बनाया गया, डाके पड़ते रहे और स्वर्णमन्दिर पर पुन आतंकवादियों का अधिकार हो गया। जब स्थिति भयावह हो उठी तो पुन आपरेशन ब्लू स्टार की आवृत्ति 9 मई 1988 को आपरेशन ब्लैक थंडर' के रूप में हुई। दस दिन की घेराबन्दी

के बाद 18 मई को स्वर्ण मन्दिर परिसर में रहने वाले सभी आतंकवादियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। दो आतंकवादियों ने आत्म हत्या कर ली। सुरक्षा दलों ने ऐसी कुशलता, धैर्य और सूझ बूझ से काम लिया कि हताहतों की संख्या बहुत कम रही। ब्लू स्टार की तुलना में ब्लैक थंडर आपरेशन अधिक सफल रहा।

ऐसा लगता है कि पंजाब की समस्या शक्ति प्रयोग, प्रतिहिंसा और दमन से हल नहीं हो सकती। उसको रोकने के मार्ग में बाधक कठिनाइयों पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि मुख्य बाधायें हैं—1 सिक्ख समाज, कारण कुछ भी हो खुलकर आतंकवाद का विरोध नहीं कर रहा है। 2 अकाली दल में फूट है और एक वर्ग की सहानुभूति निश्चित रूप से आतंकवादियों के साथ है। अनेक नेता, पदाधिकारी, पुलिस-कर्मी आतंकवाद का लुके छिपे और कभी खुले आम जैन आतंकवादी के मरने के बाद उसके भोग में सम्मिलित होकर उसका समर्थन करते हैं। गुरुद्वारों में खालिस्तान के नारे लगाना, खालिस्तानी झंडे को लहराना, भारत के राष्ट्रीय ध्वज का अपमान करना या संविधान की प्रतियाँ जलाना और क्या है? 3 अकाली दल में कोई ऐसा सक्षम व सन्तु स्वभाव वाला नेता नहीं है जिसका सिक्खों के सभी वर्गों पर प्रभाव हो और जिसके साथ बातचीत कर समझौता हो सके। 4 आतंकवादी युवक हत्या को वीरता समझते हैं और खून खराबा करते लड़ते मरने को बलिदान मानते हैं। ऐसी मानसिकता में गृह युद्ध ही पनपता है। फिर भी हताश होने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी समस्या स्थाई नहीं होती, एक न एक दिन अवश्य सुलझती है। अतः धैर्य रखकर निम्नलिखित उपाय किये जायें तो देर सवेर यह प्रश्न भी हल हो जायगा—

1 धर्म को राजनीति से न जोड़ा जाय, धार्मिक भावनाओं को राजनीतिक स्वार्थों के लिए न भड़काया जाय। धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग न हो।

2 क्षेत्रीयता और संकीर्णता की भावना से ऊपर उठकर देश को एक और अखण्ड मानकर काम करने की भावना में ही सिक्खों का हित है, यह बात उनके दिमाग में बैठायी जाय।

3 सिक्ख विगत को भूलकर भविष्य निर्माण की ओर ध्यान दें।

4 आतंकवादियों को समझाया जाय कि पाकिस्तान सदा से भारत और सिक्खों का शत्रु रहा है। उसके हाथों में खेलना भयंकर

क्योंकि वह अवसर मिलते ही पुन सिक्खों को सतायेगा। इस समय केवल भारत को नीचा दिखाने के लिए, उसे दुर्बल और अस्थिर बनाने के लिए वह सिक्खों के प्रति खोखली मैत्री दिखा रहा है।

5 अधिकांश युवक आतंकवाद के मार्ग पर इसलिए चल रहे हैं क्योंकि वे बेरोजगार हैं करने को उनके पास कुछ नहीं है और आतंकवादी बनने पर उन्हें पैसा मिलता है। इसे रोकने के लिए पंजाब में नए उद्योग, नई योजनाएं आरम्भ की जायें।

6 चुनाव कराये जायें और जो भी दल जीते, उसे सत्ता सौंपकर भ्रम और अविश्वास का वातावरण दूर किया जाय।

आज की विस्फोटक स्थिति में आशा की किरण यही है कि पंजाब का सामान्य जनसमूह इन बातों को धीरे धीरे समझ रहा है उसमें सह अस्तित्व का भाव और आतंकवाद के प्रति घृणा आवेश की भावना जाग रही है। गाँवों में आज भी दोनों वर्ग के लोग मित्रता भाईचारे और सहयोग की भावना से साथ साथ रह रहे हैं। अत यदि विवेक, दूरदर्शिता और धैर्य से काम लिया गया तो पंजाब की समस्या सुलझेगी और उसके साथ ही वहां आतंकवाद समाप्त हो जायगा।

भरसक प्रयत्नों के बाद भी जब स्थिति नहीं सुधरी तो 11 मई 1988 से पुन 6 मास के लिए पंजाब में राष्ट्रपति शासन बढा दिया गया। मई 26-27 1988 को राष्ट्रपति ने दो अध्यादेश जारी किये जिनके अधीन धार्मिक स्थलों के गलत उपयोग और गैरकानूनी हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगाया भारत के प्रति घृणा फैलाने और खालिस्तान के समर्थन में प्रचार करते रहते हैं। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा आदि देशों में बसने वाले सम्पन्न सिक्खों के मन इतने विकृत और विषाक्त कर दिये गए हैं कि वहाँ भी खालिस्तान के समर्थन में विभिन्न संगठन बन गये हैं और वे खुले छिपे भारत स्थित आतंकवादियों का समर्थन ही नहीं करते उन्हें आर्थिक सहायता भी देते हैं अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित भी करते रहते हैं। कनिष्क विमान दुर्घटना यदि बर्बरता का ज्वलन्त उदाहरण है तो ननकाना साहेब में सिक्खों का विश्व सम्मेलन और वहाँ दिये गये भाषण तथा अन्य भड़काने वाली कार्यवाही अन्तर्राष्ट्रीय षडयन्त्र

की ओर संकेत करती हैं। हिंदू सिक्खों के बीच खाई उत्पन्न करने का पाकिस्तान का षड्यन्त्र स्पष्ट है। तस्करों द्वारा आतंकवादियों को हथियार भेजने के कई प्रमाण मिल चुके हैं। सिक्ख वेष में पाकिस्तानी घुसपैठियों के सीमा पर पकड़े जाने तथा पाकिस्तानी हथियारों के पकड़े जाने से स्पष्ट हो गया है कि पाकिस्तान आतंकवादियों को सहायता देकर भारत में अस्थिरता पैदा करना चाहता है।

---

८० देवनागरी लिपि के गुण-दोष

'लिपि' का अर्थ होता है भाषा को लिखने का ढंग और उसकी ध्वनियों का अक्षर-वर्णात्मक स्वरूप। भारत में इस समय की राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरी घोषित हो चुकी है और संविधान लागू करते समय यह घोषणा की गई थी कि पन्द्रह वर्ष के पश्चात् राज्य भाषा अंग्रेजी का स्थान पूरी तरह हिन्दी ले लेगी। परन्तु जिस प्रकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कराते समय अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुई थीं, उसी प्रकार अब उसे अंग्रेजी के स्थान पर प्रतिष्ठित कराने में भी अनेक बाधाएँ सामने आ रही हैं। दक्षिण भारत की ओर से यह माँग की जा रही है कि अंग्रेजी को ही और देर तक जारी रखा जाए। देश का अंग्रेजी शिक्षित-वर्ग भी इसलिए अंग्रेजी को राज्य-भाषा बनाये रखने के पक्ष में है, क्योंकि हिन्दी के राज्यभाषा बन जाने पर उस वर्ग को कुछ-न-कुछ असुविधा अवश्य होगी। अतः राजभाषा और राज-लिपि के रूप में हिन्दी-देवनागरी दोनों पीछे धकेल दी गई हैं।

हिंदी के साथ ही अनिवार्य रूप से देवनागरी लिपि का प्रश्न भी [illegible] हुआ है क्योंकि हिन्दी देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। [illegible] राजभाषा के चुनाव का विवाद आगे पर था, उस समय [illegible] राज्य लिपि बनाने का प्रश्न भी उठा था। पर वस्तुतः फारसी [illegible] लिपि बनाने का प्रश्न कभी गम्भीरता से नहीं उठा। [illegible]

मे केवल एक ही सुविधा है कि वह अपेक्षाकृत शीघ्रता से लिखी जा सकती है। परन्तु इस विशेषता के साथ साथ उसमे दोष इतने अधिक हैं कि उसे राज्य-लिपि स्वीकार करना किसी तरह सम्भव नही था, विशेष रूप से तब जबकि राज्यभाषा सस्कृतनिष्ठ हिन्दी स्वीकार की गई थी। हिन्दी के सयुक्त अक्षरो और सस्कृत के शब्दो को फारसी लिपि मे लिख पाना असम्भव ही है, क्योंकि फारसी लिपि मे सयुक्त अक्षरो को शुद्ध रूप से लिखने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार मात्राओ का दोष भी फारसी लिपि मे बहुत अधिक है। मात्राएँ अपर्याप्त और अनिश्चित हैं। परिणामत फारसी में लिखे हुए एक ही शब्द को अनेक रूपो मे पढा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त फारसी लिपि मे एक ही ध्वनि के लिए कई वर्णों का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'स' के लिए 'सीन', 'स्वाद' और 'से' का, या 'त' के लिए 'तोय' और 'ते' का। इस प्रकार एक ओर वर्ण पर्याप्त नही और दूसरी ओर अनावश्यक वर्ण इस लिपि मे भरे हुए हैं। इसलिए फारसी लिपि तो सक्षिप्त विचार के पश्चात ही राज्य-लिपि होने के अयोग्य समझी गई। सम्भवत फारसी भाषा को लिखने के लिए यह लिपि काम चलाऊ सिद्ध भी हो सके, किन्तु सस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखने के लिए या अन्य भाषाओ-बोलियो के शब्द रूप लिखने के लिये यह लिपि एकदम अनुपयुक्त है।

इसके बाद देवनागरी और रोमन लिपि मे से एक चुनाव का प्रश्न शेष रहा। रोमन लिपि के पक्ष मे सबसे बडी युक्ति यह थी कि यह अन्तर्राष्ट्रीय लिपि है जिसका पश्चिम जगत के अनेक देशो मे प्रयोग किया जाता है। रोमन लिपि को अपनाने मे कई कठिनाइयाँ थी। सबसे पहली बात तो यह है कि रोमन लिपि भारतीय भाषाओ को लिखने के लिए उतनी उपयुक्त नही है, जितनी देवनागरी लिपि न केवल उत्तर भारत की पजाबी, हिन्दी, बगला, मराठी और गुजराती आदि भाषाओ की, अपितु दक्षिण भारत की भाषाओ की भी वर्णमाला एक जैसा ही है। यह वर्णमाला सस्कृत भाषा पर आधारित है। सस्कृत देश की सब भाषाओ को एक सूत्र मे पिरोने का माध्यम है। सस्कृत भाषा देवनागरी मे लिखी जाती है, इसीलिए देश की सभी भाषाओ को लिखने के लिए देवनागरी लिपि रोमन लिपि की अपेक्षा कही अधिक अच्छी और उपयुक्त माध्यम है।

रोमन लिपि को यद्यपि पश्चिमी विद्वान वैज्ञानिक मानते हैं परन्तु वस्तुत रोमन लिपि अत्यन्त अवैज्ञानिक है। वैज्ञानिक लिपि मे यह गुण होना चाहिए कि उसमे प्रत्येक ध्वनि के लिए एक सकेत हो। साथ ही एक ही सकेत से एक ही ध्वनि का ज्ञान होता हो। रोमन लिपि में यह गुण नही है। वहाँ कुछ

ध्वनियों के लिए तो संकेत ही नहीं हैं, जैसे 'च' के लिये कोई एक संकेत नहीं है 'सी' और 'एच' को मिलाकर लिखना पड़ता है। दूसरी प्रकार एक ही लिपि-संकेत से अनेक ध्वनियों का ज्ञान होता है, जैसे 'सी' अक्षर का उच्चारण कहीं 'स' होता है और कहीं 'क'। इस प्रकार 'जी' अक्षर का उच्चारण कहीं 'ज' होता है और कहीं 'ग'।

रोमन लिपि में एक ही ध्वनि के लिये दो संकेतों का प्रयोग भी होता है। जैसे 'ज' ध्वनि के लिए 'जी' और 'जे' इन दो अक्षरों का प्रयोग अलग अलग होता है। इसी प्रकार 'क' ध्वनि के लिए 'सी' और 'के' इन अक्षरों का अलग-अलग प्रयोग होता है। कहाँ किस प्रकार का अक्षर प्रयोग किया जायगा, इस विषय में लिपि प्रमाण नहीं है अपितु व्यवहार ही प्रमाण है।

अंग्रेजी या रोमन लिपि के व्यंजनों में तो यह गड़बड़ है ही स्वरों में और भी अधिक गड़बड़ है। अंग्रेजी स्वर में 'ए' का उच्चारण स्थान भेद से 'आ', 'ए', 'ऐ', होता है। जैसे 'फास्ट', 'मेट' और 'कैट' में। इसी प्रकार 'यू' स्वर का उच्चारण कहीं 'उ', कहीं 'अ', कहीं 'यू' और कहीं 'यो' होता है जैसे 'पुट', 'बट', 'म्यूल' और 'प्योर' में। इस तरह 'आये' का उच्चारण कहीं 'अ', 'इ' और कहीं 'आई' होता है, जैसे 'सर', 'किड' और 'लाइक' में।

इस प्रकार की अव्यवस्थाएँ अनगिनत हैं। वस्तुतः रोमन लिपि में लिखित संकेतों को पढ़ने के लिये हमें व्यवहार और अभ्यास पर अधिक निर्भर रहना पड़ता है। लिपि में अपने आप कोई ऐसे सुनिश्चित नियम नहीं हैं जिनके आधार पर जो कुछ लिखा गया हो, उसे बिना किसी के बताये ज्यों-का त्यों सही सही पढ़ा जा सके। देवनागरी लिपि में यह गुण विद्यमान है कि उसमें व्यंजनों और स्वरों की ध्वनियाँ इतनी नियत हैं कि जो कुछ लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है और जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है।

रोमन लिपि की वर्णमाला में यह स्पष्ट होता है कि कौन सा वर्ण किस ध्वनि का सूचक है। जैसे 'ऐफ' में दो ध्वनियाँ हैं। एक 'ऐ' की और दूसरी 'फ' की। बिना शिक्षक की सहायता के यह पता नहीं चल सकता कि 'ऐफ' वर्ण 'ऐ' का सूचक है या 'फ' ध्वनि का। इसी तरह 'पी' वर्ण में भी दो अलग ध्वनियाँ हैं। 'ऐफ' में पिछली ध्वनि वर्ण की असली ध्वनि है, जबकि 'पी' में पहली ध्वनि वर्ण की वास्तविक ध्वनि है। परन्तु 'एच' में 'ए' और 'च' ध्वनियाँ हैं जबकि वस्तुतः यह वर्ण 'ह' ध्वनि का सूचक है। इसी तरह 'जी' में ऐसा 'ग' ध्वनि का चिह्न ही नहीं है जिसे यह वर्ण सूचित करता है।

इसके विपरीत देवनागरी की लिपि इस दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञा
क्योंकि उसमें सब व्यंजनों का उच्चारण केवल 'अ' स्वर की सहाय

जाता है और यह स्वर प्रत्येक व्यंजन के अन्त में लगाया गया है। इसीलिए प्रत्येक वर्ण की ध्वनि को पहचानने में किसी प्रकार का घपला नहीं होता।

रोमन वर्णमाला में और क्रम तो दूर रहा, स्वरो और व्यजनो तक को पृथक् करके भी नही रखा गया। स्वर और व्यजन बीच-बीच मे एक दूसरे मे फँसे हुए हैं, जबकि देवनागरी वर्णमाला मे स्वर अलग सगृहीत हैं और व्यजन अलग। इसके साथ ही मुख से पृथक् स्थानो मे उच्चारित होने वाले व्यजन पृथक् पृथक् सगृहीत हैं। कठ से बोले जाने वाले कवर्ग के अक्षर पहले आते हैं फिर तालु से बोले जाने वाले चवर्ग फिर मूर्धन्य टवर्ग, फिर दन्त्य तवर्ग और ओष्ठ्य पवर्ग के अक्षर आते हैं। उनमे भी अल्पप्राण और महाप्राण अक्षरो का क्रम निर्धारित है। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि रोमन लिपि की अपेक्षा कहीं अधिक वैज्ञानिक कही जा सकती है। अन्य कोई लिपि भी देवनागरी के समकक्ष नही ठहर पाती।

रोमन लिपि के समर्थको का कथन है कि रोमन वर्णमाला मे केवल २६ अक्षर हैं, जबकि देवनागरी मे ५२ के लगभग अक्षर हो जाते हैं। इस दृष्टि से रोमन लिपि छपाई, टाइप और टेलीप्रिंटर मशीनो के लिये अधिक उपयोगी है। आजकल के वैज्ञानिक उन्नति के युग मे इस विशेषता की उपेक्षा नही की जा सकती। अंग्रेजी का टाइप केस और टाइपराइटर हिन्दी के 'की' की अपेक्षा बहुत छोटा और सुविधाजनक होता है। इस युक्ति को जोरदार मानते हुए भी इसे ही भाषा का सबसे बडा गुण नही समझा जा सकता। यह ठीक है कि रोमन लिपि की वर्णमाला के केवल २६ अक्षर हैं, किन्तु इसका दोष यह है कि उसमे सब ध्वनियाँ अंकित नही की जा सकती। यदि कोई लिपि आवश्यक ध्वनियों को अंकित करने के लिए अनुपयुक्त है तो उसे पूर्ण नही कहा जा सकता।

रोमन लिपि के समर्थको का मत है कि प्रमाप (स्टैंडर्ड) रोमन लिपि मे यह दोष नही है उसमे अक्षर के ऊपर और नीचे विभिन्न सकेत लगाकर सब ध्वनियो को व्यक्त किया जा सकता है। परन्तु प्रमाप रोमन लिपि के अक्षरो की सख्या देवनागरी से भी अधिक हो जाती है। रोमन लिपि अंग्रेजी और फ्रेंच इत्यादि भाषाओं को लिखने के लिये उपयुक्त हो सकती है किन्तु हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओ को लिखने के लिए नही। उदाहरण के लिए 'छप्पर' शब्द को लीजिए। देवनागरी लिपि मे इसे चार अक्षरो द्वारा लिख दिया जाता है, किन्तु इसे लिखने के लिए रोमन लिपि मे 'सी' 'एच' 'पी' 'पी' 'ए' 'आर', इन सात अक्षरो का प्रयोग करना पडता है जो न तो टाइप मशीन की दृष्टि से सुविधाजनक हो सकता है और न छपाई की मशीन की दृष्टि से।

इससे स्पष्ट है कि रोमन लिपि भारतवर्ष की राज्य लिपि बनाने के लिए नितांत अनुपयुक्त है।

अब प्रश्न देवनागरी के गुण-दोषों का बाकी रह जाता है। देवनागरी के गुण हम बता ही चुके हैं कि यह अत्यन्त वैज्ञानिक लिपि है। इसमें एक ध्वनि के लिये एक ही संकेत है और किसी एक संकेत से दो ध्वनियों का ज्ञान नहीं होता। इसके कारण लिपि में सुनिश्चितता और सुस्पष्टता आ गई है। इसके साथ ही अक्षर देखने में सुन्दर हैं और उन्हें सरलता से शीघ्रतापूर्वक लिखा भी जा सकता है। एक और बड़ी बात यह है कि रोमन लिपि में छपाई के और लिखाई के अक्षर भिन्न भिन्न हैं, जबकि देवनागरी में छपाई और लिखाई दोनों की लिपि एक ही है।

भारत में प्रान्तीय भाषाओं की लिपियों में से देवनागरी को ही राज्य-लिपि होने का सबसे अधिक अधिकार है। एक तो इस देश में हिन्दी-भाषी लोगों की संख्या सबसे अधिक है और हिन्दी की लिपि देवनागरी है। दूसरे मराठी भाषा भी, जो भारत की एक प्रमुख भाषा है, देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है। इसलिए देवनागरी लिपि का प्रचलन भारतवर्ष में पहले से ही अन्य किसी भी लिपि की अपेक्षा कहीं अधिक है। गुजराती, गुरमुखी आदि लिपियाँ भी देवनागरी से पर्याप्त समानता रखती हैं।

इन गुणों के होने पर भी देवनागरी लिपि में कुछ ऐसी ही त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण यह लिपि अनावश्यक रूप से बोझिल बन गई है और वर्तमान यान्त्रिक युग में इनका प्रयोग कुछ कठिनाई का कारण बन गया है। वैसे सिद्धान्ततः हम यह मानते हैं कि यन्त्र भाषा और लिपि के लिये बनाये जाने चाहिये, भाषा या लिपि को यन्त्रों की सुविधा के लिए मोड़ना-तोड़ना उचित नहीं है। परन्तु देवनागरी की कुछ स्पष्ट दिखाई पड़ने वाली त्रुटियों के प्रति हम उदासीन नहीं रह सकते।

जहाँ यह सत्य है कि देवनागरी लिपि में प्रत्येक ध्वनि के लिए एक-एक संकेत है, वहाँ अंग्रेजी के 'कैट' और 'टाप' शब्दों में आने वाली 'ऐ' और 'आ' की ध्वनियों के लिए देवनागरी में कोई संकेत नहीं है। अब यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि 'ए' और 'आ' के ऊपर अर्ध चन्द्र लगाकर इन ध्वनियों को अंकित किया जाये। जैसे—'ऍ' और 'ऑ'।

हिन्दी में 'ङ' और 'ञ' का प्रयोग लगभग नहीं होता है। इसलिये इन वर्णों को वर्णमाला से निकाल दिया जाय। इसी प्रकार 'क्ष' 'त्र' संयुक्त अक्षर हैं। इन्हें वर्णमाला में पृथक् स्थान न दिया जाये। मे स्थिति यह है कि यदि 'ञ' को वर्णमाला से निकाल दिया

को वर्णमाला मे से नही निकाला जा सकेगा, क्योंकि यह अक्षर 'ज' और 'ञ' का सयोग है।

कुछ लोगो का यह भी कथन है कि 'ख' को पढ़ने मे 'र' 'व' का भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार 'व' और 'ब' के लिखने मे प्राय गडबडी हो जाती है। ये दोनो दोष निराधार हैं और इस सम्बन्ध मे कोई सुधार करने की आवश्यकता नही है। प्रसग से अर्थ निर्णय मे कठिनाई नही रहती।

टाइप मशीनो और छपाई मशीनो की सुविधा के लिए कई विद्वानो ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। सबसे पहला सुझाव तो यह है कि 'इ' 'ई' 'उ' 'ऊ' 'ए' 'ऐ' स्वरो को इस रूप मे न लिखकर 'अ' के ऊपर मात्रा देकर उसी तरह लिखा जाये, जिस तरह 'ओ' और 'औ' लिखे जाते हैं। वर्धा की राष्ट्र भाषा प्रचार समिति ने तो इस विचार को क्रियान्वित भी कर दिया था परन्तु प्रचलन और समर्थन न पा सका। हमारा विचार है कि यह परिवर्तन बिल्कुल अनावश्यक है और इससे कोई विशेष सुविधा नही होगी। इसमे टाइप केस मे दो-तीन खाने अवश्य बच जाएँगे किन्तु उनके बदले कम्पोजीटर को दुगुनी मेहनत करनी पड जायेगी।

इसी प्रकार कुछ लोगो का कथन है कि वर्णमाला मे से महाप्राण अक्षरों को बिल्कुल उडा दिया जाये और उनके उच्चारण के लिए अल्पप्राण अक्षरो के आगे कोई विशिष्ट सकेत, जैसे ऽ लगा दिया जाये। उससे वर्णों की बहुत बचत हो जायेगी। किन्तु हमारा विचार है कि वर्णों की बचत ही सब कुछ नही है। इस प्रकार परिवर्तन कर देने से लिपि लिपि न रहकर कुछ अकगणित की पहेली सी बन जायेगी और उससे सुविधाएँ इतनी नही बढ़ेंगी जितनी असुविधाएँ बढ जायेंगी।

देवनागरी लिपि पर यह आक्षेप किया जाता है कि उसमे 'ग' 'ज' 'फ' इत्यादि के लिए सकेत नही है। किन्तु हमारा विचार है कि पहले तो ये ध्वनियाँ ही विदेशी हैं और इनका प्रयोग भारतीय भाषाओ मे बहुत कम होता है और यदि कभी आवश्यक ही हो, तो इन्हें अक्षरो के नीचे बिंदी लगाकर उसी तरह लिखा जा सकता है जैसे हमने यहाँ लिखा है।

हमारा विचार है कि देवनागरी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक है और भारतीय भाषाओ के लेखन के लिए अधिकतम उपयुक्त है। इसमें छोटे-छोटे दो एक सुधारा, जैसे 'ङ' और 'ञ' को हटाने और 'ड़' और 'ढ़' को वर्णमाला मे स्थान देने इत्यादि के अतिरिक्त अन्य कोई भी बडा क्रान्तिकारी परिवर्तन करना अन्ततोगत्वा भाषा और लिपि के स्वरूप के लिए हानिकारक ही सिद्ध होगा।

वर्तमान देवनागरी लिपि के साथ जितनी कम छेड़छाड़ की जाये, उतना ही भला होगा।

सरकार ने देवनागरी का एक नया संशोधित रूप स्वीकृत किया है जिसमें 'ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी अक्षर के बाद में लगाई जाया करेगी। वस्तुतः इस सुधार या बिगाड़ की कोई आवश्यकता न थी। सत्य तो यह है कि देवनागरी लिपि के सुधार के लिये जितने प्रकार के भी प्रयत्न किये गए जनता ने उन्हें अपनाया ही नहीं। अतः वे सब स्वयं ही रद्द हो गये हैं। अपने प्रचलित परम्परागत रूप में ही यह लिपि अत्यन्त स्पष्ट एवं पूर्ण सार्थक है।

८१ | अणु-शक्ति

अणु-शक्ति सम्पन्नता का अर्थ है पूर्ण प्रलय का सामान जुटाना। उसका प्रथम प्रमाण उस दिन मिला जब ६ अगस्त १९४५ को अमेरिकन हवाई जहाजों ने जापान के प्रसिद्ध नगर हिरोशिमा पर पहला अणु बम फेंका। दूसरा अणु-बम उसके तीन दिन बाद ९ अगस्त को नागासाकी पर फेंका गया। इन दो बमों ने इन दोनों नगरों को कुछ ही मिनटों में भस्मसात और नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। संसार की त्रस्त जनता ने अवाक् इस नवीन शस्त्र-संहार की गाथा को सुना और शिद्दत के साथ अनुभव किया। उससे पहले सामान्य लोगों के लिए यह बात कल्पना से भी परे की थी कि कोई एक बम पलक की एक झपक में लाखों व्यक्तियों के पूरे एक नगर को विध्वस्त कर सकता है। उसे अतीत की कहानी बना सकता है।

अणु-बम का प्रथम परीक्षण मैक्सिको में लासवेगास में किया गया था। वहाँ लोहे की बनी एक ऊँची मीनार पर से अणु-बम का विस्फोट किया गया था। विस्फोट के समय इतने जोर का धमाका हुआ कि वैसा इसके पहले मनुष्य निर्मित किसी भी बम से नहीं सुना गया था। प्रकाश की चमक इतनी तीव्र हुई कि देखने वाला एक व्यक्ति तो अन्धा ही हो गया था। धुएँ के बने विशाल बादल तेजी से आकाश में उठे। इस विस्फोट से इतना ताप उत्पन्न हुआ कि आस-पास मीलों तक मिट्टी इस तरह लाल हो उठी, मानो भट्टी में तपाई गई हो। उसके बाद से अब तक अणु-बमों के और उद्जन बमों के अनेक परीक्षण किये जा चुके हैं, जिनकी भयंकरता से समस्त संसार भयभीत हो उठा है। अब वैज्ञानिकों ने इसी अणु शक्ति का प्रयोग करके १८,०००

को वर्णमाला मे से नहीं निकाला जा सकेगा, क्योंकि यह अक्षर 'ञ' और 'ज' का सयोग है।

कुछ लोगो का यह भी कथन है कि 'ख' को पढ़ने मे 'र' 'व' का भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार 'व' और 'ब' के लिखने मे प्राय गडबडी हो जाती है। ये दोनो दोष निराधार हैं और इस सम्बन्ध मे कोई सुधार करने की आवश्यकता नही है। प्रसग से अर्थ निर्णय मे कठिनाई नही रहती।

टाइप मशीनो और छपाई मशीनो की सुविधा के लिए कई विद्वानों ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। सबसे पहला सुझाव तो यह है कि 'इ' 'ई' 'उ' 'ऊ' 'ए' 'ऐ' स्वरो को इस रूप मे न लिखकर 'अ' के ऊपर मात्रा देकर उसी तरह लिखा जाये जिस तरह 'ओ' और 'औ' लिखे जाते हैं। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने तो इस विचार को क्रियान्वित भी कर दिया था परन्तु प्रचलन और समर्थन न पा सका। हमारा विचार है कि यह परिवर्तन बिल्कुल अनावश्यक है और इससे कोई विशेष सुविधा नही होगी। इसमे टाइप केस मे दो-तीन खाने अवश्य बच जाएँगे किन्तु उनके बदले कम्पोजीटर को दुगुनी मेहनत करनी पड जायेगी।

इसी प्रकार कुछ लोगो का कथन है कि वर्णमाला मे से महाप्राण अक्षरों को बिल्कुल उड़ा दिया जाये और उनके उच्चारण के लिए अल्पप्राण अक्षरो के आगे कोई विशिष्ट सकेत, जैसे ऽ लगा दिया जाये। उससे वर्णों की बहुत बचत हो जायेगी। किन्तु हमारा विचार है कि वर्णों की बचत ही सब कुछ नही है। इस प्रकार परिवर्तन कर देने से लिपि लिपि न रहकर कुछ अंक गणित की पहेली सी बन जायेगी और उससे सुविधाएँ इतनी नही बढ़ेंगी जितनी असुविधाएँ बढ जायेंगी।

देवनागरी लिपि पर यह आक्षेप किया जाता है कि उसमे ग़ 'ज़' फ़ इत्यादि के लिए सकेत नही है। किन्तु हमारा विचार है कि पहले तो ये ध्वनियाँ ही विदेशी हैं, और इनका प्रयोग भारतीय भाषाओ मे बहुत कम होता है, और यदि कभी आवश्यक ही हो, तो इन्हें अक्षरो के नीचे बिन्दी लगाकर उसी तरह लिखा जा सकता है जसे हमने यहाँ लिखा है।

हमारा विचार है कि देवनागरी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक है और भारतीय भाषाओ के लेखन के लिए अधिकतम उपयुक्त है। इसमे छोटे-छोटे दो एक सुधारो, जसे ङ और 'ञ' को हटाने और 'ड़' और ढ़ को दर्णमाला म स्थान देने इत्यादि के अतिरिक्त अन्य कोई भी बडा क्रान्तिकारी परिवतन करना अन्ततोगत्वा भाषा और लिपि के स्वरूप के लिए हानिकारक ही सिद्ध होगा।

वर्तमान देवनागरी लिपि के साथ जितनी कम छेड़छाड़ की जाये, उतना ही भला होगा।

सरकार ने देवनागरी का एक नया संशोधित रूप स्वीकृत किया है जिसमें ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी अक्षर के बाद में लगाई जाया करेगी। वस्तुतः इस सुधार या बिगाड़ की कोई आवश्यकता न थी। सत्य तो यह है कि देवनागरी लिपि के सुधार के लिये जितने प्रकार के भी प्रयत्न किये गए, जनता ने उन्हें अपनाया ही नहीं। अतः वे सब स्वयं ही रद्द हो गये हैं। अपने प्रचलित परम्परागत रूप में ही यह लिपि अत्यन्त स्पष्ट एवं पूर्ण सार्थक है।

८१ | अणु-शक्ति

अणु-शक्ति सम्पन्नता का अर्थ है पूर्ण प्रलय का सामान जुटाना। उसका प्रथम प्रमाण उस दिन मिला जब ६ अगस्त, १९४५ को अमेरिकन हवाई जहाजों ने जापान के प्रसिद्ध नगर हिरोशिमा पर पहला अणु बम फेंका। दूसरा अणु-बम उसके तीन दिन बाद ९ अगस्त को नागासाकी पर फेंका गया। इन दो बमों ने इन दोनों नगरों को कुछ ही मिनटों में भस्मसात और नष्ट भ्रष्ट कर दिया। संसार की त्रस्त जनता ने अचानक इस नवीन शस्त्र-संहार की गाथा को सुना और सिहरन के साथ अनुभव किया। उससे पहले सामान्य लोगों के लिए यह बात कल्पना से भी परे की थी कि कोई एक बम पलक की एक झपक में लाखों व्यक्तियों के पूरे एक नगर को विध्वस्त कर सकता है। उसे अतीत की कहानी बना सकता है।

अणु-बम का प्रथम परीक्षण मैक्सिको में लासवेगास में किया गया था। वहाँ लोहे की बनी एक ऊँची मीनार पर से अणु बम का विस्फोट किया गया था। विस्फोट के समय इतने जोर का धमाका हुआ कि वैसा इसके पहले मनुष्य निर्मित किसी भी बम से नहीं सुना गया था। प्रकाश की चमक इतनी तीव्र हुई कि देखने वाला एक व्यक्ति तो अन्धा ही हो गया था। धुएँ के बने विशाल बादल तेजी से आकाश में उठे। इस विस्फोट से इतना ताप उत्पन्न हुआ कि आस-पास मीलों तक मिट्टी इस तरह लाल हो उठी, मानो भट्टी में तपाई गई हो। उसके बाद से अब तक अणु-बमों के और उद्जन बमों के अनेक परीक्षण किये जा चुके हैं, जिनकी भयंकरता से समस्त संसार भयभीत हो उठा है। अब वैज्ञानिकों ने इसी अणु शक्ति का प्रयोग करके १८,०००

मील प्रति घंटे बल्कि इससे भी कम की गति से पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले भू-उपग्रहों का निर्माण किया है। इस अणु-शक्ति से मानव की चन्द्रमा, शुक्र आदि लोकों की भी यात्रा की कल्पना सत्य में परिणत हो रही है। अन्य ग्रह-यात्रा अभियान चल रहे हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधानों के बल पर प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य ने एक एक करके अधिकार प्राप्त किया है। पहले उसने भाप की शक्ति को अपने वश में किया और उसके द्वारा वे काम करने शुरू किए, जो उससे पूर्व मानवीय श्रम द्वारा किये जाते थे। बहुत समय तक वाष्प-शक्ति का युग रहा। उसके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में विद्युत्-शक्ति का आविष्कार हुआ। विद्युत् ने मनुष्य के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया। न केवल वाष्प द्वारा किये जाने वाले काम बिजली से किये जाने लगे, अपितु रेडियो, टेलीविजन इत्यादि अनेक नये आविष्कारों द्वारा भी मनुष्य की सुख-सुविधा में वृद्धि हुई। अब विद्युत् से भी आगे बढ़ कर अणु-शक्ति का युग आ गया है। अन्तर केवल इतना है कि विद्युत् शक्तियों का प्रारम्भ निर्माण कार्य से हुआ था, और अणु शक्ति का श्रीगणेश महासंहार से हुआ और भावी महासंहार के लिए निरन्तर हो रहा है।

प्रथम विश्व-युद्ध के दिनों में पहले-पहल प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने यह बात खोज निकाली थी कि अणु-तत्वों की सबसे छोटी इकाई का भी विभाजन किया जा सकता है। आइन्स्टीन के मतानुसार ये छोटे-छोटे अणु भी जो आँखों से दीख भी नहीं सकते, अपने-आप में शक्ति के पुंज हैं। इनमें इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन नामक अंश जो शक्ति का रूप हैं अत्यन्त तीव्र गति से एक-दूसरे के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। यदि किसी प्रकार अणुओं के इन अंशों को खण्डित किया जा सके, तो उससे अत्यधिक शक्ति उत्पन्न होगी। इस प्रकार जो जड़ पदार्थ बिल्कुल निष्क्रिय और निकम्मे दिखाई पड़ते हैं उन में भी वस्तुतः अनन्त अपार शक्ति भरी हुई है।

आइन्स्टीन के सिद्धान्त पर और अनेक वैज्ञानिकों ने खोज की। जर्मनी के वैज्ञानिक प्रोफेसर ओटोहॉन ने इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किए और १९३८ में वह अणु का खंडन कर पाने में समर्थ हुआ। उसकी यह खोज अणु-बम की जननी कही जा सकती है। उसके बाद प्रोफेसर वर्नर हीजनबर्ग और मैक्स-वान लेन ने भी इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किये। द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में जर्मनी में अणु-बम बनाने के लिए परीक्षण किए जा रहे थे। यदि युद्ध कुछ समय तक और चलता तो जर्मन वैज्ञानिक अणु-बम बनाने में अवश्य सफल हो जाते। किन्तु उन्हें समय न मिला और उनके अणु-बम बन पाने से पूर्व ही

जर्मनी की सेनाएँ परास्त हो गईं। जर्मनी की पराजय के बाद अमेरिका में अणु-बम का पहले-पहल निर्माण हुआ। कहते हैं कि जर्मन से ही प्रक्रिया चुरा कर अमरीका में जर्मन, अंग्रेज और अमेरिकन वैज्ञानिकों ने मिलकर अणु बम तैयार किया। वैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षणों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि अणु-बम तैयार करने के लिए 'यूरेनियम २३५' धातु सर्वोत्तम है। जब यूरेनियम के अणु फटते हैं तो उनके इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन अलग-अलग हो जाते हैं। उनसे प्रचंड ताप और शक्ति उत्पन्न होती है। अब यह बात सिद्ध हो चुकी है।

जापान पर अणु-बम फेंके जाने का परिणाम यह हुआ कि जापान ने तुरंत पराजय स्वीकार कर ली। इससे युद्ध-कला में एक नई क्रांति हो गई। अणु-बम अब तक युद्ध में प्रयुक्त होने वाले सब अस्त्रों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली और संहारक सिद्ध हो चुका है। अणु बम की तुलना में युद्ध के पुराने परम्परागत अस्त्र, तोपें और अन्य बम बच्चों के खिलौने प्रतीत होते हैं। अब मनुष्य की वीरता और साहस का भी मूल्य नहीं रहा और न सेना की अधिकता का ही कोई मूल्य है। अणु-बम की सहायता से बहुत छोटी सी सेना भी बहुत बड़ी सेना को सरलता से परास्त कर सकती है।

युद्ध के पश्चात् कुछ समय तक तो अणु बम के रहस्य पर अमेरिका का ही एकाधिकार रहा, परंतु शीघ्र ही अणु बम का रहस्य रूस को भी ज्ञात हो गया। रूस में भी अणु-बम के सम्बन्ध में पर्याप्त उपयोगी अनुसंधान किया गया है। अमेरिका की भाँति अब रूस के पास अणु बम उदजन बम तो हैं ही, साथ ही लोगों का कथन है कि रूस के पास नत्रजन-बम भी विद्यमान हैं। जब तक अणु बम के रहस्य किसी एक देश तक सीमित थे तब तक यह अपने मन में सुरक्षा अनुभव कर सकता था, और अन्य देशों को आतंकित कर सकता था किन्तु अब अणु बम के रहस्य रूस, अमेरिका, फ्रांस, इंगलैण्ड और चीन आदि अनेक देशों को ज्ञात है। भारत से भी उसका रहस्य अज्ञात नहीं। भारत अणु-बम नहीं बनाना चाहता, यह अलग बात है, पर इसके रहस्य से वह भली-भाँति परिचित है और उस परिचय का प्रमाण भी पोखरण में किए गए भूमिगत विस्फोट से मिल चुका है। पाकिस्तान और इस्राइल आदि देश भी इस दिशा में काफी आगे बढ़ चुके हैं।

गत वर्षों में अणु-बमों और उदजन-बमों के जो परीक्षण हुए हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि अब कोई युद्ध हुआ तो वह गत दो विश्व-युद्धों की भाँति देर तक लम्बा नहीं खिंचेगा। केवल कुछ सप्ताहों या दिनों में ही जय-पराजय का निर्णय हो जायेगा। बहुत सम्भव है कि अणु-बम युद्ध ने दोनों ही

पक्षो का ऐसा विनाश कर दें कि विजेता और विजित मे कोई अतर न रहे। यह भी सम्भव है कि बडे परिणाम मे अणु-बमो के विस्फोट के फलस्वरूप सारी मानव जाति ही समाप्त हो जाए। अणु बमो के विस्फोट से रेडियो सक्रियता उत्पन्न होती है और उसकी तरगें, वायु, बादलो तथा समुद्र के जल के द्वारा पृथ्वी पर दूर दूर तक पहुँच जाती हैं। इस रेडियो-सक्रियता का प्रभाव सभी जीवित प्राणियो पर अत्यन्त घातक होता है। यद्यपि इतना निश्चयपूर्वक जाना जा चुका है कि रेडियो-सक्रियता जीवित प्राणियो में भयकर और दु साध्य रोगो को उत्पन्न कर देती है किन्तु इस सम्बन्ध मे अभी और विस्तृत परीक्षण किए जा रहे हैं। ज्यो ज्यो इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिको का ज्ञान बढता जाता है, त्यो-त्यो उन्हें अणु-बम की भयकरता अधिक प्रतीत होकर आतकित करने लगी है।

सन १९५४ मे अमेरिका मे मार्शल द्वीपों मे एक छोटे द्वीप पर उदजन बम का विस्फोट किया था। यह विस्फोट इतना भयानक रहा कि जिस द्वीप पर यह विस्फोट किया गया वह सम्पूर्ण द्वीप ही लुप्त हो गया। उस स्थान से कई सौ मील दूर एक जापानी जहाज पर इस विस्फोट से उडी हुई राख आकर पडी। इस राख के स्पर्श से उस जहाज के सभी नाविको को विचित्र प्रकार के रोग हो गए, जिनका कोई इलाज नही किया जा सका। अणु-बमो की भयकर रेडियो-सक्रियता से सारा ससार आतकित हो उठा और ससार के अनेक भागो से यह माँग की जाने लगी कि अणु बमो के परीक्षण पर रोक लगाई जाए और अणु शक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण कर दिया जाए। अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिको ने यह आशका प्रकट की है कि यह बहुत सभव है कि परीक्षण मे ही वैज्ञानिक कुछ ऐसा कार्य कर बैठे, जिसके परिणाम को वे पहले से भली-भाँति न सोच पाये हो और उसके फलस्वरूप सारी मानव जाति को भयकर क्षति उठानी पडे।

सहारक शस्त्रो के रूप मे अणु-बमो का प्रयोग अत्यन्त हृदयहीन और अमानवीय कृत्य है। अमेरिका ने जापान पर अणु-बमो का जो प्रयोग किया था, उसकी ससार के अनेक देशो ने निन्दा की थी। इन अणु-बमो के प्रयोग से हजारो ऐसे निरपराध नागरिक मारे गए, जिनका युद्ध मे प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हाथ न था। नागरिको की ऐसी विवेकहीन हत्या का समर्थन कोई भी देश कैसे कर सकता है? अमेरिका ने इन बमो का प्रयोग पहले पहल एक एशियाई देश पर किया था इसलिए एशिया के सब देशो मे अमेरिका के विरुद्ध प्रचड रोष की लहर फैल गई। अणु-बम के भावी सकट को ध्यान में रखते हुए भारत तथा अन्य अनेक देशो ने यह माँग की है कि अणु-बमों के सम्बन्ध

मे और परीक्षण अविलम्ब बन्द कर दिए जायें। पर इस माँग का कोई विशेष अभी तक लक्षित नही हो सका। इस प्रकार की माँगें और प्रयत्न अब भी चल रहे हैं।

यद्यपि इस समय रूस के पास भी अणु-बम और उद्जन-बम विद्यमान हैं, किन्तु रूस शांतिपूर्ण देश है। वह इस बात के लिए तैयार है कि अणु शक्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण कर दिया जाए। अणु शक्ति का प्रयोग सहारकारी कार्यों के लिए एकदम निषिद्ध कर दिया जाए। परन्तु ब्रिटेन फ्रांस, चीन और अमेरिका इस शान्ति प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि हम शस्त्रीकरण की दौड़ मे पीछे नहीं रहना है। हमें सदा नवीनतम अणु-शस्त्रो से सुसज्जित रहना चाहिए, जिससे यदि किसी भी समय साम्यवादी गुट हम पर आक्रमण करे, तो हम उसका प्रतिरोध कर सकें। पूँजीवादी गुट की यह मनोवृत्ति विश्व शान्ति के लिए एक भयानक सकट है। शस्त्रीकरण की दौड़ अन्त मे युद्ध मे जाकर ही समाप्त होती है। पारस्परिक अविश्वास को दूर न किया गया और अणु शस्त्रों के परीक्षण तथा निर्माण पर रोक न लगाई गई, तो मानव-जाति का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय है। सयुक्त राष्ट्रसघ ने १९४६ के प्रारम्भ में एक अणु-शक्ति नियन्त्रण आयोग की नियुक्ति की थी, जो ससार के विभिन्न देशो मे अणु शस्त्रो के निर्माण पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रख सके। किन्तु इस आयोग का अपने कार्य मे सफलता प्राप्त नही हुई क्योकि बड़े देशो ने उचित सहयोग देने मे टालम-टोल की नीति से काम लिया है। अतः इस शक्ति का अन्धाधुन्ध विकास जारी है।

अणु शक्ति अपने आप मे कोई सहारक शक्ति नहीं है। वाष्प और विद्युत् की भाँति अणु शक्ति का प्रयोग भी रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है। रूस मे अणु शक्ति का प्रयोग विद्युत् उत्पन्न करने, गहरी खानें खोदने, पहाड़ो को उड़ाकर समतल मैदान बनाने के लिए किया जा रहा है। भारत मे भी अणु शक्ति का उपयोग ऐसे ही शान्ति कार्यों के लिए किया जा रहा है। अणु शक्ति का यह पहलू अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अब तक हमें उससे उपयोग के लिए अधिकाश शक्ति पत्थर के कोयले और मिट्टी के तेल द्वारा प्राप्त होती थी किन्तु इन दोनो वस्तुओं के भडार शनैः-शनैः समाप्त होते जा रहे हैं। इस समय अणु शक्ति के आविष्कार से तेल और कोयले के बिना भी हमारे सभी काम यथापूर्वक बल्कि पहले की अपेक्षा से भी कहीं अधिक अच्छी तरह चल सकेंगे। वैज्ञानिको का कथन है कि अणु-शक्ति का प्रयोग रेलों, जलपोतों और विमानो को चलाने के लिए किया जा सकेगा। अणु-चालित विमानो की चाल पट्रोल से चलने वाले या जैट विमानों की चाल की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र होगी।

इसी प्रकार अणु-चालित रेलगाड़ियाँ भी अपेक्षाकृत तीव्र गति से आ-जा सकेंगी। अणु-चलित जलपोतों और पनडुब्बियों के परीक्षण तो सफलतापूर्वक किए जा चुके हैं। अणु-शक्ति से उत्पादित बिजली द्वारा हमारे सभी काम पहले की भाँति सम्पन्न होते रहेंगे। इस प्रकार का उपयोग मानवता के लिए वास्तविक लाभदायक हो सकता है।

अणु-शक्ति के समुचित प्रयोग द्वारा अन्न के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि की जा सकती है, उद्योग और व्यवसायों को बहुत बड़े पैमाने पर विकसित किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त अब तक असाध्य समझे जाने वाले कैंसर जैसे भयानक रोगों का भी सफलतापूर्वक इलाज किया जा रहा है। यदि विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के नेता विवेक से काम लें और पारस्परिक सन्देह और अविश्वास को समाप्त करके संहारकारी अणु शस्त्रों के परीक्षण और निर्माण को बन्द कर दें, तो अपने रचनात्मक उपयोगों द्वारा अणु शक्ति मानव जाति के लिए एक अपूर्व वरदान सिद्ध हो सकती है। मानवता के अभाव मिटाए जा सकते हैं। सभी समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है। किन्तु यदि विश्व के प्रमुख नेताओं ने इस समय विवेक से काम न लिया, तो यह मानव जाति का दुर्भाग्य होगा, क्योंकि उस समय यह विज्ञान की अद्भुत देन मनुष्य जाति के लिए भीषण अभिशाप बनकर रहेगी। इस समय संसार के विभिन्न देशों के रुख को देखते हुए यह आशा बधती है कि अविश्वास पर विवेक की विजय होगी। विवेकपूर्ण जगत अणु-शक्ति का उपयोग मात्र मानव हित साधन के लिए ही करेगा ? विनाश के लिए नहीं।

८२ भारतीय संस्कृति

संस्कृति अन्तरात्मा की परिचायक होती है और उसी की सम्पन्नता से किसी राष्ट्र का स्थायित्व और पहचान बनती है। विश्व के इतिहास में यूनान, मिश्र, रोम तथा भारत की चार संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ प्राचीनतम मानी जाती हैं। इतिहासकारों और अनुसंधानकर्त्ताओं का इन सभ्यताओं की प्राचीनता के विषय में मतैक्य नहीं है। यह मत भिन्नता तथ्यों तथा पक्षपात पर ही आधारित है। कुछ विद्वान चारों को थोड़े-थोड़े अन्तर से समकालीन मानते हैं और कुछ इनमें से किसी एक को प्राचीनतम प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ भी हो, इतना तो सत्य ही है कि चार प्राचीनतम

सभ्यताओं में भारतीय सभ्यता, संस्कृति भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। चाहे वह प्रमुख हो अथवा समकक्ष—इससे सभ्यता संस्कृति की महत्ता पर कोई प्रभाव नही पडता। उसकी आन्तरिक ऊर्जा अपने-आप ही महानता का परिचय देने वाली है।

"भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ" से हमारा अभिप्राय यही है कि भारत की संस्कृति विशेष रूप से भारतीय क्यो कहलाई? इसमें शेष तीनो से क्या अन्तर था? साथ ही संस्कृति शब्द का महत्त्व क्या है?

प्रत्येक काल मे, सृष्टि के आरम्भ और मनुष्य के आदि-जीवन से लेकर आज तक कोई-न-कोई सभ्य संस्कृति रही है। कुछ लोग आदि-जीवन के ढग को असभ्य एव असंस्कृत भी मानते हैं। पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्तमान युग मे सभ्यता का अर्थ केवल रहन-सहन की ढग ही लिया जाता है। अत आज की स्थिति को देखते हुए आदि-मानव को असभ्य कहना भूल होगी। जिसे कुछ सभ्यता कहते हैं हमारे विचार से यह असभ्यता हो सकती है। इसी प्रकार हमारी सभ्यता भी कुछ को असभ्यता-सी प्रतीत हो सकती है। अतएव आगे 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग आवश्यक मानकर अपनाना ही उचित प्रतीत होता है।

'संस्कृति' शब्द संस्कार से बना है। संस्कार आत्मा से सम्बन्धित होते हैं। आत्मा के गुणो का ही नाम संस्कार है। आत्मा को अपने उद्गम स्थान से सहज मे ही स्वाभाविक रूप से ये गुण, जिन्हें हम संस्कार कहते हैं प्राप्त होते हैं। संस्कृति शब्द भारत की विशेषता है। पाश्चात्य देशों में इसके लिए 'कल्चर' (Culture) शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है वे गुण जो मनुष्य के व्यवहार में उगाए (Cultivate) जाएँ, उत्पन्न किए जाये, मानुषी प्रयास से।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अब हम 'भारतीय संस्कृति की विशेषताओ' के काफी निकट पहुँच गए हैं। समाज सक्रिय मनुष्यों की छोटी-से-छोटी इकाई से लेकर बडी-से-बडी इकाई को कहते हैं। वे मनुष्य जो समाज में प्रत्येक सामाजिक इकाई के उत्तरदायित्व का वहन करने में क्रियाशील होते हैं समाज के सदस्य माने जाते हैं। इस प्रकार समाज एक मिश्रण है तथा समाज की प्रत्येक वस्तु इसके सदस्यो के सम्मिलित प्रयास का फल है। यहाँ तक कि स्वय सदस्यता भी समाज के सदस्यों के सम्मिलित प्रयास की व्युत्पत्ति है।

समाज की अन्तिम सीमा कभी-कभी भौगोलिक सीमाओं में निर्धारित होती है तथा कभी धर्म, सभ्यता व संस्कृति की समानता के आधार पर। भारत अपनी भौगोलिक व सांस्कृतिक दोनों एकताओ के कारण एक सुव्यवस्थित

सामाजिक इकाई बनने में सफल रहा है। मनुष्यों के स्वभाव अक्सर एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि एक समाज के अधिकांश व्यक्ति जीवन के एक ही लक्ष्य को लेकर प्रयास करें, इसी से समाज के अन्दर एकता की ठोस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सामाजिक जीवन की एक-लक्ष्यता तथा स्वयं वह लक्ष्य ही भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ हैं। प्रत्येक समुन्नत संस्कृति में ये विशेषताएँ रहनी ही चाहियें और रहती भी हैं।

मानव-समाज में कितनी ही विचारधाराएँ प्रचलित रहती हैं। कुछ लोगों को 'ईश्वर' में विश्वास होता है कुछ को नहीं। कुछ लोग जीवन की सार्थकता ईश्वरीय नियमों का पालन करने में समझते हैं जो कल्पना के आधार पर संस्कार व सहज-बुद्धि से निर्धारित कर लिए जाते हैं, तथा अधिकांश लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हुए भी अपनी जीवन क्रियाओं को उसके साथ जोड़ने के प्रति उदासीन रहते हैं। वे जीवन को केवल एक भौतिक घटना मानकर केवल इसके भौतिक लक्षण और उपयोग में ही उसकी सफलता मानते हैं। पहले का आदर्श है—'नर से नारायण होना', दूसरे का 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ', दोनों एक-दूसरे से छत्तीस।

भारतीय संस्कृति की प्रथम विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य को स्वभाव से दैवी गुण सम्पन्न—अर्थात् नम्र विवेकशील, न्याय प्रिय सदाचार प्रिय आदि मान लिया जाता है उसमें पुनः सुषुप्त दैवी संस्कारों के चेतन करने, जागृत करने मात्र की क्रिया गुरु व समाज द्वारा होती है। यहाँ मानव स्वभाव की श्रेष्ठता में विश्वास करने तथा उसको अच्छा व नेक मानने का पाठ पढ़ाया जाता है। इससे परस्पर द्वेष, मत्सर तथा घृणा के प्रचार के विपरीत सहज स्नेह सहयोग तथा प्रेम के सद्भाव का उदय व वृद्धि होती है। स्पष्टतः यहाँ मानव को जन्म जात रूप से सद्वृत्तियों वाला ही मानकर चला गया है।

दूसरी विशेषता समाज के आदर्श की है। एक तो सम्पूर्ण समाज की प्रायः एकलक्ष्यता दूसरे स्वयं लक्ष्य। भारतीय-मान के ईश्वर प्रदत्त अमूल्य जीवन का एक उच्च लक्ष्य था, 'नर से नारायण' बनना। मनुष्य द्वारा अपने अन्दर संस्कार प्राप्त दैवी गुणों का विकास करना तथा जीवन के अन्तिम समय बिन्दु पर उद्गम शक्ति में विलीन हो जाना यही इसका अर्थ है।

मनुष्य जन्म से ही पूर्ण मनुष्य अथवा मनुष्यता से परिपूर्ण माना जाता है। उस मनुष्यता से प्रभुता की ओर चलने में जीवन की सार्थकता मानी जाती है। मानव देहधारी पशु को मनुष्यता का कृत्रिम पाठ पढ़ाकर मानुषी प्रयास से 'मनुष्य' बनाने का ढोंग नहीं रचा जाता वरन् यह स्वीकार कर लिया गया

था कि भगवान् से भूल नही होती। वह परीक्षा के लिए खेल मे अथवा विनोद मे भी असत्य का आसरा नही लेता है। अत मनुष्य शरीर मे इस आत्मा को बन्द करते ही उसने इसे मनुष्य बना दिया अर्थात् मनुष्य बनाकर ही इस प्राणी को माँ की कोख से धरती माता की पावन गोद मे उतारा है। यह विचार अपने आप में अनोखा है।

भारतीय संस्कृति की यह अतीव विशेषता है कि उसे 'सत्य' की कल्पना मे से ही 'सत्य' मिला। समाज योग्य व्यक्तियो से भरपूर रहा। यो उद्योगी, कला प्रिय व्यक्ति तो समाज मे होते ही हैं, किन्तु भारत मे नवजीवन की प्रगति का चिन्तन रूपी मूल स्रोत प्रवाहित रहा। भारत मे विशेषज्ञ मनो-वैज्ञानिको व दार्शनिको ने जन्म लिया। अपनी तपस्या और साधना के बल पर उन्होंने मानसिक स्थितियो का प्रत्येक दशा मे विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया। जीवन के कोलाहल से दूर रहकर भी उनके मस्तिष्क मे उसकी प्रतिमूर्ति व प्रतिध्वनि, उपस्थित रह गूजती रही तथा वे समाज के लिए आचरण के सयत तथा लक्ष्य की ओर ले चलने वाले नियमो की रचना करते रहे। इसका कारण उनके मानस मे तथा लोक-कल्याण के भावो का मूल रूप मे होना नही वरन् यही उनका 'नर से नारायण' की ओर बढने का मार्ग थी। इसी पथ पर अग्रसर होते-होते, यात्रा करते हुए वे समाज को चेतना, जागृति तथा स्फूर्ति देते रहे। समाज नम्र, बुद्धिमान तथा स्वाभाविक कल्पना से ही सद्भाव-पूर्ण था। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन का प्रत्येक क्षेत्र मे विकास हुआ और वह अपने चरम-उत्कर्ष पर पहुँचा। देवत्व की साधना ही यहाँ की संस्कृति का मूल प्रेरणा स्रोत रहा, इसका साक्षी सारा ससार है।

भारतीय संस्कृति की चौथी महान विशेषता है, जीवन का सयम और जागरूकता के साथ किया गया आध्यात्मिक विकास। आज हमे प्राय 'क्रान्ति' शब्द की ध्वनि वायु मण्डल, प्राचीरो मे आकाश और पाताल मे होती हुई सुनाई दे रही है। यह इस युग की विशेषता की सूचना नही है वरन एकागी दृष्टिकोण की द्योतक है। क्रान्ति तो प्रकृति के जीवन और मानव का सहजात स्वभाव है। धूप समाप्त हो रही है तुरन्त छाह प्रारम्भ हो रही है। अवकाश नही है यही क्रान्ति है। जीवन मे त्रुटिया होती हैं, तपस्या और साधना के बल पर उनके सुधारार्थ क्रान्ति की जाती है, विद्रोह होता था राक्षसी वृत्तियो के प्रति। किन्तु क्रान्ति का एक नारा एक उद्घोष न था। एक उन्माद न था एक भ्रान्ति न थी। आमूल चूल परिवर्तन का ही नाम क्रान्ति है, आसुरी वृत्तियो के प्रति विद्रोह ही नही, दैवी वृत्तियो के प्रति अनुराग भी होता था। इसी का नाम है विकास। प्राकृतिक क्रम मे जिस सिद्धान्त के अनुसार अन्य

जीवधारी विकसित होते हैं, उससे मानव-जीवन भी विकास पाता है। सतत् प्रयत्न इसी बात का रहता था कि विकास हो विनाश नहीं। असाध्य जीवन म छोटी छोटी त्रुटियाँ असह्य होती हैं, जीवन का निष्पक्ष तथा सापेक्ष अध्ययन किया जाना चाहिए। मानव मात्र मे चिन्तन का आभास व अनुराग होता है। जीवन की प्रत्येक घटना को पूर्व विकसित कमल की भाँति सजाने व सवारने का प्रयास होता है। चिन्तन-रहित अनुशासन अथवा अवहेलनापूर्ण जीवन के द्वार बन्द थे। प्रेरणा का अभाव न था किन्तु प्रेरणा द्वारा किए गए कार्यों की सार्थकता सिद्ध करने का उत्तरदायित्व स्वयं व्यक्ति पर होता था। पहले मनुष्य पर राज्य का भार कम-से-कम तथा सामाजिक बन्धन कड़ा नहीं, मदु किन्तु सुदृढ था। त्याग कोई असाधारण घटना नहीं थी। जो वस्तुएँ, विचार, भावनायें अथवा वृत्तियाँ त्याज्य समझी जाती थीं उनका त्यागना प्रयत्न की एक कड़ी मात्र समझा जाता था। बलिदान का मूल्य था, क्योंकि बलिदान मे सुन्दर स्वार्थों का यहाँ तक कि पुण्य सचय तक का बलिदान करके समाज मे सद्भाव व सहयोग बनाए रखा जा सकता है यह धारणा दृढ थी।

पहले अधिकारो के पीछे अन्धी दौड नही होती थी। किसी को यह चिन्ता नही थी कि उसे अधिकारो के लिए भी प्रयास करना चाहिए। अपने कर्त्तव्यो के पालन की धुन ही सबत्र थी। सीधी सी बात है यदि सभी अपने 'कर्त्तव्य पालन' मे लगे रहें तो सबके सबको अधिकार अनायास ही मिल जायेंगे। गीता का यह वचन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' भारतीय संस्कृति की अन्य संस्कृतियो से पृथकता का द्योतक है। कर्म करने को सभी करते हैं। पर यहाँ कर्म करना कर्त्तव्य मात्र ही नही वरन् कर्म करने का अधिकार है। यह संस्कृति यहीं न रहकर आगे बढती है और 'मा फलेषु कदाचन' कहकर फल प्राप्ति के पीछे सत्यासत्य विवेक का त्याग करके की जाने वाली अन्धी दौड को रोकती है।

ये तो बात जीवन दर्शन की हुई। संस्कृति में भाषा तथा निर्माण कला का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। यहाँ की सभ्यता-संस्कृति ने जीवन-दर्शन के साथ भाषा का सुन्दर सामजस्य स्थापित किया था। संस्कृति की चेतना की अभिव्यक्ति का मूल भाषा गिनी जाती है। भारतीय संस्कृति तो नही किन्तु मध्य पूर्व एशिया की संस्कृति भाषा विश्व भाषाओं का उद्गम मानी जाती हैं। सभी भाषाओं ने कोई न कोई मौलिक चरित्र अपने में विकसित किया है किन्तु भारत ने मूल संस्कृति का प्रत्येक गुण अपने मे समो कर विश्व को वेदों की अमर वाणी के रूप मे भारतीय संस्कृति को निचोड दिया है। अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण संस्कृत भाषा एक सर्वांग सम्पूर्ण भाषा रही और है।

निर्माण कला के उदाहरण तो भारत जैसे कहीं भी नहीं मिलते। मिस्र के

पिरामिड जो कि आज तक मानव-जीवन की अनित्यता की साक्षी दे रहे हैं उनके सामने रोते से लगते हैं। यद्यपि प्रकृति,-परिस्थिति तथा कालवश वह सब कुछ आज नही के समान ही शेष है किन्तु उसके अवशिष्ट अंग से तथा पौराणिक इतिहास, वेदो व अन्य खोजो से जो कुछ भी ज्ञात होता है वह यही है कि यहाँ विज्ञान अपने चरम उत्कर्ष पर था।

यदि संक्षेप में कहें तो भारतीय संस्कृति की विशेषता केवल यही है कि वह एक समग्रतापूर्ण संस्कृति है स्वयंभू है, प्रकृति प्रदत्त है उसमे कृत्रिमता नही, उसमे रस है उसमे जीवन का सूक्ष्मतम विश्लेषण है। सामंजस्य तथा संयम है जिसमे जानने की उत्सुकता है, एक जागृत मस्तिष्क है, संयत हृदय है। उससे सुसंस्कृत, उससे उच्च, उससे महान उससे श्रेष्ठ, सरल और सात्विक, दूसरी कौन संस्कृति हो सकती है? जिसने अपना लक्ष्य प्रभु के चरण बनाया हो, जो वही जाकर प्रभु मे विलीन होकर आलोकित हो, उसी का नाम भारतीय संस्कृति है। इसी कारण मुक्ति का चरम लक्ष्य ही यहाँ सबके सामने रहा है और आज भी है। मुक्ति का लक्ष्य पाने के लिए ही यहाँ की समस्त साधनाएँ और उनकी पद्धतियाँ समन्वय पर बल देती आई हैं।

भारतीय संस्कृति उदार है, विशाल है, उसने अपनाना सीखा है, ठुकराना नही। उसका आदर्श सिद्धान्त है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। सर्वोदय तथा सम्पूर्णोदय पर उसकी दृष्टि सदा लगी रहती है। किसी की हानि उसे असह्य है, सबका हितचिन्तन उसे प्रतिक्षण रहा है। और देखें तो इसमे विशेषता ही क्या है, यह सब तो वह न्यूनतम बोध है जो कि मानव संस्कृति में होना चाहिए। प्रभु हमे इसे पुनः जागृत करने की शक्ति, क्षमता और प्रेरणा दें। ताकि फिर से भारत अपने गुरुत्व के अधिकार और खोए स्थान को प्राप्त कर सके।

८३ भारतीय समाज मे नारी का स्थान

एक ही हित भाव और समान साधना में निरत मानव समूह को समाज कहा जाता है। सामाजिकता का भाव मानवता की प्रभाव विशेषता भी है। मनुष्य समाज एक घोड़ा-गाड़ी के समान है जिसके दो पहिये पुरुष और नारी है। पुरुषों की दशा तो लगभग सभी देशों और समाज मे स्त्रियो की अपेक्षा श्रेष्ठ रही है परन्तु स्त्रियों की दशा समय-समय पर बिगड़ती और सुधरती रही है। विशेष रूप से हमारे देश मे स्त्रियों की सामाजिक दशा में समय के साथ बहुत परिवर्तन हुए हैं।

इतिहास बताता है कि प्राचीन काल में स्त्रियों की सामाजिक दशा बहुत अच्छी थी। उस समय स्त्रियाँ न केवल शिक्षा की दृष्टि से, बल्कि कला-कौशल और युद्ध विद्या की दृष्टि से पुरुषों के समकक्ष थीं। वेदों के मन्त्र दृष्टा ऋषियों में जहां अनेक पुरुष हैं, वहाँ कई स्त्रियाँ भी हैं। वेदों में स्त्री-ऋषियों के सूक्तों का संग्रह होना स्त्रियों की पुरुषों के साथ समानता का सूचक है। वैदिक काल के पश्चात् उपनिषद् काल में भी गार्गी और मैत्रेयी इत्यादि स्त्रियाँ ब्रह्म विद्या में पारंगत थीं और उनका ज्ञान याज्ञवल्क्य और जनक जैसे ब्रह्मविदों के समान ही समझा जाता है। यहाँ तक कि अनेक बड़े बड़े विद्वानों को उन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त भी किया था। वाल्मीकि-रामायण में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि स्त्रियाँ ऋषियों के आश्रम में रहकर पुरुषों के साथ साथ ही उच्च कोटि की विद्या ग्रहण करती थीं। इसी तरह शस्त्र विद्या में भी स्त्रियों के पारंगत होने की बात स्पष्ट है। कैकेयी दशरथ के साथ युद्ध में उसकी सहायतार्थ ही गई थी।

केवल शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से ही नहीं बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी स्त्रियों का स्थान बहुत उन्नत था। स्त्रियाँ जो सम्मति देती थीं वह पुरुषों को आदरपूर्वक सुननी पड़ती थी। महाभारत में द्रौपदी इसका अच्छा उदाहरण है। वह पाण्डवों को यथासमय राजनीति विषयक परामर्श देती रहती थी। वैसे भी हमारे समाज ने चिरकाल से ही स्त्री को पुरुष के समान ही आदर का पात्र बनाया। जहाँ राम और कृष्ण हिन्दू समाज के पूज्य हैं, वहाँ सीता और राधा भी उतनी ही पूजनीया हैं और इसी कारण इनका नाम पहले जुड़ता है।

जब तक हमारे समाज में स्त्रियों का समुचित आदर करने की भावना बनी रही, तब तक समाज उन्नति के शिखरों की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहा। या यों कहना चाहिए कि जब तक हमारा समाज उन्नत रहा, तब तक उसमें नारियों का समुचित आदर होता रहा। बुद्ध के आविर्भाव और अशोक के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त हमारे देश की राजनीतिक दशा तेजी से बिगड़नी प्रारम्भ हुई। केन्द्रीय राजशक्ति क्षीण हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि देश पर विदेशी शकों और हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। बहुत बार हमारे देशवासियों को परास्त होना पड़ा। परास्त देश की कोमलांगी नारियों पर ये विदेशी विजेता अनेक प्रकार के अत्याचार भी करने लगे। अतः उस दुर्बल अवस्था में स्त्रियों की स्वाधीनता की रक्षा कर पाना पुरुषों के लिए सम्भव न रहा। इसलिए उन्होंने स्त्रियों को अन्तःपुर की सुरक्षा में बन्द रखना आवश्यक समझा। भारतवर्ष में राजनीतिक अशान्ति का यह कार्य बहुत लम्बे समय तक रहा। ऐसे समय शिक्षा और कला का ह्रास हुआ करता है। पुरुषों के लिए भी

यथोचित शिक्षा प्राप्त कर पाना कठिन हो जाता है। अशान्ति और उथल-पुथल के कारण जीवन-रक्षा की चिन्ता ही सबसे बड़ी बन जाती है। ऐसी दशा में सबल शत्रुओं की आँखों से परे रखने के लिए अन्तःपुर में रखी जाने वाली स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक दशा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक था।

ज्यों-ज्यों पुरुष समाज अशक्त होता गया, त्यों-त्यों स्त्रियों को अपने ही वश में रखने के लिए तरह तरह के विधि विधान बनाये जाने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पति के मरने पर उसके वियोग से व्याकुल स्त्रियाँ ही सती हो जाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल में ही प्रचलित हो गई थी। परन्तु सभी स्त्रियाँ पति के मरने पर सती नहीं होती थीं। केवल वे ही सती होती थीं जो वैधव्य के कष्ट को सहने की बजाय स्वेच्छा से अग्नि में जलकर मर जाना पसन्द करती थीं। किन्तु अज्ञान और अन्धविश्वासों के कारण बाद में ऐसा होना एक विवशता भरा नियम-सा बन गया। इस राजनीतिक दुर्बलता के काल में यह व्यवस्था की गई कि सभी स्त्रियाँ पति की मृत्यु के साथ सती हो जाया करें। शायद बहुत बार स्त्रियों को सती होने के लिए विवश भी किया जाने लगा।

इन विषम परिस्थितियों में स्त्रियों का सामाजिक गौरव भी क्रमशः क्षीण होता गया। इसका बड़ा कारण यह था कि उस काल में बाहुबल और शस्त्र-कौशल का गौरव ही प्रमुख हो गया। अपनी शारीरिक और सहजात कोमलता के कारण ये गुण स्त्रियों में कम पाये जाते हैं। इसलिए स्त्रियाँ उपेक्षित रहीं और उनका काम केवल पुरुषों का मनोरंजन करना भर रह गया। जिन दो-चार क्षत्राणियों ने वीरत्व प्रदर्शित किया उनके नाम इतिहास में अमर हो गए। दुर्गावाई और लक्ष्मीवाई की गणना इन्हीं में की जा सकती है।

आर्थिक दृष्टि से स्त्रियाँ शायद कभी भी स्वतन्त्र नहीं थीं। परन्तु आधुनिक युग से पहले अर्थ का इतना महत्त्व भी कभी नहीं रहा। आर्थिक पराधीनता ने स्त्रियों को पूर्णतया पुरुषों पर निर्भर बना दिया। पुरुषों ने स्त्रियों की प्रत्येक गतिविधि को ऐसे ढंग से नियन्त्रित किया जिसे वे अपने लिए और समाज के लिए उपयोगी समझते थे, नारी का चाहे उससे कितना ही उत्पीड़न क्यों न होता हो।

तथाकथित जाति की शुद्धता को बनाए रखने के लिए भी स्त्रियों पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाए गए। वे उचित थे या नहीं, इसका निर्णय कर सकना सरल नहीं है। विधवाओं का पुनर्विवाह निषिद्ध कर दिया गया। इसका सबसे बड़ा कारण अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रयास था। पुनर्विवाह से नई सन्तानों की सम्भावना थी, जो सम्पत्ति में अधिकार

दावा कर सकती थी। उसके झंझट से बचने के लिए विधवाओं के विवाह पर रोक लगाई गई। इस रोक का दुष्परिणाम यह हुआ कि विधवाओं का जीवन नरक से भी अधिक कष्टमय हो उठा। उनके इस जीवन को दुःखमय बनाने में स्वयं स्त्रियों का भी उतना ही हाथ था जितना पुरुषों का। स्त्री की सामाजिक दशा और नीचे गिर गई और वह भी अधिकतर स्त्रियों के कारण ही।

व्यवहारतः स्त्री समाज का आधा अंग है। जब किसी समाज का आधा अंग दुर्दशा ग्रस्त हो, तो सारे समाज की दशा देर तक अच्छी नहीं रह सकती। यही बात हमारे समाज पर लागू हुई। स्त्रियों के अधिकार छीन-छीनकर उन्हें पंगु बना देने का दुष्परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ा। स्त्री केवल पत्नी ही नहीं है, वह माता, पुत्री और बहिन भी है। वैसे तो अशिक्षित माता भी पुरुष की सहायता करके उसे उतना उन्नत नहीं बना सकती जितना कि शिक्षित पत्नी बना सकती है। परन्तु माता का अशिक्षित होना तो शिशु के लिए और अन्ततोगत्वा समाज के लिए अभिशाप ही है, क्योंकि बालक को प्रारम्भिक शिक्षा माता से ही मिलती है। अच्छे या बुरे संस्कार, बचपन में जितनी दृढ़ता से बद्धमूल हो जाते हैं, उतने बाद में नहीं हो सकते। जब समाज में सभी माताएं अशिक्षित और अन्धविश्वासिनी हों, तब उस समाज के शिशुओं और बालकों का भविष्य कैसा होगा, यह सरलता से सोचा जा सकता है।

नारी शिक्षा के अभाव का फल हमारे समाज को भुगतना पड़ा और आज तक भी भुगतना पड़ रहा है। सारे देश में अन्धविश्वासों, कुरीतियों और पाखण्डों का ऐसा जाल फैल गया कि उससे हमारी सर्वांगीण अवनति होती गई। राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और आर्थिक सभी दृष्टियों से हम हीन हो गए। फलतः शताब्दियों तक विदेशी दासता का भार हमें ढोना पड़ा। हमारी सारी दुर्दशा का मूल कारण हमारे समाज में स्त्रियों की दुर्दशा के होने को माना जा सकता है। यह मान्यता एक तक संगत तथ्य भी है।

परन्तु समय सदा एक-सा नहीं रहता। जिस प्रकार हमारे देश में राजनीतिक चेतना जागी और हमने विदेशी दासता से मुक्ति पाने के लिए भयंकर संघर्ष किया उसी तरह सहृदय सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उन्होंने बताया कि जब तक समाज के आधे भाग को अशिक्षा और कुरीतियों के बन्धन में जकड़े रहेंगे, तब तक सारे समाज की उन्नति सम्भव नहीं है। महर्षि दयानन्द, राजा राममोहनराय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महात्मा गांधी इत्यादि नेताओं के प्रयत्न के कारण स्त्रियों की दशा सुधारने की ओर लोगों का ध्यान गया, जगह-जगह स्त्रियों के लिए विद्यालय खोले गए, विधवाओं के विवाह की व्यवस्था की गई और परदे

की गर्हित प्रथा के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन किया गया। यह परदा भी आजीवन कारावास से कुछ कम न था, जिसके कारण स्त्री को शेष सारे संसार से अलग होकर जीवन बिताना पड़ता था। बंगाल में प्रचलित सती प्रथा को बाकायदा कानून बनाकर बन्द कर दिया गया। आज इस प्रकार की कुरीतियाँ और पाशविक नियम समूचे देश मे वर्जित हैं।

स्त्रियो की दशा मे विगत चार पाँच दशको मे बहुत अन्तर आया है। न केवल स्त्रियो मे शिक्षा का प्रचार दिनो-दिन बढ़ रहा है, बल्कि उन्होने देश की स्वाधीनता के आन्दोलन में भी पुरुषो के साथ सक्रिय भाग लिया। पुरुषो की तरह उन्होंने भी सत्याग्रह किए, लाठियाँ और गोलियाँ सहीं और वे जेलो मे गई। इससे स्त्री-समाज मे एक नई चेतना और आत्मगौरव जाग उठा है।

अब स्त्रियाँ सभी क्षेत्रो मे आगे बढ़ रही हैं। चिरकाल तक आर्थिक पराधीनता मे रहने के बाद अब उन्होने आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनने का प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है। अध्यापन, चिकित्सा, वकालत, पुलिस वाहक-सवाहक इत्यादि सभी प्रकार के आजीवो (पेशो) मे जाकर वे सफलतापूर्वक काम कर रही हैं।

इस समय हमारे समाज मे वैधानिक दृष्टि से स्त्रियो को और पुरुषो को समान अधिकार प्राप्त हैं। उन्हें उन्नति करने के लिए पुरुषो के बराबर अवसर प्राप्त हैं। परन्तु हमारे देश की अधिकाश जनता गाँवो मे रहती है जहाँ अभी तक शिक्षा का प्रकाश नही पहुँच पाया है। इसलिए वहाँ पर अभी तक भी पुरानी परम्परायें ही चल रही हैं और सविधान वहाँ स्त्रियो की बहुत सहायता नही कर सकता। ग्रामो की तो बात ही क्या है नगरीय नारियाँ भी अभी तक सामयिक जागृति का उपयोग पूर्णतया नही कर पाई हैं। इस दिशा मे नारियो के ही और अधिक जागरुक तथा सक्रिय होने की आवश्यकता है।

मध्यकाल मे हमारे समाज मे स्त्रियो की दशा को बिगाड़ने मे विवाह और उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनो का भी बहुत हाथ रहा है। पुरुष को अधिकार था कि वह एक ही समय मे अनेक स्त्रियो से विवाह कर सकता था, किन्तु स्त्री पुरुष द्वारा परित्यक्ता होकर भी दूसरा विवाह नही कर सकती थी। इसी तरह उत्तराधिकार मे पिता की सम्पत्ति मे पुत्रियो को भाग नही मिलता था। अब सरकार ने नए कानून बनाकर पुरानी स्थिति मे सुधार करने का प्रावधान कर दिया है। नये कानून के अनुसार कोई भी हिन्दू पुरुष एक समय मे एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह नही कर सकेगा और उत्तराधिकारो मे कन्याओ का भाग भी लडको के समान ही माना जाएगा।

इस प्रकार अब हमारा समाज उन दोषो को हटाने के लिए प्रयत्नशील

हैं, जिनके कारण स्त्रियो की दशा बिगडी थी। पिछले दस पन्द्रह सालो मे हुई प्रगति को देखते हुए यह निश्चय से कहा जा सकता है कि शीघ्र ही स्त्रियों की स्थिति इतनी सुधर जाएगी कि वे प्रत्येक क्षेत्र मे न केवल पुरुषो का मुकाबला करने लगेंगी, बल्कि उनसे कुछ आगे भी निकल जायेंगी। समस्या के दूसरे पहलू स्त्रियों की बढती असुरक्षात्मक स्थिति भी विचारणीय है। सुरक्षा व्यवस्था और भावना ही सम्पूर्णता समाधान कर सकती है।

८४ नारी और नौकरी

आधुनिक अर्थ-प्रधान युग मे, स्वावलम्बन और स्वाधीनता के नाम पर नारी को नौकरी के लिए बाधा होना पड रहा है। या हिन्दू धर्म को मानने वाले नर की नारायण से और नारी की लक्ष्मी से उत्पत्ति मानते हैं। भारतीय संस्कृति मे तो नारी को पुरुष से भी अधिक सम्मान दिया गया है। एक स्थान पर स्वयं मनु ने कहा है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" भारतीय धार्मिक अनुष्ठान बिना पत्नी के सहयोग के पूर्ण नही हो सकते हैं। प्राचीन काल मे स्त्रियाँ विद्याध्ययन एव धार्मिक कृत्यो मे भाग लेने के साथ-साथ रणक्षेत्र मे भी पति को सहयोग दिया करती थी। कैकेयी ने युद्ध मे दशरथ के रथ की रक्षा करके उनसे दो वरदान प्राप्त किए थे। स्वयंवरो के द्वारा वे अपनी इच्छानुसार पति चुनती थी। सती मदालसा की तरह वे अपने पुत्र एव पुत्रियो को उत्तम उपदेश देकर मुक्ति का अधिकारी बना देती थी। गृहस्थ की गाडी को सुचारु रूप से चलाने के लिए स्त्री और पुरुष दो पहियो के समान माने जाते हैं। इस प्रकार नारी प्रत्येक कदम पर पुरुष की सहयोगिनी के रूप मे आती है।

कालान्तर मे पुरुष प्रधान समाज के द्वारा नारी अपने उच्च पद से पतित कर दी गई। दया एव करुणा की मूर्ति नारी ने भी प्रेमवश अपने को पुरुष के सम्मुख समर्पित कर दिया किन्तु निर्दयी पुरुष ने उसे बन्धनों में जकड दिया। स्त्रियो ने गृहलक्ष्मी बनकर सेवा का जो भार उठाया था, उसे उनकी शक्ति-हीनता एव कायरता समझ कर पुरुष ने उन्हें अबला बना दिया। अर्धांगिनी के स्थान पर उसे केवल दासी एव वासना-पूर्ति का साधन बना दिया गया। घर की चारदीवारी मे कैद करके उनके स्वतन्त्रता के अधिकार का अपहरण कर लिया गया। इसके लिये परिस्थितियां कहाँ तक जिम्मेदार रहीं, यह बात अवश्य विचारणीय है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पहुँचते-पहुँचते स्त्रियो की दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई। पर्दा प्रथा, उच्च शिक्षा का अभाव आदि कुछ ऐसे अवगुण आ गये थे जिनके फलस्वरूप वह केवल मात्र करुणा की एक कहानी बनकर रह गई। उसकी हृदय विदारक अवस्था को देखकर कवि के हृदय से ये पक्तियाँ स्वत निसृत हुई थी—

"अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी!
आँचल में है दूध और आँखों मे पानी।"

युग बदलते देर नही लगती। शनै शनै नारी समाज मे भी जागृति की लहर आई। पाश्चात्य देशो मे नारी-स्वतन्त्रता के जो आन्दोलन चले, उनकी हवा यहाँ भी पहुँची। शिक्षा के क्षेत्र मे उसने कदम बढे और स्वातन्त्र्य चेतना जागी। यहाँ के सुधारको और प्रगतिशील राजनीतिज्ञो ने भी उसे प्रोत्साहन दिया। परिणामस्वरूप अपने अधिकारो के प्रति वह सजग हुई तथा उनके लिए वे सघर्ष से भी पीछे न हटी। उन्होने पुरुष के समान अधिकार प्राप्त किए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे पुरुष के साथ कधा मिलाकर आगे बढ रही हैं तथा उन्होने ससार को अपनी योग्यता का प्रमाण देकर चकित कर दिया है।

किन्तु आज भी कुछ ऐसे दकियानूसी प्रवृत्तियो वाले व्यक्ति हैं जो स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार देने के विरोधी हैं। उनके विचार मे यद्यपि विदेश मे स्त्रियाँ पुरुषो के समान ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भाग ले रही हैं, किन्तु भारतीय स्त्रियो के लिए यह मार्ग उचित नही है। उसकी विचारधारा का सबसे प्रमुख आधार यह है कि वे स्त्रियो को अब भी अबला समझते हैं। अत कुछ व्यक्तियो को स्त्रियो के नौकरी करने पर आपत्ति है। परन्तु इस आपत्ति को उचित नही ठहराया जा सकता।

हमारे शास्त्रो मे स्त्रियो को गृहिणी कहा गया है। क्योकि वे बाहर के अन्य कार्यों की तुलना मे घर बार का कार्य अधिक सहेजकर तथा सुन्दरतापूर्वक कर सकती हैं। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति नारी के नौकरी करने के विरोधी हैं। उनके विचार मे यदि स्त्रियाँ घर का काय त्यागकर कार्यालयो का काम सभाल लेंगी तो घर की सारी व्यवस्था नष्ट हो जायेगी। यदि वे कोई नौकर रख भी लें तो भी चतुर गृहिणी के हाथ से सजे हुए घर की सुन्दरता कुछ और ही होती है।

इसके विरोध मे कुछ व्यक्तियो का यह मत है कि हम पुरुषो न ही स्त्रियो को घर म कैद करके उन्हें बाहर के कार्यों के लिए अयोग्य बना दिया है। अत यदि स्त्रियो के कार्यक्षेत्र को घर की चारदीवारी के क्षेत्र से अधिक व्यापक कर दिया जाय तो स्त्रियाँ बाहर के सभी कार्यों मे भी उतनी ही चतुर हो

जायेंगी जितनी कि वे घर के कार्यों में हैं। इसके अतिरिक्त जो पुरुष स्त्रियो के नौकरी करने के पक्ष मे नही हैं, उनका कहना है कि यदि स्त्रियां घर से बाहर कदम रखेंगी तो वे पुरुषो की कुवासनाओ का शिकार बन जायेंगी। स्त्रियो मे बुद्धि के स्थान पर हृदय पक्ष अधिक सबल होता है। वे स्वभावत कोमल एव भावुक होती हैं। अत पुरुषो के चगुल मे उनका फस जाना अधिक कठिन नही है। फिर भी पुरुष तो उन्हें फासने के चक्कर मे अनवरत रहता ही है।

किन्तु प्रगतिशील अधिकाश जन इससे सहमत नही हैं। यदि स्त्री आज कोमल एव भावुक है तो उसका दोष भी पुरुष समाज पर ही है। उसने स्त्रियो को समुचित शिक्षा न देकर उनके मस्तिष्क को सकुचित और हृदय को सकोण बना दिया है। एक शिक्षित स्त्री किसी भी अवस्था मे कम नही कही जा सकती। नारी के नौकरी करने पर कुछ लोग इस कारण भी विरोध करते हैं कि हमारे देश मे बेरोजगारी दिन-प्रति दिन बढती जा रही है। वर्तमान समय मे तो पुरुषो को नौकरी नही मिल रही है तब नारी का नौकरी करना कहाँ तक समीचीन है। किन्तु यह बात कहने से पूव कहने वाले यह भूल जाते हैं कि नर और नारी मे भेद की दीवार खडी करने वाले भी हमी हैं।

उपयुक्त विचारधारा मे अब धीरे धीरे परिवतन आता जा रहा है। हिन्दू कोड बिल के पास हो जाने से इसे अब कोई भी अस्वीकार नही कर सकता कि स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार न दिये जाए। आज नारी वैधानिक दृष्टियो से पैतृक सम्पत्ति की भी भागीदार बन चकी है। युगो से पद दलित नारी समाज आज जागा है। उसमे अपने छिने अधिकारो को पुन प्राप्त करने की महती अभिलाषा है। वह पुरुष समाज से अपने आपको किसी भी अवस्था मे हीन नही समझता है। यही कारण है कि स्त्रियो भी आज नौकरी के लिए पुरुषो के साथ प्रतियोगिता कर रही है। वे आर्थिक दृष्टिकोण से पुरुषो की सदा पराधीन रही हैं। अत पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक ही नही अपितु अनिवाय भी बन जाता है कि वे अपने परो पर आप खडा होना सीखें। तभी पुरुष उन्हें अपने समान समझने लगेंगे। उनका सर्वांगीण महत्व पहचानेंगे।

नारी की दासता एव अधिकार-वचना का कारण भी यही है कि वह जीवन-मरण के लिए पुरुषो के अधीन रही हैं। तब हम आज की सुशिक्षित एव कायकुशल नारी से इस बात की कसे आशा कर सकते हैं कि वह आर्थिक स्वतन्त्रता को छोडकर अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता से भी हाथ धो बैठे। कुछ काय जैसे डाक्टरी, बाल शिक्षा इत्यादि ऐसे हैं जिनके द्वारा नारी समाज का महत कल्याण कर सकती है। आज तो प्रत्येक क्षेत्र मे वह अपनी काय कुशलता का परिचय देती है। महगाई के जमाने मे केवल पुरुषो

की आय मे घर गृहस्थी का निर्वाह अत्यन्त कठिन हो गया है। अत यदि पति और पत्नी दोनो मिलकर कमाएँ तो उनके जीवन निर्वाह का स्तर बहुत ऊपर उठ जाएगा। अत जिन व्यक्तियो को नारी के नौकरी करने मे आपत्ति है, वह निराधार है।

स्वतन्त्रता के सग्राम मे स्त्रियो ने भी पुरुषो के समान ही बलिदान दिया है। वे महात्मा गाँधी के पद चिन्हो पर उसी दृढता से चली हैं जिस दृढता के साथ पुरुष चले हैं। उसे किसी भी अवस्था मे पुरुष से हीन या निर्बल मानना हमारी अपनी दुर्बलता का चिन्ह है। उसमे भी उतना ही उत्साह धैर्य, बल, बुद्धि तथा साहस है जितना कि पुरुष मे है। इसका प्रमाण वे नारियाँ हैं जो आजकल नौकरी करके अपने पति का हाथ बटा रही हैं एव घर की व्यवस्था स्थिर रखने मे सहयोग दे रही हैं। यद्यपि हमारी भारतीय सस्कृति के अनुसार स्त्रियो का कार्य क्षेत्र घर ही है, तथापि समय पडने पर वे अपनी उन्नति करने के लिए घर से बाहर के कर्म क्षेत्र मे भी उतर सकती हैं। इसके लिए उन्हे किसी भी प्रकार की मनाही नही है। सच तो यह है कि सांस्कृतिक दृष्टियो से नारी का ससार घर तक सीमित करना भी अधिकारी पुरुष समाज की एक चाल मात्र थी। पर आज वह कुचक्र भी टूट चुका है और नारी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति पथ पर अग्रसर है। अब तो प्राय सभी क्षेत्रो मे उसने अपने-आप को पुरुष से अधिक सक्षम भी प्रमाणित कर दिया है। पुरुष समाज की हीन मानसिकता के कारण जो समस्याएँ उठ खडी हुई हैं, वह अलग से चाविरणीय विषय है।

८५ यातायात-समस्या

मानव-जीवन समस्याओ का घर है। जीवन-गति एक के बाद दूसरी समस्या को जन्म देती रहती है। जीवन के परिप्रेक्ष्य मे अनेक प्रकार की समस्याएँ आज केवल भारत ही नही बल्कि समस्त विश्व को आक्रान्त किए हुए हैं। फिर भारत को तो समस्याओं का देश ही कहा जाता है। यदि गम्भीरता से देखा जाय तो आज भारत और विश्व के सामने अनेकानेक समस्याएँ उपस्थित हैं, वैज्ञानिक युग की अनेकानेक उपलब्धियाँ ही इसके मूल मे विद्यमान हैं। विज्ञान जहाँ पर एक समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है, या उसके समाधान के लिए कोई नया उपकरण विश्व-मानवता को प्रदान

करता है, वही से किसी नवीन समस्या का समारम्भ हो जाता है। इसके विपरीत जब हम विगत-जीवन और उसके रहन सहन के ढग पर विचार करते हैं तो निश्चय ही तब का ससार और उसका जीवन आज की तुलना में अधिक सुखी और अधिक शात प्रतीत होने लगता है। कम-से कम तब के जीवन मे आज के समान मानव का प्रत्येक कदम समस्यात्मक तो नही ही था। आज विज्ञान ने जीवन को जो मशीनी गति सा चालित कर दिया है, अनेक समस्याएँ उसी के कारण हमारे सामने आई हैं। जहाँ तक यातायात की समस्या का प्रश्न है तब व्यक्ति बहुत कुछ इस बारे मे निश्चिन्त था। उसे स्वत ही अपने उपलब्ध साधनो के रूप मे इसकी व्यवस्था करनी होती थी और निश्चय ही वह कर लिया करता था। आज के समान उसका जीवन निश्चय ही परमुखापेक्षी तो नही था। वह पैदल चलता था, या बैलगाड़ी पर, घोड़े पर चलता था या टमटम अथवा इक्के पर निश्चय ही वह निर्धारित समय पर अपनी निश्चित यात्रा तय करके निर्धारित स्थान या गन्तव्य पर पहुँच जाने मे समर्थ हो जाया करता था। इसके विपरीत आज यातायात के अनेकानेक समुन्नत साधनो के उपलब्ध हो जाने पर भी यह कितनी विडम्बना की बात है कि आज मानव निश्चित समय पर अपने गन्तव्य पर पहुँच ही पाएगा, यह कोई निश्चित रूप मे कह नही सकता। उसकी सुरक्षित यात्रा की भी कोई गारन्टी नही की जा सकती।

आज यातायात के अनेक साधन हमारे पास मौजूद हैं। जितने साधन हैं, समस्याओं के भी उतने ही रूप विद्यमान हैं। यातायात से यहाँ हमारा अभिप्राय केवल मनुष्य-यात्रियो के इधर उधर आने जाने से ही नहीं है, बल्कि व्यापारिक दृष्टियो से माल-असबाब के लाने-ले जाने से भी है। जहाँ तक व्यक्तियो के आने-जाने का प्रश्न है उनके लिए आज यातायात के अनेक प्रकार के साधन उपलब्ध हैं। सम्पन्न लोगो के पास अपने साधन विद्यमान हैं। उनके पास मोटरें, कारें जीपें, मोटर साईकिल, स्कूटर आदि विद्यमान हैं। अत साधन-सम्पन्न लोगो के लिए न तो आज ही कोई समस्या विद्यमान है और न पहले ही कभी थी। इस प्रकार बड़े-बड़े प्रतिष्ठानो ने अपने माल असबाब को ढोने के लिए भी अपने अनेक प्रकार के साधन उपलब्ध कर रखे हैं। दूर-दराज की यात्रा करने के लिए, अपने माल-असबाब को ढोने के लिए भी साधन-सम्पन्न लोगो के सामने कोई बडी समस्या नहीं है। वे लोग जाने आने के लिए हवाई जहाज तक का भाड़ा देकर उन्हें प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार वे लोग अपने माल असबाब को ढोने के लिए भी उपरोक्त साधनो का प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन मूल समस्या उन लोगो की है कि जो साधन-हीन हैं। इनमें

मजदूर किसान, छोटे वर्गों के व्यापारी, दफ्तरों के बाबू तथा अन्य सामान्य व्यक्ति आते हैं। इन्हें यदि कहीं जाना होता है तो यातायात की समस्या उनके सामने मुँह बायें खड़ी रहती है। यदि वे सामान्य कारोबार की दृष्टि से अपना माल असबाब कहीं भेजना चाहते हैं, तब भी उनके सामने यातायात की विकट समस्या मुँह बाए खड़ी दिखाई देती है। यहाँ हम अपनी बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहते हैं। उदाहरण देश की राजधानी दिल्ली को ही लिया जा सकता है। यहाँ स्थानीय बस-सेवा का जब अधिक विस्तार नहीं हुआ था तो लोग बिना किसी हील-हुज्जत के अपनी नौकरियों पर अपने ही साधनों से समय पर पहुँचा करते थे, कारोबारी और व्यापारी अपने संस्थानों तथा दुकानों पर भी उसी प्रकार यथासमय पहुँच जाया करते थे। उसके बाद अनेक रूटों पर बस-सेवा का विस्तार किया गया। यह विस्तार तो कर दिया गया किन्तु साधन यानि बसें उतनी या पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न की जा सकी, जितनी आवश्यक थी। परिणाम यह हुआ कि लोग अपने परम्परागत यातायात के साधनों (पैदल या साईकिल पर चलना भी) छोड़ कर बसों के मोहताज होकर रह गए हैं। उनकी आदत बिगड़ गई है। परिणाम स्वरूप उचित और उपयुक्त साधनों के अभाव में अब वे पहले साधनों का उपयोग करने की आदत भी बदल बैठे और नए साधन भी ठीक ढंग से उपलब्ध न हो सके। फलस्वरूप आज वे अपना समय, शक्ति और कई बार साधनों का भी जितना दुरुपयोग बसों की प्रतीक्षा या उन पर सवार हो पाने में करते हैं, उतना उन्हें न तो पहले करना पड़ता था और न किसी प्रकार की हानि ही उठानी पड़ती थी। शरीर और कपड़े आदि सुरक्षित रखते हुए बस-यात्रा कर लेना बड़ा गनीमत समझा जाता है।

दिल्ली की बस-सेवा एक उदाहरण मात्र ही है। अन्य बड़े नगरों और देहातों में भी उनके कारण आज लोगों की परम्परागत आदतें खराब हो चुकी हैं और यातायात की इस समस्या का लगभग यही रूप है। इसप्रकार की वैज्ञानिक सेवाओं ने लोगों की आदतों को किस सीमा तक बिगाड़ कर उन्हें अपाहिज और निष्क्रिय कर दिया है इसका मैं एक अन्य उदाहरण देना चाहूँगा। पंजाब और हरियाणा के ग्रामों में पहले बिजली नहीं हुआ करती थी। लोग कड़वा तेल या कैरोसिन के लैम्प जलाकर अपना अंधकार काट लिया करते थे। जहाँ तक हवा का प्रश्न है, उसके लिए वे बिजली के पंखों के मुखापेक्षी न होकर प्राकृतिक हवा के ही अधिक आश्रित थे। या फिर साधन-सम्पन्न लोगों ने घरों में रस्सी खींचकर हवा करने वाले पंखे लगा रखे थे। इतना ही नहीं, वहाँ पर आटा पीसने वाली चक्कियाँ भी बिजली पर आश्रित नहीं, बल्कि वे विशेष तेल

में चला करती थी । या फिर लोग घराट या खराश पर पीस कर ग्राटा पकाया करते थे । किन्तु अब बिजली तो प्रत्येक गाँव में कहने को पहुंच गई है, पर उसकी मात्रा इतनी कम है कि उसका उचित और वांछित उपयोग ग्रामीण जन कभी भी नही कर पाते । हुआ यह है कि इस बिजली की पहुंच ने वहाँ के लोगों की परम्परागत आदतें बिगाड दी हैं । वहाँ नगरो की बिजली और बस-सेवा के समान हाय बिजली ! हाय बस !' मची रहती है । अब वे लोग बिजली के बिना एक पल भी रह पाने मे अपने आपको असमर्थ पाते हैं । बिजली का अभाव आटा-चक्कियां तक को व्यर्थ करके रख देता है और ग्रामो का परम्परागत निजाम ही तहस-नहस या दरहम-बरहम होकर रह जाता है । ठीक यही स्थिति आज नगरो और ग्रामो मे यातायात की भी हो गई है—हाय ! तौबा ! और बस ?

अब तनिक रेल-यातायात के सम्बन्ध में भी विचार कर लिया जाय ! हमारे विचार मे वहाँ की स्थिति स्थानीय बस सेवाओं से भी अधिक खराब है ? दूर यात्री गाडियो की बात तो छोडिए, उन पर चढ़ पाना चित्तौड गढ को फतह करने के समान तो है ही जहाँ यातायात के लिए स्थानीय रेल-सेवा विद्यमान है, वहा की स्थिति भी किसी प्रकार से अच्छी नहीं कही जा सकती । बम्बई, कलकत्ता और सीमित अर्थों मे राजधानी दिल्ली मे इस प्रकार की सेवा उपलब्ध है । पर यहा स्थानीय रेलो मे भी व्यक्ति की क्या दुर्गति होती है उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही है । आदमी पर आदमी चढा होता है, हिलना डुलना तो क्या सास तक ले पाना दूभर हो जाता है और इस प्रकार के भीड भडक्के में यदि किसी की जेब या अन्य सामान भी साफ हो जाय तो सामान्य बात ही कही जानी चाहिए । अब जरा दूर-दराज की यात्रा करने वाली रेलों का भी जायजा ले लिया जाये । उनमे तो हमेशा इतनी भीड भाड रहती है कि बच्चों, बूढ़ों और नारियो के लिए किसी डिब्बे मे घुस पाना प्राय असम्भव हो जाता है । यदि किसी प्रकार घुस भी गए तो भीतर सामान पर बैठ पाने की भी जगह प्राय नही होती । कई बार तो कुछ लोग बिचारे अपने हल्के-फुल्के सामान खड़े खड़े हाथों मे उठा कर भी यात्रा करते हुए देखे जा सकते हैं । कहा जा सकता है कि दूर दराज की यात्रा करने वालो को अपना स्थान पहले से ही सुरक्षित करा लेना चाहिए । पर 'सुरक्षा खिडकियों' पर क्या कम भीड होती है ? फिर वहाँ तो अठारह पन्द्रह दिन पहले ही सब सीटें भर चुकी होती है । क्योकि बाबू लोगो ने रिश्वत लेकर अपनी जेबें जो भरनी होती हैं । ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि जब किसी यात्री का प्रतीक्षा-सूची मे नाम लिख लिया गया, बाद में स्थान रहने पर भी उसे तभी दिया गया कि जब उसने दो चार रुपये

देकर कडक्टर की पूजा कर दी। एक तो रेलो की कमी, उस पर रिश्वत और खुला भ्रष्टाचार, और आज दूर-दराज की यात्रा कितनी कठिन हो गयी है। -

रेलवे की मालगाडियो में भी बिल्कुल ऐसी ही स्थिति है। वहा भी रिश्वत दिए बगर आप अपना माल बुक नही करवा सकते। बडी-बडी फर्मों ने तो प्रति नग के हिसाब से बाबुओ के साथ एक दर निश्चित कर रखी है, अत उनका माल जाता-आता रहता है। पर सामान्य व्यक्ति को दुर्भाग्य से यदि कही कुछ रेल से भेजना पडता है तो बिना बाबुओ की पूजा किए छोटे से पार्सल के लिए भी माल या अन्य गाडियो मे कोई स्थान नही रहता। इतना ही नही सामान्य व्यक्ति यदि कोई माल छुडाने जाता है, तो भी उसे पूजा चढानी ही पडती है। नही तो माल पडा सडता रहेगा और बाद मे जो समय पर न छुडाने के कारण जुर्माना देना पडेगा, वह अलग। उस पर गजब यह कि उनकी सुनने वाला कही कोई नही। इसी कारण कई बार उसे माल के दाम से अधिक जुर्माना देना पडता है और मजा यह कि तब भी भारतीय रेलवे का घाटा प्रतिवर्ष बढता ही जा रहा है। अनन्त यात्री हैं रेलो पर सफर करने के लिए, अनन्त माल भी है रेलो पर जाने के लिए— इनके लिये वहाँ जगह नही और घाटा, वाह! क्या बात है? इसके मूल मे कारण है रेलवे बाबुओ की मिली-भगत। वे रिश्वत लेकर कम वजन लिख देंगे। बडी फर्मों को वक्त पर माल छोड देने या देर से छुडवाने पर भी जुर्माना न लगने देने के लिए प्रतिनग के हिसाब से दर निश्चित है— फिर रेलवे को घाटा क्यो न हो? इस प्रकार यातायात का यह साधन भी आज सामान्य जन के लिए एक पहेली और अपहुँच का साधन बनकर रह गया है। वह जाए तो कहाँ? कोई पूछने वाला भी तो नहीं!

दूर दराज की यात्रा के लिये आज बस सेवा भी उपलब्ध है। वह भी इतनी अपर्याप्त है कि व्यक्ति का सारा व्यक्तित्व एक तीखा व्यग्य बनकर रह जाता है। हमारे विचार मे आज सामान्य जन को यदि सर्वाधिक अपमानित होना और हीनता का अनुभव करना पडता है तो यातायात के साधनों तक पहुच पाने के अवसर पर ही। आम व्यक्तियो को कम से कम दो बार प्रतिदिन तो अवश्य ही इन स्थानीय बसो के साथ जूझना पडता है और उसका यह सघर्ष युद्ध भूमि के सघर्ष से कम नहीं होता। उस पर सवाहको का व्यवहार (रेल और बस-सेवा दोनो के) तो और भी अधिक अपमान जनक और सामन्तवादी होता है। वे लोग यह समझते हैं कि जैसे यात्रियो को सवार होने देकर उनसे पैसे लेकर भी उन पर बहुत बडा अहसान कर रहे हैं। उपरोक्त ब्यौरों और विवरणो से स्पष्ट है कि आज आवा जाही तथा अन्य उपयोगों के लिए याता यात की समस्या कितनी उग्र एव भयावह हो चुकी है।

उपरोक्त सरकारी या गैर-सरकारी साधनों के अतिरिक्त यातायात के कुछ अन्य साधन भी बड़े-बड़े शहरों में उपलब्ध हैं। ऐसे साधनों में हाथ रिक्शा या साईकिल रिक्शा, टैक्सी, स्कूटर और तांगा आदि आते हैं। इनकी दुनिया भी अपनी और निराली है। जहाँ तक हाथ रिक्शा और साईकिल रिक्शा का प्रश्न है उनके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उचित है। क्योंकि वे बेचारे तो किसी प्रकार मानव का बोझा ढोते हुए अपने जीवन को भी ढो रहे हैं, किसी प्रकार पेट भरने की समस्या से पशुओं के समान जूझ रहे हैं। परन्तु अक्सर देखा जाता है कि सवारी चाहने वाले को विषम परिस्थितियों में फंसा देखकर यह भी अनुचित लाभ उठाने से बाज नहीं आते। परन्तु उनका यह अनुचित लाभ असह्य सीमाओं तक प्रायः नहीं होता। फिर भी हमारे विचार में ये लोग अधिकांशतः मानव-सहानुभूतियों के ही अधिकारी हैं। परन्तु तांगा, स्कूटर और टैक्सी वालों की तो मनमानी का कहना क्या ? ये लोग आपको वहीं ले जायेंगे कि जहाँ उनकी इच्छा होगी। उस पर निर्धारित किराया से अक्सर अधिक वसूली की ही चेष्टा करेंगे। विशेषकर जिस दिन या जिस समय बस आदि के साधन तनिक दुर्बल रहते हैं, तब तो ये लोग दोनों हाथों से लूटने की चेष्टा करते हैं। जैसे, त्यौहार तथा उत्सवों के दिनों में तो इनकी लूट अत्याचार की सीमा तक बढ़ जाती है। कितनी विचित्र बात है कि अपने आपको माता अन्य देवी-देवता का भक्त समझने वाला उनके नाम पर, दिन विशेष पर प्रस बाँटने वाला और उनके चित्र स्कूटर या टैक्सी में लगाकर चलने वाला सवाह उन्हीं के त्यौहारों या धार्मिक उत्सवों के दिनों पर जनता के कपड़े तक उता लेना चाहता है। जैसे सब्जी फल वाले व्रतों और उत्सवों के दिनों पर जनत को मनमाने ढंग से लूटते हैं उसी प्रकार ये तांगे स्कूटर और टक्सियों वा भी। इससे लगता है कि हमारा धार्मिक सांस्कृतिक और नैतिक चरित्र कों रह ही नहीं गया। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति यातायात के इन साधन का भी प्रयोग नहीं कर पाता। यदि कभी विवशता से करता भी है तो बाद अपने आपको बुरा-बुरा सा अनुभव करने लगता है। फिर इस प्रकार के साधन के सवाहकों की भाषा तो बस और रेल के सवाहकों से कहीं अधिक गिरी हु तथा अपमानजनक होती है। बड़े रेलवे स्टेशनों से उतर कर जिनका पाल इनसे पड़ता है वे भुक्तभोगी अच्छी तरह इन की मनोवृत्तियों का शिकार ह भाग्य को कोसते देखे जा सकते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आज इस देश के ग्रामों से लेक छोटे बड़े नगरों तक सभी प्रकार के और सभी दृष्टियों से यातायात के साधन की क्या दशा है। यह समस्या कितनी गहरी और कितनी व्यापक है, इनके

चक्कर में फँसे सामान्य जन कितने धन, शक्ति और समय का अपव्यय कर रहे हैं साथ ही कितने अपमानित और प्रताड़ित भी हो रहे हैं। बसो और रेलो में यात्रियो के सामान्य सुविधा के लिए अक्सर झगडे भी हो जाते हैं। सिर फूटना आदि तो सामान्य बात है, प्राण जाने और हत्याओ तक की नौबत आ जाती है। सवाहको से झगडे होते हैं। सवाहको का व्यवहार सभी दृष्टियो से अनुचित एव अपमान जनक होने पर भी सरक्षण उन्हें ही प्राप्त होता है—क्योंकि वे सरकारी व्यक्ति होते हैं। प्राइवेट सवहन मे यदि सवाहको के अनुचित व्यवहारो के प्रति दिखावे की कोई कार्यवाही भी की जाती है तो नाम मात्र की। इसी कारण उसका प्रभाव अधिक और वह भी प्रतिक्रियात्मक ही होता है। अत चारो और यातायात के साधनो के चक्कर मे बेचारी आम जनता पिस रही है। उसकी सुनने वाला, उसे उबारने वाला कही कोई दिखाई नही देता। वह मार खा रहा है और उसे मार खाते ही रहना है। अन्य कोई चारा नही।

कभी कभी जनता का आक्रोश भी उन सेवाओ के प्रति प्रकट होता है। बसो और रेलो का घेराव होता है। विद्यार्थियो के आन्दोलन होते हैं। बाबू लोग और सामान्य जन भी अनेकश घेराव और आन्दोलन जैसा कुछ करते हैं। पर सबका परिणाम समय, शक्ति और धन के अपव्यय से अधिक कुछ भी नही हो पाता। समस्या ज्यो की त्यो रह जाती है। आज जीवन का दैनिक वेग द्रुत से द्रुततर होता जा रहा है। आवश्यक जीविका के साधन जुटाने के लिए सामान्य जन को दिन-रात बडी तेजी से भागना पडता है। पर दूरी इतनी अधिक होती है कि चलकर या भागकर व्यक्ति वहाँ तक नही पहुँच सकता। अत अनिवार्यत उसे यातायात के साधनो की आवश्यकता पडती है। वे इतने कम और अस्त व्यस्त हैं कि आबादी के अनुपात से आवश्यकता को पूर्ण नही कर पाते। इस कारण राष्ट्रीय शक्ति और धन का कितना दुरुपयोग होता है, अनुमान नही लगाया जा सकता। अव्यवस्थित साधनो से अव्यवस्थित सा होकर जब कोई व्यक्ति कर्मचारी दफ्तर या कारोबार स्थल पर पहुँचता है तो व्यवस्थित होने मे काफी समय बरबाद कर देता है। फिर वापसी पर उसे पहले से ही तैयारी आरम्भ कर देनी पडती है। विशेषत सरकारी क्षेत्रो मे इस सबके परिणाम स्वरूप शक्ति, समय और धन की कितनी राष्ट्रीय क्षति हो रही है, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

अन्त मे हम यही कहना चाहते हैं कि यातायात के साधनो मे सुधार और व्यापकता लाने के लिए आज युद्ध-स्तर पर कार्य करने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र मे राष्ट्रीय चरित्र और नैतिकता की भी आवश्यकता है। सरकार यदि राजस्व की हानि बचाना और उनमे वृद्धि करना चाहती है तो

क्षेत्रो मे भी बडी सावधानी से युद्ध-स्तर पर ही कार्य करना होगा। तभी इस समस्या का समाधान होगा। नही तो सदा अपमानित होने वाली जनता का हिंसक आक्रोश आग के समान ही भडकता रहेगा। बल्कि सघातक स्थिति तक भी भडक सकता है। परिणाम कितना घातक होगा, इसका अनुमान छोटे-छोटे भडकावो से सहज ही लगाया जा सकता है।

८६ नारी का आभूषण सौन्दर्य नहीं, सौम्य गुण

नारी स्वभाव से ही, प्रकृति से भी कोमल और सुन्दर होती है। वह समाज का प्रमुख अग भी पुरुष के समान ही है। समाज की गाडी तभी ठीक चलती है कि जब पुरुष और स्त्री दोनो मे ही आवश्यक गुण विद्यमान हो। दोनो का ही समाज के सामने सुदर, स्वस्थ रूप हो। पुरुष के लिए शील, माधुर्य और सौम्य स्वभाव के अतिरिक्त वीरता, साहस, निर्भीकता, दृढ सकल्प आदि प्रधान गुणो का होना भी अति आवश्यक है और नारी के लिए मधुर वाणी मधुर स्वभाव, शील, सेवा, कर्तव्यपरायणता आदि सौम्य गुणो का होना आवश्यक है। इन गुणो के अभाव मे नारी का नारीत्व ही व्यर्थ है। वह एक सच्ची माता तथा सच्ची गृहलक्ष्मी नही बन सकती। अपने व्यक्तित्व मे अपूर्ण और अधूरी ही समझी जाती है।

आज बहुत दु:ख के साथ कहना पडता है कि प्राचीन काल मे जो नारी पूजनीय समझी जाती थी, जो गृहलक्ष्मी तथा आदर्श माता होती थी, उसी नारी को समाज मे पुरुषो की केवल वासनापूर्ति का साधन मात्र समझा जाता रहा है। आज नारी का केवल एक रूप ही समाज के आगे रहता है और वह है रमणी का। रमणी शब्द मे तो केवल वासना पूर्ति की भावना विद्यमान रहती है और इसीलिए रमणी शब्द के सुनते ही उसके अप्रतिम सौंदय तथा रूप का स्मरण हो आता है। यह मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह सौंदर्य की ओर आकर्षित होता है। यही कारण है कि वह आदि काल से ही नारी को अधिक-से-अधिक आकर्षक रूप मे देखने के लिए उत्सुक रहा है। दूसरी ओर नारी भी अपने जीवन का लक्ष्य पुरुष के सामने अपना अधिकतम आकर्षक रूप प्रस्तुत करना ही समझती रही है। वह इसी को अपने जीवन की सार्थकता समझकर अपने को कृतकार्य मान प्रसन्न होती रही है।

अपनी असमंजसता की स्थिति में नारी पुरुष को अपनी ओर अधिकाधिक आकृष्ट करने के लिए अपने सौंदय को वन पुष्पों तथा सोने-चांदी के आभूषणों से शृंगार करके द्विगुणित करने लगी। समय व्यतीत होता चला गया और आज वह समय आ गया है कि सोने चांदी, हीरे, जवाहरात तथा मोतियों के आभूषण सौंदय वद्धि के साथ साथ सम्पन्नता का भी गौरव बोध कराने लगे हैं। नारी की हीनता-पराधीनता के कारण भी बन गए हैं।

नारी का आभूषणों के प्रति आकर्षण आदि काल से ही चला आ रहा है। हाँ, इतना अवश्य है कि समय के परिवतन के साथ साथ आभूषणों की रचना और फैशन में परिवर्तन होता गया है। प्राचीन काल में पुष्प आभूषणों के प्रति जितना आकर्षण था, उतना आकर्षण सोने और चांदी के आभूषणों के प्रति नहीं था, परन्तु आज उसका ठीक उल्टा है। लालसा विस्तार नारी पराधीनता का कारण बना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में आभूषणों के प्रति नारी का आकर्षण उसके जीवन की सफलता है, क्या नारी या नारीत्व उसके प्राकृतिक सौंदय में है या फिर कृत्रिम सौंदय में? क्या इस शरीर का सुघड़पन, सुन्दर वर्ण, सुन्दर नाक, मृग जैसे नयन, गोल कलाइयां, चमक दमक वाला चेहरा तथा मनोहर अंग रचना ही सुन्दर नारी के गुण हैं? वास्तव में नारी का सौंदय उसके शारीरिक सौंदय में उतना नहीं, बल्कि उसके महान गुणों में है। इन्हीं गुणों ने अतीत भारत में उसे पूजनीया बनाया और आज या प्रत्येक युग में इन्हीं गुणों से ही नारी-जीवन का विकास सम्भव है।

अब यह जानना आवश्यक है कि नारी के जीवन को सफल बनाने के लिए किन गुणों की आवश्यकता है और नारी का कर्म-क्षेत्र क्या है? यदि नारी जीवन का उद्देश्य केवल मात्र पुरुष की कामुक भावना को तृप्त करना ही होता तब तो उसके लिए यह उचित होता कि रात दिन अपना शृंगार करने में लीन रहती, आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रों से अपने सौंदय में वद्धि करती रहती जैसा कि मध्य-युगों में सामन्ती वातावरण में किया जाता रहा है। परन्तु उसके लिए तो उदारता, सहन-शीलता मधुर वाणी, नम्रता विनय सेवा, वात्सल्य, पत्नीव्रत आदि अनेक गुणों व धर्म-कार्यों का पालन करना अति आवश्यक है। इन गुणों के अभाव में वह अपने नारीत्व को खो बैठती है।

प्रधानतया नारी के जीवन का विकास दो रूपों में होता है—एक माता के रूप में तथा दूसरा पत्नी या गृहलक्ष्मी के रूप में। माता की गोद ही संसार का सब से बड़ा विश्व विद्यालय है। सर्वप्रथम बच्चा माता की गोद में ही रहकर ज्ञान प्राप्त करता है। उठना, फिरना, खाना, पीना सभी कुछ सीखता है। बच्च

के जैसे संस्कार शैशव काल तथा बाल्यावस्था में पड़ जाते हैं वे ही उसके भावी जीवन में उसकी उन्नति के शिखर पर या पतन के गर्त में ले जाते हैं। पुत्र के चरित्र को बनाने तथा बिगाड़ने वाली उसकी माता ही होती है। यदि कोई बच्चा चोरी करता है और उसकी माता उसके इस कुकर्म के लिए उसे दण्ड देती है तो अवश्य ही उसका सुधार हो जायेगा। परन्तु यदि माता ने उसे कुकर्म करने के लिए और अधिक उत्साहित किया, तो यह निश्चित है कि एक दिन वह एक बड़ा डाकू बनेगा। इसलिए यह कहना उचित है कि महान आत्माओं का विकास माता के गर्भ या गोद में ही होता है। परन्तु एक नारी के लिए एक आदर्श माता बनना तभी सम्भव है जबकि उसमें पृथ्वी की-सी सहिष्णुता, समुद्र की-सी गम्भीरता, हिम की सी शीतलता प्रकृति की सी कोमलता और नम्रता, गंगा के समान पवित्रता, वीणा जैसी मधुरता, गौ की साधुता, हिमालय की उच्चता आसमान जैसी विशालता आदि गुणों का विकास हो। इसलिए माता का सौन्दर्य उसके इन सौम्य गुणों में ही है बनावटी आभूषणों या अन्य प्रकार की तड़क-भड़क वाले फैशन में नहीं।

माता की भांति ही पत्नी में भी सौम्य गुणों का विकास होना आवश्यक है। पतिव्रत धर्म का पालन शारीरिक सौन्दर्य से नहीं, बल्कि नारी के सौम्य गुणों के द्वारा ही हो सकता है। दिन भर काम करके थका हुआ पुरुष सन्ध्या समय घर वापिस आता है। घर आने पर यदि उसकी पत्नी उससे हँसकर बोलती है उसके हाथ मुँह धुलाती है और उसे प्रेमपूर्वक भोजन कराती है, तो उसकी सारी थकान दूर हो जाती है। पर यदि स्त्री में इन गुणों का अभाव है तो उसका जीवन नारकीय बन जाता है। जब पुरुष घर में आता है, तो अपनी पत्नी को खटिया में पड़ा पाता है, सब काम ऊट-पटांग हो पाता है, तब ऐसी स्थिति में उसका जीवन दूभर हो जाता है, हँसी, मुस्कराहट तथा प्रसन्नता, उससे कोसों दूर रहती है। घर नरक और जीवन नारकीय बन जाता है।

यदि मनुष्य को रमणी के रूप में आनन्द देने वाली, भगिनी के रूप में स्नेह करने वाली और माता के रूप में सेवा करने वाली नारी प्राप्त हो जाए, तो वह कठिन से कठिन कार्य को भी सफलतापूर्वक कर सकता है। स्त्री के शील-स्वभाव तथा मधुर वाणी से समस्त परिवार में प्रसन्नता छाई रहती है। कर्कशा नारी के घर में आ जाने पर पारिवारिक जीवन असह्य हो उठता है। ऐसी नारी अपने घर परिवार को ही नहीं, बल्कि पड़ोसियों तक के जीवन को दूभर कर देती है। इसलिए नारी जीवन में सौम्य गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के अभाव में कोई भी स्त्री आदर्श पत्नी या आदर्श माता नहीं बन सकती। वह सामान्य नारी कहलाने को अधिकारिणी भी नहीं कही जा सकती।

केवल घर मे ही नही, बाहरी ससार मे भी सफलता प्राप्ति के लिए नारी जीवन मे सौम्य गुणो का होना आवश्यक है। अपने सौदर्य का प्रदर्शन करने वाली या अपने घर मे ही रूप गौरव का गर्व करने वाली नारी न तो अपने परिवार को प्रसन्न रख सकती है, न अपनी सन्तान का ठीक प्रकार से पालन-पोषण कर सकती है और न ही वह बाहरी ससार मे सफलता प्राप्त कर सकती है। पडित विजयलक्ष्मी, सरोजिनी नायडू, श्रीमती अरुणा आसफअली, राजकुमारी अमृतकौर आदि अनेक भारतीय नारियो ने अपने सौम्य गुणो के द्वारा हो राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रो मे ही सम्मान प्राप्त नही किया, बल्कि विदेशो म भी भारत का नाम ऊँचा उठाया। इन आदर्श नारियो ने स्वतन्त्रता सग्राम मे अनेक कष्टो को सहन किया और समस्त नारी जाति मे धर्म देश-भक्ति का सचार कर उनका पथ प्रदर्शन कर अपने कर्त्तव्य तथा धर्म का पालन किया है। उन्होने अपना शृगार कर अपने सौदर्य का प्रदर्शन नही किया है बल्कि महान् कार्य करके मान-सम्मान कमाया। कर्म को ही सौदर्य और शृगार माना तभी सम्मान प्राप्त किया।

अतएव यदि पुरुष जीवन की सफलता के लिए उसमे ओज, वीरता, निर्भीकता, दृढता, कठोर श्रम आदि गुणो का होना आवश्यक है तो नारी-जीवन की सफलता के लिए उसमे सौम्य गुणो का विकास अपेक्षित है। इसलिए यह निसन्देह सत्य है कि नारी का आभूषण सौन्दर्य नही, उसके सौम्य गुण हैं। अतीत मे इन्ही गुणो के कारण वह सम्मानित रही और भविष्य मे भी इन्ही के विकास से रह सकती है।

८७ मद्य-निषेध

मद्यपान की प्रवृत्ति ने आज फैशन का रूप धारण कर लिया है। आज के सामाजिक राजनीतिक और सास्कृतिक आदि सभी प्रकार के जीवन व्यवहार मे मद्यपान की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जा रही है। मद्यपान को आज की व्यावहारिक सभ्यता और प्रगति का अग स्वीकार किया जाने लगा है। किसी भी प्रकार का अनुष्ठान मद्यपान के अभाव म आज उसी प्रकार अधूरा अपूर्ण एव नीरस समझा जाने लगा है कि जैसे मध्यकालीन भारत म वाममार्गी साधना मे सुरा-सुन्दरी का सेवन साधना का एक आवश्यक अग बन गया था। उस काल मे जैसे इस प्रवृत्ति ने तामसिक वृत्तियो को बढावा देकर सहज

मानवीयता और उसके सद्धर्म को समाप्त कर दिया था, ठीक उसी प्रकार की स्थिति आज भी भारत मे अनवरत वृद्धि पाती जा रही है। उन तामसिक प्रवृत्तियो एव तज्जन्य दुष्परिणामों को देखकर ही आज गाधी के देश मे एक बार फिर मद्यपान की बुराई के विरुद्ध सशक्त स्वर मुखरित होने लगा है। उस स्वर की अहर्निश अनुगूंज प्राय सभी राज्यो म विवेकवान व्यक्तियो द्वारा मुखरित की जा रही है। परन्तु वह आवाज नक्कारखाने मे तूती की आवाज से अधिक महत्त्वपूर्ण नही हो पा रही।

ससार के सभी देशो मे आज यद्यपि मद्यपान मुक्तभाव से हो रहा है, पर परम्परागत धर्म और सास्कृतिक दृष्टि ने किसी भी युग मे मद्यपान का औचित्य नही ठहराया, बल्कि इस बुराई और नरक की राह से सदैव दूर रहने की प्रेरणा और उपदेश दिया है। इसे एक असामाजिक कार्य बताकर, सहज मानवीयता से पतित करने वाला कहकर, इससे हमेशा दूर हो रहने की प्रेरणा दी है। तभी तो प्रत्येक युग के साहित्य और धार्मिक ग्रथो मे 'मदप मद्यपी, शराबी-कबाबी' जैसे गालीमूलक शब्दो का प्रयोग ऐसे लोगो के लिए मिलता है, जो किसी भी रूप में मदिरापान करते हैं। हमारे देश मे मदिरा को आसुरी या राक्षसी सभ्यता-सस्कृति की देन मानकर वर्ज्य बताया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले ही इसी कारण राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने स्वतन्त्र भारत को मदिरा आदि नशीले पदार्थों के सेवन से रहित, आदर्श राष्ट्र बनाने की परिकल्पना प्रस्तुत की थी। इसी कारण उन्होने अपने आन्दोलनों में शराब की दुकानें बन्द कराने के लिए धरनो और घेराव तक का आयोजन किया था। पर दुख की बात है कि उन्ही राष्ट्रपिता के देश मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से मद्यपान की न केवल लत ही बढती गई है, सरकारी स्तर पर अधिक से अधिक राजस्व प्राप्ति के लिए सभी प्रकार की मदिरा विक्री के लिए अधिक-से अधिक दुकानें आदि खोलकर उसके मुक्त एव भरपूर वितरण की व्यवस्था भी की गई है। आज स्थिति यह है कि नगरो की बात तो जाने दीजिए सामान्य कस्बो और ग्रामो तक मे कदम कदम पर मदिरा की दुकानो के जाल बिछे हैं और ये जाल केवल ठेके के स्तर पर नही बल्कि सरकारी बिक्री केन्द्रो के रूप मे बिछे हैं। इसे गाधी के देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

मद्यपान की अनवरत वद्धि की प्रवृत्ति को हम आधुनिक भौतिक सभ्यता की देन ही मूलत मान सकते हैं। भौतिकता के प्रश्रय ने अन्य विलास प्रवृत्तियो और सामग्रियो को तो बढावा दिया ही है, मदिरा सेवन करके विलासिता की भावना-पूर्ति को भी हवा दी है। तभी तो यह क्रिया आज सामाजिकता का अग बन गई है। पहले यदि कोई पीता भी था, तो सामाजिकता के भय से छिप छिपा

कर पिया करता था, पर आज जब 'इस हमाम मे सभी नंगे' हैं तो फिर छिपाव कैसा ? सिनेमा मे मुक्त पान की प्रवृत्ति ने भी मद्य पान की प्रवृत्ति को विशेष हवा दी है। उसी के प्रभाव से आज इसका प्रवेश स्कूलो, कॉलेजो और महिला-छात्रावासा तक मे हो गया है। बच्चो की चीज आज विद्या के पवित्र मंदिरा मे भी पानी के समान ही पहुच चुकी है। शादी-ब्याह या किसी भी प्रकार के सामाजिक उत्सव को मदिरा के अभाव में सूखा और फीका माना जाने लगा है। इनमे भाग लेने की पहली शर्त के रूप मे लोग मदिरा-व्यवस्था की बात कहते हैं।

समर्थ-सम्पन्न लोग तो इसके अधिकाधिक आदी बनते ही जा रहे हैं, मध्य मध्य और निधन वर्गों मे भी यह रोग कोढ के समान अधिकाधिक फैलता जा रहा है। घर मे अभावो का नगा नाच हो रहा है, पर मुश्किल से दो जून की रोटी अपने बच्चो को दे पाने वाले की भी शराब का नाम सुनकर आँखें खिल उठती हैं। पहले थोडे से आरम्भ होता है, फिर लत बन जाती है और तब अभाव मे भाव ढूढने का प्रयास किया जाता है। अभाव मे अवैध शराब का पान किया जाता है जो कभी तत्काल और अक्सर धीरे धीरे सभी प्रकार से व्यक्ति को खोखला बनाकर प्राणलेवा प्रमाणित होता है। इस प्रकार के समाचार हम लोग अक्सर पढते सुनते रहते हैं। यह तो है असमर्थ अभावग्रस्त शराबी की बात, समर्थ घरो के युवक भी शराब के लती होकर व्यभिचार, डकैती, चोरी आदि के शिकार होते देखे जाते हैं। सामाजिकता, नैतिकता आदि सभी दृष्टियो से शराबखोरी की लत अततोगत्वा हानिप्रद ही प्रमाणित होती रही है। फिर भारत जैसे गर्म देश मे इसका अधिक सेवन यो भी उपयोगी नही। हाँ, ठण्डे जलवायु वाले देशो मे इसकी कुछ उपयोगिता अवश्य स्वीकारी जा सकती है - वह भी तभी, जब व्यक्ति के पास इसे पचाने और उपयोगी बनाने के साधन सुलभ हो। नही तो वहाँ के देशा मे भी अधिक अनाचार, शराब के नशे मे, शराब के लिए ही होते हैं, ऐसा ठण्डे देशो यानी पाश्चात्य देशो के प्रबुद्ध विचारक भी अब मुक्त भाव से स्वीकारने लगे हैं। इस स्वीकृति के साथ ही अब उन देशो मे भी शराबबन्दी की प्रबल माँग की जाने लगी है। पर गाँधी का देश भारत, वह बहरा अधा होकर इस तेज धार मे निरन्तर बहा जा रहा है।

इस प्रकार सिद्ध बात यह है कि शराब या इस प्रकार के अन्य नशे मानव के मूल स्वभाव और प्रवृत्ति के सर्वथा विपरीत हैं। यथासम्भव इसे सुधारने का सामूहिक स्तर पर अनवरत प्रयास आवश्यक है। पहले भी सीमित रूप ... प्रान्तीय स्तरो पर शराबबन्दी का परीक्षण किया जा चुका है, जो

असफल रहा। परिणामत उस बन्दी को ही बन्द करना पड़ा। सरकार को आबकारी कर के रूप में करोड़ों रुपया प्राप्त होता है, यदि एकाएक पूर्ण नशा बन्दी कर दी जाती है तो सरकारी अर्थ-व्यवस्था पर तो उसका प्रभाव पड़ेगा ही, पहले के समान समानान्तर पर तस्करी और अवैध शराब निर्माण की अर्थ-व्यवस्था चालू हो जायेगी, जो बन्द आज भी नहीं और मुक्त भाव से चल रही है। उसका प्रभाव अर्थ व्यवस्था के साथ-साथ पीने वालों के स्वास्थ्य, मनोवृत्तियों को भी दूषित एवं चौपट कर रहा है। फिर यह आदत आज जिस सीमा तक बढ़ चुकी है, उसको केवल कानून बना देने से ही दूर नहीं किया जा सकता। जितने वर्ष इस लत को व्यापक होने में लगे हैं, उससे कहीं अधिक इसके विरुद्ध वातावरण तयार करने में लगने चाहिएँ, तभी मद्यनिषेध के प्रभावकारी परिणाम सामने आ सकते हैं।

मद्य निषेध की दिशा में सरकारी तौर पर कुछ कदम कई बार उठाए गये हैं। शराब बिक्री के दिन सीमित करना भी इसी प्रकार का एक कदम रहा है, जिसका कोई परिणाम न निकला और न निकलने वाला ही है। जिन्हें पीनी है वे सीमित दिन दुकानें खुलने पर अब भी बन्दी के दिनों के लिए व्यवस्था कर लेते हैं, कानून के द्वारा तो अत्यधिक निर्मम बनकर ही इसे रोका जा सकता है। वह यह कि एक दिन में ही घोषणा करके शराब के कारखाने, दुकानें आदि सभी कुछ बन्द कर दिया जाए। उसके बाद पीने या इस प्रकार का धंधा करने वालों को कठोर यातना दी जाए। देशी के साथ विदेशियों के लिए भी शराब पूर्ण प्रतिबन्धित रहे। कहीं कोई ढील न हो। या फिर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्षों तक सशक्त ढंग से ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जाए कि लोग स्वयं ही इस ओर से मुंह मोड़ लें। चार छः वर्ष में मद्य निषेध करने की बात अपने आप को भुलावा देने से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

अन्त में, हम यही कहना चाहते हैं कि शराब की आदत धर्म, समाज संस्कृति, जलवायु अर्थव्यवस्था और मानव प्रकृति आदि किसी भी दृष्टि से इस देश के लिए लाभदायक नहीं। उसे बन्द करने का सही दिशा में निश्चय और सही निर्णय करके ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए कि जो दूरगामी परिणाम ला सके। कोरी भावुकता और हठवादिता निश्चय ही शुभ नहीं हो सकती।

८८

प्रेस की स्वतन्त्रता

स्वतन्त्र प्रेस या प्रेस की स्वतन्त्रता से वास्तविक अभिप्राय है—अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता। प्रेस शब्द यहा मूलत समाचार पत्रो का पर्याय एव द्योतक है। समाचार-पत्र अपनी मूल नैतिकता मे वही कहते और छापते हैं कि जो किसी युग या देश विशेष की जनता की सामूहिक या बहुमत की भावना, इच्छा आकाक्षा और माँग हुआ करती है। प्रेस ही वह माध्यम है जिससे जनता अपनी जागरूकता का परिचय देकर निर्वाचित सरकार और उसकी निरकुशता पर अपना अकुश लगाए रख सकती है। देश की सही स्थिति का, इच्छा आकाक्षा का पता सरकार को देकर उसे तदथ उचित काय करने के लिए अनुप्रेरित एव सतत यत्नशील रख सकती है। प्रेस की स्वतन्त्रता के रूप म अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता वस्तुत जनतन्त्री देशो मे जन स्वातन्त्र्य की वास्तविक परिचायक है। इसी कारण जनतन्त्री देशो मे प्रेस का विशेष महत्त्व समझा जाता है, जबकि तानाशाही, एकतन्त्र और कुछ विशिष्ट रीति-नीतियो वाले देशो मे प्रेस के कण्ठ पर हमेशा शासक वग की अगुली रहा करती है जिसे स्वतन्त्रता के बुनियादी अधिकार को मान्यता देने वाला कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति अच्छा नही मानता। प्रेस पर अकुश तानाशाही प्रवृत्तियो का द्योतक और पोपक ही माना जा सकता है।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि स्वतन्त्र और जागरूक प्रेस समय-समय पर राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय गति विधियो का सही विवेचन विश्लेषण करके सरकारों को तो जागरूक-सावधान रखा ही करता है, जन मत के अध्ययन विश्लेषण और निर्माण मे भी सहायक हुआ करता है। युद्धकाल जैसी अराजकतापूर्ण स्थितिया मे अनेक बार प्रेस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो जाया करता है, या ऐसे प्रेस पर प्रतिबन्ध आवश्यक हुआ करता है कि जो किसी भी रूप मे जन-भावनाओ को प्रतिगामी बनाता या भडकाता है। पर केवल सरकारी तानाशाही या दुष्प्रवृत्तियो के प्रकाशन से रोकने के लिए जन अभिव्यक्ति क सबल और श्रेष्ठतम माध्यम पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना किसी भी स्थिति मे उचित नही कहा जा सकता। ऐसा करना अन्ततोगत्वा स्वय सरकार के लिए ही हानिप्रद हुआ करता है यह बात अनेक बार और विशेषकर आपातकाल मे प्रमाणित हो चुकी है।

आपात स्थिति की घोषणा एक सीमा तक स्वीकार कर भी लें कि जनहित

असफल रहा। परिणामत उस बन्दी को ही बन्द करना पड़ा। सरकार को आबकारी कर के रूप मे करोडो रुपया प्राप्त होता है, यदि एकाएक पूर्ण नशा बन्दी कर दी जाती है तो सरकारी अर्थ व्यवस्था पर तो उसका प्रभाव पडता ही, पहले के समान समानान्तर पर तस्करी और अवैध शराब निर्माण की अर्थ-व्यवस्था चालू हो जायेगी, जो बन्द आज भी नही और मुक्त भाव से चल रही है। उसका प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ पीने वालो के स्वास्थ्य, मनोवृत्तियो को भी दूषित एव चौपट कर रहा है। फिर यह आदत आज जिस सीमा तक बढ चुकी है, उसको केवल कानून बना देने से ही दूर नहीं किया जा सकता। जितने वर्ष इस लत को व्यापक होने मे लगे हैं, उससे कही अधिक इसके विरुद्ध वातावरण तयार करने मे लगने चाहिएँ, तभी मद्यनिषेध के प्रभावकारी परिणाम सामने आ सकते हैं।

मद्य निषेध की दिशा म सरकारी तौर पर कुछ कदम कई बार उठाए गये हैं। शराब बिक्री के दिन सीमित करना भी इसी प्रकार का एक कदम रहा है, जिसका कोई परिणाम न निकला और न निकलने वाला ही है। जिन्हें पीनी है वे सीमित दिन दुकानें खुलने पर अब भी बन्दी के दिनो के लिए व्यवस्था कर लेते हैं, कानून के द्वारा तो अत्यधिक निमम बनकर ही इसे रोका जा सकता है। वह यह कि एक दिन मे ही घोषणा करके शराब के कारखाने, दुकानें आदि सभी कुछ बन्द कर दिया जाए। उसके बाद पीने या इस प्रकार का कय प्रबंध क्या करने वाला को कठोर यातना दी जाए। देशी के साथ विदेशियो के लिए भी शराब पूर्ण प्रतिबन्धित रहे। कहीं कोई ढील न हो। या फिर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्षों तक सशक्त ढग से ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया ... कि लोग स्वय ही इस ओर से मुह मोड लें। चार छ वर्ष मे करने की बात अपने-आप को भुलावा देने से अधिक ... रखती।

अन्त मे, हम यही कहना चाहते हैं कि शराब की आदत धर्म, सस्कृति, जलवायु अर्थव्यवस्था और मानव प्रकृति आदि किसी भी इस देश के लिए लाभदायक नही। उसे बन्द करने का सही दिशा मे और सही निर्णय करके ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए कि जो परिणाम ला सके। कोरी भावुकता और हठवादिता निश्चय ही शुभ न सकती।

तक पहुँचा सकता है और इस प्रकार जनता के साथ-साथ जन हितकारी सरकारों का भी दुर्भावितक एवं हितकारी हो सकता है। जन रुचियों के परिष्कार, समय स्थिति के अनुरूप जन-रुचियों को मोड़ने, निर्माण कार्यों में जुटने, बुराइयों से संघर्ष कर उन्हें जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए जन को तैयार करने जैसे कार्य व्यापक स्तर पर, सरस ढंग से प्रेस के द्वारा ही सम्पादित किए जा सकते हैं। किसी भी उचित बात के लिए जन-मत तैयार करना और अनुचित के लिए जन विरोध करना प्रेस का बाएँ हाथ का खेल है। प्रेस मे यह शक्ति है कि उसकी एक ही आवाज पर सारा राष्ट्र एक पंक्ति में खड़ा हो सकता है। पर यह सखेद कहना पड़ता है कि कभी-कभी प्रेस भी निहित स्वार्थियो के हाथो खेला जाता है। यह भी सखेद स्वीकारना पड़ता है कि केवल भारत ही नहीं, विश्व का प्रेस अभी तक पूर्णतया निष्पक्ष होकर जन मानस का चितेरा नहीं बन सका। इस प्रकार की स्थितियों में ही कई बार मद्रास प्रेस एक्ट या बिहार-प्रेस विधेयक जैसी बातें सामने आती हैं, जिनका न चाहते हुए भी समर्थन करना पड़ता है। यदि प्रेस सावधान रहे तो ऐसे कानूनो की आवश्यकता ही क्यो पड़े ?

प्रेस को मुख्यतः (अभिव्यक्ति की दृष्टि से) दो वर्गों मे रखा जा सकता है। यद्यपि प्रेस पर पूँजीपति वर्ग का ही अधिक अधिकार है, तो भी एक वर्ग पूँजीपतियो का है, दूसरा सामान्य वर्ग का, कि जो साधन आदि की दृष्टि से काफी दुर्बल है। इस भेद-भाव को मिटाकर ही प्रेस वास्तविक अर्थों मे राष्ट्रीयता का, जन-सामान्य का प्रतिनिधित्व कर सकता है। जनता का मुख बन सकता है। कई बार कुछ पत्रिकाएँ विशिष्ट राजनीतिक दलो का मुख बन कर भी सामने आती हैं। ऐसा होने से भी दृष्टि एकांगी हो जाती है। प्रेस जन आकांक्षाओं का वास्तविक पूरक तभी बन सकता है कि जब वह सभी धरातलो पर पूर्ण स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष हो। आन्तरिक-बाह्य सभी प्रकार के दबावो से मुक्त हो। पर सखेद स्वीकार करना पड़ता है कि अभी तक विश्व मे ऐसी स्थिति नही आ पाई है और शीघ्र आती प्रतीत भी नही होती। इसके लिए जिस साहस और संकल्प शक्ति की आवश्यकता है, वह न तो समग्र प्रेस-मालिका में है न सरकार मे और न विविध राजनीतिक दलो मे ही है। अतः निस्तार निकट नही प्रतीत होता।

जो हो, आज हमारे देश और विश्व के प्रेस क्षेत्र मे ऐसे लोगो की कमी नही है कि जो सभी प्रकार के निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर, जन हित के लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा मे समय समय पर महत्त्वपूर्ण और साहसिक कदम उठाते रहते हैं, सभी प्रकार के अनाचारो के विरुद्ध साहसिक आलोचनात्मक

मे की गई थी। पर उस समय सबसे बड़ी गलती तत्कालीन सरकार ने प्रेस का गला घोट कर अर्थात प्रेस पर सेसरशिप या प्रतिबन्ध लगाने के रूप मे ही की। परिणामस्वरूप तथाकथित उत्साही लोग जो भी मनमानियाँ करते रहे, वे सब न तो आम जनता के सामने ही आती रही और न सरकार के शीर्षस्थ नेताओ के सामने ही। परिणामत सद्भावना से प्रेरित कार्य भी एक विषम-करुण एव जघन्य कृत्य बनता रहा। आम जनता और शीर्षस्थ नेता दोनों गुमराह रहे और आपात स्थिति का समर्थन करते रहे। यदि प्रेस पर प्रतिबन्ध न होता और सही स्थितियाँ सामने आती रहती तो बहुत सम्भव था कि आपात स्थिति का दुष्परिणाम जनता और तत्कालीन सरकार को न भोगना पडता। यह एक उदाहरण है, आपात स्थिति का किसी भी प्रकार से समर्थन नही। अन्य कई देशो मे भी प्रेस की स्वतन्त्रता के अभाव मे ठीक ऐसा ही घट चुका है जैसा कि यहाँ घटा। पाकिस्तान आदि तानाशाही वाले देश भी इसका प्रमाण हैं।

मानव स्वभाव से स्वतन्त्र प्राणी है और चाहता है कि उस पर नैतिकता के दायरे मे किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगे। इतिहास गवाह है कि स्वतन्त्रता का मूल्य प्राणो का बलिदान देकर ही चुकाना पडता है। प्राणो के बलिदान के अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक या सीमित वर्गीय स्वार्थों का बलिदान भी महत्त्व-पूर्ण हुआ करता है। ऐसी स्थिति मे जहाँ प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया जाना चाहिए, वहाँ प्रेस से भी यह आशा की जानी चाहिए कि वह वैयक्तिक या सीमित वर्गीय निहित स्वार्थों को तिलाजलि देकर कार्य करे। एक प्रकार मे सामाजिकता, राष्ट्रीयता और मानवता के व्यापक हितो के सन्दर्भ म प्रेस के लिए स्व निर्मित आचार सहिता अवश्य रहनी चाहिए कि जिसका पालन अनिवार्य हो। तभी वह जन-भावनाओ का सही प्रतिनिधित्व कर सकता है और 'स्वतन्त्रता' शब्द की वास्तविक गरिमा की रक्षा भी कर सकता है। कई बार निहित स्वार्थों की पूर्ति और रक्षा के लिए प्रेस का दुरुपयोग भी किया जाता है। एकतन्त्री, तानाशाही और विशेष सिद्धान्ती देशो मे सरकार तक इसी दृष्टि से प्रेस का दुरुपयोग करती है, जबकि जनतन्त्री देशो मे पीली पत्रकारिता आदि का मार्ग अपना कर प्रेस का दुरुपयोग किया जाता है। दोनो ही प्रकार के दुरुपयोग को नितान्त गर्हित ही कहा जायेगा। जन-भावना को स्वस्थ सबल अभिव्यक्ति मिले प्रेस-स्वतन्त्रता का यही वास्तविक अर्थ और उद्देश्य है। इसी दृष्टि से उसका समर्थन भी किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

प्रेस जन-जागरण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन और माध्यम है। वह देश-विदेश मे चलने वाले मानव हित साधक कार्यों को सुरुचिपूर्ण ढग से जन-जन

तक पहुँचा सकता है और इस प्रकार जनता के साथ-साथ जन हितकारी सरकारों का भी शुभचिंतक एवं हितकारी हो सकता है। जन-रुचियों के परिष्कार, समय स्थिति के अनुरूप जन-रुचियों को मोड़ने, निर्माण कार्यों में जुटने, बुराइयों से संघर्ष कर उन्हें जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए जन को तैयार करने जैसे कार्य व्यापक स्तर पर, सरल ढंग से प्रेस के द्वारा ही सम्पादित किए जा सकते हैं। किसी भी उचित बात के लिए जन-मत तैयार करना और अनुचित के लिए जन विरोध करना प्रेस का बाएँ हाथ का खेल है। प्रेस में वह शक्ति है कि उसकी एक ही आवाज पर सारा राष्ट्र एक पंक्ति में खड़ा हो सकता है। पर यह सखेद कहना पड़ता है कि कभी-कभी प्रेस भी निहित स्वार्थियों के हाथों खेला जाता है। यह भी सखेद स्वीकारना पड़ता है कि केवल भारत ही नहीं, विश्व का प्रेस अभी तक पूर्णतया निष्पक्ष होकर जन मानस का चितेरा नहीं बन सका। इस प्रकार की स्थितियों में ही कई बार मद्रास प्रेस एक्ट या बिहार-प्रेस विधेयक जैसी बातें सामने आती हैं, जिनका न चाहते हुए भी समर्थन करना पड़ता है। यदि प्रेस सावधान रहे तो ऐसे कानूनों की आवश्यकता ही क्यों पड़े ?

प्रेस को मुख्यतः (अभिव्यक्ति की दृष्टि से) दो वर्गों में रखा जा सकता है। यद्यपि प्रेस पर पूँजीपति वर्ग का ही अधिक अधिकार है, तो भी एक वर्ग पूँजीपतियों का है, दूसरा सामान्य वर्ग का, कि जो साधन आदि की दृष्टि से काफी दुर्बल है। इस भेद-भाव को मिटाकर ही प्रेस वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीयता का, जन सामान्य का प्रतिनिधित्व कर सकता है। जनता का मुख बन सकता है। कई बार कुछ पत्रिकाएँ विशिष्ट राजनीतिक दलों का मुख बन कर भी सामने आती हैं। ऐसा होने से भी दृष्टि एकांगी हो जाती है। प्रेस जन आकांक्षाओं का वास्तविक पूरक तभी बन सकता है कि जब वह सभी धरातलों पर पूर्ण स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष हो। आन्तरिक-बाह्य सभी प्रकार के दबावों से मुक्त हो। पर सखेद स्वीकार करना पड़ता है कि अभी तक विश्व में ऐसी स्थिति नहीं आ पाई है और शीघ्र आती प्रतीत भी नहीं होती। इसके लिए जिस साहस और संकल्प शक्ति की आवश्यकता है, वह न तो समय प्रेस-मालिकों में है न सरकार में और न विविध राजनीतिक दलों में ही है। अतः निस्तार निकट नहीं प्रतीत होता।

जो हो, आज हमारे देश और विश्व के प्रेस क्षेत्र में ऐसे लोगों की कमी नहीं है कि जो सभी प्रकार के निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर, जन हित के लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में समय समय पर महत्त्वपूर्ण और साहसिक कदम उठाते रहते हैं, सभी प्रकार के अनाचारों के विरुद्ध साहसिक आलोचनात्मक

स्वर मुखरित करते रहते हैं। यदि यह साहसिक नैतिकता स्व विनिर्मित आचार-संहिता के द्वारा समूचे प्रेस जगत मे आ जाए, तो निश्चय ही मानवता का बहुत बड़ा उपहार होगा। निश्चय ही उस दिन मानवता का भाग्य खुल जाएगा, जिस दिन प्रेस-जगत केवल राजनीतिक या ऊपरी दृष्टि से ही स्वतन्त्रता का वरण नही कर लेगा, बल्कि आन्तरिक वरण कर लेगा। पर कब आयेगा वह दिन ? इस देश मे तो वह बीसवी शताब्दी के चार-पाँच दशको तक रह कर एक बार तो चला जा चुका है। दुबारा आने की आशा अवश्य करनी चाहिए। आशा ही मानवता का शुभ सम्बल है।

८६ | अनुशासन की महत्ता

'अनुशासन'—अर्थात् शासन या नियमानुकूल आचरण। अत' साधारण अर्थों मे अनुशासन का अभिप्राय किसी आदेश का, व्यवस्था या प्रबन्ध का, विधान या नियम का विधिवत पालन है। इस पालन मे जितनी अधिक तत्परता, स्फूर्ति, तन्मयता, कर्मठता आदि का परिचय मिलेगा उतना अधिक अनुशासन को श्लाघ्य तथा उत्तम समझा जायेगा। ऐसे अनुशासन मे जिसमे अनुशासित का केवल तन ही नही मन का भी सहृय योग हो, सच्चा अनुशासन कहा जायेगा। वास्तव मे व्यक्ति किसी भी व्यवस्था में, विधान मे तभी पूर्ण शक्ति और वेग के साथ काय कर सकता है जबकि उसके मन का विश्वास साथ हो। मन की शक्ति तन से कही अधिक होती है। मनुष्य के मन का यह धीवट और साहस ही है जो दहाड़ते सिंहो और चिंघाड़ते हाथियों को वश मे कर सका है न कि तन और उसकी शक्ति। शेरों के साथ खेलने वाले शकुन्तला के पुत्र भरत का समय चला गया। मनुष्य की शारीरिक शक्ति भले ही क्षीण हो गई है किन्तु मन के साहस का आज भी कोई अन्त नहीं। अतएव अनुशासन का विश्वस्त रूप वही होगा जहाँ तन के साथ मन को भी साधा गया हो। व्यक्ति स्तर पर ही नही, समाज, देश और राष्ट्रीयता के स्तर भी यह साधना परमावश्यक है। इसके बिना प्रगति और विकास सम्भव ही नहीं।

भारतीय दर्शन शास्त्र आदर्श जीवन की कल्पना प्रस्तुत करते हैं। यहाँ जीवन का मूल आधार साधना है और साधना का अर्थ भी एक प्रकार का यौगिक अनुशासन ही होता है। इसी दृष्टि से भारतीय मनीषियो ने इन्द्रिय-निग्रह पर बल दिया है। इन्द्रिय-निग्रह क्या है ? यह वास्तव में तन के मना-

चार को और मन री स्वेच्छाचारिता को ही नियमित करता है। मन चचल है और तन उसके सकेत पर बन्दर की भांति नाचता है। यदि मन स्वच्छन्द छोड दिया जाए तो ससार के असख्यक प्रलोभनों से इसका बच निकलना असभव है। मन का विश्वामित्र कभी भी वासना की मेनिका के आगे तप से डोल सकता है। इसलिए हमारी धर्म और समाज व्यवस्था मे साधना की कठोरता पर बल दिया गया है। जीवन को चार आश्रमो मे बांट कर और समाज को चार वर्णों में बांट कर वास्तव में अनुशासबद्ध व्यक्ति और समाज की ही कल्पना की गई थी जो युगों तक चली। और आज लक्ष्य भ्रष्ट हो कर अस्त व्यस्त हो रही है। इस प्रकार भारतीय जीव की मूल मन्त्र ही साधना की निरन्तरता या अनुशासन था। इसकी महत्ता से हमारे ऋषियों ने समझा तो था ही, अपितु अपने जीवन मे ऐसे असख्य उदाहरण भी छोडे हैं, जिनस भारतीय सदा ही अनुप्रेरित हैं।

भारतीय साधना के विपरीत पश्चिम मे अनुशासन का अभिप्राय अधिकाश में तन के अभ्यासों से ही लिया जाता है। व्यवहारिक जीवन में नियमित आचार और व्यवस्था प्राय इस दृष्टि से चर्चा का विषय ही नहीं रहे। पश्चिमी विद्वानो का मत है कि समाज कल्पना की पूर्ति के लिए अनुशासन की आवश्यकता हुई होगी। ज्यो ज्यो व्यक्ति मे सामाजिक जीवन की व्यवस्था विकसित तथा जटिल होती गई होगी त्यो-त्यो अनुशासन की मांग बढती गई होगी। वास्तव मे सामूहिक जीवन मे ही अनुशासन की महत्ता भी प्रतीत होती है और यही इसकी अग्नि परीक्षा भी होती है। इस दृष्टि से पश्चिम में सेनाओ के अनुशासन की विशेष चर्चा रही और इस क्षेत्र मे विभिन्न आधारों पर सेनाओ को सुसगठित करने के कई प्रयोग किए गये। किन्तु यह वास्तविक स्थिति नही है। पश्चिमी देशों में सेनाओ की व्यवस्था का मूल-मत्र देश की रक्षा तथा सकट मे सहायता का न होकर युद्धो मे विजय का रहा है। सेनाए आक्रामक नीति पर सगठित की गई न कि बचाव की नीति पर। अतएव पहले तो सेना के सिपाहियो के लिए कष्ट साध्य अभ्यासों की व्यवस्था की गई। सेनापतियों के आदेशों को अनुलघनीय समझा गया और यह आशा की गई कि सेनाएँ उनकी हर आज्ञा का प्राणो पर खेलकर भी पालन करें। इस आशय से कठोर दण्ड व्यवस्था भी की गई, ताकि युद्ध भूमि से सनिको के भागने का प्रश्न ही न हो। सेनाओ का कठोर प्रशिक्षण, दृढतर दण्ड-व्यवस्था और घातक सेनाओ को चिरकाल तक

सबल सगठन तथा अनुशासन में बधे रहने को विवश करता रहा। विश्व के महान् युद्ध इसी आधार पर जीते गये। पर यह अनुशासन का एकांगी रूप ही कहा जा सकता है, जिससे समूचे जीवन-समाज को बाध रखने की शक्ति नही है।

भारतीय पुराण तथा इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि यहाँ की सेनाए सदा से अनुशासन-बद्ध रही हैं। देश का काय चलता रहा था और सेनाओ के युद्ध होते रहते थे। सेनायें केवल युद्ध-भूमि में ही लडती थी। सेनाओ के प्रयाण के समय भी प्रजा को किसी सकट का सामना न करना पडता था। किसान हल चलाते रहते थे, फसलें खेतो में लहलहाती रहती थी और बिना किसी क्षति के सेनाएँ आती-जाती रहती थीं। युद्ध का आदर्श तो और भी ऊँचा था। रात को युद्ध नही होता था। निहत्थे शत्रु पर भी आक्रमण नहीं किया जाता था। पीठ या धड के नीचे आक्रमण नहीं किया जाता था। युद्ध-भूमि से भाग जाना अधम समझा जाता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय सेनाओ का स्वरूप एक आदश अनुशासन का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें नैतिक मूल्यो का विशेष स्थान था।

यहाँ तक तो हुई सनिक सगठन मे अनुशासन की महत्ता। अब सामान्य जीवन मे अनुशासन की उपयोगिता पर विचार किया जाए। आज विश्व का नैतिक पतन हो चुका है। सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक—हर दृष्टि से अनाचार हो रहा है। प्रतीत होता है कि बदलते हुए मानव मूल्यो के साथ समाज राजनीति आदि के विचार कदम रख कर नही चल सके। मानव प्रगति के चरम शिखर पर पहुँच रहा है किन्तु उसकी व्यवस्थाओ को विधानों को कभी भी आदिम मनुष्य का स्वार्थ लोभ, तृष्णा आदि जैसी प्रवृत्तियाँ घुन की भाँति खोए जा रही हैं। दिव्य शक्तियो से सम्पन्न मनुष्य मात्र के अवचेतन का अधेरी गुफाओ मे आज भी कही पशु छिपा है। तभी तो अविश्वास और हिंसा युद्ध और रक्तपात की भावनाएँ बराबर बनी हैं। अतएव ऐसी स्थिति में अनुशासन की माँग और भी बढ जाती है। अब जिस अनुशासन की आवश्यकता है उसे ईश्वर का भय दिखा कर राज्य-सत्ता का आतक दिखा कर या दमन का भीषण चक्र एव दण्ड की क्रूरतम अवस्था द्वारा नही पाया जा सकता। अब अनुशासन बाह्य विवशता नहीं आन्तरिक अनिवार्यता की प्रवृत्ति होने पर ही स्थापित किया जा सकता है। आप भ्रष्टाचार के विरोध मे कानून बना सकते हैं कठोर दण्ड-व्यवस्था द्वारा भ्रष्टाचारी को जेल की यन्त्रणा में डाल सकते हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक अनुसधान के आँकडे बताते हैं कि इससे

चोरी आदि के अपराध तो दूर हो नहीं पाते अपितु बढ़ते ही हैं दण्ड-प्राप्त व्यक्ति मुक्त होकर और भी अधिक उग्र होकर भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाता है। यह मानसिकता निश्चय ही और भी अधिक घातक प्रमाणित हो रही है। भ्रष्टाचार जैसी लोकव्यापी प्रवृत्ति का कैसे अन्त हो सकता है। ऐसी कठोर व्यवस्थायें अव्यवस्था को कुछ देर के लिए दबा भर पाती हैं, स्थायी अनुशासन नहीं ला पाती, रोग को समूल नष्ट नहीं कर पातीं। फिर आज विश्व के सामने केवल भ्रष्टाचार की समस्या नहीं है। भ्रष्टाचार जैसी कई दुःसाध्य समस्यायें हैं जिन्होंने संसार का नैतिक पतन कर दिया है। अतएव बाह्य अनुशासन से कहीं अधिक आन्तरिक अनुशासन की आवश्यकता है। हृदय से आई हुई आवाज ही व्यक्ति का उत्थान कर सकती है। अतएव सत्ताधारियों को समझ लेना चाहिए कि वह युग गया कि जब कानून और कायदे बना देने से ही काम चल जाता था। आज के अनुशासन को बनाने के लिए जनता के मस्तिष्क के मनोवैज्ञानिक अध्ययन और आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

सामान्य जीवन का प्राण है युवा-वर्ग और यह वर्ग अधिकांश में विद्यार्थी होता है। आज की सरकारों को विद्यार्थियों के विश्व-व्यापी विक्षोभ और आक्रोश का सामना करना पड़ रहा है। आज विद्यार्थी अनुशासन के लिये बड़ा विकट प्रश्न चिन्ह है। इनकी समस्याएँ भले ही कुछ हों, उनका सम्बन्ध कॉलेज विशेष की व्यवस्था से हो या विश्व के किसी आन्दोलन से, आप इन्हें और इनके क्षोभ को चरम सीमा पर पाएंगे। तोड़ फोड़ से, आग से इन्हें तनिक भी भय नहीं, हिचक नहीं। ईंट का उत्तर पत्थर से देना जानते हैं। इस अव्यवस्था का आगे चलकर बड़ा घातक परिणाम निकलने की संभावना आज ही की जा सकती है। क्योंकि यदि आप किसी राष्ट्र के भविष्य का अनुमान लगाना चाहें तो उसके युवा-वर्ग को देखना होगा, उनमें कार्य कर रही चेतना की शक्तियों का विश्लेषण करना होगा। यदि युवा-वर्ग अनुशासन का आदर नहीं करता, विधान को नहीं मानता तो निसन्देह उस देश का भविष्य अन्धकारमय है। आज का विद्यार्थी युवक ही तो कल का नागरिक होगा, नेता होगा देश का कर्णधार होगा। यदि शक्ति का यह स्तम्भ ही निराधार है इसके प्रशिक्षण की नींव ही खोखली है, विक्षोभ ही इसकी शिक्षा है तोड़-फोड़ ही इसका कर्म सूत्र है, आग लगाने में ही इसकी रुचि है व्यवस्था को तोड़ना ही इसका चरम लक्ष्य है असंतुष्ट रहना ही इसकी प्रवृत्ति है तो हम ऐसे देश के भविष्य की सहज में ही कल्पना कर सकते हैं। यह स्थिति तब और भी निराशाजनक प्रतीत होने लगती है जब हम राष्ट्रीय आन्दोलन के

सेनानियों में भी, आज के नेताओं में भी ऐसी अनुशासन हीनता प्रकट रूप में पाते हैं। किन्तु आज के नेता कुछ भी करें युवा-वर्ग का कर्त्तव्य है कि वे दलों की दलदल से दूर रहकर आदर्श युवक बनें और देश के सामने अनुशासन का उदाहरण उपस्थित करें। गांधीजी ने कहा था कि "विद्यार्थी को दलगत राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए। राष्ट्र के विद्यार्थी राष्ट्र के आशादीप होते हैं। वे अपनी मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक शक्तियों का तो विकास करें और उन्हें अपनी राय रखने और प्रकट करने की भी पूरी आजादी होनी चाहिए, पर जब तक वह अध्ययन कर रहे हैं तब तक उनके लिए सक्रिय राजनीति में भाग लेना लाभकर नहीं। वास्तव में विद्यार्थी का आदर्श है अनुशासन और अनुशासन बौद्धिक चर्चा करते रहने से या तर्क और विवेक बुद्धि की अपील करते रहने से नहीं आ सकता। अनुशासन तो विपत्ति की पाठशाला से सीखा जाता है। जब उत्साही युवक बिना किसी डाह के जिम्मेदारी के काम उठायेंगे और उसके लिए अपने को तैयार करेंगे, तब ही वह समझेंगे कि जिम्मेदारी और अनुशासन है।" गांधीजी के ये शब्द युवा वर्ग के लिए ध्यान देने योग्य हैं। उन्हें अपनी समस्याएँ अधिकारी वर्ग के सामने अवश्य रखनी चाहिएँ किन्तु एक सत्याग्रही की भाँति, न कि अनुशासन को भंग करते हुए। ऐसी प्रवृत्ति से भले ही सामयिक सफलता मिल जाए किन्तु अन्ततः अनुशासनहीनता घातक ही होती है, व्यक्ति के लिए ही नहीं, समाज और राष्ट्र के लिए भी परिणाम सुखद नहीं कल्पित किया जा सकता।

प्रजातन्त्रीय देशों में, वास्तव में प्रजातन्त्र का ढांचा जिन आदर्शों पर आधारित है उसे देखते हुए किसी प्रकार की कठोर और जटिल अनुशासन पद्धति की आवश्यकता ही न होनी चाहिए। सत्ता आपके हाथ में है। देश की नीतियों का निर्धारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आप ही करते हैं। और फिर ये नियम ही आपकी सुविधा के लिए हैं। शासन भी आप करते हैं, शासन होता भी आप पर है और इसमें आप का ही हित है। अतएव यदि आप ही इस स्थिति को समझते हुए विधिवत् जीवन-यापन करें तो क्या जरूरत है उपवन में यह सूचनापट लगाने की कि फूल तोड़ना मना है। इसी प्रकार अनुशासन सम्बन्धी कानून-कायदे आपके लिए ही हैं, इनसे आपका ही हित होता है, आप ही सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि स्वार्थों की इस आपा-धापी में, एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की इस होड़ में नैतिक पतन के इस युग में ऐसे जागरूक एवं उत्तरदायी नागरिक कहाँ से लाएँ? जब पथ प्रदर्शक व नेतृत्व वर्ग ही अनुशासनहीन हो, तो युवा पीढ़ी किसके आदर्श को सामने रख कर चले?

इस स्थिति मे कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही प्रजातन्त्र मे किसी कठोर अनुशासन की आवश्यकता न हो किन्तु व्यावहारिक दृष्टि तथा प्रजातन्त्रात्मक देशो का अनुभव यह बताता है कि इसमे अनुशासन की महत्ता छोटे-बडे, सामान्य-विशेष सीमा के लिए और भी बढ जाती है।

प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति मे अनुशासन उतना ही अनिवार्य है जितना कि प्राण वायु के लिए ऑक्सीजन। अन्य शासन पद्धतियों में शासको का आतक उनका दमन चक्र, उनकी निमम कठोर-नीति तथा अपार सैनिक शक्ति राज्य-व्यवस्था भग नहीं होने देती। पर प्रजातन्त्र में न यह सब सभव है और न ही ऐसी सुविधा और साधन प्राप्त होते हैं। प्रजातन्त्र मे जनता अपने आचरण तथा अभिव्यक्ति मे पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्र होती है। अतएव उसे नियन्त्रण मे रखने के लिए और भी कठिनाई का सामना करना पडता है। जनता की भीड वृत्ति कभी भी कोई सकट खडा कर सकती है। इस प्रकार प्रजातन्त्र की सरकार को एक सजग प्रहरी की भाँति कार्य करना पडता है।

प्रजातन्त्र का वयस्क—मताधिकार और दलगत राजनीतिक सगठन अनुशासन को बनाये रखने में बहुत बडी बाधाएँ हैं। चुनाव के भूत से भयभीत नेता अनुशासनहीन राजनीतिक गठजोड में ही उलझे रहते हैं और जनता दु ख पाती रहती है। प्रजातन्त्र कार्य तभी कर सकता है जब उच्च स्तर का अनुशासन जनता मे पाया जाता हो। इसके लिए सबसे पहले और सर्वाधिक सभी प्रकार के नेतृत्व वर्ग का अनुशासित होना आवश्यक है।

इस प्रकार आज व्यक्ति हो या समाज, सनिक हो या असैनिक, विद्यार्थी हो या राजनीतिक नेता, जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, विकास तभी हो सकता है, प्रगति तभी सभव है कि जब हम अनुशासन-बद्ध होगे। अब यदि हम सुख-शान्ति के साथ जीना चाहते हैं तो हमें अनुशासन का अभ्यास करना चाहिए। एक ओर प्रगति समृद्धि तथा अनुशासन है, दूसरी ओर पतन, विपन्नता तथा विनाश। आज जीवन के चौराहे पर खडे हम मानवों को निर्णय करना है कि हम किधर जाना चाहते हैं। अनुशासन का भग करना मौत है और अनुशासन का पालन जीवन। निर्णय हम सब के हाथ मे है कि हमने अनुशासित होकर जीवन-पथ पर चलना है न कि अनुशासनहीन मृत्यु-पथ पर।

६० श्रीमती इन्दिरा गाँधी

भारत अपनी उदात्त मानवीय परम्पराओं के कारण अपने अस्तित्व में आने के काल से ही महान रहा है। ऋग्वेद, जो विश्व-साहित्य का प्रथम उपलब्ध साहित्यिक ग्रन्थ माना जाता है, उसके मन्त्र-द्रष्टाओं में जहाँ अनेक पुरुष ऋषियों-महर्षियों के नाम बड़े सम्मान के साथ लिए जाते हैं, वहाँ विदुषी नारियों की गणना भी उनमें उसी भाव से की जाती है। अन्य विविध क्षेत्रों में भी भारतीय नारियाँ प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण योगदान करती आ रही हैं। घर परिवार और समाज के निर्माण, सुपालन एवं विकास में तो भारतीय नारी ने उचित योगदान किया ही, राजनीतिक जैसे कठोर और दुरूह समझे जाने वाले जीवन-क्षेत्र भी भारतीय नारी के सशक्त चरण चिह्नों से अछूते नहीं रहे आज भी नहीं हैं। महान देश भारत नाम की वर्तमान प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी उसी महान भारतीय नारी परम्परा की ध्वज वाहक हैं। केवल भारती नारी ही नहीं, आज विश्व के समस्त देशों के अग्रगण्य राजनेताओं में उनका प्रमुख एवं सर्वप्रथम रूप में परिगणित किया जाता है। सारा विश्व इस महान भारतीय महिला के महत्त्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकारते हुए एक स्वर से कहता है कि विश्व राजनीतिक रंगमंच पर श्रीमती इन्दिरा गाँधी से बढ़कर उदग्र नेता अन्य कोई नहीं।

विश्व की इस अग्रणी नेता और महान महिला का जन्म स्वतन्त्र भारत के निर्माता और प्रधान मन्त्री पण्डित मोतीलाल नेहरू जैसे महान पिता के इकलौते बेटे पण्डित जवाहरलाल नेहरू के घर इकलौती पुत्री के रूप में १९ नवम्बर, सन १९१७ में इलाहाबाद के आनन्द भवन (वर्तमान स्वराज्य भवन) में हुआ था। उनकी माता का नाम श्रीमती कमला नेहरू था। पिता के हमेशा राजनीतिक कार्यों में उलझे हुए या फिर जेल में रहने और माता के निरन्तर अस्वस्थ रहने के कारण इनकी शिक्षा दीक्षा किसी एक स्थान पर टिक कर न हो सकी। देश विदेश के अनेक स्थानों पर इन्हें शिक्षा के लिए भटकते रहना पड़ा। कुछ वर्षों तक इन्होंने शान्ति निकेतन में निवास कर कवि कुल गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समीप रह कर भी सुशिक्षा अर्जित की। इस प्रकार प्रारम्भ से ही इनके व्यक्तित्व पर अपने-अपने क्षेत्र के महापुरुषों के संस्कारों

का प्रकाट्य प्रभाव पड़ता रहा। परिणामस्वरूप इनका व्यक्तित्व भी क्रमश निखरता हुआ दृढ़ से दृढ़तर होता गया। श्रीमती गांधी की आज दृढ़ता, निर्भीकता और सुनियोजित कार्यक्षमता, सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता उसी सब का परिणाम है।

श्रीमती इन्दिरा गांधी के दादा, पिता, माता, बुआ (श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित) तथा अन्य सभी प्रमुख रिश्तेदार तत्कालीन राजनीति के साथ घनिष्ट रूप से जुड़े हुए थे, आस-पास का समूचा वातावरण भी अपने युग के महान नेता महात्मा गांधी के राजनीतिक आन्दोलनों से पूर्णतया प्रभावित था, अत शैशव के सुकुमार क्षणों से ही इनका सम्बन्ध स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों की राजनीति से सीधा जुड़ गया। इसी कारण श्रीमती इन्दिरा कहा करती हैं कि "राजनीति मुझे घुट्टी के संग पिला दी गई थी।" घुट्टी के संग मिला दी गई इस राजनीति ने ही आज उन्हें राजनीति के क्षेत्र में सब प्रकार की सफलता और लोकप्रियता प्रदान की है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों में जब इन्दिरा जी महज एक बच्ची ही थीं इन्होंने बच्चों की एक वानर सेना' का गठन किया था। इसके अन्तर्गत इन्हें अंग्रेजों के आतंकपूर्ण, दमनकारी राज के दिनों में भूमिगत तथा अन्य नेताओं के पास आन्दोलन-सम्बन्धी गुप्त सूचनाएँ तथा समाचार पहुँचाने का काम करना पड़ता था। इस जोखिमपूर्ण काम को इन्होंने बड़ी कुशलता से निभा कर अपनी कार्य क्षमता सभी को मुग्ध कर दिया था। सन १९४१ में जब यह मात्र तेईस वर्ष की युवती थी, गांधीजी ने इन्हें हिन्दू मुस्लिम एकता बनाए रखने जैसा गुरु कार्य सौंपा। यह कार्य इन्होंने तब तो कुशलतापूर्वक सम्पादित किया ही आज भी इस दिशा में इन्हें अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी सक्रिय देखा जा सकता है। इसी बीच इन्दिरा जी का एक देशभक्त पारसी युवक फिरोज गांधी के सम्पर्क में आईं। यह सम्पर्क मैत्री और प्रेम के बाद सन् १९४२ में विवाह में परिणत हो गया। विवाह के बाद इन्दिराजी पति के साथ और भी अधिक सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेने लगी सन् १९४२ में चलने वाले 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय इन्दिरा जी को भी अपने पति के साथ १३ मास के लिए जेल-यात्रा करनी पड़ी। इस प्रकार एक बार इनका जो कदम राष्ट्र सेवा के मार्ग पर बढ़ा, वह निरन्तर बढ़ता ही गया। उधर सुखद गृहस्थी के फलस्वरूप इन्हें राजीव और सजय नामक दो पुत्ररत्न भी प्राप्त हुए, जिनका देश की राजनीति में अपना महत्व रहा और है।

सन १९४२ में भारत स्वतंत्र हुआ। पण्डित जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने और इन्दिराजी अपने पिता की सेवा और देख रेख के लिए उन्हीं के साथ रहने लगी। यहाँ रहते समय वह अपने पिता से प्रौढ राजनीति की सर्वांगीण शिक्षा तो लेने ही लगी, खाली समय मे अनेक प्रकार के समाज-कल्याण के कार्यों मे भी हिस्सा बटाने लगी। नेहरूजी के साथ देश विदेश की अनेक यात्राएँ करके इन्होंने विश्व राजनीतिक घटनाचक्र का समीप से प्रदर्शन और अनुभव किया। परिणामस्वरूप इनकी सूझबूझ एवं कार्य पद्धति मे भी प्रौढता आती गई। उसी का देश को पूर्ण लाभ पहुँचाने के लिए सन १९५९ मे इन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। इस पद पर रहते हुए इन्होने प्रत्येक कार्य इस महान राष्ट्रीय संगठन की गरिमा के अनुरूप करके बडे बडे घाग राजनीतिज्ञो को चकित कर डाला। परिणामस्वरूप इनके भावी प्रधान मंत्री बनने की चर्चाएँ भी इसी युग मे होने लगी थी। सन १९६० में श्रीमती इन्दिरा गान्धी को अपने पति के स्वर्गवास का कठोर आघात सहन करना पडा। उसे भावी का निश्चित योग मानकर एक वीरांगना की तरह इन्होने सहा और अपने निर्वाचित क्षेत्र के निर्धारित कार्यों पर अनवरत बढती गई।

सन १९६४ मे पण्डित जवाहर लाल नेहरू के स्वर्गवास के बाद यद्यपि इन्दिरा जी को प्रधान मंत्री बनाने का प्रयास हुआ, पर उस समय की दुखद मानसिकता मे इन्होने यह पद स्वीकार नही किया। हाँ, श्री लाल बहादुर शास्त्री के प्रधान मन्त्रित्व मे केन्द्रीय संचार-मंत्री बनकर कार्य अवश्य करने लगी। फिर जब ताशकन्द में शास्त्री का असामयिक निधन हो गया, तब सर्व सम्मति से देश की तीसरी प्रधान मंत्री बनकर इन्दिरा जी बडी कुशलता से देश का नेतृत्व करने लगी। प्रधान मंत्री बनने के बाद राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक औद्योगिक, सांस्कृतिक, अन्तर्राष्ट्रीय आदि सभी क्षेत्रो मे अपने पिता के सपनो और मानदण्डो के अनुरूप कार्य करते हुए देश को प्रगति पथ पर अग्रसर करने लगी। बीमा कम्पनियो और बैंको का राष्ट्रीयकरण, राजाओ को मिलने वाले प्रिवी पर्स की समाप्ति, कोयला खानो और तेल-कम्पनियो का राष्ट्र हित मे पुनर्गठन, भू सुधार कृषि-कार्यों की प्राथमिकता और कृषि भूमि-पुनर्गठन, मजदूरो के लिए उचित मजदूरी-दर निर्धारण, गरीबी-उन्मूलन के लिए अन्य अनेक प्रकार के उपयोगी कार्य, अनुशासन और आत्मनिर्भरता की ओर सशक्त कदम आदि इनके प्रधान मन्त्रित्व काल की प्रमुख उपलब्धियाँ

रेखाङ्कित की जा सकती हैं। इसी प्रकार पोखरण में होने वाला प्रथम भूमिगत परमाणु विस्फोट अनेक कृत्रिम उपग्रहों की कुशल योजनाएँ आदि इनके काल की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं, तो पाक आक्रमण का मुँहतोड़ जवाब और अनेक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के रहते हुए भी बंगला देश के उदय में सहयोग, शिमला-समझौता आदि इनकी महान राजनीतिक उपलब्धियाँ इतिहास में सुनहरे अक्षरों में अंकित रहेंगी।

प्रत्येक स्थिति में धैर्य एवं दूरदर्शिता बनाए रखना इन्दिरा जी के स्वभाव की एक प्रमुख विशेषता मानी जाती है। इसी के बल पर इन्होंने प्रत्येक राजनतिक या अन्य प्रकार के उतार चढ़ावों को शान्तिपूर्वक सहन किया और प्रत्येक बार विजय पाई। इनके धैर्य और सूझ बूझ के दर्शन श्री वी० वी० गिरि को राष्ट्रपति बनाने के समय तो हुए ही, आपात् काल की घोषणा और परवर्ती परिस्थितियों के कठोर संघर्ष काल में भी हुए। इनकी कार्य विधि और कार्य क्षमता का सामना कर पाने का ताव न ला, अपने को बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ समझने वाले पुराने घाघ काँग्रेसी अलग होकर नये दल गठित करते रहे, पर यह अकेली ही काँग्रेस की पुरानी नाव पर सवार हो, उसमें नवीन नवीन रक्त का संचार कर आगे बढ़ती रहीं आज भी निरन्तर एवं अबाध गति से बढ़ रही हैं। इसी धीरज और साहस से ही इन्होंने आपात् काल समाप्त कर सन् १९७७ में मध्यावधि चुनाव कराए। हार कर फिर जनता पार्टी के राज में बदले की भावना से बैठाए गए अनेक आयोगों का सामना करते हुए भी हार नहीं स्वीकारी। उसका ही परिणाम था कि सन् में हुए १९८० चुनावों में इन्हें फिर से भारी जनमत का विश्वास प्राप्त हो सका। वह पुनः प्रधान मंत्री के गुरुत्वपूर्ण पद पर आसीन हो सकीं। इन वर्षों में इन्हें अपने स्वर्गीय पुत्र संजय का जो सक्रिय सहयोग प्राप्त हो सका, वह भी अविस्मरणीय है। अपने उस सुपुत्र की दुर्घटना में होने वाली मृत्यु को भी इन महान महिला और माँ ने बड़े धैर्य से सहन किया। इस प्रकार न केवल राजनीतिक, बल्कि पारिवारिक और वैयक्तिक स्तर पर भी इन्दिरा जी पर अनेक प्रकार के आघात किए उन्हें सहज दृढ़ता से सहते हुए इन्दिरा जी भारत के उन्नत भविष्य-निर्माण में निरन्तर गतिशील हैं।

सन् १९८० में दुबारा प्रधान मंत्री बनने के बनने के बाद इन्दिरा जी ने देश को जो नया बीस सूत्री कार्य क्रम दिया है, उस पर सक्रिय कार्य हो रहा है। इन्दिरा जी की उस पर गहरी नजर है। रूस के साथ मैत्री-दृढ़ता, अमेरिका, चीन और पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध-सुधार की नई प्रक्रियाएँ

६१. ओलम्पिक खेल

खेलों का महत्त्व सर्वविदित है प्रायः समझा जाता है कि खेल व्यायाम का एक सुखद एवं मनोरंजक अंग है और उनसे व्यक्ति को शारीरिक शक्ति मिलती है परन्तु वास्तव में खेल स्वास्थ्य और शारीरिक विकास में तो सहायक होते ही हैं उनसे व्यक्ति का मानसिक और बौद्धिक विकास भी होता है। खेलों के इसी महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्हें 'शाला का अभिन्न अंग बना दिया गया है। यह उक्ति कि 'वाटरलू का युद्ध ईटन के खेल मैदान में जीता गया' इसी ओर संकेत करती है कि खेल के मैदान में व्यक्ति अनेक गुणों अनुशासन, सहयोग-भावना योजनाबद्ध कार्य करने की क्षमता धैर्य, सहिष्णुता आदि को अर्जित करता है। अतः अब सभी मानते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में खेलों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और सभी देश खेलों को लोकप्रिय बनाने तथा उनके लिए आवश्यक सुविधायें जुटाने में जी-जान से लगे हुए हैं।

सबसे पहले यूनानी दार्शनिक और विचारक प्लेटो ने खेलों का महत्त्व समझ कर उनकी उपयोगिता को रेखांकित किया। वर्तमान युग में किंडर-गार्टन शिक्षा-पद्धति के प्रवर्तक फ्रोबेल नामक शिक्षा शास्त्री ने खेल को शिक्षा पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त मानकर उसे शिक्षा का अविभाज्य अंग बनाया। उनका मत था कि खेल बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और वह खेल-खेल में बहुत कुछ सीख सकता है। इससे बिना मस्तिष्क पर भार पड़े और शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न हुए बालक बहुत कुछ नयी बातें सीख जाता है। मौन्टेसरी ने भी खेल को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन माना क्योंकि खेल में बालक की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं।

होती थीं—लंबी दौड़ और छोटी दौड़। दौड़ में भाग लेने वाले पुरुष होते थे और वे नंगे शरीर में दौड़ते थे। अतः महिलाओं का प्रवेश वर्जित था। विजेताओं का अभिनन्दन जैतून की पत्तियों से किया जाता था। बहुत समय तक ये खेल प्रतियोगितायें यूनान तक सीमित रहीं फिर यूनान में आंतरिक संघर्षों के कारण ये बन्द हो गयीं।

आधुनिक युग में ये प्रतियोगितायें फ्रांस के एक धनाढ्य सामन्त बैरन पाइरे कैबरटीन के प्रयत्नों से पुनः 1896 में एथेन्स में आयोजित की गयीं। उस समय उन्होंने कहा था, "जीवन जीतने के लिए है, अच्छी तरह से लड़ने के लिए है। खेल युगों तक मानवता के हित के लिए चलते रहेंगे। मानव के साहस और आत्मविश्वास का इतिहास इन खेलों के माध्यम से जीवित रहेगा।" तब से आज तक प्रति चार वर्ष बाद ओलम्पिक प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है—कभी यूरोप में कभी अमरीका में तो कभी एशिया में। इसमें विश्व के विभिन्न देशों से हजारों खिलाड़ी विभिन्न प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिए एकत्र होते हैं। पिछली चार ओलम्पिक प्रतियोगितायें मांट्रियल (1976) मास्को (1980), लॉस एंजिल्स (1984) तथा सियोल (1988) में सम्पन्न हुई हैं।

ओलम्पिक खेलों का अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व है। इन खेलों के प्रबन्ध के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति संगठित की जाती है जिसमें प्रत्येक भाग लेने वाले राष्ट्र का कम से कम एक सदस्य और अधिक से अधिक तीन सदस्य हो सकते हैं। यही समिति खेलों के लिए स्थान का चुनाव करती है और खेलों की देख रेख तथा व्यवस्था का भी उत्तरदायित्व उसी पर होता है। ये खेल प्रतियोगितायें दो सप्ताह से कुछ अधिक समय तक चलती हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपने खिलाड़ियों का खर्च स्वयं उठाता है।

ओलम्पिक खेल प्रतियोगिताओं की एक विशिष्टता है मशाल। ओलम्पस पर्वत पर जलाई गयी इस मशाल को लेकर खिलाड़ी संसार के विभिन्न भागों से होते हुए उस नगर में पहुंचते हैं जहाँ खेलों का आयोजन होता है। 1972 में यह मशाल 28 जुलाई को प्रज्वलित की गयी और वह 21 दिन 7 घंटे बाद 5976 धावकों के हाथों में होती हुई अंत में म्यूनिख पहुंची। उसने लगभग 5500 किलोमीटर की दूरी तय की।

ओलम्पिक के पहले दिन मुख्य क्रीड़ागार (स्टेडियम) में एक परेड का

आयोजन होता है। इसमें सभी प्रतियोगी देशों के खिलाड़ी अपने अपने देश की आकर्षक वेशभूषा में अपने देश की राष्ट्रीय छाप लेकर मार्च पास्ट में भाग लेते हैं। इसके बाद मेजबान देश का राष्ट्राध्यक्ष समारोह का उद्‌घाटन करता है जैसे 1984 में राष्ट्रपति रेगन ने या 1988 में दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति ने इन खेलों का उद्‌घाटन किया। ओलम्पिक ध्वज सफेद वस्त्र का बना होता है और उस पर पांच रंगीन गोले बने होते हैं जो एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। इस ध्वज को फहराया जाता है और तब प्रतियोगी शपथ लेते हैं, "हम शपथ लेते हैं कि हम स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना से ओलम्पिक खेलों के नियमों का आदर करते हुए अपने देश का सम्मान और खेलों की प्रतिष्ठा के लिए सच्चे अर्थों में खेल की भावना से ओलम्पिक खेलों में भाग लेंगे।" उसके बाद प्रतियोगितायें प्रारम्भ होती हैं। ओलम्पिक खेलों में इतने अधिक और विविध प्रकार के खेलों की प्रतियोगितायें होती हैं कि किसी एक नगर में उनका आयोजन नहीं हो सकता। अतः उनके लिए विभिन्न नगरों में स्थित क्रीड़ाकेन्द्र का प्रबन्ध किया जाता है।

ओलम्पिक खेलों का समापन समारोह भी बड़ा भव्य और रोमांचक होता है। ओलम्पिक मशाल को स्कोर बोर्ड पर अंकित किया जाता है और खिलाड़ी अगली प्रतियोगिता के लिए निश्चित स्थान का नाम लेकर 'फिर मिलेंगे' के निमन्त्रण और विश्वास के साथ विदा होते हैं। उस समय खिलाड़ियों का हंसते मुस्कराते, गाते-नाचते, धूम मचाते एक दूसरे से विदा होने का दृश्य दर्शकों के मन पर अमिट छाप छोड़ जाता है। रंगारंग सांस्कृतिक प्रोग्राम तथा आतिशबाजी इस समापन समारोह को और भी आकर्षक बना देती है।

ओलम्पिक खेलों की दिन प्रतिदिन बढ़ती लोकप्रियता और उनके महत्त्व पर प्रकाश डालने के लिए हम पिछले दो ओलम्पिक आयोजनों का चित्र प्रस्तुत करते हैं। 23वां ओलम्पिक खेल आयोजन अमरीका के लॉस एंजिल्स नामक नगर में सन् 1984 को आयोजित किया गया। इस नगर को ही यह गौरव प्राप्त हुआ है कि वहां दूसरी बार ओलम्पिक खेल आयोजित किये गये। 28 जुलाई 1984 से 12 अगस्त 1984 तक आयोजित इस खेल समारोह का उद्‌घाटन अमेरिका के राष्ट्रपति रेगन ने किया। यह उद्‌घाटन समारोह बड़ा ही भव्य और मनमोहक था। इस उद्‌घाटन समारोह पर

रंग-बिरंगे गुब्बारे तो उड़ाये ही गये एक विशेषता यह रही कि इस अवसर पर एक पुरुषमैन ने आकाश में उड़कर दर्शकों को आश्चर्य चकित कर दिया। सदा की तरह ओलम्पिक मशाल जलाने के बाद खेलों का श्रीगणेश किया गया। इस अवसर पर अमरीकी कलाकारों ने अपने परम्परागत नृत्य और संगीत से दर्शकों का मनोरंजन किया।

इन 23वें ओलम्पिक खेलों में विश्व के 142 देशों के लगभग 12 हजार खिलाड़ियों ने भाग लिया। खेलों की सुचारू व्यवस्था और संचालन के लिए लगभग 4000 अधिकारी नियुक्त किये गये थे। इन खेलों को देखने के लिए विश्व के कोने-कोने से लगभग छः लाख दर्शक और उनका समाचार देने के लिए समाचार पत्रों रेडियो और टेलीविजन के आठ हजार सम्वाददाता आये थे। इन सबके आवास और भोजन का समुचित प्रबन्ध किया गया था। इलैक्ट्रानिक उपकरणों की सहायता से प्रतियोगिता परिणामों को शीघ्रातिशीघ्र प्रेषित करने की व्यवस्था भी प्रशंसनीय रही। कम्प्यूटर द्वारा संचालित दूरसंचार प्रणाली ने विश्व के दो करोड़ से अधिक लोगों को घर बैठे इन खेलों की जीती-जागती तस्वीरें दिखाकर उनका मनोरंजन किया। केवल एक कमी सभी को खटकी थी। अमेरिका में आयोजित होने के कारण रूस आदि साम्यवादी देशों ने इन खेलों का बहिष्कार किया जिससे यह प्रतियोगिता विश्व-स्तर की नहीं हो पायी।

ओलम्पिक खेलों के इतिहास में यह पहला अवसर था जब इन खेलों के आयोजन का दायित्व सरकार ने न उठाकर एक निजी व्यावसायिक संगठन ने उठाया था। अमरीकी ओलम्पिक कमेटी के अध्यक्ष विलियम सियोल के अनुसार इस आयोजन पर लगभग 5000 लाख डालर व्यय हुए और इस निजी संगठन को 1,0 लाख डालर का शुद्ध लाभ हुआ। इस खेल-आयोजन में तीरन्दाजी, एथेलेटिक्स, जिमनास्टिक, नौका-दौड़, तैराकी, घुड़सवारी आदि 23 खेलों में 223 प्रतियोगितायें हुई। इनमें अनेक नए विश्व कीर्तिमान स्थापित किये गये। अमेरिका का स्थान प्रथम रहा क्योंकि दो अन्य प्रबल प्रतिद्वन्द्वी देशों रूस और पूर्वी जर्मनी ने इन प्रतियोगिताओं का बहिष्कार किया था। अमेरिका ने इन प्रतियोगिताओं में स्वर्ण, 61 रजत तथा 30 कांस्य पदक जीते हैं। दीसरा

पश्चिमी जर्मनी को, चौथा चीन को तथा पांचवां इटली को मिला था। हाकी का पदक पाकिस्तान ने जीता था। विश्व विख्यात मैराथान दौड़ में पुतगाल का प्रथम स्थान रहा था, जहाँ तक भारत का प्रश्न है उसे कोई पदक नहीं मिला। फिर भी भारतीय खिलाडियों ने खेल-भावना का परिचय दिया अपने पहले कीर्तिमानों को तोड़ा, बहुत कुछ सीखा और प्रेरणा ली। कुल मिलाकर यह आयोजन सफल रहा।

कोरिया एशिया का एक छोटा सा देश है। विश्व राजनीति के दुष्चक्र में फँसकर जब वह दो भागों में बटा—उत्तर कोरिया और दक्षिण कोरिया, तब तो उसकी स्थिति और भी गौण हो उठी। दक्षिण कोरिया की राजधानी है सिओल अतः जब ओलम्पिक खेलों की व्यवस्थापिका समिति ने घोषणा की कि 1988 के ओलम्पिक खेल सिओल में होंगे तब कुछ देशों को धक्का लगा था और उन्होंने इस आयोजन की सफलता पर आशंकायें भी व्यक्त की थीं परन्तु इस छोटे से देश ने साधनों और जन शक्ति की अड़चनों के बावजूद जो कर दिखाया और जिस सफलता के साथ 2 वें ओलम्पिक खेल सम्पन्न हुए उससे न केवल अनेक देश आश्चर्यचकित रह गये अपितु उन्होंने प्रेरणा भी प्राप्त की और इस उक्ति में उनका विश्वास दृढ़ हो गया कि जहाँ चाह है वहाँ राह है।" ओलम्पिक खेलों के समायोजन के लिए अमृत साधन, राष्ट्रीय संकल्प, अथक परिश्रम और आयोजन क्षमता चाहिए। दक्षिण कोरिया ने दिखा दिया कि छोटा राष्ट्र होते हुए भी उसमें ये सब गुण हैं।

घोषणा के बाद दक्षिण कोरिया के लोगों ने इसकी सफलता को अपनी प्रतिष्ठा का विषय बना लिया। वे जी-जान से जुट गये। रात दिन खून पसीना एक कर उन्होंने असम्भव को सम्भव बना दिया। सिओल हुन नदी के तट पर स्थित है। अतः ओलम्पिक खेलों का मुख्य स्टेडियम इसी नदी के तट पर निर्मित किया गया है। वह 105 मीटर लम्बा और 67 मीटर चौड़ा है। इसकी दर्शक दीर्घा इतनी विशाल है कि उसमें एक समय में 70 हजार दर्शक बैठ सकते हैं। इसमें रंग बिरंगी सुन्दर कुर्सियाँ लगी थीं। इसके ऊपरी खंड और निचले खंड में कुल मिलाकर 52 प्रवेश द्वार थे। तलखंड में खिलाड़ियों की व्यवस्था थी। मुख्य स्टेडियम में सभी प्रतियोगितायें नहीं हो सकती थीं। अतः अन्य खेल प्रतियोगिताओं के लिए अन्य 34 खेल स्टेडियम बनाये गये थे। खिलाड़ियों के प्रशिक्षण और अभ्यास के लिए 72 अन्य केन्द्र भी

बनाये गये। इन नदी के अतिरिक्त जहाँ नौका दौड़ों का आयोजन था अन्य अनेक इनडोर तरणताल बनाये गये थे जहाँ तैराकी, गोताखोरी आदि की प्रतियोगितायें आयोजित की गयी। अनोखी बात यह थी कि स्टेडियम, आवास गृह आदि एक दूसरे से पांच किलोमीटर से दूर नहीं थे। अतः खिलाड़ियों, पत्रकारों, रेडियो और टेलीविजन के लिए काम करने वालों को तनिक भी असुविधा नहीं हुई।

सिओल में ओलम्पिक खेल 17 सितम्बर से 2 अक्टूबर तक चले। 17 सितम्बर 1988 को भारतीय समय के अनुसार प्रातः 6 बजे 24वें ओलम्पिक खेल समारोह का उद्घाटन दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति महामहिम रोह टे-वो ने किया। सदा की तरह इस बार भी ओलम्पिक मशाल प्रज्वलित की गयी, कबूतर और गुब्बारे उड़ाये गये जिनसे सिओल आकाश पर एक अद्भुत दृश्य अंकित हो गया। 13740 नर्तकों, गायकों और कलाकारों ने रंगारंग कार्यक्रम प्रस्तुत कर उत्सव की शोभा में चार चाँद लगा दिए।

सिओल ओलम्पिक आयोजन समिति के अध्यक्ष थे पार्क सेह जिक। उन्हीं के मार्गदर्शन में सारा आयोजन सम्पन्न हुआ। सिओल ओलम्पिक का आदर्श उद्देश्य वाक्य था, "एकता और प्रगति"। उसका शुभंकर था—होदोरी अर्थात कोरियाई बाघ का बच्चा जिसकी धारियाँ पीली काली होती हैं। सिओल ओलम्पिक का आधिकारिक चिन्ह था—सामताएक।

इस प्रतियोगिता में 700 पदक दिये जाने वाले थे। आयोजन की समाप्ति पर जब गणना की गयी तो परिणाम इस प्रकार थे—

देश	स्वर्ण पदक	रजत पदक	कांस्य पदक
सोवियत संघ	55	31	26
पूर्वी जर्मनी	37	35	30
अमेरिका	36	31	27
दक्षिण कोरिया	12	10	11

मेजबान देश दक्षिण कोरिया का निष्पादन आशातीत था क्योंकि पहले के ओलम्पिक खेलों में एशिया से चीन और जापान ही सर्वाधिक पदक प्राप्त करते आये थे।

इन खेलों में अनेक विश्व कीर्तिमान ध्वस्त हुए नए कीर्तिमान बने, अनेक

खिलाड़ियों को निराशा हुई। नए सितारे चमके। एक विशेष बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह कि यद्यपि खिलाड़ियों के लिए मादक द्रव्यों का सेवन पहले भी वर्जित था पर वह लुके-छिपे चलता था। सियोल ओलम्पिक्स में परीक्षण प्रणाली इतनी कड़ी और कुशल रही कि कई खिलाड़ियों को विजयी घोषित करने और पदक प्रदान करने के बाद भी जब दोषी पाया गया तो उनसे पदक वापिस ले लिए गये और उन्हें दण्डित भी किया गया। यह भविष्य के लिए चेतावनी तो है ही खेलों और खिलाड़ियों के लिए शुभ भी है।

जहां तक आय-व्यय का प्रश्न है अनुमान है कि इस आयोजन पर 3 अरब डालर खर्च हुए और शुद्ध लाभ की राशि 1 9 अरब डालर रही। यद्यपि दक्षिण कोरिया को निर्माण कार्यों आदि पर इससे कहीं अधिक खर्च करना होगा पर आयोजन की सफलता से उसे जो गौरव और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है उसे देखते व्यय कुछ भी नहीं है।

९२ | मन के हारे हार है, मन के जीते जीत

मन समस्त इन्द्रियो का स्वामी और गति विधियों का केन्द्र माना जाता है। उसी के संकेत और प्रेरणा से शरीर चलता है। अपने आप में मनुष्य का शरीर बड़ा लाचार है। उसकी अपनी सीमाएं हैं। उन्हें वह पार नहीं कर सकता। शरीर आग में जल जाता है पानी मे गल जाता है और वायु में सूख जाता है, शीत, घाम और वर्षा सभी इसे विचलित कर देती हैं। यह तन थक जाता है, टूट जाता है और हिम्मत हार बैठता है। इस बेचारे शरीर से मनुष्य वह सब कुछ नहीं कर सकता जो उसने आज कर दिखाया है। आज की वैज्ञानिक सांस्कृतिक और कलात्मक उपलब्धियां मनुष्य के शरीर के कारण नही अपितु उसके मन के कारण हैं। शरीर एक ऐसा यन्त्र है जिसे अपने संचालन के लिए मन से ही आदेश और शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए यह कहना ठीक है जो आदमी मन से हार जाता है वही जीवन-संग्राम में पराजित होता है, किन्तु जो दृढ़ मनुष्य अपना साहस बनाए रखता है, वह हारकर भी नही हारत।

शारीरिक दृष्टि से संसार के लोगों में भिन्नता कम है, [illegible] अधिक। जलवायु, आर्थिक अवस्था या अधिक कारणों से किसी एक [illegible]

कल्पनाओं को मूर्त रूप देने के प्रयत्न में जुट भी जाते हैं, किन्तु पथ की बाधाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर वे शीघ्र ही उस कार्य से विरत हो जाते हैं। असाधारण मनुष्य के मार्ग में कठिनाई न आती हो या उसे प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना न करना पड़ता हो, ऐसी बात नही है। साधारण और असाधारण मनुष्य के बीच अन्तर है तो केवल इतना कि साधारण जन जल्दी ही अपना मन हार देते हैं जबकि असाधारण व्यक्ति पथ की बाधाओं से प्रोत्साहित होकर और अधिक लगन तथा उत्साह से अपने कार्य मे जुट जाते हैं और अन्तत सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

हमे ऐसे अनेक व्यक्तियों के वृत्तान्त पढने को मिलते हैं जो आजीवन कठिनाइयाँ झेलते रहे किन्तु अन्त मे सफल हुए। आज इन लोगों को असाधारण महापुरुषों की श्रेणी में रखा जाता है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि इन लोगों ने विषम परिस्थितियों के आगे हार न मानकर अपने निजी जीवन मे भी सफलता प्राप्त की और विश्व के सम्मुख एक ऐसा ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया जो दूसरे लोगों को मार्ग की बाधाओं को कुचलते हुए अथक और अनवरत रूप से परिश्रम करने की प्रेरणा देता है। मनुष्य के साहस, बल और बुद्धि की पहचान उसके बुरे समय मे ही होती है। इस ससार मे विजयी वही होता है जो शक्ति भर, बल्कि अपनी शक्ति से भी अधिक सघर्ष करता है। इस सघर्ष में साहसी, शक्तिशाली और बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी अपना हौसला नहीं खोता, इसलिए उसे सफलता मिलती है।

जीवन विरोधी प्रकृति की वस्तुओं और विरोधी प्रवृत्तियों का अद्भुत मिश्रण है। इसमे सब दिन, सब बातें और परिस्थितियाँ एक सी नहीं रहती। ससार का अर्थ है जो ससरण करता रहे अर्थात् प्रतिपल परिवर्तित होता रहे। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख, आशा के बाद निराशा और निराशा के बाद आशा, उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान, दिन के बाद रात और रात के बाद दिन संसार का यही क्रम है। मनस्वी लोग ससार की इस प्रवृत्ति को पहचानते हैं और विपरीत परिस्थितियों मे नही घबराते।

आशा एक ऐसा सूत्र है जिसके बिना जीवन नहीं चल सकता। मनुष्य को अपने तथा इस विश्व के मगलमय भविष्य के प्रति सदैव आशावान रहना चाहिए और कर्म में आस्था रखनी चाहिए। जो व्यक्ति कर्म से विरक्त नहीं होते, मन म निराशा नहीं आने देते, वे लोग ही अपने उद्देश्यो मे सफल

प्रान्त के लोग दूसरे देशों अथवा प्रान्तों के लोगों से अधिक या कम स्वस्थ हो सकते हैं, लेकिन प्रत्येक मनुष्य का मनोबल अन्य मनुष्यों से भिन्न होता है, और यह मनोबल ही प्रधान है, शारीरिक बल नहीं। हम प्राय महापुरुषों के जीवन वृत्तान्त और उनके जीवन में घटने वाली घटनाओं पर आश्चर्य करते हैं और सोचते हैं कि इन लोगों में ऐसी क्या बात थी जिसने इनसे ऐसे असाधारण काय करा लिए जिनकी हम साधारणत कल्पना भी नहीं कर सकते। शारीरिक दृष्टि से इन लोगों में कोई असाधारणता नहीं थी, चाहे वे बुद्ध हों अथवा गांधी, जवाहरलाल हो या रवीन्द्रनाथ टैगोर, डार्विन हो अथवा रसेल फॉयड हो या लिंकन। वास्तव में इन महापुरुषों को महत् मनोबल ही इन्हें असाधारण जनों की पंक्ति में ला बैठाता है।

मन न हारने का अर्थ है हिम्मत न हारना या होसला बनाए रखना। जब तक यह होसला बना रहता है तब तक मनुष्य शान्त होकर नहीं बैठता और उद्यम से मुँह नहीं मोड़ता। बार-बार असफल होकर भी सफलता की राह पर गतिशील रहता है। जीवन एक सघर्ष है और जैसे एक अंग्रेजी की कहावत है—"किसी भी लड़ाई में तब तक हार नहीं माननी चाहिए जब तक कि जीत न ली जाए।" वास्तव में कोई भी सघर्ष मन से जीता या हारा जाता है, शरीर तो एक साधन मात्र है। जब मनुष्य का मन हार जाता है तो उसका तन भी बिना किसी प्रतिरोध के पराजय स्वीकार कर लेता है। परन्तु यदि मन नहीं हारता तो वह तन को भी अपने साथ सफलता प्राप्ति के सघर्ष-कार्य में लगाए रहता है।

इच्छा शक्ति एक बड़ी विचित्र शक्ति है इसके अभाव में महत् कार्य नहीं हो पाते। यह इच्छा शक्ति उसी व्यक्ति के पास हो सकती है जिसके पास परिस्थितियो से कभी न झुकने वाला सुदृढ मन हो। जिस घातक रोग से सामान्य मनुष्य मर जाता है प्रबल इच्छा शक्ति वाले लोग उसी रोग से बरसो जूझते रहते हैं और जिस रोग से सामान्यजन को औषधि विज्ञान के बड़े-बड़े चमत्कार नहीं बचा पाते उसे मनस्वी अपनी इच्छा शक्ति से परास्त कर देते हैं। मन की इस विचित्र शक्ति के कारण ही लाखो और करोड़ों विपत्तियो का समुदाय उन लोगों के सामने घुटने टेक देता है, जो शारीरिक दृष्टि से नितान्त सामान्य होते हैं। गांधी जी का शरीर नहीं, मन ही उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति के सघर्ष पथ पर चलाए रखकर अन्तिम सफलता दिला सका।

*मन कल्पनाओं का अक्षय भण्डार है। साधारण जन के मन मे भी असा*धारण कल्पनाएँ जन्म लेती रहती हैं। अनेक साधारण जन इन असाधारण

कल्पनाओं को मूर्त रूप देने के प्रयत्न में जुट भी जाते हैं, किन्तु पथ की बाधाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर वे शीघ्र ही उस कार्य से विरत हो जाते हैं। असाधारण मनुष्य के मार्ग में कठिनाई न आती हो या उसे प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना न करना पडता हो, ऐसी बात नहीं है। साधारण और असाधारण मनुष्य के बीच अन्तर है तो केवल इतना कि साधारण जन जल्दी ही अपना मन हार देते हैं जबकि असाधारण व्यक्ति पथ की बाधाओं से प्रोत्साहित होकर और अधिक लगन तथा उत्साह से अपने कार्य में जुट जाते हैं और अन्तत सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

हमें ऐसे अनेक व्यक्तियों के वृत्तान्त पढने को मिलते हैं जो आजीवन कठिनाइयां झेलते रहे किन्तु अन्त में सफल हुए। आज इन लोगों को असाधारण महापुरुषों की श्रेणी में रखा जाता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि इन लोगों ने विषम परिस्थितियों के आगे हार न मानकर अपने निजी जीवन में भी सफलता प्राप्त की और विश्व के सम्मुख एक ऐसा ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया जो दूसरे लोगों को मार्ग की बाधाओं को कुचलते हुए अथक और अनवरत रूप से परिश्रम करने की प्रेरणा देता है। मनुष्य के साहस, बल और बुद्धि की पहचान उसके बुरे समय में ही होती है। इस संसार में विजयी वही होता है जो शक्ति भर, बल्कि अपनी शक्ति से भी अधिक संघर्ष करता है। इस संघर्ष में साहसी, शक्तिशाली और बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी अपना हौसला नहीं खोता। इसलिए उसे सफलता मिलती है।

जीवन विरोधी प्रकृति की वस्तुओं और विरोधी प्रवृत्तियों का अद्भुत मिश्रण है। इसमें सब दिन, सब बातें और परिस्थितियाँ एक सी नहीं रहती। ससार का अर्थ है जो ससरण करता रहे अर्थात् प्रतिपल परिवर्तित होता रहे। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आशा के बाद निराशा और निराशा के बाद आशा, उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान, दिन के बाद रात और रात के बाद दिन संसार का यही क्रम है। मनस्वी लोग ससार की इस प्रवृत्ति को पहचानते हैं और विपरीत परिस्थितियों में नहीं घबराते।

आशा एक ऐसा सूत्र है जिसके बिना जीवन नहीं चल सकता। मनुष्य को अपने तथा इस विश्व के मंगलमय भविष्य के प्रति सदैव आशावान रहना चाहिए और कर्म में आस्था रखनी चाहिए। जो व्यक्ति कर्म से विरक्त नहीं होते, मन में निराशा नहीं आने देते, वे लोग ही अपने उद्देश्यों में सफल

होते हैं। एक कहावत है—"हारिये न हिम्मत विसारिये न राम"। यह लोकोक्ति सीधे-सीधे शब्दों में मनुष्य के सामने एक ऐसे उच्च आदर्श को प्रस्तुत करती है जिसे जीवन में सरलता से रूपान्तरित किया जा सकता है। यह आदर्श है—मनुष्य को किसी भी मूल्य पर हौंसला नहीं खोना चाहिए और हर समय यह विश्वास बनाए रखना चाहिए कि राम जो कुछ करेंगे वह उसके हित में ही होगा। इस कहावत से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का मार्ग अनेक बाधाओं से भरा हुआ है और उसके सामने ऐसी अनेक परिस्थितियां आ सकती हैं, जिनसे वह हिम्मत हार सकता है, लेकिन सुन्दर और मंगलमय भविष्य में विश्वास रखते हुए उसे अपनी हिम्मत न हार कर निश्चित मन से कार्य करते रहना चाहिए। कर्मठ व्यक्तियों के चरण ही सफलता चूमा करती है।

सारांश यह है कि मनुष्य को अपने काम में मनोबल से ही सफलता प्राप्त होती है। उसे हर मूल्य पर इस मनोबल को बनाए रखना चाहिए और अधिक से अधिक ऊँचा उठाना चाहिए। उसे भविष्य के प्रति आशावान रहना चाहिए और यदि मन में दुर्बलता आए तो भी उसे निकाल फेंक फिर से काम में जुट जाना चाहिए जीवन में सफलता का यही मूल मन्त्र है कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी मनुष्य को अपना हौसला नहीं छोड़ना चाहिए। मन की दृढ़ता पराजय को भी जय में तभी बदल पाती है।

९३ | जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान

जीवन की सफलता के अनेक रहस्य हैं। उनमें से, भारतीय संस्कृति में सन्तोष को परम धन और सन्तोषी को परम सुखी माना गया है। सन्तोष की जो महिमा हमारे देश में मानी गई है वह बहुत कम देशों में मान्य है। आज के इस अर्थ प्रधान युग में तो सन्तोष का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है जबकि पश्चिम के मनीषी भी यह सोचने लगे हैं कि विश्व की मुक्ति भारतवर्ष द्वारा बनाए गए सनातन मार्ग पर चलने से ही सम्भव है। उन्हें लगता है कि यदि भारतीय आदर्शवाद को विश्व-जीवन-दर्शन में यथोचित स्थान न दिया गया तो शस्त्रों की यही अन्धी दौड़ किसी दिन मानवता को विनष्ट ही कर देगी। सन्तोष भारतीय आदर्शवादी संस्कृति की एक बहुत ही प्रमुख विशेषता और पुरुषार्थपूर्ण उपलब्धि है।

सन्तोष मन की उस अवस्था को कहते हैं जब मनुष्य अपनी स्थिति के प्रति कोई पछतावा, असन्तोष या आक्रोश न अनुभव करता हो। यह अवस्था उस सम्पूर्ण सुख की अवस्था है, जिसमे दुःख भी मनुष्य के मन को विचलित नही कर पाता। मनुष्य उसी से सन्तुष्ट होता रहता है। जो कुछ उसे प्राप्त होता है। जो प्राप्त नही है, उसके लिए वह प्रयत्न अवश्य करता है किन्तु आपाधापी करके दूसरो के सुखभाग पर अनुचित रूप से अधिकार करने की नही सोचता, वह न अपनी स्थिति को शोचनीय या कष्टपूर्ण बनाता है और न दूसरो को उसका दोषी या उत्तरदायी ठहराता है हर हाल मे सन्तुष्ट रहना ही धर्म मानता है।

इसका मतलब यह नही कि सन्तोषी भाग्यवादी, आलसी या विरक्त होता है। वह कर्म और भाग्य दोनो मे विश्वास रखता है। कर्म से भाग्य को सुन्दर बनाने का प्रयत्न भी करता है, किन्तु अपने प्रयत्नो मे असफल होने पर वह बौखला नही उठता, बल्कि उसी असफलता को अपना भाग्य समझकर सन्तुष्ट हो जाता है और फिर एक नए सिरे से सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ कर देता है। वह आलसी नही होता, क्योंकि आलसी मनुष्य अपनी हीन अवस्था से सन्तुष्ट न रहकर उसके लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराता है। आलसी बिना कर्म किए उसके फल मे अपना हिस्सा चाहता है जबकि सन्तोषी यथाशक्ति कर्म करता है और यदि कर्म करने के पश्चात् भी उसे फल की प्राप्ति नही होती तो भी विक्षुब्ध नही होता। समरसता उसका प्रमुख लक्षण है।

सन्तोषी व्यक्ति को साधारण जन की अपेक्षा सासारिक सुखो की अभिलाषा बहुत कम होती है। यश, धन, रूप आदि ऐसे विषय हैं जिनकी प्यास का कोई अन्त नहीं है। सामान्य जन नाना प्रकार के राग द्वेष से घिरे हुए जीवन-भर इस प्यास को बुझाने का प्रयत्न करते हैं। सन्तोषी व्यक्ति समझता है कि सासारिक सुख मृगतृष्णा के समान मिथ्या है। इसलिए वह उनका पीछा करने का प्रयत्न ही नही करता। मन को इस स्थिति मे ढालने के प्रयत्न मे वह स्वय तो सुखी होता ही है। अपने आस पास को भी सुखी कर देता है।

सन्तोष एक बडा ही दुर्लभ गुण है इस प्राप्त कर लेने पर मनुष्य के स्वभाव म अनेको सद्गुणो का समावेश अपने-आप हो जाता है। अनेक दुर्गुणो स वह अनयास ही बच जाता है। वास्तव मे देखा जाए तो हमारे जीवन और समाज मे जितनी भी बुराइयाँ हैं उन सब का कारण मानव मन की कोई-

न कोई प्रतृप्त तृष्णा है। महात्मा कबीर ने इस तृष्णा को डायन बताया है और इस बात पर बल दिया है कि ससार मे फैली अनेक बुराइयो का मूल कारण यही है। रूप, यौवन शक्ति, विजय, यश, धन, भूमि आदि अनेक वस्तुओ की तृष्णा के कारण ही समाज मे हत्याएँ होती हैं, सग्राम होते हैं, आग लगाई जाती है तथा इसी कारण के अन्य जघन्य कृत्य किये जाते हैं। जब मनुष्य को सन्तोष हो जाता है तो स्वाभाविक रूप से उसका मन इन दुर्गुणो की ओर नही जाता।

सन्तोषी मनुष्य सासारिक सुखों की मृग मरीचिका का रहस्य जानता है और दुर्गुणो की ओर प्रवृत्त नही होता। स्वाभाविक रूप से उसकी प्रवृत्ति नीति और आध्यात्मिकता की ओर हो जाती है। सामान्य जन अपना समय या तो सासारिक सुखो की प्राप्ति मे लगाते हैं अथवा अपने शेष समय मे वे उन सुखो की प्राप्ति के उपायों का चिन्तन करते रहते हैं। तत्ववेत्ता सन्तोषी व्यक्ति इन दोनो ही कामो मे अपने समय को नही गवाता। सन्तोषी व्यक्ति प्राय धर्म-परायण और ईश्वर भीरु होता है। इसी से उसे शान्ति मिलती है।

जब मनुष्य के पास सन्तोष रूपी धन आ जाता है, तब उसके लिए अन्य सभी प्रकार का धन व्यर्थ हो जाता है। वह समझ जाता है कि धन की लिप्सा का तो कोई अन्त ही नही है इसलिए मनुष्य को धन के लिए अन्धे बनकर व्यर्थ की भागमभाग न करके अपनी स्थिति से सतुष्ट रहना चाहिए।

सन्तोषी मनुष्य को ही परम ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। जो मनुष्य दूसरा की चीजा पर अपना अधिकार जमाने की सोचता रहता है वह दूसरा के धन को मिट्टी के समान कसे समझ सकता है? गीता मे लोभ को सब बुराइयों की जड बताया गया है। लोभ से मनुष्य में परिग्रह (सभी चीजो पर अपना अधिकार जमाए रखने की प्रवृत्ति) आता है और फिर इसने दूसरी बुराइयाँ जन्म लेती हैं। मध्ययुगीन सन्त कवियो ने मनुष्य को बार-बार इस बात की चेतावनी दी है कि दूसरो की चुपडी रोटी या धन सम्पत्ति की तरफ देखने से तुम्हे क्या लाभ? तुम्हें तो रूखी सूखी मिलती है उसी से सन्तुष्ट रहने की आदत डालो—

> 'देख पराई चुपडी क्या ललचावे जी।
> रूखी सूखी खाय के ठण्डा पानी पी॥'

इसी प्रकार कबीरादि महान सन्त कवियों ने मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ को कम-से कम करने का उपदेश दिया है। अपनी आवश्यकताओं को

मनुष्य जितना चाहे घटा बढा सकता है, यह उसके हाथ की बात है। शरीर को सुख भोग की जितनी आदत डाली जाय, उतना ही वह आलसी और विलासप्रिय बन जाता है। एक बार जब आवश्यकताएँ बढ जाती हैं, और उनकी पूर्ति नहीं होती तो फिर मनुष्य को कष्ट होता है। वह हर समय क्षुब्ध, असन्तुष्ट और अपरितृप्त रहने लगता है। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी का कहना है कि जिस प्रकार तालाब मे पानी बढने से कमल बढ जाता है, उसी प्रकार सम्पत्ति बढ जाने पर मनुष्य के खर्चे बढ जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार पानी कम होने से बढा हुआ कमल घट नही सकता, उसी प्रकार मनुष्य फिर अपनी आवश्यकताओ को नियन्त्रित नही कर पाता और उसका मन कमल की भाँति मुरझा जाता है। इस स्थिति से सन्तोषी ही बच सकता है।

सन्तोषी मनुष्य न तो अधिक कमाने के लिए दुखी होता है और न फिर न्याय-पूर्ण ढग से कमाए गए धन का अपव्यय करता है। उसकी तो सीमित आवश्यकतायें होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए वह न्यायोचित ढग से यथा-शक्ति कमाने का प्रयत्न करता है। अपने बाकी समय को वह परोपकार आदि दूसरे सत्कार्यों मे लगा देता है, और हर समय परमानन्द मे लीन रहता है। उसे न कोई चिन्ता रहती है न किसी प्रकार का असन्तोष उसे बेचैन कर पाता है। वह शरीर को धर्म का साधन मात्र समझता है और 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' मे विश्वास रखता हुआ धर्म के इस माध्यम की रक्षा करना तो अपना कर्त्तव्य समझता है किन्तु इसे अनेक प्रकार के भोग-विलासो मे लिप्त करना पाप समझता है। ऐसे सन्तोषी व्यक्ति के लिए सन्तोष ही परम धन होता है, गोधन, गजधन और वाजिधन आदि उनके लिए मिट्टी के समान होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुखी जीवन के लिए प्रयत्नपूर्वक सन्तोष धन का अर्जन ही उत्तम उपाय है।

६४ | पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

गोस्वामी तुलसीदास की यह उक्ति अपने आप मे जीवन का महान दर्शन समाए हुए है। मानव-जीवन मे पराधीनता और स्वाधीनता दो परस्पर विरोधी छोर हैं। इन दोनो का एक दोहे मे अन्तर स्पष्ट करते हुए ब्रजभाषा और

सतसई-परम्परा के अंतिम कवि माने जाने वाले श्री वियोगी हरि ने भी अपनी वीर सतसई' मे लिखा है

> "पराधीन जो जन, नहि स्वर्ग-नरक ता हत ।
> पराधीन जो जन नहि, स्वग-नरक ता हेत ।।"

अर्थात जो व्यक्ति पराधीन है, परवस और गुलाम स्थिति और मनोवृति वाला है उसके लिए स्वर्ग-नरक का कोई महत्त्व नही हुआ करता, क्योकि उस हर प्रकार से अपने को अधीन बनाने वाले की इच्छाओ का ध्यान रखकर ही चलना पडता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक आदि सभी दृष्टियो से पराधीन नही है—अर्थात स्वाधीन है, स्वर्ग-नरक का वास्तविक महत्त्व उसी व्यक्ति के लिए ही हुआ करता है । ऐसा इसलिए कि वह अपनी इच्छा से व्यवहार एव आचरण करके जान सकता है कि कौन सा कार्य स्वर्ग के समान सुख देने वाला है और कौन-सा नरक के समान यातनादायक है । कवि की इस उक्ति मे जीवन का, विशेषकर स्वतन्त्र और स्वाधीन जीवन का निश्चय ही वास्तविक महत्त्व छिपा हुआ है । निबन्ध की शीर्षक-पंक्ति 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं' भी उपरोक्त तथ्यो की ओर ही सकेत करती है । भला जो व्यक्ति प्रत्येक बात मे, प्रत्येक कदम पर पराधीनता की बेडियो मे जकडा हुआ है, वह वास्तविक सुख पाने के सपने भी कसे देख सकता है ? निश्चय ही किसी भी प्रकार का सुख पराधीनो के लिए नही बना, वह तो स्वाधीनो की ही सम्पत्ति है । बेचारा पराधीन ! उसकी कोई इच्छा आकाक्षा नही हुआ करती । उसकी स्थिति खुले वातावरण मे रहते हुए भी कारागार की अधेरी बन्द कोठरियो मे जीवन व्यतीत करने वाले नितान्त असहाय व्यक्ति के समान हुआ करती है । तभी तो पराधीनता से मुक्ति के लिए लोग और राष्ट्र अपना तन मन धन सभी कुछ न्योछावर कर दिया करते हैं । स्वाधीनता को जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं ।

तन मन, न का वास्तविक महत्त्व भी केवल स्वाधीन व्यक्ति ही जानता समझता है । तन पर कोई रोग हो गया है पराधीन के लिए उसका कोई महत्त्व नही, उसके पास उस रोग से छुटकारा पाने का साधन भी तो नही । मन दुखी है धन नही है—तो भी पराधीन के लिए सब बराबर है । कुछ कर या मन को दुख मे बचाने के लिए प्रयत्न करके वह अपने दुख को सिवाए और भी बढा लेने के अन्य कुछ नहीं कर सकता । धन तो उसे मिल ही नही सकता कि वह उसकी सहायता से दुखो के कारणों को दूर कर पाने म ममतर्थ

सके। इसी कारण तो महापुरुषो ने सभी प्रकार के दुःखो और चिन्ताओ का एकमात्र कारण पराधीनता को मानकर उसम छुटकारा पाने अर्थात् अपने आपको सभी प्रकार से स्वाधीन बनाने की अनवरत प्रेरणा दी है।

मुख्य रूप से पराधीनता के दो ही प्रकार हो सकते हैं—एक बाह्य पराधीनता और दूसरी मानसिक या आन्तरिक पराधीनता। आर्थिक अभाव, राजनीतिक गुलामी आदि बातें बाह्य पराधीनता के अन्तर्गत आती हैं। यदि व्यक्ति का मन सभी प्रकार की पराधीनताओ से मुक्त हो तो फिर उपरोक्त सब प्रकार की बाह्य पराधीनताओ मे निश्चय ही छुटकारा सम्भव हो सकता है। व्यक्ति मन की दृढता से काम लेकर वे सारे साधन जुटाने में समय हो सकता है कि जिनके द्वारा बाह्य पराधीनता से छुटकारा पाना सम्भव हो सकता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति मानसिक दृष्टियो से अपने आपको पराधीन बना लेता है तब तो उसके छुटकारे या निस्तार का कोई भी उपाय नही रह जाता। जब दिल ही बुझ गया तो फिर कैसा सुख और कैसी स्वाधीनता ? फिर तो सिवाए रो धोकर जीवन बिता देने के अन्य कोई चारा नही हुआ करता। इसी कारण राजनीतिक, आर्थिक, शारीरिक या अन्य प्रकार की पराधीनताओ से बढकर मन की पराधीनता को बुरा एव अकाट्य माना जाता है। इसी कारण मन को स्वच्छ सबल और सब प्रकार के दबावो से मुक्त रखने की प्रेरणा दी जाती है। मन सभी प्रकार की कर्मेन्द्रियो और ज्ञानेन्द्रियो का स्वामी कहा गया है। जब स्वामी अर्थात गुरू ही उचक्के हो गये हैं तो इन्द्रियो का उचक्को का चौधरी बनकर रह जाना स्वाभाविक है। यही सब देखकर तो उर्दू के किसी शायर ने उचित ही कहा है—

"क्या लुत्फ अजुमन में—
जब दिल ही बुझ गया है।"

दिल या मन के बुझ जाने पर निश्चय ही ससार मे कोई लुत्फ या आनन्द नही रह जाता। मन सभी बुझता है कि जब वह अच्छी या बुरी किसी भी प्रकार की भावना का गुलाम बन जाता है। भावनाओ मे औचित्य का ध्यान रखना तो निश्चय ही आवश्यक है, पर जीवन का वास्तविक सुख भोगने के लिए, स्वर्ग नरक के मूल अन्तर जानने के लिए, मन को कभी भी, किसी भी भावना का गुलाम नही बनने देना चाहिए यही महापुरुषो की मान्यता है।

इस विवेचन से स्वाधीनता और स्वतन्त्रता का महत्त्व स्पष्ट है। स्वतन्त्रता का सुख ही निराला है। तभी तो उसे पाने या बनाए रखने के लिए जागरूक

लोग प्राणो तक का बलिदान कर देते हैं। स्वतन्त्रता और स्वाधीनता ससार के छोटे-बडे प्रत्येक प्राणी का जन्मजात स्वभाव है। कोई भी अपने आप को किसी भी स्तर पर पराधीन नही रखना और देखना चाहता। आप एक नन्ही कीडी का रास्ता रोकने का प्रयत्न कीजिए, वह तलमला कर उस अवरोध से बचने का प्रयत्न करेगी। वह पक्षी जो नीले आकाश की छाया में उगे किसी वृक्ष की डाली पर बैठकर मधुर स्वरो मे चहचहाया करता है, सोने के भरे-पूरे पिंजरे मे बन्द होकर निश्चय ही वह मधुर स्वरो मे चहचहाना भूल कर गमगीन हो जाया करता है। भला पराधीनता मे, फिर चाहे वह कितनी ही सुनहली क्यो न हो, किसे मुक्त भाव मे गाना सूझता है ?

बन्धन किसी भी प्रकार का अच्छा नही माना गया। बन्धन मे सुख नही छटपटाहट ही हुआ करती है। फिर चाहें वह प्रेम का बन्धन ही क्यो न हो पराधीन व्यक्ति न तो अपना विकास कर सकता है और न देश-जाति का ही। सभी प्रकार की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगतियाँ मुक्त वातावरण मे ही सम्भव हुआ करती हैं। तभी तो अपनी स्वाधीनता को बचाए और बनाए रखने के लिए छोटे-से छोटे राष्ट्र भी अनेक बार मर मिटा करते हैं। वे जानते हैं कि वास्तविक सुख—कोठी कल्पना का सुख नही, केवल स्वाधीनता मे ही प्राप्त हो सकता है। पराधीनता मे तो कतई नही।

इस सारे विवेचन से निबन्ध की शीर्षक-उक्ति का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यही बात इस उक्ति मे गोस्वामी तुलसीदास द्वारा कही गई है। उन्होने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि जो व्यक्ति पराधीन है, वह सपने मे भी सुख नही पा सकता। सुख तो बना ही स्वाधीनो के लिए है, फिर वह पराधीनो को मिले भी तो कैसे ? अत व्यक्ति को आन्तरिक-बाह्य सभी प्रकार की पराधीनताओं से बचे रहने के लिए हमेशा सचेष्ट रहना चाहिए। स्वाधीनता मे ही मानव जीवन उसकी जाति और उसकी राष्ट्रीयता की भी सफलता एव सार्थकता है। तन मन, भाव, विचार आदि सभी स्तरो पर स्वाधीन राष्ट्र ही सच्ची प्रगति कर पाते हैं।

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे

जन्म यदि जीवन का आरम्भ है, तो मृत्यु उसका चरम परिणाम, जो अवश्यम्भावी है। अत मरना! जी हाँ, मरना तो एक दिन सभी ने है। जन्म का निश्चित परिणाम ही जो मृत्यु है। जन्म की मृत्यु को दी जाने वाली आवाज का दोनों के बीच आने वाले मध्यान्तर का नाम ही तो जीवन है! तो फिर निश्चित रहा कि जन्म का अन्तिम परिणाम मृत्यु ही है और यही है अन्तिम सत्य। अन्य सभी से तो मनुष्य भाग सकता है। छिपकर या उपेक्षा करके अपने आप को बचा सकता है, पर मृत्यु? नहीं, उसकी पहुँच से न तो भागा जा सकता है और न अपने-आपको कहीं छिपा कर बचाया ही जा सकता है। जब मरना ही है, तो क्यों न मनुष्य किसी महत उद्देश्य को लेकर मरे? जीवन में कोई महान काय करके मरे। क्यों वह गली के कुत्ते के समान केवल भौंक कर मर जाए कि बाद में उसका कोई नाम-लेवा भी न रह जाए। सचमुच, महान व्यक्ति जिस शान से जीते हैं, मरते भी उसी शान से हैं। उन का जीते रहना जितना महत्त्वपूर्ण हुआ करता है, उनका मरना उनके महत्त्व को और भी अधिक बढ़ा देता है। जिस प्रकार सोना या हीरे-मोती तो मूल्य वान हुआ ही करते हैं, उनकी राख अधिक गुणकारी होने के कारण और भी अधिक मूल्यवान तथा महत्त्वपूर्ण हो जाया करती है; ठीक उसी प्रकार महान व्यक्ति जीवित रहकर तो मानव-मात्र की सुख-समृद्धि के लिए काय करते ही हैं यों ही मर भी नहीं जाते, मरते-मरते भी मानवता के लिए अनेक प्रकार के आदश छोड़ जाया करते हैं। तभी तो मृत्यु के बाद भी उनके नाम अमर रहते हैं। लोग उनकी गाथाएँ उदाहरणों के रूप से कहा-सुना करते हैं। पर उन्हीं मनुष्यों की कि जो अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए नहीं, बल्कि मानवता के महान्‌हित साधनों के लिए मरा करते हैं। तभी तो स्वर्गीय राष्ट्र कवि मैथिली-शरण गुप्त ने निबन्ध की शीषक-पंक्ति में मनुष्य और मनुष्यता की परिभाषा करते हुए कहा है—

"वही मनुष्य है—
कि जो मनुष्य के लिए मरे।"

आडम्बरों और स्वार्थों से भरी इस दुनिया मे मनुष्यों का मनुष्यों के लिए मरना कोई सरल काय नही है। उसके लिए तो बडी ही कठोर साधना की आवश्यकता हुआ करती है। अपने अहकार को मिटाकर उसे समूची मानवता के अह मे मिला देने की जरूरत रहा करती है। ऐसा करके ही कोई मनुष्य सुकरात के रूप मे मानवता की भलाई के लिए विष का प्याला पीकर मर सकता है। कोई महा पुरुष—ईसामसीह का रूप धारण करके क्रौस पर लटक सकता है। कोई मीरा दीवानी होकर घर बार से निकल कर मानवता की मुक्ति का सन्देश देने के लिए मृत्यु के महा पथ पर निकल सकती है। अपने अह को ससार की दु ख-पीडाओ मे अन्तर्हित करके ही कोई मनुष्य-कबीर बन कर, चौराहे पर खडे होकर अन्य मनुष्यो को चुनौती भरे स्वरो मे ललकार सकता है—

'कबिरा खडा बाजार में, लिए लुकाठा हाथ।
जो घर फूके अपना, चले हमारे साथ।"

सो भैया, मनुष्य अपना घर अर्थात् अपनी मोह ममता और अपने अह भाव को जलाकर ही बना जा सकता है। पहले ऐसा करके मनुष्य बनने की आवश्यकता है, उसके बाद ही कोई अन्य पीडित मनुष्यों के लिए मर कर मनुष्यता को पा सकता है, उसके मस्तक का तिलक बन सकता है। दूसरे शब्दो मे अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन को मनुष्यो के लिए मिटाकर ही सार्थक तथा सफल किया जा सकता है। यही इस उक्ति का अर्थ एव रहस्य है।

आखिर यह देश, जाति, राष्ट्र समाज आदि होते क्या हैं? समान हितो और आस्थाओ वाले मनुष्या के समूह ही तो हुआ करते हैं। जब उनमे अनेक प्रकार के अनाचार हों, विषमताएँ हो दु खों-पीडाओ के कारण आह और कराह हो, तो क्यो न उनके सीने मे गोली मार कर कोई भगतसिंह फाँसी के फन्दे को यह गाते हुए चूम लेगा कि—

'सरफरोशी की तमन्ना है तो सर पैदा करो।'

क्यों न कोई सुभाषचन्द्र बोस घर परिवार के समस्त सुखो का परित्याग कर, घर-देश से मीलों दूर जाकर सब प्रकार के मानवीय अत्याचारो के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल बजा देगा। जब मानवता कुछ सिरफिरे मानवों की प्रतिहिंसा का शिकार होकर दम तोड रही होगी तो क्यो न कोई मोहनदास कर्मचन्द गाँधी हाथ मे केवल एक भ्रमण या सैर करने वाली छडी लेकर मृत्यु बरसा रही नवाखलियों की गलियो और बाजारों मे यह कहते हुए पहुँच जाएगा कि मारने से ही तुम्हारी प्यास शान्त होती है, तो पहले मुझे मारो। आहा!

मनुष्य के लिए मर-मिटने की साध में यह किस प्रकार का आत्मिक सुख है कि एक फकीर ने एक जालिम बादशाह की हिंसा वृत्ति की शान्ति के लिए अपने शरीर की चमड़ी अपने ही हाथों से उधेड़ कर बादशाह को सौंप दी। वह मनुष्यता के सत्य की रक्षा के लिए शहीद हो गया, तभी तो दिल्ली के लाल किले और जामा मस्जिद के सामने बने उसके मजार पर आज भी हजारों मनुष्य श्रद्धा के फूल प्रतिदिन अर्पित करते हैं।

इतिहास क्या है? मनुष्यों के कारनामों का लेखा जोखा ही तो इतिहास है। हम उसे पढ़ते हैं। किसी के कारनामे पढ़कर हम वितृष्णा से नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं, जबकि किसी अन्य के कारनामे पढ़कर हमारा सीना फूल उठता है, स्फूर्त होकर मस्तक तन जाता है और फिर अपार श्रद्धा-भक्ति से झुक जाता है। क्यों आखिर ऐसा क्यों होता है? इतिहास है तो मरने वालों की कहानी और लेखा-जोखा ही न। नहीं, केवल इतना ही इतिहास नहीं है। वह एक ओर तो उन लोगों का ब्योरा देता है, जो केवल अपने लिए जीए और अपने लिए ही मरे भी। उनका ब्योरा पढ़कर ही वितृष्णा से हमारी भवें तन जाती हैं। दूसरी ओर वह उन लोगों का ब्योरा हमें सुनाता है कि जो अपने लिए नहीं बल्कि मनुष्यों और मनुष्यता की रक्षा के लिए जिए और मरे। तभी तो हमारा मस्तक उनके नाम के सामने स्फूर्त होकर अपने-आप ही झुक जाता है। ऐसे लोगों को हम देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठकर आदर्श पुरुष कहकर श्रद्धा भक्ति से नमन करते हैं। यह नहीं देखते कि वह भारतीय है या अभारतीय हिन्दू है या मुसलमान। नहीं, उसे तो हम केवल मनुष्य मानकर ही पूजते हैं। इसलिए पूजते हैं कि वे जिए तो मनुष्य के लिए, मरे तो मनुष्य के लिए और इसलिए वे सभी प्रकार से पूर्ण मनुष्य थे—मात्र मनुष्य, पर महान और आदर्श मानवीयता की उदात्त भावनाओं से मण्डित मनुष्य!

मनुष्य और मनुष्यता के लिए मर मिटने की साध, दम-खम रखने वाले व्यक्ति ही जातियों, देशों और राष्ट्रों का निर्माण करते हैं, उनका इतिहास और संस्कृतियाँ बनाते हैं। उनके लिए समुन्नत एवं समतल जीवन-पथ का निर्माण किया करते हैं। उनके लिए सबका दर्द अपना और अपना दर्द सबका बन जाया करता है। उनकी दृष्टि में सबकी प्रसन्नता ही अपनी प्रसन्नता और सबकी जीत ही अपनी जीत बन जाया करती है। उनके लक्ष्य एवं उद्देश्य तुच्छ स्वार्थों से परिचालित कभी नहीं हुआ करते, बल्कि महत् मानवीय हितों की भावना से अनुप्राणित रहा करते हैं। वह इसलिए कि वे मनुष्य होते हैं—विशुद्ध मनुष्य उनका निर्माण उन तत्त्वों से हुआ करता है कि जहाँ पर-हित-साधन के

उगते हैं, अपनी पावन-पूत सुगन्धि से सभी के जीवन-उपवन को महका दिया करते हैं।

सो, जीना-मरना तो निश्चित है। उससे बचाव का तो कोई उपाय है नहीं। क्यों न फिर सहज मनुष्यत्व की भावना से अनुप्राणित होकर, सहज मानुषिक तत्त्वों की रक्षा करते हुए अपने अस्तित्व को घुला मिटा देने की भावना से जिया जाए, मरा जाए। नहीं, अन्य किसी भी रूप में मानव जीवन की सार्थकता नहीं है। मनुष्य और उसकी मनुष्यता की रक्षा होनी ही चाहिए, चाहे उसके लिए मानवीय चोले में फिरने वाले अमनुष्यों का संहार ही क्यों न करना पड़े। यही मनुष्य और मनुष्यता की महत् भावना है। इनकी रक्षा में अपना तन-मन, अपना सर्वस्व अर्पित करने वाला ही सच्चा मनुष्य कहा जा सकता है, इसमें तनिक भी सन्देह या असत्य नहीं है। मानव की महानता का रहस्य भी इसी में अन्तर्हित है।

९६ करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते, सिल पर परत निसान॥

हिन्दी के रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि वृन्द की यह प्रसिद्ध नीति उक्ति है। कवि ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि कोमल रस्सी के बार-बार आने-जाने से सिल अर्थात् पत्थर भी घिस जाता है। रस्सी अपने कोमल पर समर्थ व्यक्तित्व की छाप भी निशान—घिसाव के रूप में छोड़ जाती है। कवि के विचार में उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने के कारण जड़ बुद्धि भी समर्थ, बुद्धिमान और सुजान बन जाता है। अर्थात् निरन्तर परिश्रम और अभ्यासों से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाया करता है। असफलता भी सफलता बन जाती है।

कवि वृन्द की इस उक्ति या सूक्ति का साफ स्पष्ट अभिप्राय एवं प्रयोजन वास्तव में निरन्तर परिश्रम के महत्त्व को प्रतिपादित करना ही प्रतीत होता है। मनुष्य अन्ततः मनुष्य है। वह प्रकृति एवं परिस्थितियों के सामने नितान्त असमर्थ है, यह बात भी स्वीकार की जा सकती है। भाग्यवादियों के कथनानुसार यह भी एक सीमा तक स्वीकारा जा सकता है कि मनुष्य के हाथ में कुछ

सका है अन्य कोई उपाय नहीं। यदि जीवन की मूर्ति को बेमेल एवं अनगढ ही नही रहने देना चाहते हो तो उसे अनवरत अभ्यास के चाॅक पर चढ़ा दो। उसे कर्मों के चक्कर में अनवरता घूमने दो। जीवन का सोना निरन्तर अभ्यास और परिश्रम की आंच में तप कर ही खोट से रहित होकर कुन्दन बनकर दमकेगा। व्यर्थ के भुलावे और चक्करदार मत-वादों के फेर में पडकर जीवन की रस धारा को यों ही मत सूख जाने दो। सुनो, समय का इतिहास का आह्वान सुनो। वह यही कह रहा है कि रस्सी की कोमलता में भी पत्थर को घिसाने की अद्भुत शक्ति छिपी हुई है। उसी प्रकार निरन्तर अभ्यास में ही जड मतियों को सुजान बनाने का अनन्त प्रवाह प्रवाहित है। उसे पहचानो। उसके रूख को अपनी ओर मोडने का प्रयत्न करो। यही जीवन का सत्य और सफलता का रहस्य है।

अभ्यास करना एक साधना है और सच्चे मन से की गई साधना कभी विफल नहीं जाया करती। निराशा को कभी भी मन में नहीं आने देना चाहिए। अभ्यास ही सीढी दर-सीढी उस शिखर तक ले जायेगा कि जिसकी रूपहली चोटियाँ बार बार मन को आकर्षित करके वहाँ तक चले आने के लिए आमन्त्रित किया करती हैं। बढना है पक्के निश्चय के साथ ऊपर ही बढ़ना है। रुकना नहीं। रुकने का अर्थ है जड मृत्यु जो किसी का काम्य नहीं!

६७ अपना हाथ जगन्नाथ

जीवन अनुभवों से सयुत अनेक प्रसिद्ध कहावतों के समान 'अपना हाथ जगन्नाथ'—यह भी एक लोक प्रसिद्ध कहावत है। जाने कब और किस मन-स्थिति में कहने वाले ने यह कहावत या लोकोक्ति कही होगी। हमारे विचार में निश्चय ही कहने वाले के सामने कोई ऐसा व्यक्ति रहा होगा कि जिसे परावलम्बी होने के कारण निराशा और असफलता का मुख देखना पड़ा होगा। उसकी निराशा मिटाने, ढारस बधाने और उसके हताश मन में आशा और उत्साह का संचार करने के लिए पहले कथक ने उसे ढेर सारा कडवा मीठा उपदेश पिलाया होगा। अन्त में अपनी अनुभूतियों को निर्णायक मोड पर लाकर कहा होगा—'भैया, जो व्यक्ति केवल दूसरों के कन्धों का सहारा लेकर चलना जानता है, एक दिन अचानक वह कन्धा हट जाने के कारण उसे मुँह

एक साधक और योगी निरन्तर योग का अभ्यास करके परमात्मा या परमात्म तत्व के दर्शन कर लेता है कि जिसकी सत्ता अरूप और निराकार है। फिर क्या कारण है कि प्रयत्नपूर्वक निरन्तर अभ्यास करते रहने वाला, अनवरत परिश्रम में लगा रहने वाला व्यक्ति सफलता की मंजिल के दर्शन न कर पाये ? नहीं, आज के युग में भाग्यवाद या नियतिवाद के नाम पर कोई भी समझदार व्यक्ति यह स्वीकार नहीं कर सकता कि अभ्यास और परिश्रम का फल नहीं मिलता। पूर्व जन्म के कर्मों को ही सब कुछ मानने वाला व्यक्ति भी आज अभ्यास और परिश्रम योग की सफलता पर अविश्वास का चिह्न अंकित नहीं कर सकता। लगन होनी चाहिए, अपने कर्म के प्रति निष्ठा एवं दृढ़ आस्था होनी चाहिए, फिर यह हो ही नहीं सकता कि फल न मिले। अरे, मेंहदी को जब तक रगड़ा नहीं जाएगा, वह रंग कैसे लायेगी ? इसीलिए तो उर्दू के किसी शायर ने कहा है

"रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद"

पत्थर पर घिसने के बाद ही हिना अर्थात् मेंहदी रंग लाया करती है। ठीक उसी प्रकार अपने मन-मस्तिष्क को अपने समूचे व्यक्तित्व की प्रतीक रस्सी को कर्म के पत्थर पर घिसकर ही अपने परिश्रम की मेंहदी का रंग देखा जा सकता है। कठिनता और अवरोध रूपी पत्थरों पर कोमल रस्सियों का घिसाव देखा जा सकता है। नहीं तो बैठे रहो। सुख तुम्हारे पीछे भाग कर कभी नहीं आयेंगे, वे तो तब आयेंगे कि जब अपने व्यक्तित्व को निरन्तर कर्म, परिश्रम और अनवरत अभ्यास रूपी सान पर चढ़ाकर उसे धार देने का प्रयत्न करोगे। याद रखो, अन्य कोई चारा नहीं। सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने का यही एक मात्र और अन्तिम चारा है। अनुभवियों के जीवन का सार-तत्व है।

इतिहास इस बात का प्रत्यक्ष गवाह है कि निरन्तर अभ्यास करने वाले ही उसके शिखरों पर चढ़कर आज भी तुमुल स्वरों में चुनौती भरे बिगुल बजा रहे हैं। उन अलक्षित ध्वनियों के सम्मुख आज भी दुनिया नतमस्तक हो रही है। उन्हीं सबसे प्रेरणा लेकर, अनुभवों के सार-तत्व को निचोड़ कर ही कविवर वृन्द ने शीर्षक-पंक्तियों में अभ्यास-योग के अवश्यम्भावी फल का ढिंढोरा पीटा है। सफल व्यक्तियों के जीवन इतिहास आज भी चिल्ला चिल्ला कर कह रहे हैं और निरन्तर कहते रहेंगे अभ्यास के चाक पर चढ़ा कर ही कोई कुम्हार जीवन-रूपी सुन्दर खिलौने और उपयोगी घड़े का निर्माण कर

मण्डल को भी भेद कर चन्द्र लोक तक को अपने चरणों से चिन्हित न कर रहे होते। कला, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान आदि के विभिन्न और विविध क्षेत्रो में जितनी भी गतियाँ प्रगतियाँ सम्भव हो सकी हैं, वे सब स्वावलम्बियो की सतत क्रियाशीलता का ही परिणाम हैं, परावलम्बियो की परमुखापेक्षिता का नही। प्रत्येक युग के मानव ने शीर्षक कहावत के मर्म को समझ कर व्यक्ति और राष्ट्र के स्तर पर सगठित होकर निरतर अपने ही बल एव साधनों से प्रयत्न किया, तब कही जाकर चाँद धरती पर उतर सका। अर्थात् असम्भव समझे जाने वाले लक्ष्य भी मानव जीवन के लिए सम्भव हो सके।

जब किसी विशेष गन्तव्य पर पहुचना हम चाहते है, तो उसके लिए हमे ही चलना पडेगा। हमारे स्थान पर दूसरा चलने वाला तो वहाँ तक पहुँच जाएगा, हम कभी भी नही पहुँच सकते। अत स्पष्ट है कि अपने प्रयत्न और परिश्रम ही अपने लिए सफलता के विधायक हो सकते या हुआ करते हैं अन्यो के नही। अन्यो के प्रयत्न अन्यो के ही हैं, फिर वे भला उनके स्थान पर हमें कैसे सफलता के लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं ? अपने स्थान से कलकत्ता या बम्बई जाने के लिए चल कर ट्रेन हमे पकडनी पडेगी, तभी हम वहाँ पहुँच पायेंगे, किसी अन्य के पकडने से नही। भला खाना तो कोई अन्य खाये और पेट हमारा भर जाए, यह परा प्राकृतिक लोक के चमत्कारो मे तो शायद सम्भव हो सकता हो, प्रत्यक्ष और व्यवहार जगत मे नही। यहाँ तो अपना रोग मिटाने के लिए स्वय दवाई खानी पडेगी। अपने को सुन्दर दिखाने के लिए अपना ही स्वास्थ्य सुधारना पडेगा अपने ही तन मन का शृगार-प्रसाधन करना पडेगा। भला किसी दूसरे को सजा-सवार कर हम सुन्दर-स्वस्थ कैसे लग सकते हैं ? ऐसा करके सौन्दय की अनुभूति तो कर या पा सकते हैं, पर अनुभूति का प्रत्यक्ष एव व्यावहारिक रूप तो हुआ नही करता, अत वह अनुभूति व्यावहारिक दृष्टियो से व्यर्थ ही कही जाएगी। फिर जीवन कोरी अनुभूति नहो, क्रिया का परिणाम और नाम है।

जीवन का व्यावहारिक सत्य केवल इतना ही है कि यहाँ सभी को अपना रास्ता अपनी ही कुदाली से ऊबड खाबड को काट-छाँट कर बनाना पडता है। यहाँ तक कि वह रास्ता जिस गन्तव्य तक ले जाता है, उसका निर्धारण और स्वरूप निर्माण भी व्यक्ति को स्वत ही करना पडता है। इस सत्य को जो व्यक्ति जितनी जल्दी पा और समझ लेता है, उतनी ही जल्दी वह परावलम्बन और पर मुखापेक्षिता त्याग कर अपनी बाहो की शक्ति को टटोलने लगता है। पर सत्य तो यह है कि अपने हाथों या बाँहो की शक्ति को टटोल कर, उसके

के बल गिरना ही पड़ता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि दूसरों का सहारा ताकना छोड़ कर वह अपने हाथों में ही इतनी शक्ति उत्पन्न करे कि उसे सफलता रूपी जगन्नाथ की प्राप्ति हो सके।" और तभी अचानक उसके मुँह से निकल गया होगा कि 'अपना हाथ जगन्नाथ' और यह लोकोक्ति या कहावत एक पथ-प्रदर्शक आलोक-स्तम्भ बनकर रह गई होगी। निश्चय ही, हमेशा दूसरों के कन्धों पर रख कर अपना निशाना साधने का प्रयत्न करने वाले परावलम्बियों के लिए आज भी यह कहावत समुद्र में भटके जहाजों का पथ प्रदर्शन करने वाले आलोक-स्तम्भ के समान ही है। पर उन्हीं के लिए कि जो उस आलोक का सहारा लेकर, अपने भीतर शक्ति और कूवत जागृत करके अपनी जीवन-नया को किसी निश्चित तट पर ले जाने के इच्छुक हों, अन्य किसी के लिए नहीं। परावलम्बियों के लिए तो कतई नहीं।

परावलम्बन व्यक्ति को शारीरिक दृष्टियों से ही नहीं बल्कि मानसिक दृष्टियों से भी हीन तथा दुर्बल बना दिया करता है। ऐसा व्यक्ति अपने तौर पर न तो कुछ सोच ही सकता है और न कुछ कर पाने में ही समर्थ हुआ करता है। इसी कारण ऐसे व्यक्ति का जीवन परिस्थितियों का झूला, डावाँडोल और अस्थिर बनकर रह जाया करता है। इस प्रकार के व्यक्ति से जीवन के वास्तविक सुख कोसों दूर रहा करते हैं। वह इनकी ओर मात्र ललचाई दृष्टियों से देख तो सकता है, पर अपने मे शक्ति और आत्मविश्वास न रहने के कारण उन्हें प्राप्त कभी भी नहीं कर पाता। उसके लिए सुख, निश्चिंतता और शान्ति दूर का सुहावना ढोल मात्र हुआ करती है, कर्णप्रो में जीवन का मधुर संगीत उडलने वाला समीपस्थ वाद्य-यन्त्र नहीं। अतः यदि हम जीवन के संगीत को प्रत्यक्ष सुनना चाहते हैं तो आवश्यक है कि अपने हाथों में ही जगन्नाथ को खोजने और पाने का, अपने ही पाँव पर खड़े होने का अनवरत प्रयत्न करें। यह प्रयत्न ही वास्तविक जीवन-संगीत का सन्धान कर आनन्द प्रदाता बन सकता है।

यह एक सवमान्य तथ्य है कि जिस जाति और देश के लोग स्वावलम्बन का दामन छोड़ कर परावलम्बी बन जाया करते हैं, वह जाति, उसकी प्रगतियाँ और उन्नतियों का इतिहास अतीत की एक भूली बिसरी गाथा बन कर रह जाया करती है। इतिहास गवाह है कि मानव-संस्कृति के आरम्भ से लेकर आज तक जिन व्यक्तियों, जातियों, देशों और राष्ट्रों ने उन्नति की है, वह अपने ही बल-भरोसे पर की है, अन्यों का आश्रय लेकर नहीं। यदि वे लोग पराया देखते बैठे रहते तो आज उनके गात बल-बल और सहज मानवीय वायु

की स्मृति में हम आगे स्वर्णिम क्षणों को भी मिट्टी में मिलाते रहते हैं। उस स्थिति मे और हो भी क्या सकता है ?

मनुष्य एक चेतनशील प्राणी है। अन्य अनेक समानताओं के होने पर भी बुद्धि का तत्त्व उसे पशु-वर्ग से अलग बनाए रखता है। इसी बुद्धि के आधार पर वह वर्तमान मे रहता हुआ भी भूत एवं भविष्यत् में विहार करता रहता है। अपने किए गए प्रत्येक कार्य के फल को वह प्रत्यक्ष या अनुमानत जान लेता है यह उसकी महती विशेषता है। अत यह उसका मनुष्य होने के नाते ही कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस प्रकार का कार्य करे जिसके परिणामस्वरूप उसे बाद में पछताना न पड़े।

अच्छा बीज बोने मात्र से उसे फलापेक्षी नही हो जाना चाहिए। फसल को पकाने और पकने पर उसकी सावधानी पूर्वक रक्षा करना और भी अधिक अपेक्षित है। अपने अथक परिश्रम से उसने बीज बोया है, खून का पसीना बना कर जिस धरती को उसने उर्वरा बनाया और रात दिन की अथक साधना से, ग्रीष्मातप को निर्द्वन्द्व भाव से सहते हुए उसने जिस बीज को पल्लवित अवस्था में देखा है उसकी अन्तिम समय मे रक्षा करना भी उसी का कार्य है। या यो कहिए कि फल मिलने के क्षणो में आँखें मूँद कर बैठे रहना उचित नही होता। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए इस प्रचलित कहावत से ही मेल खाती हुई बात गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कही है—

'का बरषा जब कृषि सुखाने।
समय चूकि पुनि का पछिताने।"

जिस प्रकार कृषि के सूख जाने पर वर्षा व्यर्थ होती है, उन शुष्क पौधों मे पुन जीवन सचार नहीं कर सकती, उसी प्रकार समय बीत जाने पर पश्चात्ताप करना अपनी प्रथम की गई गलती को और अधिक मजबूत करना ही है। समय के रहते हुए ही चेत जाएँ और समय के रहते हुए ही हम अपने अभीप्सित कार्यक्षेत्र मे अपना मार्ग प्रशस्त करें, यह एक सफलता का अमोघ मन्त्र एवम् सिद्धि का अपूर्व साधन है। जो व्यक्ति समय की नाड़ी को पहचानता है और तदनुकूल आचरण करने का अभ्यस्त हो जाता है, सफलता उसकी चेरी बन जाती है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है।

दीपक के बुझने से पूर्व उसमें जरा-सा तेल डालना ही प्रकाश को बनाए रखता है। उसके बुझ जाने पर तेल से उसे भर देना क्षीण प्रकाश भी उत्पन्न नहीं कर सकता। अत यह स्पष्ट है कि समय के रहते हुए [illegible] प्रयास एवं हमारी साधारण-सी सावधानी भी जितना [illegible] है,

अनुरूप अनवरत कार्य एवं परिश्रम करने वाला व्यक्ति ही वह सब कुछ पा लेता है कि जो केवल इच्छा ही नहीं, बल्कि जीवन के लिए आवश्यक एवं अपरिहार्य भी है। उस अज्ञात चिन्तक और सक्रिय विचारक ने 'अपना हाथ जगन्नाथ' कह कर संक्षेप में जीवन के इन्हीं महत् तत्त्वों को उजागर करने का बड़ा ही सार्थक एवं सफल प्रयत्न किया है।

जीवन जीना भी एक उपयोगी और ललित से समन्वित कलात्मकता से कम नहीं। इस कला में पारंगत वही हो सकता है कि जो परावलम्बन को त्याग कर स्वावलम्बन का महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ लेता है। केवल पाठ ही नहीं पढ़ता, बल्कि उसे सतत व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके लिए दृढ़ निश्चय, आत्म विश्वास, रात दिन की जागरूकता और निरन्तर अध्यवसाय जैसे तत्त्व परमावश्यक हैं। इन्हीं के द्वारा अपने हाथों को जगन्नाथ के उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। अतः आज व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक—विशेषकर हमारे देश के व्यक्ति और राष्ट्र के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण और प्राथमिक आवश्यकता है कि हम लोग अपने हाथों में शक्ति और कूवत पैदा करें और फिर जापान के जगन्नाथों की तरह सारे संसार को यह चुनौती दे सकें कि एक दिन अपनी उंगलियों के बल पर हम विश्व विजय करके दिखा देंगे। जापान ने यह मंत्र केवल पढ़ा नहीं, बल्कि क्रियात्मक सांचे में ढाला, अतः भयानकता से उजड़ कर वह आज पहले से कहीं अधिक समृद्ध है। हमारे देश ने इस मन्त्र का आविष्कार तो किया, पर आचरण नहीं, अतः उसकी दशा दिन-प्रतिदिन बदतर होती जा रही है। इस बुरी दशा से उद्धार उस अमूल्य मन्त्र को क्रियात्मक रूप देने से ही सम्भव हो सकता है।

९८ | अब पछताए होत का

अन्य अनेक स्वानुभूत सत्यों की द्योतक कहावतों के समान "अब पछताए होत का, जब चिड़ियां चुग गईं खेत" भी एक प्राचीन भारतीय कहावत है। ठीक भी है। जीवन के अगणित स्वर्णिम क्षणों को काल रूपी चिड़िया चुगती रहती है और हम आंख मुंदे हुए बैठे रह जाते हैं। जब वह चिड़िया फुर्र से उड़ जाती है तब हमारी आंखें खुलती हैं। तब फिर उन विगत स्वर्णिम क्षणों

श्रेयस्कर है। अन्यथा यह कहावत स्वय हम पर ही चरितार्थ हो जायेगी कि—

"अब पछिताए होत का, जब चिड़िया चुग गई खेत।"

६६ वन-संरक्षण : आवश्यकता और महत्व

मानव-जीवन के स्थायित्व एव सुख-समृद्धि के साथ साथ सुरक्षा के लिए भी वन प्रकृति की अमूल्य देन है। इसी कारण जब अनेकविध मानव-सम्पदाओं की गणना की जाती है, तो 'वन-सम्पदा' का महत्व भी अनिवार्य रूप से स्वीकारा जाता है। प्रकृति के सुकुमार पुत्र वृक्ष अपनी सामूहिक अवस्थिति से वनों की रूप-रचना और निर्माण करते हैं। वृक्ष जलाने के लिए लकड़ी, छाया, फल फूल और अनेक प्रकार की औषधियाँ तो मानव-कल्याणार्थ प्रदान करते ही हैं, वे उस वर्षा का कारण भी हैं, जो खेती-बाड़ी, वनस्पतियों के लिए तो आवश्यक है ही, ऋतु क्रम के अनुसार अनेकविध रोगों और महामारियों से न केवल मानव, बल्कि जड़ चेतन प्राणीमात्र एव पदार्थों की रक्षा के लिए भी परम आवश्यक है। वर्षा और हिमपात के कारण होने वाले भू-क्षरण से सम्भावित विनाश से बचाव भी सघन वनो द्वारा ही सम्भव हुआ करता है। यों भी प्रकृति के ये सुकुमार पुत्र शान्ति और सौंदर्य प्रदान करने में बेजोड़ हैं। मानव मात्र का पालन-पोषण सुखशान्ति का आयोजन रक्षाविधि आदि तो वन-सम्पदा से सम्भव होती ही है समस्त प्रमुख जातियों-उपजातियों के मानवेतर प्राणियों का तो आधार ही सघन तथा हरे भरे वन ही हैं। मनुष्यों की अनेक वन्य कही जाने वाली जातियाँ भी अनादि काल से इन सघन वनो में ही आश्रय पाए हुए हैं। पशु-पक्षी वनो के अभाव मे क्या अपना अस्तित्व बनाए रख सकते हैं ? इन सब प्रमुख तथ्यों के आलोक में ही आज वन-सरक्षण का प्रश्न प्रबल स्वरों में उठाया जा रहा है। वनो के अनवरत एव अन्धाधुन्ध कटाव ने ऊपर जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है उन सबके अस्तित्व के समक्ष एक गम्भीर प्रश्न चिह्न टाँक कर दिया है। उनके साथ-साथ स्वय मानव का अस्तित्व भी वनों के अभाव में गहरे संकट की ओर उन्मुख होता जा रहा है। अत वनों का महत्व समझ कर उनके सरक्षण-सवर्द्धन का प्रश्न निश्चय ही प्रमुख है।

उतना कार्य के बिगड जाने पर, समय के निकल जाने पर हमारा दिन-रात का घोर अनवरत परिश्रम भी नहीं कर सकता।

बहुत पहले 'रहिमन बिगरे दूध को मथे न माखन न होय' कहकर रहीम जी ने भी इसी बात को दोहराया है। दूध को हम बिगडने से पूर्व ही उसमें से मक्खन निकाल लें, इसमें हमारी बुद्धिमत्ता है। क्योंकि उसके बिगडने पर तो उसमें से मक्खन निकालने का प्रयास एकमात्र शक्ति का अपव्यय मात्र ही होगा। अंग्रेजी मे भी—"Beat the iron when it is hot" के द्वारा गरम लोहे को पीटकर उसे रुचि के अनुसार रूप देने की बात कही गई है। उसके ठडा होने पर वह टूट सकता है किन्तु हमारा इच्छित रूप प्राप्त नही कर सकता और फिर बाद मे पछताने से होता भी क्या है? हमारे पश्चात्ताप से वर्तमान भूत को प्रत्यक्ष नही कर सकता जिससे हम उसमें आवश्यक सुधार कर सकें, अपितु मनस्ताप एव खेद के साथ-साथ हमारा वर्तमान भौतिक्त हो उठता है। पूर्व सावधानी ही इस तिक्तता से बचे रहने का अन्यतम उपाय है।

व्यक्ति और राष्ट्र मे व्यष्टि और समष्टि का भाव निहित है जो बात व्यष्टि के लिए हितकर है, सिद्धान्तत वह समष्टि के लिए घातक बन जाए ऐसा कोई नियम नहीं है। समय पर ही कार्य करने की उपादेयता जहाँ व्यक्तिगत जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वहाँ राष्ट्रीय जीवन के लिए भी उसका औचित्य एव महत्त्व असन्दिग्ध है। हम देखते हैं कि राष्ट्र की अनेक योजनाएँ यदि समय के अनुसार कार्यान्वित नहीं होती हैं तो कालान्तर में वे निष्प्रभ हो जाती हैं। अत उन सभी योजनाओं को उन सभी राष्ट्रोपयोगी कार्यों को समय की परख करते हुए, समय की उपादेयता को दृष्टि में रखते हुए ही करना हितकर है। क्योंकि आचार्य शकर के मत में भी जो व्यक्ति समय पर बोलने में या सुनने में समर्थ नहीं है, वही वास्तव में मूक एव बधिर है, अर्थात् असमय और असफल है।

यदि वर्तमान काल में विदेशी आक्रमण के प्रतिरोध स्वरूप हमारे बल की आवश्यकता है तो उसका सही उपयोग इसी समय हो सकता है। आज यदि हम परमुखापेक्षी बन कर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रमुखता देकर राष्ट्रीय जीवन की उपेक्षा करते रहे तो फिर ऐसी शक्ति शेष नहीं रह जाएगी जो हमारा पुन उद्धार कर सके।

सभी स्तरों पर व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय जीवन की उपयोगिता को समझते हुए, समय के रहते और उसके महत्त्व को समझते हुए कार्य करना

मे लकडी का प्रयोग कही अधिक होने लगा है। ठीक ही, पर व्यातथ्य तथ्य यह है कि वनो को काटने वाला का क्या यह दायित्व नही हो जाता कि वे कटाई के अनुपात और आवश्यकता के अनुपात से भी वृक्ष रोपण करें ? कर्त्तव्य तो अवश्य हो जाता है, पर कौन ध्यान देता है कर्त्तव्य-पालन की ओर।

वनो की उपयोगिता एव महत्त्व को जानते-समझते हुए ही सरकार ने अनेक वन-क्षेत्र सरक्षित घोषित कर रखे हैं। पर कौन नहीं जानता कि उन सरक्षित क्षेत्रो मे भी लालचियों की मिली भगत से वन-सम्पदा का कटाव और विनाश नहीं हो रहा ? वे पार्वत्य प्रदेश और तराई के इलाके जो कभी अपनी प्राकृतिक वन सुषमा के कारण देखने वालो को विमुग्ध-चमत्कृत करके रख दिया करते थे, लालची ठेकेदारों और वन अधिकारियो की दुष्ट मिलीभगत के कारण आज नगे और बजर होकर रह गए हैं। वक्षो की अनवरत कटान के कारण वहाँ से निकलने वाली नदियों मे भू क्षरण और तट धसान होकर मैदानी इलाको में भी नदियो के पाट अनावश्यक रेत और मिट्टी से भर कर बाढ के विनाश का कारण बन रहे हैं। इन प्रदेशो के निवासियों को वनो से जो सरक्षण और सम्पदा प्राप्त होती थी, अब वे लोग उस सबसे वचित होते जा रहे हैं। उनके सम्मुख वर्तमान और भविष्य की पीढियो के अस्तित्व का प्रश्न मुँह बाए खडा है। इसी कारण वहाँ विगत कुछ वर्षों से 'चिपको आन्दोलन' नाम से एक व्यापक आन्दोलन चल रहा है। पार्वत्य प्रदेश के निवासी इस आन्दोलन के माध्यम से न केवल भारत बल्कि विश्व के जागरूक लोगो का ध्यान वनो के विनाश को रोकने की ओर आकर्षित करना चाहते हैं क्योंकि पार्वत्य प्रदेशो और तराई के लोगो का जीवनाधार वन ही हैं, अत वे लोग वन-कटाव को अपने प्राणो के मूल्य पर भी रोकने को कटिबद्ध हैं। जब ठेकेदारों के लोग वृक्ष काटने आते हैं, तब वहाँ के स्त्री पुरुष वृक्षो से चिपक कर उन्हें काट पाने से रोक लेते हैं। निश्चय ही इस आन्दोलन ने बडी तीव्रता से सरकारी गैर सरकारी स्तर पर लोगो का ध्यान वन-सरक्षण की ओर आकर्षित किया है। परिणामस्वरूप आज न केवल वनो के कटाव को रोक सरक्षण के प्रयत्न ही होने लगे हैं, बल्कि नए पेड लगाने का अभियान भी व्यापक स्तर पर चल रहा है। वन उगाने और उनके सरक्षण का महत्त्व भी सभी प्रचार-माध्यमो द्वारा लोगों को समझाया जा रहा है। आशा करनी चाहिए कि परिणाम सुखद होगा।

वनो के निरन्तर कटाव और विनाश के प्रमुख दो कारण ही रेखांकित किए जाते हैं। पहला प्रमुख कारण है औद्योगीकरण और उद्योगों के अंधाधुंध विस्तार की प्रवृत्ति, जबकि दूसरा कारण है मानव की धन कमाने की मुग्ध गति से बढ़ती लालसा। इन दोनो प्रवृत्तियो ने न केवल भारत बल्कि समूचे विश्व के सामने प्रश्न खड़ा कर दिया है कि क्या हम तात्कालिक लाभ और स्वार्थ सिद्धि के लिए मानवता के दूरगामी हितो का बलिदान इसी प्रकार करते जाएँगे ? सोचने की बात है। पहले गाँवों के आस-पास अक्सर हरे भरे छोटे बड़े वन और उनमे अवस्थित चरागाहें हुआ करती थीं। नगरो महानगरों के आस-पास अनेक प्रकार के फल-फूलों से लदे रहने वाले बाग-बगीचे हुआ करते थे। प्राचीन काल मे तो वनवासी ऋषि, मुनि, तपस्वी वन्य जातियो के लोग और यात्री भी वनो मे मुक्त भाव से उत्पन्न होने वाले कन्द-मूलों फल फूलो का मुक्त आहार करके ही जीवित रहा करते थे। उस अत्यन्त प्राचीन की बात जाने भी दी जाए, तो भी चालीस-पैंतालीस वर्ष पहले तक गाँवो के आस पास मुक्त वनो और नगरो के आस-पास बड़े-बड़े बाग-बगीचों का अभाव नहीं था। इस सदी के पाँचवें दशक तक भी स्थिति उतनी खराब नहीं थी कि जितनी उसके बाद से क्रमश होती गई और आज होती जा रही है। आज गाँव के आस-पास के वन काट कर समर्थ लोगों ने उन पर अपना अधिकार जमा लिया है। नगरो के आस-पास के बाग-बगीचे सघन और उबड़-खाबड़ बस्तियो मे तबदील हो चुके हैं। इस प्रकार का वन रूप में प्रकृति का वैभव गाँव-नगर कहीं भी अब देखने को नहीं मिलता। परिणामस्वरूप वायु-मण्डल प्रदूषण, वर्षा का अभाव, भू-क्षरण, अप्राकृतिक बीमारियो आदि की अनेक सघातक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं।

प्रकृति ने वन-सम्पदा अर्थात् पेड़ पौधो को निश्चय ही मानव के उपयोग के लिए ही उगाया है। पहले भी इनका उपयोग होता था। पर इस बेरहमी से नही, जिससे आज हो रहा है। ग्राम-नगर-जन पहले भी लकड़ी का प्रयोग जलाने के ईंधन के रूप में करते थे इमारती लकड़ी का ही मकानों भवनों में अधिकाधिक उपयोग होता था। पर तब एक तो आबादी कम थी और दूसरे जितने वृक्ष काटे जाते थे, उतनों के रोपण का भी अलिखित लिखित नियम था कि जिसका पालन सभी करते थे। पर आज का स्वार्थी मानव वन काटता तो जा रहा है, उनके रोपण की ओर उसका कतई ध्यान नहीं। यह तथ्य भी चौंकाने वाला है कि आज इमारतो के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग कहीं कम होता है। हाँ, विलासिता के अन्य अनेक प्रकार के साधनों-प्रसाधनों के निर्माण

समय-समय पर समृद्धि और विकास के लिए जो विभिन्न प्रकार के योजनात्मक सूत्र निर्धारित किए गए हैं, उनमें वृक्षारोपण जैसा सूत्र वन-सरक्षण और विकास का ही एक अग है। जो अभयारण्य पशु पक्षियो के सरक्षण एव मुक्त विहार के लिए बनाए गए हैं, उनका उद्देश्य निवष्ट होती पशु-पक्षी जातियो की रक्षा तो है ही, वन सरक्षण और विकास भी है। इस प्रकार की सभी योजनाओ को निश्चय ही मानवोपयोगी और मानव हित-साधक कहा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम व्यक्ति और परिवार-हित से ऊपर उठकर राष्ट्र और मानव हित की भावना से इस दिशा मे सच्चे मन से, लालची प्रवृत्तियो से मुक्त होकर प्रवृत्त हो।

मानव और प्रकृति का सम्बन्ध चिरन्तन है। मानव तन भी प्रकृति के ही विभिन्न तत्त्वो से बना हुआ है। इस दृष्टि से वन या प्रकृति अथवा प्राकृतिक उपादानों की रक्षा सवर्द्धन का अर्थ वस्तुत मानव-तन-जीवन की ही रक्षा है। औरों की रक्षा से गाफिल रहा जा सकता है, पर अपनी रक्षा से गाफिल रहने वाला तो वज्र मूर्ख ही कहा जाएगा। निश्चय ही मानव वज्र मूर्ख नही है। वह वनो वृक्षों की आवश्यकता, उपयोगिता और महत्त्व से सहज परिचित हो उनकी सुरक्षा और विकास की दिशा मे अनवरत गतिशील रहेगा—ऐसी आशा उचित ही की जा सकती है। आज हम सरकारी गैर सरकारी दोनो स्तरो पर इस दिशा में अनवरत सक्रिय हो उठे हैं, इसे शुभ लक्षण कहा जा सकता है।

१०० | हरिजन समस्या और समाधान

'हरिजनो की पूरी बस्ती जलकर राख, हरिजनो की सामूहिक हत्या, हरिजन युवती के साथ सवर्ण युवकों का सामूहिक बलात्कार, हरिजनो के खेतो की फसलें बलपूर्वक काट ली गई, हरिजनो को भूमि से बेदखल कर दिया गया, हरिजनों को लाठी के बल पर मतदान से वचित रखा गया, हरिजनो को जिंदा जला दिया गया, डकैतो द्वारा हरिजन बस्ती की लूटपाट और आगजनी, हरिजन युवक युवती को पेड़ से बाँधकर मारा गया, थाने में बन्द हरिजन के साथ अमानुषिक अत्याचार से मृत्यु, हरिजन युवती रात तक हवालात में बन्द रख और यन्त्रणाएँ दी गईं

वन संरक्षण और नये वन उगाने के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कई लाभ हैं। आज के अनवरत औद्योगीकरण ने अनेक प्रकार से वातावरण और वायु-मण्डल को दूषित कर रखा है। अनेकविध आण्विक परीक्षण भी इस प्रदूषण के कारण हैं। वनों के फैलाव से ही प्रकृति के माध्यम से प्रदूषण का व्यापक फैलाव रुक सकता है। वनों के कटाव का प्रभाव मौसम और ऋतुओं पर भी पड़ता है। उपयुक्त मात्रा में वर्षा के लिए भी वन-संरक्षण और विकास आवश्यक है। नदियों के तट-बन्धों तथा निकास-स्थानों के कटाव रोकने के लिए, नदियों को गहरा रखकर बाढ़ से बचाव के लिए भी वन-विकास और संरक्षण अनिवार्य है। कृषि की बढ़ोत्तरी, चारे की समस्या के समाधान, वन्य प्राणियों के जीवन की सुरक्षा, विविध औषधिमूलक वृक्षों-वनस्पतियों की प्राप्ति हेतु भी इस दिशा में ध्यान दिया जाना चाहिए। एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य भी ध्यातव्य है। वह है धरती और प्रकृति का सौन्दर्य जो वन विकास एवं संरक्षण से ही अक्षुण्ण बना रह सकता है। हमारी सौन्दर्य-पिपासा की वास्तविक तुष्टि प्रकृति के इन वरदानों की रक्षा से ही सम्भव हो सकती है।

कुछ लोग यह आशंका व्यक्त करते हैं कि वृक्षों वनों का विकास खेती के लिए हानिकर हो सकता है। पर यह धारणा ठीक नहीं। कई फसलें तो वृक्षों के झुरमुटों, वनों या बाग बगीचों में और भी अच्छी तरह उगाई जा सकती हैं। एतत्सम्बन्धी विज्ञान संस्थाओं ने अपने अनुसंधानों के द्वारा ऐसे वन-वृक्षों की जातियों का पता लगाया और विकास किया है, जो खेतों के आस पास या बीच में भी उगाई जा सकती हैं। ऐसा करके किसान प्रकृति से प्राप्य अनेक लाभ तो निःशुल्क प्राप्त कर ही सकते हैं, पुराने वृक्षों की सफाई कटाई कर अतिरिक्त आय भी प्राप्त कर सकते हैं। ग्रामों को पुरानी चरागाहें, जलाने के लिए लकड़ी और नगरों को प्राकृतिक सौन्दर्य भी प्राप्त हो सकता है। इसके लिए आवश्यकता है निस्पृह श्रम, सावधानी और सहृदयता की। वनों वृक्षों को काटकर अच्छी आय पाई जा सकती है—इस बात के साथ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि नए वृक्ष उगाना भी हमारा कर्त्तव्य है।

विशाल मानवता के व्यापक हित साधन को ध्यान में रखकर ही आज राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर वन महोत्सव जैसे उत्सवों का आयोजन किया जाता है। वन महोत्सव वर्ष, महीने और सप्ताह मनाए जाते हैं। इन अवसरों पर व्यापक स्तर पर वृक्षों वनों का रोपण किया जाता है। ताकि जीवन प्रदूषण, बाढ़ जैसी आपदाओं से बचकर हरा भरा, सुखी-समृद्ध एवं शान्त रह सके। प्रकृति-दर्शन का आनन्द प्राप्त कर सके। हमारे देश में

करने के लिए निरन्तर बाध्य किया जाने लगा। धीरे-धीरे इनकी मानसिकता भी कुछ उसी प्रकार की बनती गई। इस प्रकार 'स्वल-न्याय' के आधार पर एक नई वर्ण व्यवस्था सामने आई—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सर्वाधिक निठल्ले पर दिमागी तौर पर मजबूत और प्रखर जन्म-कर्म से ब्राह्मण कहलाने लगा। कसरती और शारीरिक दृष्टि से पुष्ट लड़ाकू प्रवृत्ति के लोग क्षत्रिय कहे जाने लगे। विभिन्न व्यवसायों में लगे लोग वैश्य कहे जाने लगे और बाकी लोगों के जिम्मे इन तीनों की सेवा-सुश्रुषा का काम डाल दिया गया और इन्हें सबसे निम्न वर्ग या वर्ण शूद्र नाम से पुकारा जाने लगा। इस वर्ग को शूद्र के अतिरिक्त 'म्लेच्छ', 'अस्पृश्य' जैसे सम्बोधन भी दिए गए। 'अस्पृश्य' शब्द से ही विकसित होकर 'अछूत' शब्द रूपाकार में आया, जिसे बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध या पहले चरण में गांधीजी ने 'हरिजन' नाम दिया।

इस हरिजन कहे जाने वाले वर्ग या वर्ण की दशा यों तो अत्यन्त प्राचीन काल—ब्राह्मण काल से ही दयनीय रही, पर मध्यकाल में जब सामन्तवादी मानसिकता शिखर पर थी, यह वर्ग भी मात्र भोज्य और भोग्य बनकर रह गया। जाति-पाति और छुआ-छूत का भेद-भाव इस सीमा तक बढ़ा कि इन लोगों का जीवन तक दूभर होकर रह गया। इन लोगों की परछाई तक को दूषित एवं अस्पृश्य माना जाने लगा, सजीव अस्तित्व की तो बात ही क्या थी। हिन्दू जाति का अंग होते हुए भी इन्हें मन्दिरों में प्रवेश कर भगवान की मूर्ति के दर्शन कर पाने तक से वंचित कर दिया गया। इनकी बस्तियाँ सवर्णों की बस्तियों से अलग, नगर-गाँव से काफी हट कर बाहर बसाई गईं। सवर्णों के कुओं से ये लोग पानी तक नहीं ले सकते थे। अपनी परछाई तक को भी उनसे दूर रखकर उनकी सेवा-सुश्रुषा करते हुए जीवन बिता देना, भूखे-प्यासे रहकर भी उच्च वर्गों के लिए खटते रहना ही इनकी नियति बन गई। सवर्ण जिस राह से गुजर रहे होते, उस राह से गुजरना तक इनके लिए वर्जित रहता था। इनकी सुन्दरी युवतियों का भोग करके भी तथाकथित उच्च वर्ग उच्च ही बने रहते और इनकी फरियाद तक करने वाला कोई न था। गन्दे से गन्दा काम करने के लिए इन्हें बाध्य किया जाता। परिणामस्वरूप एक कुण्ठित प्रतिक्रिया ने इन अछूत कहे जाने वाले लोगों के मन-मस्तिष्क में जन्म लिया। मध्य काल में जब इस्लाम के धर्मान्ध प्रचारक यहाँ आए, तो इनमें से बहुतों ने इस्लाम स्वीकार लिया। फिर भी अपने को उच्च कहने वालों की आँखें नहीं खुलीं और इनका व्यवहार इनके साथ पाशविक ही रहा। यही कारण है कि जब पाश्चात्य अंग्रेज आदि जातियों के [illegible]

बलात्कार ' और इसी प्रकार की लोमहर्षक खबरें प्रत्येक दिन समाचार पत्रों में पढने को मिलती रहती हैं। इन्हें पढकर शायद दानव का हृदय भी कांप उठता होगा। पर धन्य हैं वे लोग, जो बीसवीं सदी के समतावादी युग के अन्तिम चरणो मे भी सहज मानवीयता को ताक पर रखकर इस प्रकार के घिनौने एव अमानवीय कृत्य करने मे सलग्न हैं। उनका हृदय पता नहीं किस अमानवीय धातु से बना है, जो अपने जसे ही मनुष्यों के साथ इस प्रकार के घोर कृत्य करते हुए दहलता नही। पाप पुण्य, दया धम, स्वग-नरक, भगवान या कानून आदि किसी का भी तो भय नही इस प्रकार के नारकीय कम करने वालो के मन मे ! एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ इस प्रकार के जघन्य कृत्य कैसे कर लेता है ? वह कैसी मानसिकता और कौन से कारण हैं कि आज भी मानवता के बीच विभेद की दीवारें खडी करके कुछ लोगो का दम्भ मानवता का इस प्रकार क्रूर उपहास कर रहा है ? हमारे विचार मे इन और इस प्रकार के सारे प्रश्नो का एकमात्र उत्तर है—व्यवस्था-दोष जिसकी तह तक पहुँचने के लिए हमें अपने अतीत की वण-व्यवस्था के इतिहास के पन्नो को पलटना होगा।

हमारा प्राचीन इतिहास बताता है कि सुदूर अतीत काल—वदिक काल में यहाँ जाति-पाँति या ऊँच-नीच का कोई बन्धन, वण-व्यवस्था जैसी कोई भी व्यवस्था नही थी। तब मात्र कम के आधार पर ही मनुष्य की श्रेणी (वण या वर्ग) निर्धारित होती थी। श्रेणी निर्धारित की यह व्यवस्था इतनी लचीली थी कि उच्च समझा जाने वाला व्यक्ति निम्न या नीच कम करने पर निम्न श्रेणी या और निम्न-नीच वर्ग का समझा जाने वाला उच्च कम करने पर उच्च श्रेणी मे सहज ही स्थान प्राप्त कर लेता था। स्पष्ट है कि तब श्रेणी, वग या वण का निर्धारण जन्म के आधार पर नहीं, कम के आधार पर हुआ करता था। पर जैसे-जैसे मानव-सभ्यता के विकास-चरण आगे बढते गए, निठल्ले और निकम्मे व्यक्तियों का कर्म के आधार पर बन गया उच्च वग का दम्भ सामने उभरने लगा और तब वग निर्धारण की प्रक्रिया का आधार कम को नही, बल्कि जन्म को बना दिया गया। परिणामस्वरूप चार वर्णों की व्यवस्था समाज में कठोरता से लागू हो गई। अच्छे और उच्च काम करके आगे बढ़ने के इच्छुको की इच्छाओ का इस नई व्यवस्था ने कठोरता से दमन कर दिया। ब्राह्मणवाद जीवन और समाज पर बुरी तरह से हावी हो गया। धीरे धीरे वण-व्यवस्था के शिकजे में कसे सामान्य वग की आगे बढ़ने की इच्छाएँ दमन का शिकार होकर दम तोडती गईं। उन्हे निम्नतम काय

भर सकने के अधिकार दिलाए। गांधी जी के प्रयत्नों से एक व्यापक मानवी वातावरण तो बना, पर लगता है, वह उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो गया। तभी तो आज, भारत की स्वतन्त्रता के छत्तीस-सैंतीस वर्ष बाद भी उस प्रकार के समाचार प्रतिदिन मिलते रहते हैं, जिनका उल्लेख प्रारम्भ में किया जा चुका है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का जो संविधान बना, उसमें इन अस्पृश्यों या हरिजनों को अनेक प्रकार के संरक्षण प्रदान किए गए। उनको भूमि दी गई, शिक्षा की व्यवस्था की गई, छुआछूत को असंवैधानिक और गैर कानूनी करार दे दिया गया। बाद में विनोबा भावे का भूदान आन्दोलन भी बहुत कुछ इस भेद भाव को मिटाने का ही प्रयत्न था। पर इन सारे प्रयत्नों का कोई कारगर परिणाम अभी तक सामने नहीं आ पाया। संरक्षण ने हरिजनों में ही वर्ग भेद पैदा कर दिया। संरक्षण सुविधाएँ पाकर भी वे लोग स्वयं अपनी विषमताओं को पाट सकने में समर्थ न हो सके। संरक्षण और सुविधा ने संविधान के कुछ मुद्दों ने उनको कुछ लापरवाह दम्भी एवं हीन मानसिकता वाला भी बना दिया है। वे कर्त्तव्य पालन तक से विमुख रहने लगे। परिणामस्वरूप उनकी दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ सका। कुछ सुविधाएँ पाकर स्वयं ही अपने वर्ग से घृणा करने वाले लोग जब सामने आने लगें तो परिवर्तन की परिकल्पना भी कैसे जा सकती है? दूसरे भारत के कुछ प्रान्तों में कानून बन जाने पर भी मध्य युगीन सामन्ती मानसिकता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सका है। समर्थ सवर्णों के साथ भ्रष्टाचारी सरकारी मशीनरी की मिली भगत भी असवर्णों या हरिजनों के उभर न पाने का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कारण है। वस्तुतः अधिकांश सरकारी मशीनरी समर्थ सवर्ण लोगों के बीच से ही आई हुई होती है। फिर दूर देहातों में भूमि आदि सभी साधनों पर अधिकार भी अभी तक सवर्ण भूमिपतियों का बना हुआ है। सरकार यदि हरिजनों को भूमि आवण्टित करती है, तो बड़े भूमिपति या तो उन्हें बोने ही नहीं देते या फिर खून-पसीना बहाकर उगाई फसलें काट ले जाते हैं। विरोध करने पर वही परिणाम सामने आते हैं जिनका उल्लेख हो चुका है। इनसे बेगार तक ली जाती है, सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी भी नहीं दी जाती। विरोध करने पर मरणान्तक, सघातक परिणाम भुगतने पड़ते हैं। सो कहा जा सकता है कि मध्यकालीन कबीर आदि से लेकर गांधी और सरकारी कानूनी प्रयत्नों के बावजूद भी हरिजन समस्या के निराकरण में कोई विशेष प्रगति सम्भव नहीं हो सकी। कभी कभी तो लगता है कि बिहार तथा दक्षिण भारत

आए, तो सवर्णों के व्यवहार से आतंकित इनमें से अनेक ने ईसाइयत स्वीकार ली। आज भी यह क्रम जारी है। अक्सर इन हरिजनों के वैयक्तिक या सामूहिक स्तर पर इस्लाम या फिर ईसाइयत ग्रहण कर लेने के समाचार मिलते रहते हैं। इस सबको भारत की भावनात्मक एकता, एक राष्ट्रीयता और हिन्दू जाति के लिए भी शुभ लक्षण नहीं कहा जा सकता।

मध्यकाल में भक्ति धारा के अन्तर्गत जो सन्त आंदोलन लगभग सारे भारत में सक्रिय हुआ, कबीर, रैदास, दादू दयाल, गुरु नानक तथा अन्य अनेक जिस आंदोलन के सक्रिय समर्थक एवं अभिभावक माने जाते हैं, उन सबका मूल एवं मुख्य उद्देश्य इस कट्टर जातिवाद, मानवीय भेद-भाव और छुआछूत को समाप्त कर चिरन्तन काल से लगे भारतीयता के मस्तक के इस कलंक को मिटाना ही था। उसका काफी सुफल भी सामने आया। पर सामन्ती मानसिकता और दम्भ भी उतना ही उग्र बनकर इस भेद भाव को अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति और हितों को बनाए रखने के लिए सामने आता रहा। परिणामस्वरूप छुआछूत का यह कलंक धोया न जा सका। मध्यकालीन संतों के प्रयत्न व्यर्थ होकर रह गए। आधुनिक काल में आकर जब गांधी जी के नेतृत्व में पूर्ण प्रखरता के साथ स्वतन्त्रता आन्दोलन चला, तो एक बार फिर से राष्ट्रीय भावात्मक एकता बनाए रखने और स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सभी का सहयोग पाने की दृष्टि से गांधी जी के सामने अछूतोद्धार और उन्हें मानव समाज में समान अधिकार दिलाने का प्रश्न उठकर सामने आता। उनसे पहले आर्य समाज और उस जैसी कुछ अन्य संस्थाएँ भी इस दिशा में सक्रिय थीं। कट्टर ब्राह्मणवाद या हिन्दूवाद तो इन असवर्णों को सवर्णों के समान मानने में बाधक था ही 'बाण्टो और राज करो' की नीति पर चलकर देश को अनन्त काल तक परतन्त्र बनाए रखने के इच्छुक अंग्रेजी भी एक बहुत बड़ी बाधा थे। मुसलमानों की तरह जब उन्होंने हरिजनों को भी अलग राजनीति महत्त्व देना, विधान सभाओं में उनके लिए अलग स्थान आरक्षित करने का प्रयत्न किया तो गांधी जी चौंके। अन्य राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान भी इस ओर गया। गांधी जी सत्याग्रह करके ही अंग्रेजों को विभाजन की मानसिकता को रोक पाने में सफल हो सके। गांधी जी ने असवर्णों, असपृश्यों या अछूतों को कबीर आदि की परम्परा में 'हरिजन' नाम देकर, इनके उद्धार के लिए बाकायदा आन्दोलन चलाए। 'हरिजन' नाम से समाचार पत्र प्रकाशित किया, विशेष बस्तियाँ बसाईं, अपने साबरमती और सेवाग्राम जैसे आश्रमों में इन्हें समान अधिकार दिलाए। मन्दिर-प्रवेश और सवर्णों के कुओं से पानी

उतना महत्व रहता है। प्रतिपक्ष या विरोधी दल के सदस्यों का महत्व एवं दायित्व भी उनसे कम कभी नहीं स्वीकारा जाता। तभी तो कहा जाता है कि प्रजातन्त्री शासन प्रणाली में संसद रूपी रथ के संचालन में शासक दल और प्रतिपक्षी दल दोनों का महत्त्व दो समान ऊर्जा वाले रथ चक्रों के समान हुआ करता है। जिस प्रकार एक रथ चक्र के विकृत या असन्तुलित हो जाने पर दूसरा चक्र अपने आप ही बेकार होकर रथ की गतिशीलता में अवरोध उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार एक दल की निबलता एवं असमर्थता दूसरे को भी व्यर्थ, असन्तुलित एवं असंयमित बना दिया करती है। इन रथ चक्रों के उदाहरण से किसी भी प्रजातंत्र की शासन-व्यवस्था में संसद के महान दायित्व और उसके साथ प्रतिपक्ष के दायित्व को भली प्रकार से समझा बूझा जा सकता है। शासक-दल का मूल्य महत्व भी इसी प्रकार भली भाँति रेखाङ्कित किया जा सकता है।

प्रजातंत्र या जनतंत्र में प्रजा अथवा जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि प्रजा या जनता के हित रक्षण, सम्वर्द्धन एवं सुख-समृद्धि के लिए कार्य करते हैं। प्रजा द्वारा प्रदत्त मतों के आधार पर ही चुनकर वे लोग संसद या विधान सभाओं में आते हैं। संसद का मुख्य कार्य होता है देश की सार्वभौमिकता, अखण्डता, जनता के अधिकार-कर्त्तव्यों की सुरक्षा बनाए रखना, न्यायपालिका और कार्यपालिका के लिए उचित नियम विधान बनाना और फिर उन्हें भली प्रकार से लागू करना ताकि सारे देश में व्यवस्था बनी रह सके। शासन-व्यवस्था का ढंग से संचालन होता रहे, किसी के साथ अन्याय अनीतिपूर्ण व्यवहार न हो और सभी जन पूर्ण सुरक्षा, व्यवस्था का अनुभव करते हुए अपने अपने कार्यों में दत्तचित्त हो सकें। संसद में जो नियम विधान आदि बनाए या पारित किए जाते हैं, वे सब बहुमत के आधार पर ही किए जाते हैं। यह स्पष्ट है कि संसदीय प्रणाली में प्रजातंत्र में बहुमत शासक दल का ही हुआ करता है। अपने बहुमत के आधार पर शासक दल निश्चय ही कोई भी कानून विधान बना सकता है। प्रयत्न करने पर भी अल्पमत वाला विपक्ष उसे रोक नहीं सकता। फिर भी विपक्षी सदस्य अपनी एकता के बल पर शासक दल को मनमानी करने से इस सीमा तक तो रोक सकते हैं कि वह एकदम निरंकुश न हो जाए, पूर्णतया जन-विरोधी कार्य न करने लगे। विपक्ष का संगठन हर शासक दल के लिए ऐसे तट-बन्धों का काम अवश्य करते रह सकता है कि उसकी कार्य धारा व्यर्थ में इधर-उधर न बह कर देश की शक्ति, समय और

में कई स्थानों पर हरिजनों की स्थिति मध्यकाल से भी कहीं अधिक दयनीय, उग्र एवं अमानवीय हो गई है। निश्चय ही आज के मूल्यों-मानों की दृष्टि से इस स्थिति को मानवीय एवं शुभ नहीं कहा जा सकता।

हरिजनों की समस्या को सुलझाने के लिए आवश्यक है कि मध्यकालीन सामान्ती वृत्तियों प्रवृत्तियों में आमूल-चूल परिवर्तन लाया जाए। ऐसा परिवर्तन कबीर, नानक और गांधी जैसे निःस्वार्थ सन्त सुधारक ही आगे आकर ला सकते हैं। दूसरे जो संविधान-सम्मत अधिकार हरिजनों को दिए गए हैं, उनकी सुरक्षा के लिए जो कानून बनाए गए हैं, उनका कठोरता से पालन किया जाए। हरिजनों के अधिकारों का हनन करने वालों को मानवताघाती मानकर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाए। हरिजनों को भी चाहिए कि वे लोग आरक्षण एवं सुविधाएँ पाकर उनका सामूहिक स्तर पर सदुपयोग करने की दिशा में प्रयत्नशील हों, न कि कोरे दम्भी और आलसी या जाति घाती ही बन कर रह जाएँ। इस सब के लिए विशुद्ध मानवतावादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। आज बीसवीं सदी के अन्त में भी मानवीय व्यवहारों के कारण कोई मानव-वर्ग पीड़ित शोषित रहे, निश्चय ही यह समूची मानवता और समन्वयवादी भारतीय मानसिकता के लिए घोर कलंक की बात है। जितनी जल्दी हो इस कलंक से छुटकारा पा लिया जाए, सामूहिक हित-साधन की दृष्टि से उतना ही देश-जाति का भला है।

१०१ संसद में प्रतिपक्ष

भारत विश्व का सबसे बड़ा और सफल प्रजातन्त्री शासन प्रणाली वाला देश माना जाता है। प्रजातन्त्री शासन-प्रणाली में जनमत द्वारा निर्वाचित बहुमत वाला राजनीतिक दल शासन-व्यवस्था संचालन के लिए उत्तरदायी हुआ करता है। शेष दलों के निर्वाचित सदस्यों को ही संसद में प्रतिपक्ष या विरोधी सदस्य कहा जाता है। इस प्रकार के सदस्यों के बहुमत वाला दल संसद और विधान-सभाओं में विरोधी दल के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रजातन्त्री शासन में संसदीय व्यवस्था के संचालन, जनता के प्रति संसद के दायित्वों संसदीय उच्च एवं निष्पक्ष परम्पराओं के निर्वाह में शासक या बहुमत वाले दल का

बाहर सर्वत्र आज विपक्ष की भूमि का नकारात्मक एवं व्यर्थ होकर रह गई है। भविष्य में उसका कोई सकारात्मक महत्त्व और भूमिका बनती हुई भी दिखाई नहीं देती।

जनतन्त्र में, संसद के भीतर और बाहर ऐसे संगठित, सुदृढ़ एवं अधिक नहीं तो राष्ट्रीय मुद्दों पर एकमत वाले विपक्ष की आवश्यकता हुआ करती है, जो समय आने पर शासकदल का उचित एवं समय विकल्प बन सके। जिसका स्वरूप और अस्तित्व सार्वदेशिक हो। ऐसा विपक्ष ही उदात्त राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित रहकर संसद एवं उसके बाहर निर्माणात्मक भूमिका निभा सकता है। समय पड़ने पर शासक दल का विकल्प भी प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु यह तथ्य सखेद स्वीकारना पड़ता है कि इस देश में ऐसा विपक्ष अभी तक नहीं पनप सका, जो केन्द्र तो क्या प्रान्तों में ही शासक दल का विकल्प दे सके। यहाँ वस्तु स्थिति इससे भी निम्न स्तर की है। राज्यों की विधान सभाओं की तो बात ही जाने दीजिए, उनके लिए तो कोई अखिल भारतीय दल अभी तक बन ही नहीं सका जो विपक्ष की भूमिका निभा सके। यहाँ तो निचले स्तर के सदनों अर्थात् नगर पालिका और नगर निगम, चुनाव लड़ने के लिए भी विपक्षी दलों को सामयिक और बेमेल ताल-मेल बैठाने पड़ते हैं। एक ही नगर के किसी भाग में यदि एक दल के समर्थक हैं, तो दूसरे, तीसरे आदि भागों में अन्यान्य दलों के। ऐसी स्थिति में कोई विपक्ष संसद के लिए बन ही कैसे सकता है? यदि एक दो बार राज्यों या केन्द्र में विपक्षियों ने संयुक्त होने के प्रयत्न किए भी तो अदूरदर्शी और दुराशावादी नेताओं के कारण वे प्रयत्न शील ही निष्फल होकर रह गए। भारत में अपने आपको अखिल भारतीय दल कहने वालों की दुर्दशा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि यहाँ प्रान्तों में स्थानीय या क्षेत्रीय दल विजयी होकर अपनी सरकारें गठित कर रहे हैं। देखने में तो यहाँ तक भी आता है कि जो स्थान आज एक दल के पास है, अगले चुनाव में उससे वह स्थान ही नहीं छिनता, उस दल का सफाया ही हो जाता है। ऐसा एक-दो बार नहीं अनेक बार हो चुका है। विपक्ष की भूमिका की दयनीयता का इस ब्यौरे से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

भारतीय संसद में विपक्ष की विफलता का एक मुख्य कारण है स्वार्थपरता धन कमाने की इच्छा और सत्ता प्राप्ति की अदम्य भूख। इसी कारण यहाँ विपक्षी सदस्य अधिक बिकते एवं दल-बदल करते हैं। ऐसा करके वे लोग अपनी निष्ठा के भाव एवं सिद्धान्तहीनता का परिचय तो देते ही हैं, साहस

साधनों का अपव्यय न कर सके। यदि विपक्ष संसद में मात्र इतना कर पाने में भी समर्थ हो जाता है, तो निश्चय ही उसे सफल, उसकी भूमिका को काफी हद तक सार्थक कहा जा सकता है।

जहाँ तक भारत के संसद मे विपक्ष की कार्य-विधि का प्रश्न है, उसे प्रारम्भ से ही पूर्ण स्वस्थ एवं सुखद नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ मे, जब तक पण्डित जवाहरलाल नेहरू सरकार और संसद के नेता रहे, तब तक का विपक्ष का कार्य परवर्ती काल की तुलना मे कुछ अच्छा ही कहा जा सकता है। तब तक विपक्ष था भी काफी अल्प मत मे। कोई भी ऐसा दल नही था, जो अपने ही बल पर विपक्ष की भूमिका निभा सके। इस प्रकार की स्थिति मे विपक्ष आज भी नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिए कि आज का विपक्ष तब की तुलना मे अधिक बिखरा हुआ है। तब विपक्ष में जो और जितने भी सांसद थे, उनकी कोई अपनी स्वस्थ, सन्तुलित और स्पष्ट दृष्टि थी। अपना कोई स्पष्ट एवं चुनौतीपूर्ण कार्यक्रम भी था। उनमें पढ़े लिखे, समझदार और दूरदर्शी लोगों की संख्या भी अधिक थी। उनका दृष्टिकोण मात्र विरोध के लिए विरोध न होकर सजग हुआ करता था। पर अपने अल्प मत के कारण सरकार को प्रभावित वे भी विशेष रूप से नहीं कर सके थे, यद्यपि निरंकुश भी नहीं होने देते थे। संसद और संसद के बाहर भी उनकी बात बड़े मनोयोग से सुनी जाती थी। डॉ० राम मनोहर लोहिया, डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी आदि का स्मरण इस दृष्टि से विशेष रूप से किया जा सकता है। उनमें अपनी, अपने दलों और संसद की भी गरिमा बनाए रखने की पूर्ण क्षमता थी। पर इस पीढ़ी के बाद के प्रतिपक्ष के बारे में ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आज के प्रतिपक्ष का काम संसद के भीतर-बाहर शासक दल को बदनाम कर, अपने ही साथियों की टाँग घसीट मात्र सत्ता की कुर्सी प्राप्त करना रह गया है। नेतृत्व का संकट यों तो शासक दल मे भी है पर विपक्ष के नेतृत्व का संकट अपनी चरम स्थिति में अनुभव किया जा रहा है। आज विपक्ष के नाम पर अनगिनत दल बल्कि गुट बन गए हैं और प्रत्येक गुट बनाने वाला अपने सिवाए अन्य किसी व्यक्ति, बात या तथ्य को समझ ही नहीं पाता। वह समझता है कि केवल मैं ही ठीक सोच, देख और देश का उत्थान कर सकता हूँ। इसी कारण, व्यक्तिगत और दलगत स्वार्थों में आकण्ठ मग्न रहने के कारण आज के विपक्षी स्वल्प मत वाले दल राष्ट्रीय मामलों पर भी सरकार तो क्या आपस में भी एकमत नहीं हो पाते। परिणामस्वरूप संसद या उसके

मनमानियों पर कोई अंकुश नहीं लग सका। संसद के अधिवेशन होते हैं। जनता के खून पसीने की कमाई का प्रत्येक मिनट पर बेतहाशा खर्च किया जाता है। सांसदों को कार्यकाल में वे विशिष्ट सुविधाएँ मिलती ही है, पेंशन की भी व्यवस्था है। फिर चालू किस्म के सांसद अन्य तरीकों से जो कमाई करते हैं, उसका हिसाब किसी के पास नहीं। तभी तो आज प्रत्येक छुटभैया राजनीतिज्ञ तक संसद तक पहुँचने को व्याकुल रहता है। एक सीट के लिए कई-कई उम्मीदवारों का चुनाव लड़ना इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। इससे संसद और सांसदों का आज जनों की दृष्टि में अवमूल्यन ही हुआ है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि समझदार जनहित के सच्चे आकांक्षी और निस्वार्थ जन संसद के पक्ष विपक्ष में आएँ। वैयक्तिक एवं दलगत स्वार्थों से ऊपर उठ एक सबल विपक्ष का गठन हो। तभी संसद की मान-मर्यादा तो सुरक्षित रह ही सकती है, भारतीय जनतंत्र के महत्व उद्देश्यों के गन्तव्य तक भी पहुँचा जा सकता है। अन्यथा जो स्थिति आज है, वह देश को कहाँ ले जा रही है और ले जाएगी, सभी जागरूक जन इसका अनुमान सहज ही लगा सकते हैं।

१०२ | दूरदर्शन : जन-शिक्षण का माध्यम

अनवरत जिज्ञासा और नव्यान्वेषण की सहजात मानवीय प्रवृत्ति ने अपने क्रमिक विकास की प्रक्रिया में नित नए क्षितिजों का अन्वेषण और उद्घाटन किया है। जिज्ञासु मानव के लिए उन्नीसवीं शती के आरम्भ में जो कुछ असम्भव एवं कल्पना मात्र था शती का अन्त आते आते वह सब सम्भव और कल्पनाएँ मूर्त रूप में साकार होने लगीं। शतियों के अनवरत चिन्तन, मनन और अन्वेषण के द्वारा प्राचीन वैज्ञानिक ने जो आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित किए थे, उन्हें और उनकी प्रक्रिया को आगे बढ़ते हुए अपने नव्यान्वेषण एवं अध्यवसाय से, नित नये प्रयोगों से आधुनिक वैज्ञानिक ने उन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करना शुरू किया। परिणाम स्वरूप नित नए मानव-जीवनोपयोगी आविष्कार सामने आने लगे। वायरलेस, दूरभाष (टेलीफोन), रेडियो, सिनेमा और उसके बाद समीपता का आभास कराने वाला दृश्य-श्रव्य आविष्कार दूरदर्शन (टेलीविजन) उसी प्रक्रिया की आज तक की अन्यतम

ग्रौर विश्वास भी खो बैठते हैं। इस प्रकार की गति-विधियों, ग्रोछी महत्त्वाकाक्षाग्रो ग्रौर दिशाहीन राजनीति के कारण ही भारत की राजनीति में इग्लैण्ड ग्रमेरिका जैसे ग्रन्य जनतत्री देशो के समान कोई सगठित, सक्षम विपक्ष तैयार नही हो पाया। ससद मे विपक्ष की क्या महत्त्व ग्रौर भूमिका हो सकती है, इसका ग्रनुमान इस बात से हो जाता है कि इग्लैण्ड मे सब्जियों या उपभोक्ता वस्तुग्रो के दाम बढने पर ही वहाँ का विपक्ष सरकार को त्यागपत्र देने ग्रौर बदलने मे समर्थ हो जाता है। विपक्ष के नैतिक दबाव के कारण ग्रमेरिका के राष्ट्रपतियो का शासन कई बार डोल चुका है। पर हमारे देश की ससद ? बडी-से-बडी ग्रघटनीय घटना घट जाने पर भी यहाँ बिखरे ग्रौर ग्रत्यल्प विपक्ष के शोर शराबे के कारण सरकार का पत्ता तक नहीं हिल पाता। भारत जैसा शक्तिहीन, नकारात्मक रूख ग्रपनाने वाला विपक्ष किसी लोकतत्री तो क्या ग्रन्य मान्यताग्रो वाले देश मे भी नहीं है। इसे ग्रत्यधिक विडम्बना एव दयनीय स्थिति ही कहा जाएगा।

राजनीतिज्ञ सबल-समर्थ विपक्ष को जनतन्त्र की रीढ़ मानते हैं। पर उसी ग्रवस्था मे कि जब शासक-दल के साथ उसका उन्नीस-बीस या ग्रधिक से ग्रधिक इक्कीस तक का ग्रन्तर हो। जब ग्रन्तर बहुत बढ जाता है—जैसा कि भारतीय ससद ग्रौर विधान सभाग्रों मे ग्रब तक रहा ग्रौर है, उस स्थिति में विपक्ष प्राय दिशाहीन हो जाया करता है। कारण स्पष्ट है। वह यह कि तब उसके सामने ग्रपने कार्यक्रम या बहुमत से सत्ता में ग्राने का विकल्प तो रहता नही ग्रत वह ग्रपने शोर शराबे ग्रौर हुल्लडबाजी से ही जनता का ध्यान ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित किए रहना चाहता है। उस ग्रवस्था में वह नैतिक ग्रौर राष्ट्रीय मुद्दो पर भी शासक दल से सहमत नहीं हो पाता। मात्र विरोध को ही ग्रपना शस्त्र बना लेता है। हमे यह तथ्य स्वीकार करने मे तनिक भी सकोच नहीं होना चाहिए कि विगत दो दशको से भारतीय ससद मे समूचा विपक्ष इसी प्रकार की बेकार भूमिका निभाता ग्रा रहा है। यही कारण है कि ग्रभी तक भारतीय ससद ग्रौर प्रजातन्त्र ग्रपनी रीढ पर सीधा खडे हो पाने मे समर्थ नही हो सका। भारतीय ससद जन-मत से चुना ग्रवश्य जाता है, पर वह भारतीय जनमत या जनाकाक्षाग्रो का प्रतिनिधित्व कहाँ तक कर पाता है, यह सांसदोसमेत सभी जागरूक व्यक्तियो के लिए विचारणीय ज्वलन्त प्रश्न हो सकता है।

उन्नत एव सगठित विपक्ष के ग्रभाव के कारण ही भारतीय जनतत्र लाल फीताशाही से मुक्त नहीं हो पाया। महगाई, भ्रष्टाचार ग्रौर ग्रनेकविध सरकारी

स्वय करें, वस्तुत दूरदर्शन का प्रयोग भी इसी रूप में जन जागरण और जन-शिक्षण के लिए सम्भव हो सकता है और कुछ अर्थों में हो भी रहा है। इन तथ्यों से इस वैज्ञानिक माध्यम की ऊर्जा, शक्ति और प्रभविष्णुता का अनुमान सहज ही हो जाता है।

दूरदर्शन पर आज कल जन शिक्षण और जन जानकारियो को व्यापक बनाने के लिए कई प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित-प्रदर्शित किए जाते हैं। जैसे स्कूली बच्चों के लिए विविध विषयों के पाठ, किसानों के लिए कृषि-दर्शन, उद्योग धन्धों की जानकारी देने वाले कार्यक्रम, तकनीकी जानकारी वाले कार्यक्रम, देश विदेश मे घटित महत्त्वपूर्ण घटनाओ के प्रदर्शक सूचनात्मक कार्यक्रम, अनेक प्रकार के रोचक और जीवन-तथ्यो को उजागर कर दिशा-दर्शन कराने वाले नाटक, फ़नकियाँ, ललित तथा उपयोगी कलाओं से साक्षात्कार कराने वाले समयबद्ध कार्यक्रम, देशी विदेशी महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों से साक्षात्कार, नित्य प्रति के समाचार आदि निश्चय ही इन और इस प्रकार के आयोजनो का उद्देश्य मात्र मनोरंजन करना ही नहीं होता, मानव-चेतना को प्रबुद्ध करके उसका परिष्कार और संस्कार करना भी होता है। योगाभ्यास जसे कार्यक्रम यदि और सगन बनाए जाएँ तो वे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा और समग्र मानवीय चेतना के परिष्कार सस्कार में और भी अधिक सहायक हो सकते हैं। यह तो ठीक है कि इस प्रकार के प्रबोधक और जन-चेतना को उत्तेजित-जागृत करने वाले कार्यक्रम भारतीय दूरदर्शन पर प्रदर्शित-प्रसारित किए जाते हैं पर अभी तक उनकी दृश्य-श्रव्य अभिव्यजना मे वह परिष्कार, वह रोचकता और प्रभविष्णुता नहीं आ पाई कि दर्शक उससे वास्तव मे लाभान्वित हो सकें। प्रदर्शित प्रसारित कार्यक्रम बहुत हल्के, अपरिपक्व, अपरिष्कृत और अरोचक रहते हैं कि वस्तुत फिल्मो, चित्रहारों जसे कुछ कार्यक्रमों को छोड कर दर्शकों को उनकी प्रतीक्षा प्राय नहीं रहती। इससे भारतीय दूरदर्शन के अभी तक के इतिहास को जन शिक्षण की दृष्टि से अभी प्रारम्भिक स्थिति में ही कहा जा सकता है।

दूरदर्शन द्वारा जन शिक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि जो भी कार्यक्रम प्रदर्शित किया जाए, एक तो वह जन रुचियों, जन-मानसिकता, जन-भूमि और मनोभूमि की सोची समझ के साथ जुड़ा होना चाहिए, दूसरे जनता की अपनी भाषा, भावना और शैली-शिल्प में होना चाहिए। इस दुखद तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय दूरदर्शन अभी तक अपनी

वैज्ञानिक उपलब्धि है। इस उपलब्धि के द्वारा आज का मानव घर बैठे ही सुदूर प्रदेशों में घटित हो रहे जीवन को अपने घर में बैठ कर ही न केवल सुन सकता है, बल्कि प्रत्यक्ष देख कर सजीव रूप से अनुभव भी कर सकता है। यों भी कहा जा सकता है कि उस सब का सजीव अंग तक बन सकता है। महाभारत मे आता है कि संजय ने हस्तिनापुर मे बैठ कर दूर कुरुक्षेत्र के रण म घटित हो रहे घटना क्रम का वर्णन-ब्योरा प्रत्यक्ष दर्शक के समान ही अन्धे महाराज धृतराष्ट्र को सुनाया था। वह किसी परा प्राकृतिक शक्ति, योग विद्या या आध्यात्मिक चेतना का चमत्कार था अथवा उस समय भी दूरदर्शन जैसा कोई दूरदर्शक यन्त्र-माध्यम रहा होगा, पर आज स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। पर आज का वैज्ञानिक आविष्कार दूरदर्शन स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-श्रव्य सभी कुछ से घर बैठे सहज ही साक्षात्कार करा पाने में समर्थ है, इस बात में सन्देह की तनिक भी गुंजायश नहीं। निश्चय ही दूरदर्शन बीसवीं सदी के ज्ञान विज्ञान की एक महत्तम उपलब्धि है।

सामान्यतया लोग यह मानते हैं कि खेल-कूद, रेडियो, सिनेमा आदि विभिन्न एवं विविध मनोरंजन के साधनों, उपकरणों के समान दूरदर्शन भी मनोरंजन का ही एक दृश्य-श्रव्य साधन है। निश्चय ही इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस घरेलू सिनेमा-सेट-अर्थात दूरदर्शन के माध्यम से घर पर बैठकर ही वे सभी प्रकार के मनोरंजन सुलभता से पाए जा सकते हैं कि जो खेलकूद, रेडियो सिनेमा आदि मानव को प्रदान करते या कर सकते हैं। पर निश्चय ही दूरदर्शन का प्रयोग और उपयोग मात्र मनोरंजन तक ही सीमित नहीं है और न इसे इसी सीमा रेखा तक सीमित रख कर इस महत्वपूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धि का महत्त्व घटाया ही जा सकता है। यह वह अचूक माध्यम है, जिसके द्वारा सामूहिक एवं व्यापक स्तर पर जन जागरण और जन शिक्षण का महान कार्य सहज-सरल भाव से सम्पादित किया कराया जा सकता है। वह भी धर्मशास्त्र के आदर्श आदेश या राजनीति के कठोर नीति नियमादि के कठोर निर्देश द्वारा नहीं, बल्कि उसी प्रकार मनोरंजक ढंग से कि जैसे एक सन्मित्र अपनी मनोरंजन बातचीत द्वारा दूसरे मित्र की हीनताओं, कमियों को उजागर कर परोक्ष रूप से उस भ्रष्ट मित्र का पथ प्रदर्शन कर देता है। इस तथ्य के आलोक में दूरदर्शन की तुलना हम ललित साहित्य से कर सकते हैं। जैसे सरससाहित्य जीवन के जीवन्त अनुभवो को अपने विधात्मक स्वरूपो मे चित्रित करके भी कोई आदेश निर्देश नहीं देता, सभी कुछ पाठकों प्रेक्षकों पर ही छोड़ देता है कि वे लोग सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, भले-बुरे का निर्णय

ही सम्भव हो सकता है। एक तो भारतीय मानसिकता ही अभी तक श्लील-अश्लील के थोथे मानों मूल्यों से मुक्त नही हो पाई, दूसरे दूरदर्शन पर इस दिशा मे जो विज्ञापन या कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं वे भी श्लीलता-अश्लीलता की स्पष्ट सीमा रेखा न होने के कारण अप्रभावी होकर रह जाते हैं। अक्सर लोग इस प्रकार के विज्ञापन और कार्यक्रम देखते ही नही। या फिर बाल-बच्चो के साथ देखते समय हिचक महसूस होने के कारण उनकी ओर उचित ध्यान नहीं देते। कुछ लोग तब ध्यान बटाए रखने के लिए इधर उधर की बातें करने लगते हैं और कुछ लोग अपना दूरदर्शन सेट तक बंद कर देते हैं। क्या इस प्रकार के कार्यक्रमो को सहज-स्वाभाविक कल्पना का सहारा लेकर ऐसा नही बनाया जा सकता कि उन्हें सुनने-देखने मे झिझक या शर्म महसूस न हो ? श्लील अश्लील का प्रश्न ही न उठे ? निश्चय ही बनाया जा सकता है। आवश्यकता है जागरूक सूझ-बूझ एव समय-सापेक्ष कल्पना शीलता की। समझदार लोगो के सहयोग की, जिसे राजनीति या निहित स्वार्थों के कारण यह विभाग ले नहीं पाता। परिणाम ? वही सब, नकारात्मकता और प्रयत्नों की समग्र व्यर्थता।

हमारे देश में आज एक स्वस्थ राजनीतिक चेतना का भी अभाव बल्कि राजनीतिक नेतृत्व का सकट उपस्थित है। इस सकट से छुटकारा पाने के लिए आज किसी भी स्तर पर कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा। परिणाम स्वरूप चुनाव, ससद, विधान सभाएँ और छोटे स्तर तक की सरकारी-गैर सरकारी जन-सस्थाएँ लूटपाट का साधन और मदारियों का तमाशा बन कर रह गई हैं। दूरदर्शन द्वारा समय-सापेक्ष, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों आवश्यकताओं के अनुरूप उचित राजनीतिक चेतना का विनिर्माण कर इस घोर अकाल और सकट से छुटकारा तो सम्भव हो सकता है, किन्तु जब जन-जागरण का यह माध्यम केवल शासक दल के प्रचार और भाई भतीजो के रोजगार का साधन बन कर रह गया हो, तो ऐसी आशा की भी कैसे जा सकती है ? आज आवश्यकता इस बात की है कि दूरदर्शन को दलगत राजनीतिक हत्यकाण्डों से मुक्त रखकर, वास्तविक और स्वार्थ मुक्त लोगों के माध्यम से इसे स्वस्थ राजनीतिक जागरण का केन्द्र बनने दिया जाए। यही बात धर्म और सामाजिकता के सन्दर्भों में भी कही जा सकती है। बिना ऐसा किए वस्तुत दूरदर्शन का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। वह केवल—या तो फिल्मो चित्रहारो का सस्ता मनोरंजन-प्रदाता ही बना रह सकता है, या फिर ऐसे कार्यक्रमों

देशी भूमि और जन मानस-भूमि से नही जुड पाया । भाषा और शैली शिल्प की दृष्टि मे भी अभी तक वह पश्चिम का मुखापेक्षी अधिक है । उसके प्राय कार्यक्रम भी पश्चिम की नकल और बासी होते हैं । जब तक वे नितान्त अपने और ताजे सीधे भारत भूमि और जन-मानस से जुडे हुए नही होते, तब तक यह शिकायतें तो बनी ही रहेगी, अपनी समग्रता में दूरदर्शन उद्देश्य की दृष्टि से अप्रभावी भी रहेगा ।

दूरदर्शन का कार्य केवल जन-मनोरजन ही नही जन-शिक्षण-प्रशिक्षण भी है यह बात ऊपर बल देकर कही जा चुकी है । फिर भारत जैसा देश, जहाँ पर समस्याओ के अम्बार लगे हो, उचित दृष्टि एव कार्यक्रम अपना कर उन सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान जुटा पाने मे निश्चय ही सफल हो सकता है । दूरदर्शन साक्षरता और प्रौढ शिक्षा के प्रचार प्रसार का उत्तम माध्यम तो बन ही सकता है रोजगार से सम्बन्धित विविध प्रकार की तकनीकी शिक्षाएँ भी इसके द्वारा दी जा सकती हैं । आज भारत में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक-दृष्टियो से भी बहुत अधिक जागृति एव शिक्षण की आवश्यकता है । उचित शिक्षा उचित मानसिकता और वातावरण की सृष्टि कर सकती है । अनेक प्रकार के अन्धविश्वास, रूढियो और कुरीतियाँ इस देश मे अशिक्षा एव उचित शिक्षा के अभाव के कारण ही हैं । धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता, छुआछूत और ऊँच-नीच के भेद-भाव इनके कारण होने वाले दगे फसाद और मारक दुघटनाएँ सभी के मूल मे अशिक्षा, सामयिक चेतना का अभाव और अदूरदर्शिता ही है । दूरदर्शन अपने कार्यक्रमों को इन दिशाओ में नियोजित निर्धारित कर निश्चय ही जन-मानस में नव प्रकाश, नव ऊर्जा, जागृति एव सहिष्णुता उत्पन्न कर सकता है । जिस भावनात्मक एकता और मानवीय मूल्यो के ह्रास के कारण आज का जन मानस समस्त है उनके कारणो पर प्रहार करके दूरदर्शन अपने कार्यक्रमो द्वारा सहज मानवीय विश्वास के लिए उर्वरा और उपयोगी भूमि प्रस्तुत कर सकने का बहुत बडा कारण बन सकता है । खेद के साथ स्वीकार करना और कहना पडता है कि इस सब के लिए जिस प्रकार की कल्पना शीलता सजगता और सतर्कता की आवश्यकता हुआ करती है, हमारे दूरदर्शन के सचालको मे उसका अभाव खलने वाली सीमा तक है ।

भारत एक विशाल देश है । जनसख्या के अनुपात से यहाँ उपभोक्ता वस्तुओं, जीवनोपयोगी सामग्रियो का अभाव है । इसके लिए जन-सख्या की अबाध वृद्धि को रोकना बहुत आवश्यक है । यह जन शिक्षण एव जागरण द्वारा

लक्षण आज चारों ओर स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे हैं। लगने लगा है कि यह देश एक बार फिर से कई-कई विभाजनों के कगार पर पहुँचता जा रहा है। मध्यकाल में जैसे भारत छोटी-बड़ी अनेक इकाइयों, रियासतों और राज्यों में बटा रहकर एक ही भू-भाग के अन्य निवासियों (राज्यों) के लिए सिर दर्द का कारण बना रहता था, और जिसका लाभ विदेशी आक्रमणकारियों को मिला करता था, आशंका होना स्वाभाविक है कि कहीं हमारी संकीर्ण-संकुचित प्रवृत्तियाँ फिर से वैसा ही माहौल न उत्पन्न कर दें। ऐसी विकट स्थिति में आज प्रत्येक देश-भक्त, राष्ट्र प्रेमी और जागरूक भारतीय के लिए आवश्यक हो गया है कि वह आने वाली विषम स्थितियों के प्रति सावधान हो, उन्हें आने ही न देने की दिशा में सन्नद्ध हो जाए।

देश और राष्ट्र की उपमा उस भव्य एवं विशालतम भवन से भी जा सकती है, जिसके निर्माण में शताब्दियों का कालातीत समय लगा करता है। उसकी एक एक ईंट को परिश्रम से बहाये खून पसीने, विचारों भावों की उदात्त, सम्पन्न तरतीबों से जोड़ा जाता है। उसकी नींव में सदियों का चिन्तन, प्रेम, सौहार्द, अपनत्व और भाईचारा रहा करता है। उसमें युग-युगों तक अनेक सभ्यता संस्कृतियों का उदय विलय होता रहा करता है। तब कहीं जाकर ग्राम, प्रान्तर कस्बे, नगर, महानगर, प्रांत और प्रांतों के समुदाय—देश और सभ्यता-संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों के समन्वय से राष्ट्र का निर्माण सम्भव हो पाता है। अपने उस सृजन, उस निर्माण की सुरक्षा के लिए भी आबाल-वृद्ध सभी को एकत्व के उदात्त भाव से, समन्वित रूप से सन्नद्ध रहना पड़ता है। तब कहीं जाकर देश और राष्ट्र अपना अस्तित्व बनाए रख पाते हैं। किन्तु जब कुछ भूले और सिर फिरे लोग महज जातीय या वर्गीय स्वार्थों से परिचालित होकर, अपने दो चार सौ सालों के संक्षिप्त वर्गीय इतिहास को ही सब-कुछ मान कर व्यापक राष्ट्रधारा से अपने को बिलगाने का स्वर मुखरित करने लगते हैं, अलगाव की दिशा में प्रयत्नशील हो उठते हैं, तो देश और राष्ट्रीयता की नींव का हिलने लगना एक स्वाभाविक नियति हो जाया करती है। बड़े खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि शासक और विरोधी सभी दलों की निहित स्वार्थों एवं ढुलमुल रीति-नीतियों के कारण आज एक देश और राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष की स्थिति विघटन की कष्टकारक राह पर अग्रसर हो उठी है। इसे यदि अभी से रोकने का सुस्पष्ट एवं साहसिक कदम न उठाया गया, तो परिणाम बहुत विस्फोटक होंगे, इस तथ्य में भी सन्देह नहीं।

का सगम कि जिनका इस देश की भूमि, जन-मानसिकता आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

आज दूरदर्शन श्वेत-श्याम से रंगीन युग में प्रवेश कर चुका है । तकनीकी स्तर पर भी उसने बहुत उन्नति कर ली है । उसके माध्यम से देश विदेश का सम्बन्ध भी सहज ही जुड़ जाता है । देश में केन्द्र से राष्ट्रीय प्रसारण की योजना भी फलीभूत हो रही है । पर वह वस्तुतः कहने को ही राष्ट्रीय है । ऐसा इसलिए कि एक तो कुछ दक्षिणात्य (तमिलनाडु) प्रदेशों में सम्पूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रम का प्रसारण नहीं होता, राजनीतिक दबाव के सामने राष्ट्र हित और भावनात्मक एकता के साथ-साथ समग्र राष्ट्रीयता की भावना ने भी (क्षेत्रीयता के सामने) अपने घुटने टेक दिए हैं, दूसरे इस राष्ट्रीय कार्यक्रम-प्रसारण के अन्तर्गत जो कुछ प्रसारित किया जाता है, वह राष्ट्रीय कम और अराष्ट्रीय अधिक होता है । अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों से परिचित कराना बुरी बात नहीं, पर राष्ट्रीयता की बलि देकर, रजकता रोचकता और कल्पनाशीलता के अभाव में निश्चय ही बुरी बात है । आवश्यकता है नगर-ग्राम सभी स्तरों पर भारतीय जन-मन को आलोडित कर जागृति लाने की । बस, यही हमारा दूरदर्शन कर पाने में अभी तक समर्थ नहीं हो सका ।

स्वस्थ, सही, जनोपयोगी, कल्पनाशील, मनोरंजक एवं राजनीति-मुक्त निरपेक्ष रीति-नीति अपना कर ही ज्ञान-विज्ञान का यह आधुनिक साधन दूरदर्शन जन-शिक्षण के अपने लक्ष्यों को पा सकता है । अपनी भूमि, भाषा, शिल्प आदि भी अपनाया जाना आवश्यक है । जनतंत्र में सभी कुछ जनता के हित-साधन के लिए हुआ करता है इस तथ्य को सामने रख कर चलना दूरदर्शन और सभी के लिए बहुत आवश्यक है ।

१०३ | प्रान्तवाद और राष्ट्रीयता

प्रान्तीयता या प्रान्तवाद की विघटनकारी प्रवृत्तियों का उग्र उदय निश्चय ही इस देश के लिए एक विकट समस्या का रूप धारण करता जाता है । यह प्रवृत्ति प्रत्येक कदम पर, प्रत्येक पल में अधिकाधिक सामने आकर हमारी राष्ट्रीयता, समग्रता और सार्वभौम एकत्व के सामने एक मोटा प्रश्न चिह्न टंकित कर रही है । राष्ट्रीयता, एकत्व एवं भावनात्मक एकता के विघटन के

नागालैण्ड, मिजोरम, अरुणाचल आदि प्रदेशों में भी स्थिति अच्छी नहीं। यहाँ भी प्रान्तीयता की भावना जंगल में फैली आग के समान सुलग कर निरन्तर भड़कती जा रही है। पैंतीस-छत्तीस वर्षों में जम्मू-काश्मीर का अलग दर्जा समाप्त नहीं किया जा सका। कहने को जम्मू-काश्मीर भारत का ही अंग है, पर भारतवासी वहाँ तिल भर जमीन नहीं खरीद सकता। वहाँ की कन्या अन्य प्रांतों में ब्याहो जाने के बाद वहाँ की—अपनी भारत भूमि की कन्या तक नहीं रह जाती! अन्य प्रांतों की स्थिति भी सुखद नहीं कही जा सकती। प्रांतीयता की यह निम्नकोटि की भावना उग्र होकर अनेक जगह साम्प्रदायिकता के संघातक विष के फैलाव का भी कारण बन रही है। अन्य प्रांतों के लोगों को हरचन्द खदेड़ कर भगा देने का प्रयत्न चल रहा है। प्रांतों के लिए अधिकाधिक स्वच्छन्दता, स्वेच्छाचारिता एवं अधिकारों की मांग सब तरफ से निरन्तर उठती रहती है। यदि यह मांग सदभावनावश उठे तो सत्य भी कही जा सकती है। पर बात ऐसी होती नहीं। ऐसी मांगों के मूल में कट्टर प्रान्तीयता की भावना ही प्रमुखतः रहा करती है। यह भावना देश के टुकड़े-टुकड़े कर देगी इसमें तनिक भी संदेह नहीं होना चाहिए। पहले एक पाकिस्तान बना था प्रान्तीयता की आड़ में अब कई पाकिस्तान बनाने की जो सुनियोजित चेष्टा हो रही है, राष्ट्रीय अखण्डता के लिए उसका सिर कुचला जाना बहुत ही आवश्यक है।

प्रांतीयता का भावोदय, जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं, अनेकविध साम्प्रदायिकताओं को भी जन्म दे रहा है। तभी तो आज हर सम्प्रदाय प्रत्येक बात में विशेष स्थिति और संरक्षण की मांग करने लगा है। भारत विभाजन का मूल कारण मुस्लिम लीग और उसके समय जातीयता के आधार पर संरक्षण नौकरियों तथा अन्य सुविधाओं की गुहार करने लगे हैं। इस प्रकार की बातें अन्य सम्प्रदायों, वर्गों की तरफ से भी उठाई जा सकती हैं। इस सबको प्रांतवाद के उग्र उदय के समान ही राष्ट्रीयता एवं देश की अखण्डता के संदर्भ में अनुचित, राष्ट्र विरोधी एवं संघातक स्वीकार किया जाना चाहिए। जब भी किसी देश और राष्ट्र में इस प्रकार की प्रवृत्तियों का उदय होता है राष्ट्र और देश की नींव की ईंटें खिसकने लगती हैं। एक ईंट का खिसकाव उस भव्य भवन की समग्रता को तहस-नहस कर सकता है, जिसका निर्माण करने में शताब्दियों तक रक्त-पसीना एक किया गया है। इसलिए आज समस्त बुद्धिमानों को जागरूक राष्ट्र जनों और देश-भक्तों को एक होकर एक स्वर में इस प्रकार की संघातक प्रवृत्तियों के विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए।

विविध और विभिन्न आधारहीन मत वादों में बंटे अनेक प्रकार के दलों के कारण आज भारत में प्रान्तीयता की भावना उग्र से उग्रतर होती जा रही है। आज इस देश में पंजाबी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रियन, तमिलनाडुयिन, असमी, कर्नाटकी, हरियाणवी, बिहारी, राजस्थानी आदि तो रहते हैं, पर विशुद्ध भारतीय कहीं कोई भी दृष्टि गोचर नहीं होता। यों यहाँ गणतन्त्री शासन व्यवस्था है पर उसके सही अर्थ और स्वरूप को भूल कर केवल अपना प्रान्तीय स्वरूप ही सभी को याद है। तभी तो पंजाब और पंजाबी का अर्थ केवल अकाली दल के उग्र तत्व तमिलनाडु निवासी का अर्थ केवल तामिल भाषी, असमी का अर्थ असमी भाषा बोलने वाले, बंगाली का अर्थ बंगला भाषी, गोवानी का अर्थ गोवानी भाषा भाषी और इस प्रकार अन्य प्रांतों और प्रान्तवासियों का अर्थ-अभिप्राय लिया जाने लगा है। शताब्दियों से जिन अन्य लोगों ने भी अन्य प्रान्तों में भारतवासी के नाते रह कर वहाँ की उन्नति और विकास में अपना खून-पसीना एक किया है उन्हें निकाल बाहर करने की साजिशें की जा रही हैं। केन्द्र से अलग होने की धमकियाँ तक दी जाती हैं।

कहीं खालिस्तान की मांग उठ रही है तो कहीं तेलगू देशम की, कहीं तमिलनाडु राष्ट्रीय मसलों पर भी केन्द्र को धमकाता है तो कहीं गोवा में इस कारण दंगे होते हैं कि वहाँ से महाराष्ट्रियन तथा अन्यों को निकाल बाहर किया जाए। त्रिपुरा, बंगाल और असम की स्थितियों से कौन परिचित नहीं। वहाँ के मुख्य मन्त्री और शासक दल यदि केन्द्र के विरुद्ध हड़तालें करते करवाते हैं तो तमिलनाडु के मुख्य मन्त्री अनशन तक करने की बचकाना हरकत कर बैठते हैं। केन्द्र राष्ट्र के स्तर पर जो निर्णय करता है, उन्हें प्रान्तीयता की उग्र आग में सुलगते हुए वे निर्णय तक स्वीकार नहीं होते।

बात-बात में अलग हो जाने की धमकियाँ देते रहते हैं। केन्द्र ने यदि रेडियो को सार्वदेशिक स्तर पर 'आकाशवाणी' कहने की घोषणा की तो तमिलनाडु सरकार ने प्रांतीयता के उन्माद में विलगता और बुरे परिणामों की धमकी देकर उसे अस्वीकार कर-करा दिया। दूरदर्शन से राष्ट्रीय प्रसारण के अन्तर्गत हिन्दी समाचारों का प्रसारण तक बन्द करवा दिया। अब धमकाया जा रहा है कि एयर इण्डिया जो घोषणाएँ हिन्दी में करती है वे भी बन्द होनी चाहिएँ सबसे दुखद एवं विस्मयकारी तथ्य यहीहै कि इस प्रकार की धमकियों के सामने झुक कर केन्द्र-सरकार अपनी नपुंसकता का परिचय तो देती ही है, इस प्रकार प्रान्तीयता और बिलगाव की भावनाओं एवं आन्दोलनों को भी परोक्ष रूप से । पहुँचाती है।

१०४ कर्मप्रधान विश्व रचि राखा

गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' से उद्धृत पूर्ण पंक्तियाँ हैं—

कर्मप्रधान विश्व रचि राखा
जो जस करिय सो तस फल चाखा

पहली पंक्ति का अर्थ है परमात्मा ने सृष्टि की रचना कर्म के लिए की है। जीवन में कर्म की प्रधानता है। कर्म ही हमारे जीवन की गति है, वही हमारे जीवन का लक्ष्य है। गीता में भी कहा गया है कि मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रहता—सांस लेना भी तो कर्म है, बिना कर्म के शरीर-यात्रा भी पूरी नहीं होती।

अब प्रश्न है कि कर्म क्या है? गीता में कृष्ण कहते हैं कि कर्म की गति बड़ी गहन है। विद्वान लोग भी नहीं जानते कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है? अर्जुन को समझाते हुए वह आगे कहते हैं कि मनुष्य कर्म तो करे पर स्वयं को कर्ता मानकर अहंकार न करे, कर्म फल की आकांक्षा न करे, केवल कर्त्तव्य समझकर कार्य करे, कर्म केवल अपने शारीरिक सुखों को प्राप्त करने या महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए न करे, लोक कल्याण के लिए करे।

इन बातों को ध्यान में रखकर कर्म करने से ही मनुष्य अपना और जगत का कल्याण कर सकता है। यह संसार कर्मभूमि है कर्मवीर ही जीवन में सफल होता है यश कीर्ति प्राप्त करता है। नीति वचन है, 'पुरुषों में सिंह के समान उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है।" तथा 'सभी कार्य उद्योग से सिद्ध होते हैं केवल मनोरथ या मन के लड्डू फोड़ने से नहीं।" शास्त्रों में जिन चार चीज़ों को प्राप्त करने का परामर्श दिया गया है जो चार लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम मोक्ष—वे भी कर्म से ही प्राप्त होते हैं।

मनुष्य को पूर्ण बनने के लिए अपना मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास करना होता है। इन सबके लिए भी परिश्रम तथा उद्योग आवश्यक हैं। विश्व में आज हर क्षेत्र में जो उन्नति और विकास दिखाई देता है, कृषि के क्षेत्र में हरित क्रान्ति, दुग्ध उत्पादन में सफेद क्रान्ति, बड़े बड़े उद्योग, सयन्त्र, सिंचाई के लिए नहरें बांध, बिजली उत्पादन के लिए आणविक शक्ति से चलाये जाने वाले या ताप बिजली घर, सबके पीछे मनुष्य का श्रम है,

प्रांतीयता एक ऐसा धीमा विष है, जो प्रत्यक्ष रूप से न तो दिखाई ही देता है और न उतना घातक ही प्रतीत होता है। परन्तु देश और राष्ट्र की धमनियों में असंदिग्ध रूप से धीरे-धीरे फैलकर, भीतर ही भीतर उसे नितांत खोखला और स्थितिहीन बना देता और बना रहा है। इस विष का उपचार है सजग एवं उदार राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल उदय। इसके लिए जातीय और वर्गीय निहित स्वार्थों का समग्र परित्याग भी नितांत आवश्यक है। त्याग और बलिदान ही देशों राष्ट्रों का सृजन निर्माण किया करते हैं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार हर बात को केवल वोट प्राप्ति के तराजू पर ही न तोले, भविष्य में भी केवल कुर्सियों से चिपके रहने की नीतियाँ न अपनाए। बल्कि राष्ट्रीयता की उदग्र भावना से परिचालित होकर प्रांतीयता या साम्प्रदायिकता मात्र की बात करने वालों की आवाज को शक्ति से कुचल डाले। प्रांतीयता भी एक प्रकार की साम्प्रदायिकता—बल्कि साम्प्रदायिकताओं का भी निकृष्टतम रूप है। राष्ट्रीय सार्वभौमिकता की चिरकालिक सुरक्षा के लिए इस प्रकार की प्रवृत्तियों को निर्ममता से कुचल डालना आवश्यक है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गणतन्त्री शासन-व्यवस्था में एक इकाई के रूप में राज्यों या प्रांतों का अपना विशेष अधिकार एवं महत्त्व हुआ करता है। उस महत्त्व को कोई भी नकार नहीं सकता। राज्यों के सर्वांगीण विकास के लिए उन्हें उचित स्वत्वाधिकार और साधन अवश्य उपलब्ध कराए जाने चाहिएँ—पर राष्ट्रीयता के अनुभूत रूप में ही, न कि उनका अस्तित्व एवं अस्मिता अलग मानकर या बनाए रखकर। एकता पहली शर्त है देश की और राष्ट्र की भी। उसे खण्डित करने का प्रयास करने वालों को देश राष्ट्र द्रोही ही कहा जा सकता है और उनके साथ द्रोहियों जैसा कठोर व्यवहार ही होना चाहिए। इसके लिए यदि हमें अपने संघीय संविधान में भी किसी प्रकार का परिवर्तन करना पड़े तो बिना भय अवश्य करना चाहिए। तभी देश राष्ट्र की अखण्डता, सार्वभौमिकता बनी रह सकती है।

प्रांतीय साम्प्रदायिकता का स्वर उग्र होने लगा है। उसे समय रहते ही चेतावनी मानकर सावधान हो जाना बहुत ही आवश्यक है। यदि इसे वोटबैंक या इन्हीं निहित स्वार्थों के कारण उस दिशा में अपने कदम बढ़ाने से हम चूक गए तो इतिहास हमें कभी क्षमा नहीं करेगा। वह अपने को दोहराया करता है। हमारी केवल यह सोच चाहिए कि वह अपने को उस रूप में न दोहराए जो रूप सन् १९४७ से पहले व बाद पर २८ हज़ार वर्षों तक रहा है। यही समय का स्वर और तकाज़ा है।

'पूर्व जन्म कृत कर्म तद्देव इति कथ्यते'

भारतीय चिन्तन में तीन गुण—सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण माने गये हैं। अतः कर्म के भी तीन रूप हैं—सात्विक कर्म, रजोवृत्ति प्रधान कर्म और तामस वृत्ति प्रधान कर्म। सात्विक कर्मों को दैवी सम्पदा भी कहा गया है। सामान्य व्यक्ति करुणा, दया, क्षमा, परोपकार आदि कर अपना ही नहीं समाज का भी हित कर सकता है। रजोगुण प्रधान कर्म व्यक्ति और समाज को वैभव सम्पन्नता और भौतिक सुखों की ओर ले जाते हैं, अतः वे भी काम्य हैं। तामस वृत्ति प्रधान कर्म—क्रोध घृणा, हिंसा, द्वेष आदि से युक्त कर्म समाज और व्यक्ति दोनों को अधोगति के मार्ग पर ले जाते हैं। अतः उनको न करना ही श्रेयस्कर है। चोरी डाका, हत्या, रक्तपात, व्यभिचार, पर पीड़न समाज विरोधी कर्म हैं।

आलस्य और कर्म परस्पर विरोधी हैं। आलस्य व्यक्ति को पंगु बनाता है, कर्म पुरुषार्थी। आलसी व्यक्ति समाज का हित तो दूर रहा, अपना भला नहीं कर सकते। कर्म मनुष्य को स्वावलंबी बनाता है उसे आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देता है। आलसी सदैव दूसरों की ओर ताकता है सहायता के लिए गिड़गिड़ाता है "दैव दैव आलसी पुकारा" जब तक चीन के लोग अफीम के नशे में मस्त आलसी बने रहे, वहाँ कोई विकास नहीं हुआ और जब से उन्होंने कर्म का मार्ग अपनाया है, वे विश्व की प्रमुख शक्तियों में माने जाने लगे हैं।

निष्कर्ष यह कि कर्म हमारी जीवन पद्धति का वह व्यवस्थापक तत्त्व है जिससे हम चतुर्मुखी प्रगति कर सकते हैं और जिसके अभाव में हम शून्य की ओर दौड़ते हुए शून्य बन कर रह जाएंगे। आज तक सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान आदि क्षेत्रों में जो भी हमने विकास किया है उसके पीछे कर्म या पुरुषार्थ ही है। अतः गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति 'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा' अपने में एक ऐसा सत्य छिपाये है जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

१०५ दैव-दैव आलसी पुकारा

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में जब विभीषण राम को परामर्श देते हैं कि वह समुद्र पर कुपित न होकर धैर्य से काम लें, तो लक्ष्मण को उनकी यह सलाह अच्छी नहीं लगती, और वह अपने स्वभाव के अनुसार ये उग्र वचन कह उठते हैं—

उसकी सकल्प शक्ति है, करो या मरो की भावना है। भारत के स्वतन्त्रता सग्राम मे 'भारत छोडो' आन्दोलन के समय महात्मा गाधी ने 'करो या मरो' का नारा देकर ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि अग्रेजों को भारत छोडना पडा। अग्रेजी की उक्ति 'ईश्वर उसी की सहायता करता है जो स्वयं अपने पैरों पर खडा हो' और गीता की उक्ति 'योग कर्मसु कौशलम्' भी कर्म के महत्त्व को रेखांकित करती हैं।

कर्म का महत्त्व बताने वाली उक्तियों के विरोध से कुछ लोग कभी गोस्वामी तुलसीदास की पक्तियाँ—

'होइ है सोइ जो राम रचि राखा
को करि तर्क बढावै साखा'

अथवा मलूक दास की मुखपात पक्तियाँ—

'अजगर करे न चाकरी, पछी करे ना काम
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम'

उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार पुरुषार्थ करना, कठिनाई या सकट पर विजय पाने के लिए प्रयास करना व्यर्थ है क्योंकि अतत होता तो वही है जो भाग्य मे लिखा है। ये लोग अपने को भाग्यवादी या नियतिवादी कहते हैं और नियतिवाद एक दर्शन ही बन गया है।

प्रथम तो इन उक्तियों का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि मनुष्य हाथ पर हाथ रख कर बैठा रहे क्योंकि अजगर और पक्षियों को भी पेट भरने के लिए कुछ न कुछ तो करना ही पडता है, फिर पक्षियों और पशुओं और पशुओं से मनुष्य कहीं अधिक उच्च कोटि का प्राणी है, उसमें विवेक है, चिन्तनशक्ति है। ईश्वर भी हमारी भाग्य लिपि का निर्माण हमारे कर्मों के अनुसार ही करता है। भारतीय दर्शन में तो केवल इसी जन्म के कर्मों के विषय में ही नहीं पूर्व जन्मों के कर्मों के फल की भी बात कही गयी है। नियतिवाद से हम यह अर्थ क्यों लें कि जो होना है होकर रहेगा, अत हम चुपचाप बैठे रहें। जयशकर प्रसाद के समान हमें भी नियति की डोरी पकड कर कर्मकूप में कूदने के लिए दृढ सकल्प होना चाहिए। कर्म से आप मुक्त नहीं हो सकते, वे संस्कार रूप में अपना सत् असत् परिणाम दिखाते रहते हैं। पूर्व जन्म का सिद्धान्त भी हमें यही प्रेरणा देता है कि हम अच्छे कार्य करें, बुरे कार्यों से दूर

हिन्दुओं के लिए बड़ा कष्टमय समय था। अस्थिर, अशान्त और शासकों के क्रूर तथा अत्याचारपूर्ण आचरण से त्राहि त्राहि मची थी अतः जनमानस को ढाढस बधाने और उन्हें सन्तोष देने के लिए कवियों ने ये बातें कहीं। वस्तुतः यहाँ के नीतिविदों, शास्त्रकारों या कवियों ने कभी आलस्य और अकर्मण्यता को अच्छा नहीं कहा।

मानव के अनेक शत्रु हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मात्सर्य आदि। आलस्य भी उनसे कम हानिकारक और घातक नहीं है। आलस्य उसे न शारीरिक परिश्रम करने देता है और न बौद्धिक विकास या आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न। आलसी व्यक्ति न व्यायाम करता है, न अध्ययन में मन लगाता है और न आजीविका के लिए परिश्रम करता है। परिणाम होता है अभाव दरिद्रता, निराशा और दूसरों में दोष निकालने की प्रवृत्ति। स्वावलंबन जिसकी एक झलक पर कुबेर का कोष न्योछावर करने की बात कही गयी है, का स्थान ले लेता है परावलंबन, परावलंबी व्यक्ति को न मान मिलता है, न सम्मान।

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'

ऐसा व्यक्ति निरन्तर पतन, अपकष, अपयश, के गर्त में गिरता चला जाता है।

आलसी बनने के पीछे मुख्य कारण हैं—परिस्थितियाँ, जन्मजात संस्कार और जीवन दर्शन। कुछ बालक जन्म से ही आलसी होते हैं और माता-पिता के लाख प्रयत्न करने पर भी आलस्य नहीं त्याग पाते। कुछ की परिस्थितियाँ—सम्पन्नता सुख सुविधाएँ, नौकर चाकर—ऐसी होती हैं कि उनमें रहने वाला व्यक्ति आलसी बन जाता है और कुछ लोग नियतिवादी या भाग्यवादी होने के कारण सब कुछ भाग्य पर छोड़ निरुद्यमी हो जाते हैं।

आलसी व्यक्ति का पतन और उद्यमी की सफलता देखकर, पशु पक्षी, चींटी आदि को निरन्तर उद्योग करते देख मनुष्य ने बहुत पहले यह अनुभव किया था कि सफलता की कुंजी है श्रम, परिश्रम, अध्यवसाय। पराजित और निराश मुसलमान शासक ने चींटी को बार बार चढ़ते, गिरते और फिर चढ़ते देख कर ही अपनी निराशा त्यागी, युद्ध किया और शत्रु पर विजय प्राप्त की। पक्षी प्रातः घोंसले से निकलकर शाम को ही लौटते हैं और दिन भर जंगल खेतों में भटक कर, भोजन पाते हैं। संस्कृत मनीषी की उक्ति, 'आलस्य ही मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु" तथा तुलसीदास का कथन

कायर मन कहँ एक अधारा
दैव दैव आलसी पुकारा

उनका कहने का तात्पर्य है कि कायर मनुष्य ही दैव, भाग्य, प्रारब्ध, नियति का आश्रय लेते हैं, जो कर्मवीर हैं, उद्यमी हैं, परिश्रमी हैं वे तुरन्त कार्य करते हैं, हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठते और न निर्णय को भाग्य के सहारे छोड़ते हैं। ऐसे लोग प्रयत्न तो स्वयं नहीं करते, परिश्रम से कतराते हैं और जब उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है तो दोष भाग्य को या परमात्मा को देते हैं।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—कर्मवीर और कर्मभीरु। कर्मभीरु लोग ही कुतर्कों और भ्रम में डालने वाली उक्तियों का सहारा लेकर अपनी अकर्मण्यता, आलस्य, भीरुता, आदि पर पर्दा डालना चाहते हैं और परिश्रम न करके भी बड़ेभारी विचारक कहलाना चाहते हैं।

पुरातन काल से ही कुछ शास्त्रों में ऐसी भ्रामक उक्तियों के दर्शन होते हैं। जहाँ एक ओर ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं *'उद्योगिन पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी'* अर्थात लक्ष्मी उद्योगी पुरुष का ही वरण करती है वहाँ दूसरी ओर *'भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्'* अर्थात् भाग्य प्रबल है, उसके सामने विद्या और पुरुषार्थ की कुछ नहीं चलती। कदाचित् इसका कारण इतिहास की ऐसी दुर्घटनाएं हैं जो पुरुषार्थी, पराक्रमी, सदाचारी और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के साथ घटीं। रावण जैसे प्रतापी, राजा हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी, राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम महात्मा को भी जब हम कष्ट पाते देखते हैं तो सोचने को विवश हो जाते हैं कि अवश्य कोई ऐसी शक्ति है जिसके सम्मुख मनुष्य विवश है, असहाय है।

हिन्दी में ऐसी उक्तियाँ मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में मिलती हैं। सूर कहते हैं *'करम गति टारे नहीं टरे'*, तुलसी कहते हैं, *'हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ'*, मलूकदास का कथन है, *'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम, दास मलूका कह गये, सब के दाता राम'* और बिहारी लोगों को परामर्श देते हैं—

'दीरघ सांस न लेहु दुख, सुख सांइहि न भूल
दई दई क्यों करत है दई दई सो कबूल"

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से

करुणा उसके हृदय में निवास करते हैं, वह अपने कर्तव्य को पहचान कर उसे करने में सलग्न हो जाता है। जो भी काम करता है सोच-विचार कर, उसके परिणामों को समझकर, मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को पहचानकर, ऐसा व्यक्ति न अधीर होता है और न जल्दबाज। परिणाम यह होता है कि जो भी काम हाथ में होता है, उसमें उसे सफलता मिलती है, सफलता सुख-समृद्धि और शान्ति को जन्म देती है और व्यक्ति इसी पृथ्वी पर स्वर्ग—सुख का अनुभव करता है। चाहे अध्ययन हो, चाहे व्यापार, चाहे परिवार नियोजन हो या परिवार की समस्याएँ सब बातों में यदि हम सुमति से काम लेंगे तो हमें यश, कीर्ति मिलेंगे। चाहे व्यक्ति हो और चाहे राष्ट्र, चाहे परिवार के लोग हों, चाहे जाति या सम्प्रदाय के सुमति के मार्ग पर चलकर लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। आज पीढ़ियों के अन्तर की बात कही जाती है, युवा पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी पुत्र और पिता, बहू और सास के झगड़ों की बात कही जाती है पर यदि सुमति से काम लिया जाय, एक दूसरे की बात को समझें, भावनाओं का आदर करें सहिष्णुता दिखायें तो सघर्ष समाप्त हो सकता है।

आज हमारे देश में अलगाववाद आतंकवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिक विद्वेष, भाषा विवाद आदि सिर उठाते हैं और लगता है जैसे देश टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। उसका कारण सुमति का अभाव है। यदि सुमति हो तो हम एकता का महत्व समझेंगे और विचारों में, भावों में लाएंगे मिल जुल कर काम करने में गौरव समझेंगे। रस्सी विभिन्न सूत्रों के सगठित होने पर ही मजबूत होती है, बूढ़े बाप और बेटों की कहानी जिसमें लकड़ियों के इकट्ठा करने पर उनके न टूटने का दृष्टांत देकर बाप बेटों को समझाता है, सस्कृत की उक्ति 'सघे शक्ति कलियुगे' अग्रेजी की कहावत 'unity is strength' हिन्दी की कहावत अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता'—सभी एकता की शक्ति का घोष करती हैं और एकता आती है सुमति से।

परिवार के सदस्यों में यदि एकता है तो कोई उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता क्योंकि वे मिल जुल कर आने वाले सकट का सामना करेंगे और सम्मिलित शक्ति से बड़ी से बड़ी बाधा टल जाती है। अंगुलियाँ और अगूठे जब मिलकर मुक्का बन जाते हैं तो प्रहार सहन नहीं होता, अलग अलग अगुली कुछ नहीं कर पाती।

सन्तोष को परम सुख कहा गया है, आन्तरिक सुख सबसे बड़ा सुख है

"दैव दैव आलसी पुकारा" उनके दीर्घ अनुभव और प्रौढ़ चिन्तन का ही परिणाम हैं।

मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है, उसके कर्म ही उसे सुख या दुःख प्रदान करते हैं। पुरुषार्थ ही सफलता की कुंजी है। आलस्य का त्याग कर ही मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भयानक संकट और घोर विपदा भी उद्यमी मनुष्य को विचलित नहीं कर पाते जबकि आलसी व्यक्ति बहाना मिलते ही काम को टालता है और संकट को स्वयं निमन्त्रण देता है।

बहुत पहले कृष्ण ने अर्जुन को कर्म करने का उपदेश दिया था, आज भी विज्ञान न ईश्वर को मानता है न भाग्य को। कार्य कारण सिद्धान्त का समर्थक आज का वैज्ञानिक परिश्रम और उद्योग को ही महत्व देता है। इतिहास साक्षी है कि आदिम युग (पाषाण युग) से आज तक जो भौतिक समृद्धि, वैज्ञानिक प्रगति या ज्ञान भंडार में वृद्धि हुई है उसके पीछे मनुष्य की जिजीविषा (जीने की इच्छा) है और जीने के लिए आलस्य के बराबर शत्रु और परिश्रम के बराबर मित्र नहीं है। पुरुषार्थ से ही उसने आकाश, सागर और पृथ्वी पर ही विजय नहीं पाई, पृथ्वी के नीचे अमूल्य सम्पदा को खोज कर तथा उसका उपयोग कर जीवन को सम्पन्न बनाया है। पशु भी आलसी नहीं होता, फिर मनुष्य क्यों आलसी बने! आलस्य को छोड़ उद्यमी बनने से ही मनुष्य अपना अपने समाज और अपने देश का कल्याण कर सकता है। अतः आलस्य और भाग्य के भरोसे बैठे रहने की प्रवृत्ति को त्याग हमें उद्यम शील बनना चाहिए।

१०६ जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना

संसार में ईश्वर ने केवल मनुष्य को मस्तिष्क दिया है। इसीलिए वह संसार के जीवों में सर्वश्रेष्ठ है। मस्तिष्क की जिस शक्ति से हम सोचते-विचारते, भले बुरे की पहचान करते, हित अहित का निर्णय करते तथा संकल्प करते हैं, उसे बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि दो प्रकार की होती है—(क) सुबुद्धि, सुमति या विवेक तथा (ख) कुबुद्धि, कुमति या अविवेक। सुमति हमें देवता बना देती है और कुमति दानव। सुमति हमें अच्छे कार्यों में लगाती है और कुमति के कारण हम गलत और अमर्यादित काम कर बैठते हैं।

सुमति का सम्बन्ध मानव चरित्र के सद्गुणों से है। सुमति होने पर वह के कार्य करता है, न्याय के मार्ग पर चलता है, दया, ममता,

बिना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय

आधुनिक युग में हम भौतिक सुखों, ऐंद्रिय भोगों, चमकीली भड़कीली वस्तुओं की आकृष्ट हो आध्यात्मिक मूल्यों को, संयम मर्यादा को, सदाचार और चारित्रिक गुणों को भूलते जा रहे हैं। यह कुबुद्धि ही तो है, मृगमरीचिका ही तो है। इसी दूषित मनोवृत्ति के कारण सर्वत्र अनुचित स्पर्धा, एक दूसरे को नीचा दिखाने की वृत्ति, अहंमन्यता, भ्रष्टाचार, उच्छृंखलता, ईर्ष्या द्वेष का विष फल रहा है। इस संकट के समय सुमति ही हमारी रक्षा कर सकती है। अतः हम गांधी जी के शब्दों को ही स्मरण करें—

ईश्वर अल्लाह तेरे नाम
सबको सन्मति दे भगवान।

गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा था जहां सुमति है वहां सफलता है सुख शांति है, स्वर्ग है और जहां कुमति है वहां असफलता जन्य निराशा है, दुःख दारिद्र्य है, नर्क है।

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना
जहाँ कुमति तहँ विपद निदाना।

१०७ अपनी करनी पार उतरनी

इस उक्ति के दो संदर्भों में अर्थ किये जा सकते हैं—भौतिक संदर्भ में तथा आध्यात्मिक संदर्भ में। भौतिक संदर्भ में इसके पुनः दो अर्थ हैं। प्रथम, मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है। यद्यपि देखा गया है कि दूसरों के कर्मों और परिश्रम का फल भी कभी कभी हमें मिल जाता है। पिता की अर्जित सम्पत्ति पुत्र को प्राप्त होती है, चुनाव में मित्रों, सहायकों तथा परिचितों के प्रयत्नों से प्रत्याशी चुनाव जीत जाता है, चोरी कोई करता है पकड़ा कोई अन्य जाता है और जो पकड़ा जाता है वह निरपराध होते हुए भी दंड पाता है। परंतु ऐसे अवसर और व्यक्ति कम ही होते हैं। अधिकतर मनुष्य अपने किये का ही अच्छा या बुरा फल भोगता है। यह संसार कर्मक्षेत्र है। हर प्राणी को यहां कर्म करना पड़ता है। पशु पक्षी भी जीवन यात्रा के लिए निरंतर कर्म करते हैं। प्रकृति स्वयं अविश्रांत भाव से कर्म रत है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र नदियाँ, ऋतुएँ सब गतिशील हैं। सृष्टि का अर्थ ही है सृजन। इसीलिए कहा

और ये दोनों सुबुद्धि से आते हैं। सुबुद्धि मानव को निराश नहीं होने देती, यह कहती रहती है, "नर हो न निराश करो मन को, कुछ काम करो, कुछ काम करो' और परिणाम होता है सफलता।

सुमति सम्पन्न व्यक्ति अपने भावावेश पर नियन्त्रण रखता है, उच्छृंखल नहीं होता, चंचल मन को नियंत्रित करता है, इन्द्रियों की आसक्ति म नहीं फँसता। काम, क्रोध, मद, लोभ के वश में नहीं होता। सुमति अंकुश का काम करती है। अतः उसे पछताना नहीं पड़ता।

सुमति का अभाव होते ही कुमति अपना आधिपत्य जमा लेती है उसी प्रकार जिस प्रकार सद्गृहिणी के जाते ही कुलच्छनी घर में प्रवेश कर उसका सत्यानाश कर देती है। कुमति के कारण ही मनुष्यों म कलह, ईर्ष्या, द्वेष, असहिष्णुता, क्रोध, परस्पर फूट आदि दोषों का जन्म होता है। पुराणों में रावण, कौरव, कंस आदि का भयानक अन्त कुमति के कारण हुआ। मध्यकाल में *राजपूत राजा यदि अपने संकुचित स्वार्थ में पड़कर, आपसी कलह फूट के* कारण अपनी रियासत को ही राष्ट्र समझ कर अपार शौर्य पराक्रम होते हुए भी पराजित हुए तो उसका कारण कुमति थी। अंग्रेजों की यदि 'Divide and Rule' की नीति सफल हुई तो उसके पीछे भी हिन्दू मुस्लिम एकता का अभाव, कठमुल्लापन संकीर्णता, संकुचित स्वार्थ आदि ही थे जो कुमति के विषैले फल हैं। आज भी यदि भारत में हिन्दू सिक्खों का *झगड़ा है या विश्व मंच पर दो* महान शक्तियों—अमेरिका और रूस के बीच संघर्ष है तो दुर्बुद्धि के कारण। यदि यह दुर्बुद्धि दूर न होई, शस्त्रास्त्रों की होड़ जारी रही, स्पर्धा भाव बना रहा तो विनाश के कगार पर खड़ी मानव जाति एक पल में ही रसातल को चली जाएगी।

संस्कृत में उक्ति है, 'विनाश काले विपरीत बुद्धि'। इसका अर्थ यह है कि विनाश काल उपस्थित होने पर मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मुझे तो *लगता है मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट होने पर ही विनाश काल उपस्थित होता है।* गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही लिखा है—

जाको प्रभु दारुण दुख देहीं
ताकी मति पहले हर लेहीं।

सोच विचार कर कार्य करना सुमति का लक्षण है। जिसमें सुमति नहीं है वह बिना सोचे विचारे काम करता है, कष्ट पाता है और फिर पश्चाताप आग में जलता है—

अत इसीलिए कहा गया है ।

जाको राखे साइयां, मार सके न कोय ।
बाल न बांका कर सके, जो जग बरी होय ॥

इसके विपरीत मौत आने पर बड़ से बड़ा डाक्टर वैद्य, कीमती से कीमती औषधि, सफल शल्य चिकित्सा, यज्ञ अनुदान सब धरे के धरे रह जाते हैं और आदमी चल बसता है। भूकम्प, बाढ़ अग्निकाड में कुछ लोग मर जाते हैं, कुछ बच जाते हैं । गांधी जी प्रार्थना सभा में, श्रीमती इंदिरा गांधी अपने घर में, श्री लालबहादुर शास्त्री ताशकन्द में अचानक मौत की गोद में सो गये । ऐसी आकस्मिक मृत्यु और अप्रत्याशित घटनाओं को देखकर ही लगता है कि जीवन मरण अपने वश की बात नहीं, केवल उस परम शक्ति के संकेत पर ही कालचक्र चलता है ।

पुत्र की इच्छा सबको होती है। पर क्या चाहे से पुत्र होता है ? लड़कियां जन्म लेती चली जाती हैं और पुत्र का मुख देखने को नहीं मिलता भले ही माता पिता कितने ही यत्न करें, धार्मिक अनुष्ठान करें व्रत-उपवास रखें, उपचार करायें, गण्डे ताबीज बांधे । इसके विपरीत सात पुत्रों वाली माता बेटी के लिए तरस जाती है । धनवान माता पिता संतान के लिए तरस जाते हैं और गरीब के यहां इतनी संतान कि वह उनके लिए दो समय का भोजन तक नहीं जुटा पाता इसे आप क्या कहेंगे—भाग्य की विडम्बना, पूर्वजन्मों के कर्मों का फल या विधि की इच्छा ।

यश अपयश के सम्बन्ध में भी यही देखा जाता है । किसी को परिश्रम करने पर भी, पुण्य कर्म करने पर भी यश नहीं मिलता । 'कोयले की दलाली में हाथ काले' की उक्ति चरितार्थ होती है । कैकेयी को राम भरत से भी अधिक प्रिय थे परन्तु उसी के कारण राम को बनवास मिला और कैकयी पर सौतेली मां, तथा पति हत्या होने का दोष लगा—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी ।
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी ॥

इसके विपरीत कार्य की सफलता के पीछे होता है परिश्रम तथा अध्यवसाय अधीनस्थ कर्मचारियों का श्रेय, मिलता है उच्चाधिकारी को । मरते हैं युद्ध में सैनिक, विजय श्री की माला पड़ती है सेनापति के गले में । अपयश के लिए भी सुअवसर, सौभाग्य तथा सुबुद्धि चाहिए जिन

१०८ हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ

ब्रह्मज्ञानी ईश्वर को सर्वोपरि मानते हैं, अद्वैतवादी ब्रह्म और जीव को एक मानते हैं, ईश्वर को अंशी और जीव को उसका अंश मानते हैं, "ईश्वर अंश जीव अविनाशी'। ईश्वर का अंश होते हुए भी जीव अपूर्ण है, अपूर्ण होने के कारण ईश्वर के इशारों पर चलता है, स्वतन्त्र न होकर परवश है, "परबस जीव, स्वबस भगवन्ता।' जीव की इस परवशता को देखकर ही मनुष्य को अपनी योजनाओं की सफलता के लिए लाख प्रयत्न करने पर भी उसे असफल देखकर 'Man proposes, God disposis' ही कुछ लोग नियति, प्रारब्ध या भाग्य को सर्वशक्तिमान मानते हैं और मनुष्य को नियति का 'क्रीड़ा कंदुक' इतिहास और पुराण भी साक्षी हैं कि पूरी तरह निर्दोष होते हुए भी, सदुद्देश्य से प्रेरित होकर भी, पूरी योजना बनाकर काम करने वाले भी किसी अदृश्य शक्ति के कारण सफल नहीं होते, दारुण कष्ट झेलते हैं। राम, सत्य हरिश्चन्द्र, राजा नल, महाराणा प्रताप आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। राम और सीता ने क्या क्या कष्ट नहीं भोगे सत्य हरिश्चन्द्र को परोपकारी और सत्यवादी होते हुए भी चाण्डाल के यहा श्मशान रक्षा का काम करना पड़ा, महादानी कर्ण को बचपन में माँ ने त्याग दिया गुरु द्रोण ने शिक्षा नहीं दी, द्रौपदी के स्वयंवर में अपमानित किया गया, छल से कवच कुण्डल छीन कर उसका घात किया गया।

ऐसी ही बातें पढ़कर, सुनकर या जीवन में अनुभव कर लोग नियति और भाग्य को प्रबल मानने लगे।

'भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्"

हिंदू शास्त्रों में तीन एषणाएं मानी जाती हैं—पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा और इनकी पूर्ति जीते जी ही होकर होती है अतः इन तीन के अतिरिक्त जीवन भी बहुमूल्य हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'जिजीविषा' को मानव की दुर्दम कहा है, जीवन शक्ति को निर्मम कहा है। परन्तु क्या इन चारों पर उसका वश है ? क्या जीना मरना उसके हाथ में है ? कब्र में पैर लटकाये बूढ़ा, खटिया गोड़ती वृद्धा, पक्षाघात से पंगु बना व्यक्ति मृत्यु की कामना करता है पर वह मांगे नहीं मिलती। प्रह्लाद और ध्रुव को मारने के क्या क्या नहीं किया गया लेकिन उनका बाल बांका भी न हुआ। कदा

का वश कर्म होता है, भाग्य की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

प्रत्येक व्यक्ति धन चाहता है और उसके लिए प्रयत्न भी करता है। पर जिसका भाग्य अच्छा होता है, लक्ष्मी जिस पर कृपा करती है वह कुछ ही समय में थोड़ा परिश्रम करने पर भी शीघ्र ही धनवान बन जाता है और बड़ा अरबपति, करोड़पति व्यापारी एक झटके में दर दर का भिखारी बन जाता है। किसान वर्ष भर मेहनत करता है और एक रात की उपल वृष्टि उसको दरिद्र बना देती है। अग्निकांड या भूकम्प में आलीशान इमारतें धराशायी हो जाती हैं। हुमायूँ की रक्षा करने वाला भिश्ती राजा बन गया भले ही एक दिन को एडवर्ड अष्टम को इंग्लैंड की गद्दी छोड़नी पड़ी। यह सब भाग्य का ही तो खेल है।

"विधि का लिखा को मेटनहारा।"

परन्तु यह नकारात्मक दृष्टिकोण है। इससे मनुष्य अकर्मण्य बनता है। आज की भौतिक उन्नति, विविध साधनों की उपलब्धि, समाधनों का विकास, पृथ्वी, जल, आकाश पर मनुष्य की विजय हमें बताती है कि बिना कर्म किये, खून पसीना एक किये, दृढ़ संकल्प और कर्मठता के हम कुछ नहीं कर सकते। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है।

अतः इस उक्ति से हमें यही सीखना चाहिए कि मनुष्य कर्म करे, उसके फल की आशा ईश्वर पर छोड़ दें। यही गीता का 'अनासक्ति कर्मयोग' कृष्ण के ये ही वचन "कर्म करने का अधिकार है, फल आकांक्षा मत कर।

दूसरा संदेश यह मिलता है कि मनुष्य अहंकार न करे, अपने को सर्व-शक्तिमान ईश्वर के हाथों एक यंत्र समझे। मनुष्य की अनेक कठिनाइयों की जड़ है उसका अहंकार। यदि वह समझने लगे कि वह ईश्वर की प्रेरणा से ही कर्म करता है तो उसमें विनय भाव आ जाएगा। दंभ दूर हो जाएगा। अहंकार विमूढ़ता को जन्म देता है। स्वयं को कर्ता समझने का दंभ ही उसे विमूढ़ बनाता है।

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

निष्कर्ष यह कि न तो मनुष्य अकर्मण्य बने, भाग्यवादी होकर कर्म से मुख मोड़े। न उसे अहंकार करना चाहिए कि वही सब कुछ है और सब कुछ कर सकता है। सच्चा मार्ग तो निष्काम कर्म का ही है—फल प्राप्ति की आकांक्षा करते हुए सतत कर्म करने का।